विषयानुक्रमणिका

दो शब्द ।

सद्गुरु कबीर साहिब आदि सन्त कहे जाते हैं। उनके उपदेशके साखी शब्दादियोंका संग्रह भी सन्त मतका आदि ग्रन्थ है। वह केवल कबीर पंथियों होके स्वाध्याय और विचार के योग्य नहीं है। किन्तु कल्याणेच्छु मनुष्य मात्रके लिये अत्यावश्यक और उपयोगी है। सद्गुरु कबीर अपने युगके प्रथम सन्त हैं। जिस उदारता और सचाईके साथ आपने अपनी साखियोंसे सन्त मतका निष्कर्ष दिखलाया है। आपसे पहले कोई भी नहीं कहा था। आपके पश्चात जितने उपदेशक सन्त महात्मा हुए हैं उनके उपदेश ग्रन्थोंमें अधिकतर आपही के उपदेशोंको दोहराया हुआ पाया जाता है, जो आप सुना गये हैं। "हाथी फिरै गाम गाम, जिसका हाथी उसीका नाम" यदि यह कहावत् सत्य है तो ये सब आपके 'यावचन्द्रदिवाकरौ' ऋणी हैं। चाहे उन्हें कोई किसीका स्वामी अथवा साहेब भले बना दे परन्तु वे न तो खुद बने न बन ही सकते हैं।

'सद्गुरु कबीरकी साखी' एक हृदयका दयामय न्यायपूर्ण पवित्र दर्शनीय चित्र है। अज्ञान मय जीवनकी कठोर संसृति का मूक गोहार है। स्वरूप ज्ञान यज्ञकी पूर्तिमें संसार विसर्जन और त्यागकी पूर्ण आहुति है। दार्शनिक व पंथायी समाजकी प्रचलित दुराग्रही कुप्रथा स्वार्थपरायणता संकीर्णता और आत्मिक दुर्बलताका पूर्ण परिचायक आदर्श है। व्यावहारिक व पारमार्थिक विचारोंको यथावत सुचारु बनानेका यह एक महान् उत्कृष्ट वाङ्मय कला भवन है। इसमें निज पारङ्गत होने का मेरा दावा नहीं, परन्तु इतना आत्म विश्वास अवश्य है कि सत्य न्यायी सद्गुरु कबीरका परोपकारार्थ जीवन कार्यके अनुयायी व अनुकरणी धीर पुरुषोंके लिये यह साखी ग्रन्थ साक्षी पुरुषका कार्य दर्शक प्रदीप्त अखण्ड दीपक है। यदि वे पक्षपातके चश्मे उतार देंगे तो इसके प्रकाशमें वे अपने मनुष्य जीवनका कार्य करनेमें बड़ी सरलता और पूर्ण सफलता पायेंगे। टीकाकार—

भूमिका

यह ग्रन्थ साखियोंका संग्रह है। इसलिये इसे 'साखीग्रन्थ' कहते हैं। इस स्थूल काय साखी ग्रन्थके अंग चौरासी हैं। अतः इसे चौरासी अङ्गकी साखी भी कहते हैं। कबीर गुरुने बड़ी सफाईके साथ अपने सत्य विचारोंका इज़हार उन जनताओंके सामने दिया है जो आचार्य उपदेशकोंके परस्पर मतवाद पंकमें फँसके दुखी हो रही थीं और हैं। उनके उद्धारके लिये दयासे द्रवीभूत हो गदगद हृदयसे बयान किया है यथाः—

जीव दया चित राखि के, साखी कहैं कबीर।
भवसागर के जीव को, आनि लगावैं तीर॥
अन्तर याहि विचारिया, साखी कहो कबीर।
भवसागर में जीव है, सुनिके लागैं तीर॥

शुद्ध संस्कृत शब्द साक्षी है। उसीको प्राकृत भाषामें साखी कहते हैं। स्पष्ट अर्थ गवाह है। गवाह कौन होता है? सुनिये, तकरारके कारणको जानते हुए भी जो तकरारके पक्षपातसे उदासीन और उसके समीप रहते हैं उन्हें गवाह या साक्षी कहते हैं। स्वयं साक्षीका लक्षण कबीर गुरु कहते हैं। यथाः—

स्वास सुरति के मध्य ही, न्यारा कभी न होय।
ऐसा साक्षी रूप है, सुरति निरति से जोय॥

इसका सारांश यह है कि संसार द्वन्द्वका स्थान है, दो बिना तकरार कदापि नहीं होती। दो अनादि वस्तु है। जड़ और चैतन्य। या प्रकृति पुरुष कह लीजिये। तिनके विषयमें

आचार्य उपदेशकोंका ऐसा मतभेद है कि कोई तो वेद वादी माया हीको प्रकृति और पुरुषको महेश्वर बतलाते हैं। यथाः- 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि। कोई सांख्यमतानुसारी सत्त्वादि गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति दर्शाते हैं। कोई आचार्य परमेश्वरकी शक्ति हीको प्रकृति मानते हैं। एवं पुरुषको सच्चिदानन्द ब्रह्म कहते हैं। कोई ब्रह्मको यावद्विकार मात्रका अभिन्न निमित उपादान कारण तथा कतिपय लोग ब्रह्मको देश, काल, वस्तु परिच्छेदसे रहित विभु प्रतिपादन करते हैं। ऐसे जीवात्माके विषयमें भी अनेकों द्वन्द्वग्रस्त वाद विवाद है। कोई ब्रह्मके आभास हीको जीव मानते हैं दूसरे कोई प्रतिबिम्बको जीव स्वरूप कहते हैं। कोई मतवादी तो कूटस्थ लिंग शरीर तथा ब्रह्मके प्रतिबिम्ब इन सबके समुदायोंको जीव बतलाते हैं। एवं कितने लोग प्राण धारण करनेसे ब्रह्मकी जीव संज्ञा कहते हैं 'जीवो वै प्राण धारणात्' इत्यादि परस्पर विरुद्ध कथनसे शास्त्र सम्बन्धी तथा अन्य मत सम्प्रदाय आदियोंको पक्षपात युत भिन्न भिन्न कथन होनेसे न तो किसीको चैतन्य साक्षी स्वरूपकी स्थिति बोध होती है न इस मत द्वन्द्व बखेड़ाका निपटारा ही होता है। ऐसी विकट अवस्था में पड़े हुए मुमुक्षुओंको शुद्ध बुद्ध मुक्त द्वन्द्व-उदासीन साक्षी स्वरूपकी स्थितिसे वञ्चित अवलोकन कर सत्यन्यायी सद्गुरु कबीर साहिबने समय २ पर साखीसे इस प्रकार साक्षी देकर यह सत्य न्याय किया है कि,

साखी आँखी ज्ञान की, समझ देख मन माहिं।
बिन साखी संसार के, झगड़ा छूटत नाहिं॥

ठीकही है जो सत्पुरुष होते हैं वेही सत्य न्याय करते हैं। वे स्वाभाविक सब प्राणियोंके हितमें लगे रहते हैं। वर्ण, जाति

धन, पद आदिमें कितनाही ऊँचा क्यों न माने जाते हों वे अपने को उच्चताका अभिमान तनिक भी नहीं रखते हैं। वे मिथ्या वर्णाश्रमादिके पक्षपातसे अपने आपको कलङ्कित कदापि नहीं करते, देखिये कबीर गुरु अपने लिये क्या फर्माते हैं कि,

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाँहि।
पाँच तत्त्व का पुतला, गैबी खेलै माँहि॥
हिन्दू तुरक के बीच में, शब्द कहूँ निरवान।
बन्धन काटूँ जगत का, मैं रहिता रहिमान॥

अहो! क्या ग़ज़ब! सबसे रहित होते हुए भी दयाकी सीमा नहीं। ऐसे सत्पुरुषोंको शतशः धन्यवाद है। यद्यपि यथा-योग्य न्याय युक्त व्यवहार करते हैं तथापि मनमें सदा सर्वत्र समता, ममता बनाय रखते हैं। क्योंकि गुरुका कामही गौरव का है सुनिये—

गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहिर बाहै चोट॥

दूसरेके दुःख, दुर्गुणको मिटाने तथा सुखी, सद्गुणी बनाने में सदा सचेष्ट रहते हैं। उसे अपने समान समझकर व्यवहा-रिक सहानुभूति रखते हैं। कबीर गुरुकी प्रतिज्ञा है कि,:—

सबै हमारे एक है, जो सुमिरै हरि नाम।
वस्तु लहि पहिचान के, बासन सो क्या काम॥

बस! यही कारण है कि सत्पुरुष किसी भी जीवसे घृणा नहीं करते। सबकी सेवा करना चाहते हैं अपमान किसीका नहीं करते। स्वयं सहिष्णु और स्वार्थ त्यागी होते हैं। स्वयं

मर्यादासे बाहर होते हुए भी दूसरेकी मर्यादा भंग कभी नहीं करते, ऐसे पुरुषकी प्रशंसा कबीर गुरु इस प्रकार करते हैं कि,:-

"हद बेहद दोऊ तजी, अवरन किया मिलान।
कहैं कबीर ता दास पर, वारों सकल जहाँन॥
हद छाड़ि बेहद गया, अवरन किया मिलान।
दासकबीरा मिलि रहा, सो कहिये रहिमान॥
दीन गरीबी बन्दगी, सबसों आदर भाव।
कहैं कबीर सोई बड़ा, जामें बड़ा सुभाव॥

अधिक क्या, ऐसे सत्पुरुषोंके आचरण, उपदेश और सत्संगसे अधमसे अधम जीव भी थोड़े समयमें यश और श्रेय सुखको अनुभव करने लगता है। आश्चर्य मत कीजिये कबीर गुरुकी अपील सुनिये, यथाः—

कुछ करनी कुछ कर्म गति, कुछ पूरब ले लेख।
देखो भाग कबीर का, लख से भया अलेख॥

भाव यह है कि पूर्वके पुण्य कर्मके प्रभावसे तथा साधन अभ्याससे जब यह पुरुष इच्छा रहित हो जाता है तब फिर इसे दुःखकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे सुषुप्ति अवस्थामें पुरुष सब कामनाओंके नाश होनेसे निष्काम भावको प्राप्त होता है। इसी प्रकार पूर्व पुण्य कर्मसे उत्पन्न हुए तीव्र वैराग्यसे जब इस पुरुषकी सब कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, तब यह पुरुष निष्काम भावको प्राप्त होकर सबसे श्रेष्ठ पदको पाता है यथाः—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहन पति साह॥

और चाहना वाले सकाम पुरुष अनेक जन्मोंमें भी जिन सुख सम्पतिको प्राप्त नहीं कर सकते उन सम्पूर्ण पदार्थोंको निष्काम पुरुष एक ही कालमें प्राप्त कर लेता है। इसलिये सन्तोषी पुरुष निष्काम होता है। क्योंकि नर जीवोंकी इच्छा अप्राप्त वस्तुमेंही होती है प्राप्तमें हर्गिज़ नहीं। और जब मायिक पदार्थ विषयक "मैं, मेरी" मिथ्या अहन्ता, ममता मुमुक्षुओंके हृदयसे निकल जाती है तबही उनके हृदयमें निर्विकार वस्तुकी स्थिति भी होती है। कबीर गुरु कहते हैं कि:—

मै मेरी सब जायगी, तब आवैगी और।
जब यह निश्चल होयगा, तब पावैगा ठौर॥

अतएव—

मै मेरी तू जनि करै, मेरी मूल विनासि।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की फाँसि॥

इस लोकमें सकामी पुरुष जिन स्त्री पुत्रादि पदार्थोंको प्राप्त करते हैं वे सब परिणामी हैं। अतः वे पदार्थ इनकी तृष्णाको निवृत्त नहीं कर सकते किन्तु जैसे घृतादिसे अग्निकी वृद्धि होती है इसी प्रकार उन पदार्थोंकी प्राप्तिसे अज्ञानी लोगोंकी तृष्णा रूपी अग्नि दिन दूनी बढ़ती जाती है। और ये उनको अहन्ता, ममता रूपी बेड़ीमें सब तरफसे जकड़ जाते हैं। यथाः—

मोर तोर की जेवरी, गल बन्धा संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥
ना कछु किया न करि सका, न कछु करने जोग।
मैं मेरी जो ठानि के, दूजी थापै लोग॥

ठीक यही कारण है कि अज्ञानी लोग नित्य तृप्त चित्स्वरूप

रमैया रामका "गांठि रतन मर्म नहीं जानै" के समान यथार्थ ज्ञान व स्थिति विना दरिद्र हो रहे हैं। इससे कबीर गुरु 'राम' धनहीनोंको दरिद्र बतलाते हैं कि,:—

जग सारा दरिद्र भया, धनवन्ता नहिं कोय।
धनवन्ता सोइ जानिये, राम पदारथ होय॥

इस संसारमें सकामी पुरुषोंको मायिक पदार्थोंकी इच्छासे अत्यन्त दुःख उठाने पड़ते हैं और सन्तोषी पुरुषोंको परम सुख की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि धनादिको कामना वाले कामी पुरुषको धन प्राप्तिके लिये राजा, महाराजाओंकी सेवा करनी पड़ती है। तिसमें धन, सुखकी प्राप्ति तो किञ्चित् मात्र और चिन्ता अनेकों प्रकारकी सदा घेरे रहती है। तो भी उसका पीछा नहीं छोड़ता, इसमें हेतु यह है कि, :—

कामि करम की कैंचुली, पहिरि हुआ नर नाग।
शिर फोड़े सूझे नहीं, कोइ पूरब का भाग॥

गुरु सत्संग विमुख मनुष्य अपनी आत्मशक्तिको भूलकर जो रजोगुण रूप आशक्तिसे उत्पन्न कामनाको जब मनमें स्थान दे देता है, तो यह कामही क्रोध बन जाता है और यही कभी न तृप्त होने वाला महा पापी और उसीका वैरी बन जाता है। जो अन्दर बैठा हुआ पापके लिए तीव्र प्रेरणा किया करता है। यथा.—

पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत।
जब जैसी गति चाहई, तब तैसी मति देत॥

और कामही इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबमें अपना प्रभाव विस्तार करके सबको अपना निवासस्थान बना लेता तथा

हद छोड़ा बेहद गया, लिया ठीकरा हाथ।
भया भिखारी रामका, दर्शन पाय सनाथ ॥
बेहद विचारु हद तजो, हद तजि मेलो श्वास।
सबै अलिंगन मेटि के, करो निरन्तर वास ॥
काँसे ऊपर बिजुरी, पड़ै अचानक आय।
ताते निर्भय ठीकरा, सद्गुरु दिया बताय ॥

मायिक पदार्थ विषयक सर्व कामनाओंके त्यागसे जो सुख निष्काम पुरुषको है। वह सुख चक्रवर्ती राजाको, स्वर्गमें देवराज इन्द्रको, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माको भी नहीं है। क्योंकि इनके सुख कर्म, उपासनासे जन्य होनेके कारण लौकिक सुखवत् नाशमान है। लिखा है कि, :—

"यथेह कर्म चितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितोलोकः क्षीयते"

अर्थः—जैसे मनुष्य लोकमें शरीरके व्यापार रूपी कर्मसे रचे हुये गृहादि पदार्थ काल पाकर क्षय हो जाते हैं। इसीप्रकार पुण्य पाप रुप कर्म रचित स्वर्गादि लोक भी काल पाकर क्षय हो जाते है। ऐसी श्रुतिके प्रमाण तथा अनुमान प्रमाणसे स्वर्गादिकी अनित्यता सिद्धि होती है। इसी हेतुसे कबीर गुरुने उपदेश दिया है कि, :—

कबीर गर्व न कीजिये, ऊँचा देखि अवास।
काल परौं भुँइ लेटना, ऊपर जमसी घास ॥
कबीर यह संसार है, जैसा सेमल फूल।
दिन दशके व्यवहार में, झूठे रंग न भूल ॥

और स्वर्गादिका नश्वरता विषय भी सद्गुरु कबीरने बीजक ग्रंथ में इस प्रकार दिखलाया है।-

विनशे नाग गरुड़ गलि जाई।
विनशे कपटी औ शत भाई॥
विनशे पाप पुण्य जिन कीन्हा।
विनशे गुण निर्गुण जिन चीन्हा॥
विनशे अग्नि पवन औ पानी।
विनशे सृष्टि कहाँ लौं गानी॥
विष्णुलोक विनशे छिन माँहीं।
हौं देखा परलय की छाँहीं॥ २०४६,

जो पदार्थ घट, पट आदिके समान उत्पन्न होता है वह अवश्य नाश होता है। नाशवान पदार्थके वियोग कालमें अहन्ता ममताके कारण अवश्य दुख होता है। देखिये और विचार कीजिये जैसे 'मकान मेरा है, चूनेके एक एक कणमें मेरा पन भरा हुआ है, उसे बेच दिया, हुण्डी हाथमें आ गई, इसके बाद मकानमें आग लगी। मैं कहने लगा, बड़ा अच्छा हुआ रुपये मिल गये। मेरा पन छूटते ही मकान जलनेका दुख मिट गया। अब हुण्डी के कागज़में मेरा पन है, बड़े भारी मकानसे सारा मेरा पन निकलकर जरासे कागज़के टुकड़ेमें आ गया। बस! अब हुण्डी की तरफ कोई ताक नहीं सकता। हुण्डी बेच दी गई रुपयोंकी थैली हाथमें आ गई। इसके बाद हुण्डीका कागज़ भलेही फट जाय, जल जाय, कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैली में आ गई। अब तो उसीकी सँभालमें वृत्ति लग गई। इसके बाद रुपये किसी महाजनको दे दिये। अब चाहे वे रुपये उसके यहाँ से चोरी क्यों न चले जायँ, कोई परवा नहीं। उसके खातेमें अपने रुपये जमा होने चाहिये। अब उस महाजनका फर्म बना रहना चाहिये, यदि चिन्ता है तो इसी बातकी है कि वह फर्म

हद छोड़ा बेहद गया, लिया ठीकरा हाथ।
भया भिखारी रामका, दर्शन पाय सनाथ ॥
बेहद विचारु हद तजो, हद तजि मेलो आस।
सबै आलिंगन मेटि के, करो निरन्तर वास ॥
काँसे ऊपर बिजुरी, पड़ै अचानक आय।
ताते निर्भय ठीकरा, सद्गुरु दिया बताय ॥

मायिक पदार्थ विषयक सर्व कामनाओंके त्यागसे जो सुख निष्काम पुरुषको है। वह सुख चक्रवर्ती राजाको, स्वर्गमें देवराज इन्द्रको, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माको भी नहीं है। क्योंकि इनके सुख कर्म, उपासनासे जन्य होनेके कारण लौकिक सुखवत् नाशमान है। लिखा है कि, :—

"यथेह कर्म चितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितोलोकःक्षीयते"

अर्थः—जैसे मनुष्य लोकमें शरीरके व्यापार रूपी कर्मसे रचे हुये गृहादि पदार्थ काल पाकर क्षय हो जाते हैं। इसीप्रकार पुण्य पाप रूप कर्म रचित स्वर्गादि लोक भी काल पाकर क्षय हो जाते हैं। ऐसी श्रुतिके प्रमाण तथा अनुमान प्रमाणसे स्वर्गादिकी अनित्यता सिद्धि होती है। इसी हेतुसे कबीर गुरुने उपदेश दिया है कि, :—

कबीर गर्व न कीजिये, ऊँचा देखि अवास।
काल परौं भुँइ लेटना, ऊपर जमसी घास ॥
कबीर यह संसार है, जैसा सेमल फूल।
दिन दशके व्यवहार में, झूठे रंग [illegible] भूल ॥

और स्वर्गादिकी नश्वरता [illegible] रु कबीरने
योजक ग्रंथ में इस [illegible]

विनशे नाग गरुड़ गलि जाई।
विनशे कपटी औ शत भाई॥
विनशे पाप पुण्य जिन कीन्हा।
विनशे गुण निर्गुण जिन चीन्हा॥
विनशे अग्नि पवन औ पानी।
विनशे सृष्टि कहाँ लौं गानी॥
विष्णुलोक विनशे छिन माँहीं।
हौं देखा परलय की छाँहीं॥ २०४६,

जो पदार्थ घट, पट आदिके समान उत्पन्न होता है वह अवश्य नाश होता है। नाशवान पदार्थके वियोग कालमें अहन्ता ममताके कारण अवश्य दुख होता है। देखिये और विचार कीजिये जैसे 'मकान मेरा है, चूनेके एक एक कणमें मेरा पन भरा हुआ है, उसे बेच दिया, हुण्डी हाथमें आ गई, इसके बाद मकानमें आग लगी। मैं कहने लगा, बड़ा अच्छा हुआ रुपये मिल गये। मेरा पन छूटते ही मकान जलनेका दुख मिट गया। अब हुण्डी के कागज़में मेरा पन है, बड़े भारी मकानसे सारा मेरा पन निकलकर जरासे कागज़के टुकड़ेमें आ गया। बस! अब हुण्डी की तरफ कोई ताक नहीं सकता। हुण्डी बेच दी गई रुपयोंकी थैली हाथमें आ गई। इसके बाद हुण्डीका कागज़ भलेही फट जाय, जल जाय, कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैली में आ गई। अब तो उसीकी सँभालमें वृत्ति लग गई। इसके बाद रुपये किसी महाजनको दे दिये। अब चाहे वे रुपये उसके यहाँ से चोरी क्यों न चले जायँ, कोई परवा नहीं। उसके खातेमें अपने रुपये जमा होने चाहिये। अब उस महाजनका फर्म बना रहना चाहिये, यदि चिन्ता है तो इसी बातकी है कि वह फर्म

कहीं दिवालिया न हो जाय। इसी प्रकार जिसमें अहन्ता ममता होती है उसीकी चिन्ता रहती है। यह अहन्ता ममता ही दुखों की जड़ हैं। वास्तवमें, 'मेरा' कोई पदार्थ नहीं है। यदि मेरा होता तो साथमें जाता।' पर शरीर भी साथ नहीं जाता। झूठेही 'मेरा' मान दुखोंका बोझ लादा जाता है। इस वास्ते राजासे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त विषय जन्य सुख परिणाममें दुःखका हेतु होनेसे दुःख रूप है और इसका कारण साफही बतला दिया गया है कि मोह ममताही दुःखका कारण है। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि,

सुरनर ऋषिमुनि सब फँसे, मृग तृष्णा जग मोह।
मोह रूप संसार है, गिरे मोह निधि जोह॥
माया तरुवर त्रिविधि का, सोक दुःख सन्ताप।
शीतलता सुपने नहीं, फल फीका तन ताप॥
नाशमान जो वस्तु है, सो तो ठहरे नाहि।
तासो मोह न कीजिये, यह निश्चय मन माहि॥

मायिक पदार्थ की कामना ही मनुष्यों को चित्स्वरूप साक्षात्कार में सबसे भारी प्रति बन्धक है। जिस पुरुष की कामना निवृत्त हो जाती है वही गुरूपदिष्ट विशेष ज्ञानसे 'मैं शुद्ध बुद्ध चित्स्वरूप हूँ, इस प्रकार के अखण्ड बोधको प्राप्त कर दृढ़ स्थिर होता है क्योंकि;—

पारख अचल अखण्ड है, ताहि परे नहिं और।
तिहि बिनु जगनर भटकि रहै, जहाँ नहीं थिति ठौर॥
मोह फंद सब फंदिया, कोय न सकै निवार।
कोइ साधु जन पारखी, बिरला तत्त्व विचार॥

कामना रहित पूर्ण पारख स्वरूपकी स्थिति होने हीसे पुरुष

के पुण्य, पाप रूप संचित कर्मोंका नाश हो जाता है। पुण्य पाप रूप कर्मही वासनाकी उत्पत्ति द्वारा शरीरान्तरकी प्राप्ति कराने वाले हैं, उनके नाश होनेसे मुमुक्षुको किसी लोक भोगकी कामना नहीं होती, अतएव उसका लिंग (सूक्ष्म) शरीर भी लोकान्तरमें नहीं जाता यथाः—

'अनजाने को स्वर्ग नर्क है। हरि जाने को नांहि।
जिहिं डरसे सबलोग डरतु हैं। सो डर हमरे नाहिं॥
पाप पुण्य की शंका नाहीं। स्वर्ग नर्क नहिं जाहीं।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो।जहँका पद तहँ समाहीं

बस ! जैसे गृहमें स्थित दीपकका प्रकाश तेलकी समाप्ति पश्चात् गृहमें ही लय हो जाता है तैसेही प्रारब्ध कर्म (भोग) समाप्त होनेपर मन इन्द्रिय सहित मुमुक्षुके प्राण भी शरीरके साथही अपने २ कारण स्वरूपमें लय हो जाते हैं। यथाः—

जब दिल मिला दयाल सों, तब कछु अन्तर नाहिं।
पाला गलि पानी भया, यों हरिजन हरि माहिं॥
लौन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहैं गून।
हरिजन हरिसों मिलिरहा, काल रहा सिर धून॥

इस विषयमें श्रुति भगवती इस प्रकार साक्षी देती है। कि,:- "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" "अत्रैव समवलीयन्ते" "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादि। भाव यह है कि जैसे मरणके अनन्तर अज्ञानी लोगोंके प्राण वासनानुसार लोकान्तरमें जाते हैं, उस प्रकार वासना रहित मुमुक्षुके प्राण लोकान्तरमें नहीं जाते किन्तु शरीर के समं (भीतर) ही लय हो जाते हैं। यदि यहाँ पर मुमुक्षुके शरीरान्त पश्चात् चैतन्य भागकी स्थिति पर कोई शंका करे तो उसका समाधान यह है कि,:—चित्स्वरूप साक्षात्कारके पूर्व भी

मुमुक्षु अज्ञानसे आवृत्त चैतन्य स्वरूप ही रहता है और स्वरूप साक्षात्कारके पश्चात् भी अज्ञान रूप आवरणसे रहित शुद्ध चिति स्वरूप हो अपनी महिमाहीमें रहता है, अतः उसके कहीं आना, जाना नहीं होता है। सम्पूर्ण व्यवहारमें रहित हो जाना है। क्योंकि त्रिविधि ईषणा जब निवृत्त हो जाती है तब यह पुरुष द्वित्व एकत्व मायाके संख्या गुणसे भी रहित, मात्र चिति स्वरूपहीको प्राप्त हो विमुक्त हो जाता है यथाः—

पृथिवी आपहु तेज नहिं, नहीं वायु आकास।
अलल पच्छि तहँ ह्वै रहै, सत्य शब्द परकास॥
गुरू नहीं चेला नहीं, मुरीद हूँ नहि पीर।
एक नहीं दूजा नहीं, विलमै दास कबीर॥

सर्व कामनाओंका कारण देहादिकोंमें अहं, अभिमान रूप अध्यास और देह सम्बन्धी पुत्र धनादिमें मम अभिमान रूप अध्यास ही है। यद्यपि अहं, मम इत्यादि अभिमानको मरणके अनन्तर सभी जीव त्याग देते हैं। तथापि जो पुरुष जीते जी उसका त्याग करता है वह शरीरमें स्थित हुआ ही मुक्त है। क्योंकि हृदयमें इच्छा रूप कमलके निवासको ही विवेकी पुरुष संसार बन्धन कहते हैं। और हृदयमें इच्छाके अभावको मोक्ष कहते हैं। इच्छा रूप कामका नाश दृष्टि स्वरूपका यथार्थ बोध बिना नहीं होता है। चिति ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति द्वारा इच्छा रूप कामका नाश होता है। जिस पुरुषको जीवित अवस्थामें चैतन्य स्वरूपका ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह शरीरमें स्थित भी मोक्षको प्राप्त हो जाता है, इसी वास्ते कबीर गुरुने बीजकमें कहा है कि—

"जियत न तरेहु मुयेका तरिहो ? जियतहि जो न तरे" इत्यादि और ऐसा भी उपदेश दिये हैं किः—

साधो भाइ ! जीवत ही करु आशा ।
मूये मुक्ति कहैं गुरु स्वारथि, झूठा दे विश्वासा ।

जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत होय भ्रम नासा ।
जीवतमुक्त जो भये मिले तेहि, मूयेहु मुक्ति निवासा॥

ऊपर कहे हुए मोक्षका कारण चित्त शुद्धि पूर्वक ज्ञान है । परन्तु सद्गुरुकी अनुकम्पा बिना वह ज्ञान मिलना बड़ी टेढ़ी खीर है । अतएव किसी भी लोक भोगकी आकांक्षा न करके केवल स्वरूप ज्ञान निष्ठाकी ही चेष्टा करनी चाहिये और सद्-गुरुके शरणागत हो अपने अधिकारके अनुसार अर्थात् शक्ति अनुसार मनुष्य जितना साधन कर सकता हो उसके लिये उतनाही करना उसका कर्त्तव्य है, करना चाहिये । जैसे एक योजन नहीं चलने वाले मनुष्यके लिये एकही कोश चलनेकी व्यवस्था की जाती है । उसमें भी विघ्न हो तो कबीर गुरु उसका कोई अपराध भी नहीं बतलाते । यथाः—

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस ।
कहँहिं कबीर बैठा रहै, ता सिर करडै कोस ॥

इसी कारणसे दयालु सन्त महात्मा आप्त वक्ताओंने सद्ग्रन्थों में भिन्न २ अधिकारोंको ही उद्देश्य करके भिन्न २ साधन युक्त अनेक प्रकरणोंकी व्यवस्था की है । इसी हेतुसे प्रस्तुत ग्रन्थ में भी गुरुदेवसे लेकर बिनती तक चोरासी अङ्ग (प्रकरण) का समावेश किया गया है । परमार्थतत्वको जाननेवाले सद्गुरु, विचार पूर्वक जिज्ञासुओंको अधिकारानुसार सद्ग्रन्थोक्त साधनों में लगाते हैं । मुमुक्षुको उचित है कि सद्गुरु उपदिष्ट साधनमें श्रद्धा, विश्वास पूर्वक लगा रहे, उनसे विमुख कदापि न होय । यथाः—

ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विश्वास।
गुरु सेवा ते पाइये, सतगुरु चरण निवास॥
गुरु शरणागत छाड़ि के, करै भरोसा और।
सुखसम्पतिकी कहँ चली, नहीं नरक में ठौर॥

अतएव सद्गुरुके आदेशानुसार ही साधक अपने जीवनका कर्त्तव्य स्थिर करे। अपनी बुद्धिसे कर्त्तव्य निर्णय करने जाकर अनुभव हीन साधक प्रायः ठगा जाता है और उसको परिणाम फलमें दुःखी होना पड़ता है, यथाः—

कंचन मेरु अरपहीं, अरपै कनक भण्डार।
कहँहिं कबीर गुरु बेमुखी, कबहुँ न पावै पार॥
शुकदेव सरिखा फेरिया, तो को ? पावै पार।
गुरु बिन निगुरा जो रहै, पड़े चौरासी धार॥

इनका सारांश यह है कि अपने अधिकारका निर्णय अपने द्वारा होना बहुत मुश्किल है। किन्तु अविद्या देवीका कुछ ऐसा प्रभाव है कि प्रायः सभी लोग सब विषयोंमें अपनेको ज्ञानी समझने लगते हैं। इस ज्ञानपने के मिथ्या अभिमानको त्याग कर श्रद्धा सहित सत्संग और सद्गुरुकी शरण होनेहीसे मनुष्यका जीवन कर्त्तव्य निःसन्देह स्थिर होता है। और कर्त्तव्यके पालनसे ही जीवनकी सफलता होती है। सन्त या सद्गुरु की प्राप्तिके लिये निष्काम कर्मसे स्वयं सबका मालिक सत्यनाम दर्शन देके जिज्ञासुओंको कृतार्थ कर देते हैं। यथाः—

जगत जनायो सकल जिहिं, सो गुरु प्रगटे आय।
जिन गुरु आँखिन देखिया, सो गुरु दिया लखाय॥

जाके सिर गुरु ज्ञान है, सोइ तरत भव माहिं।
गुरु विन जानो जन्तु को, कबहुँ मुक्ति सुख नाहिं॥
सतगुरु कहि जो शिष्य करै, सब कारज सिध होय।
अमर अभय पद पाइये, काल न झाँके कोय॥

यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध होगया कि सद्गुरुको आज्ञा से मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार कर्तव्य करे तो उसे दुःख किसी हालतमें नहीं हो सकता और मोक्षमें भी कोई प्रकारको वाधा नहीं पड़ सकती है। अतएव यहाँ पर मैं एक दृष्टान्त गुरु भक्ति परायण शिष्यका लिख देना उचित समझता हूँ। जिससे कि गुरु भक्ति मुक्तिका हेतु है। इस सिद्धान्तकी पुष्टि और गुरु-भक्तोंको गुरु-भक्तिमें पूर्ण श्रद्धा, विश्वास हो जाय।

गुरु-भक्ति परायणता।

किसी समय ऋषि बोधायन एक श्याम कमल हाथमे लिये हुए अपने गुरु व्यास मुनिके पास जा रहे थे। देवर्षि नारदजी ने आकाश मार्गसे जाते हुए उस पुष्पको देख लिया। झट पृथ्वीपर उतर पड़े और बोधायनजीसे बोले 'मैं इस पुष्पको ले जाकर श्रीमन्नारायणके चरण कमलोंमें अर्पण करना चाहता हूँ। यह बड़ाही सुन्दर है, इसी योग्य है, इसे कृपापूर्वक मुझे दे दीजिये।

इस विनीत वचनको सुनकर बोधायनजी शिर झुकाकर कुछ देर तक चुप रहे। नारदजीने कहा 'जो कुछ कहना हो कहिये संकोच मत कीजिये'। तब मधुर स्वरसे बोधायनजीने कहा। भगवन्! यह दास तो इस फूलको भगवत्पाद व्यासजी को अर्पण करने जा रहा था। अब जैसी आज्ञा हो।

कुछ सोच समझकर देवर्षि ने फिर कहा आप इस पुष्पको अपने गुरु ही को भेंट कीजिये। क्योंकि, :—

गुरु नारायन रूप है, गुरु ज्ञान को घाट।
सद्गुरु वचन प्रताप सों, मनके मिटै उचाट॥
गुरु गोविन्द दोउ एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटै हरि भजै, तब पावै दीदार॥
देवी बड़ी न देवता, सूरज बड़ा न चन्द।
आदि अन्त दोनों बड़े, कै गुरु कै गोविन्द॥

मोक्षका मूल आत्मज्ञानको देनेवाले सद्गुरु साक्षात् नारायण रूपही हैं, अतएव चलिये मैं भी साथेसाथ चलता हूँ।

दोनों महानुभाव व्यासजी के पास बदरिकाश्रममें गये। उस समय बादरायण ऋषि ध्यान मुद्रामें बैठे हुये थे। महर्षिकी आँखें खुलीं। देवर्षिके दर्शनसे कृतार्थ हुए। शिष्यके हाथसे फूल लेकर, उसकी सुन्दरता और कोमलता देखकर नारदजीसे बोले,—आप तो श्रीरामानिवासके दर्शनार्थ जायेंगे, यह पुष्प लेते जाइये, भगवान्को अर्पण कर दीजियेगा।

यह सुनकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुये और अपनी उत्कट इच्छा, बौधायनजीका संकल्प एवं आगमनका हेतु सब कह सुनाये। व्यासजीने मुस्कुराकर कहा,—'जब बौधायनसे आपने इसको याँचना की थी, तब उन्होंने आपको उत्तर देनेके लिये मेरा ध्यान किया था। मैं वहाँ उसी समय पहुँच गया और आप लोगोंकी बातें सुनकर चला आया। ठीकही है सद्गुरु कबीर कहते हैं कि, :—

गुरु जो बसे बनारसी, सींप समुँदर तीर।
एक पलक बिसरे नहीं, जो गुन होय सरीर॥

उच्छ कोस जो गुरु बसे, दीजै सुरति पठाय।
शब्द तुरी असवार है, छिन आवै छिन जाय॥

निःसन्देह, आपने जो बौधायनको उपदेश दिया है, वह सर्वथा आपके स्वरूपके अनुरूपही है।

गुरु बिन ज्ञान न ऊपजे, गुरु बिन मिलै न मोष।
गुरुबिन लखै न सत्यको, गुरु बिन मिटै न दोष॥
गुरु सेवा जन बन्दगी, हरि सुमिरन वैराग।
ये चारों तबही मिलैं, पूरन होवे भाग॥

बस! गुरु पदसे ही कैवल्य पद प्रतिष्ठित है। अन्यथा सब व्यर्थका बकवाद है।

देवर्षि ने कहा जिस शिष्यको दृढ़तामें गुरु पदके लिये ही स्थान है, जो उसे क्षणार्धके लिये भी नहीं भुलाता, अपने स्वरूप में स्थिर रहकर गुरुकी चौखट एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ता कि न जाने कब कृपा दृष्टि मेरी ओर फिरै और मुझे उसकी खबर भी न हो, उसी शिष्यको परम पदकी प्राप्ति होती है। अतएव सद्गुरु कबीर उपदेश देते हैं कि:—

हरि सेवा युग चार है, गुरु सेवा पल एक।
ताके पट तर ना तुलै, सन्तन कियो विवेक॥
द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय।
कबहुक धनी निवाजि है, जो दर छाड़ि न जाय॥
सन्त सरवस दे मिलैं, गुरु कसौटी खाय।
राम दोहाई सत कहूँ, फेरि न उदर समाय॥

अहो ! क्या आश्चर्य है कि, जैसे प्रवाहमें बहे जाते मनुष्यों की अपनी सुध बुध नहीं रहती, अपनी स्वतन्त्रता नहीं होती वैसेही जीव अपने स्वरूपमें बोध अनुभव स्वरूपही है तो भी अबोध वालेके समान संसार सिन्धुमें बह रहा है, यह बहनादी संसार चक्र है। मायाकी लीला विचित्र है, अनहोनो कार्यको सच्चा समझा देती है और जो वास्तविक समझनेको वस्तु है उसकी तरफ विचार करने भी नहीं देती। हे अविद्ये ! तेरी करतूतने हद कर डाली है। सच्चेको झूठा करके अपनाही अनुभव कराती हैं। हाय ! पामर मनुष्योंके ऊपर तू महान शत्रु होकर खड़ी है। क्योंकि;-"कारे मूड़को एकहु न छाँड़ो। अजहु आदि कुमारी" इत्यादि पामरोंको अबुद्धिसे ही तू बलिष्ट होकर उनके शिरपर चढ़ बैठी है। गुरु सत्संग विमुख लोग कैसे मूर्ख हैं। आज तक भी इस रहस्यको नहीं समझते। धन्य धन्य गुरुदेवकी कृपा ! कि आज गुरु सत्संगी मुमुक्षुओंके आगे उसका छल बल कुछ नहीं चलता। और जो अपरोक्ष चित्स्वरूप है उसका अपरोक्ष ही भान हो रहा है। बस ! गुरुदेव ! तेरी मौजकी बलिहारी है !!

मुझमें इतनी शक्ति क्या, गावूँ गला पसार।
बन्दे को इतनी घनी, पड़ा रहै दरबार॥

विनीतः—
पं० महाराज राघवदासजी,
लहरतारा धाम।

* सद्गुरुवे नमः *

अथ गुरुदेवको अंग ॥ १ ॥
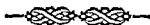
गुरु को कीजै दण्डवत, कोटि कोटि परनाम।
कीट न जानै भृंग को, गुरु करिले आप समान ॥१॥

अर्थः—

श्री सद्गुरो ! तेरी शरण में मुक्त जन सब आयके।
साधन शमादि युक्त है लहि ज्ञान चित्सुरझाय के ॥ १ ॥
होते हैं निर्भय निज निरन्तर अनाद्यनन्त स्वरूप में।
तद्रूपहि भय देह साक्षी हूँ ये साक्ष्य बहुरूप में ॥ २ ॥
ज्ञान ध्यान कर्त्तव्यता जो कुछ है मेरी भावना।
अखण्ड पारख स्वरूप तेरा है सबन परखावना ॥ ३ ॥
शुभ आप भी कर्त्तव्य अपना समझते यदि हैं यहाँ।
सहाय द्विगुण क्यों न होते ? प्रवृत्त अकेला हूँ जहाँ ॥ ४ ॥
स्वागत गुरो ! स्वागत गुरो ! स्वागत गुरो ! है आइये।
विचले हुए पद अर्थ से जनता को फिर अपनाइये ॥ ५ ॥
है विनय 'राघव' की यहि विलम्ब नहिं अब कीजिये।
परमार्थ जिज्ञासु जनों हित भाव अर्थ कर दीजिये ॥ ६ ॥

कीड़ा भृङ्गी को नहीं जानता, भृङ्गी (एक प्रकार की मक्खी) कीड़े को पकड़ के अपना शब्द सुनाती और अपने सी बना लेती है। ऐसे ही सद्गुरु अपने सदुपदेश से शिष्य को अपने सदृश बना लेते हैं। इसलिये सद्गुरु के चरणों में दण्डे की तरह पड़के कोटानकोटि आठो अंग सहित प्रणाम करना चाहिये। क्योंकि प्रतिउपकारार्थ संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा

नहीं है कि सद्गुरु को भेंट किया जाय इसलिये सम्मानपूर्वक निरभिमान दण्डवत प्रणाम ही योग्य है ॥ १ ॥

दंडवत गोविंद गुरु, वन्दौं अब जन सोय।
पहिले भये प्रनाम तिन, नमो जु आगे होय ॥२॥

दण्डवत् प्रणाम येही गुरु के चरणों में है जो अज्ञान अन्धकार दूर करने में सर्व ईशरूप हैं। और जो वर्तमान में सद्गुरु सत्संगीजन हैं उन्हें भी वन्दना है एवं भूतपूर्व आचार्य गुरु को प्रणाम तथा जो भविष्य में होनेवाले हैं उन्हें नमस्कार है ॥ २ ॥

गुरु गोविंद करि जानिये, रहिये शब्द समाय।
मिलै तो दंडवत बंदगी, नहिं पल २ ध्यान लगाय॥३॥

गुरु को सर्व ईशरूप समझना चाहिये, उन्हीं के सदुपदेश रूप शब्द में वृत्ति को प्रवृत्त कराना चाहिये। सामने मिले तो साष्टांग प्रणाम करे, नहीं तो अनुपस्थिति में सदा उनके उपदेश लक्ष्य को ध्यान में रक्खे ॥ ३ ॥

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, किसके लागौं पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दिया बताय ॥ ४ ॥

गुरु और गोविन्द दोनों की उपस्थिति में प्रथम प्रणाम किसको करना चाहिये? ऐसी अवस्था में, गोविन्द क्या वस्तु है? उसको दिखलाने वाले, निज सद्गुरु के चरणों में ही सर्वस्व निछावर करना चाहिये ॥ ४ ॥

गुरु गोविंद दोउ एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटै हरि भजै, तब पावै दीदार ॥ ५ ॥

सूर्य और प्रकाश की नाईं, गुरु और गोविन्द में नाममात्र का भेद है, दूसरा सब मायाका रूप है जब मायाका अहंकार

मेटकर अविद्या मयुक्त असुर भावको हरनेवाले हरि रूप सद्गुरु के शरणागत होवे तब स्वरूपका दर्शन-फल पावे ॥ ५ ॥

गुरु हैं बड़े गोविंद ते, मन में देखु विचार ।
हरि सिरजे ते वार हैं, गुरु सिरजे ते पार ॥ ६ ॥

विचारदृष्टिसे देखो तो गोविन्दसे गुरु इस प्रकार बड़े हैं जैसे शक्तिसे शक्तिमान् हरिके किये हुए नरजीव वार-संसारही चक्रमें रहते और गुरुसे संस्कृत नर पार (मुक्त) हो जाते हैं ॥६॥

गुरु तो गरुआ मिला, ज्यों आँटे में लौन ।
जाति पाँति कुल मिटि गया, नाम धरेगा कौन ।७॥

गुरुसे उपदिष्ट सत्स्वरूप में तो वेही गरुआ-अर्थात् साधन-युक्त गम्भीर शिष्य ऐसे मिलते हैं जैसे आँटेमें लवण। फिर उनके पृथक किसीके नाम धरनेके लिये जाति आदि कुछ नहीं रह जाता ॥ ७ ॥

गुरुसों ज्ञान जु लीजिये, सीस दीजिये दान ।
बहुतक भौंदू बहि गये, राखि जीव अभिमान ॥८॥

सद्गुरुसे ज्ञान-दीक्षा अवश्य लीजिये परन्तु उनको भेटके लिये धड़से शिर (अभिमान) उतारकर उनके चरणोंमें चढ़ा दीजिये, यदि ऐसा न होगा तो ध्यान रखिये बहुतसे मनमें मिथ्या अभिमान रखनेवाले अज्ञानी संसार धारामें बह गये॥८॥

गुरु की आज्ञा आवई, गुरु की आज्ञा जाय ।
कहैं कबीर सो संत है, आवागवन नसाय ॥ ९ ॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वेही सन्त हैं और वेही जन्म मरणसे मुक्त होते हैं जो गुरुके आज्ञानुसार चलते हैं ॥ ९ ॥

गुरु पारस गुरु पुरुप है,(गुरु)चंदनवास सुवास।
सतगुरु पारस जीव को, दीन्हा मुक्ति निवास॥१०॥

लोह रूप संसारी जीवको स्वर्णरूप करनेवाले गुरु पारस-मणि हैं एवं शिष्यका पुरुषार्थ रूप पुरुप गुरु ही हैं। तथा ढाक पलास निम्बवृक्षवत् शिष्योंको शुभ गुणसे सुगन्धित करनेवाले सुगन्ध युक्त चन्दन वृक्ष या मलयगिरिके समान सद्गुरु ही हैं। जो अपने ज्ञान-स्पर्शसे नरजीवोंको मुक्त किये व करते हैं॥१०॥

गुरु पारस को अन्तरो, जानत हैं सब संत।
वह लोहा कंचन करै, ये करि लेय महंत॥११॥

सद्गुरु और पारसमणिके तारतम्यको विवेकी सन्त सब जानते हैं। वह लोहाको केवल सोना बनाता है पारस नहीं, एवं मलयगिरि भी, परन्तु सद्गुरु तो सम्पूर्ण महत्त्व देकर अपना स्वरूप बना लेते हैं॥ ११॥

कुमति कीच चेला भरा, गुरु ज्ञान जल होय।
जनम जनम का मोरचा, पल में डारे धोय॥१२॥

कुमति रूपी कीचड़ शिष्यमें चाहे जितना भरा हो परन्तु सद्गुरु शरणागत हो निर्मल ज्ञान-जल प्राप्त करने पर क्षण-मात्रमें जन्म जन्मान्तरोंका दाग साफ हो जाता है॥ १२॥

गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबू सिरजनहार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसै जोति अपार॥१३॥

शिष्यको उचित है कि, अन्त करण रूपी पट शुद्धिके लिये साबुन बनानेवाले सद्गुरु धोबीकी शरणमें जावे और उनका बताया हुआ हृदय रूपी शिला पर धोइये अर्थात् वृत्ति ठहरानेसे अपार प्रकाश प्रगट होता है॥ १३॥

गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट ।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहिर बाहै चोट॥१४॥

शिष्य रूपी पात्र को बनाने वाले गुरु-कुंभकार हैं, विवेकादि साधन सम्पादन में आलस्य करने पर शिष्यको अन्दरसे दयाको सहारा देकर ऊपरसे ज्ञानको चोट मार मारके कसर निकाल देते और ज्ञान-जल ग्रहण योग्य शुद्ध पात्र प्रत्येक अङ्ग सुडौल बना लेते हैं ॥ १४ ॥

गुरु समान दाता नहीं, याचक सीष समान ।
तीन लोक की संपदा, सो गुरु दीन्हीं दान ॥१५॥

न तो गुरुके समान संसारमें अभय दान देनेवाला कोई दानी है न शिष्यके समान कोई माँगनहार है । शरणागत शिष्यको एक बार हो मैं आपका हूँ ऐसी याचनामें तीनों लोककी सम्पत्ति गुरु दे दिये और दे देते हैं । यथाः—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्ये तद्व्रतं मम" ॥ रामायण ॥१५॥

पहिले दाता सिष भया, तन मन अरपा सीस ।
पाछे दाता गुरु भये, नाम दिया बकसीस॥१६॥

सद्गुरुके चरणोंमें तन, मन, सहित शिरको समर्पणकर प्रथम शिष्य ही दाता हुआ, पीछे परमार्थ स्वरूपका प्रदानकर गुरु दाता भये ॥ १६ ॥

गुरु जो बसै बनारसी, सीष समुंदर तीर ।
एक पलक बिसरै नहीं, जो गुण होय सरीर ॥१७॥

यद्यपि किसी कारण वश गुरु वरणाके तीरे यानी काशी निवास करते हों और शिष्य सागरके किनारे, तो भी सच्चे

गुरुका सद्गुण सच्चे शिष्यसे किसी हालतमें क्षणमात्र भी नहीं भूलता ॥ १७ ॥

लच्छ कोस जो गुरु बसै, दीजै सुरति पठाय।
शब्द तुरी असवार है, छिन आवै छिन जाय॥१८॥

चाहे गुरु कोशों दूर भले बसे, परन्तु सच्चा शिष्य उनके लक्ष्य स्वरूपको सुरति बाणसे वेधे बिना नहीं रहता, सदुपदेश रूपी शब्द तुरंग पर उमंगयुत असवार हो पल पलमें आता जाता रहता है ॥ १८ ॥

गुरु को सिर पर राखिये, चलिये आज्ञा माँहि।
कहँ कबीर ता दास को, तीन लोक भय नाहिं॥१९॥

कबीर गुरु कहते हैं कि, गुरुके आज्ञा वाहक अर्थात् गुरु की आज्ञानुसार चलने वाले शिष्य को तीन लोक क्या? कहीं भी भय नहीं है ॥ १९ ॥

गुरु को मानुष जो गिनै, चरणामृत को पान।
ते नर नरके जाएँगे, जनम जनम है स्वान॥२०॥

जो निर्मल ज्ञान उपदेशक गुरुको सर्वसाधारण मनुष्य कोटिमें गणना करते हैं और सर्वतृष्णाहारी चरणोदकको सामान्य जल जानते हैं वे अवश्य अनेकों जन्म श्वान योनिको प्राप्त हो नरक फल का भागी हुए व होंगे ॥ २० ॥

गुरु को मानुप जानते, ते नर कहिये अंध।
होय दुखी संसार में, आगे जम का फंद ॥२१॥

गुरुको सामान्य मनुष्य करके मानने वाला मनुष्य विवेक दृष्टि रहित अन्धा है, वह जन्म भर संसार में दुखी होता और अन्तमें मृत्युके बन्धनमें पड़ता है। यथाः—

"ये तु सामान्य भावेन मन्यन्ते मनुजं गुरुं।
ते वै पाखण्डिनो ज्ञेया नरकार्हा नराधमाः" ॥गु० गीता २१॥

गुरु बिन ज्ञान न ऊपजै, गुरु बिन मिलै न भेव।
गुरु बिन संशय ना मिटै, जय जय जय गुरुदेव॥२२॥

न तो गुरु विना स्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है न ज्ञानका रहस्यही मिलता है एवं आत्मा और अनात्मा विषयक संशय भी गुरु विना नहीं मिटता अतः संशयहारक सद्गुरु देवका उच्च स्वरसे जयजयकार मनाना चाहिये ॥ २२ ॥

गुरु बिन ज्ञान न ऊपजै, गुरु बिन मिलै न मोप।
गुरु बिन लखै न सत्य को, गुरु बिन मिटै न दोष॥२३॥

जबकि गुरु विना ज्ञान नहीं होता है तो गुरु विना मुक्ति कैसे मिलैगी एवं गुरु विना सत्य स्वरूपको कोई नहीं लखता, न गुरु विना अन्तःकरण का त्रिविधि दोष ही मिटता है ॥ २३ ॥

गुरु नारायन रूप है, गुरु ज्ञान को घाट।
सतगुरु वचन प्रताप सों, मन के मिटै उचाट ॥२४॥

दृष्ट अदृष्ट दोनों फल को देनेवाले प्रत्यक्ष परमेश्वर रूप सद्गुरु हैं और ज्ञानका तीर्थरूपी गुरुही हैं उनके ज्ञान उपदेशके प्रतापसे मनकी सारी भ्रमणा मिट जाती है ॥ २४ ॥

गुरु महिमा गावत सदा, मन अति राखै मोद।
सो भव फिरि आवै नहीं, बैठ प्रभु की गोद॥२५॥

इसीलिये गुरुकी महिमा गाते हुये जो नर मनमें सदा अति प्रसन्नता रखते हैं, वे गुरु कृपासे पुनः संसारमें नहीं आते, आत्यन्तिक निवृत्तिको प्राप्त हो अचल अखण्ड स्थानमें स्थिर हो जाते हैं ॥ २५ ॥

गुरु सेवा जन बंदगी, हरि सुमिरन वैराग।
ये चारों तबही मिले, पूरन होवे भाग॥२६॥

तन, मन, धनसे सन्त गुरुकी सेवा सत्कार एवं आत्म चिन्तन रूप हरि-सुमिरन और विषय भोगों से उपराम रूप वैराग ये मोक्ष के चतुष्टय साधन पूर्ण भाग्यवान् पुरुषको ही मिलता है। यथाः—

"धर्मे रागः श्रुतेश्चिन्ता दाने व्यसन मुत्तमम्।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं सम्प्राप्तं जन्मनः फलम्"॥ नीति॥२६॥

गुरु मुक्तावै जीव को, चौरासी बंद छोर।
मुक्त प्रवाना देहि गुरु, जम सों तिनुका तोर॥२७॥

शरणागत जीवको सद्गुरु यमसे सम्बन्ध छुड़ा देते और मुक्तिका बीड़ा देकर चौरासी लक्ष योनियों के बन्धन से भी मुक्त कर देते हैं। साखी में जो "मुक्त प्रवाना देहिं गुरु" पद है इसका अर्थ मुक्तिका बीड़ा है, भाव यह है कि जिस प्रकार युद्धमें सम्मिलित होनेके लिये वीर पुरुष बीड़ा उठाते हैं, इसी प्रकार गुरु दीक्षा ग्रहणके समय शरणागत जीवको मुक्तिका प्रवाना इसी भावसे देते हैं कि-मोक्ष के बाधक काम क्रोधादि शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये सद्गुरुका बाना रूप चपरास पहन कर तैयार हो जावो। प्रवानाका दूसरा अर्थ रुक्का या पास भी होता है, जो राजदरबारमें प्रवेशके लिये दिया जाता है, सारांश यह है कि 'पास' प्राप्त पुरुषको कोई बीचमें अटका नहीं सकता न उसे किसी का भय ही रहता है क्योंकि "बीरा नाम दयालका मेटत यमका त्रास" इत्यादि वचनानुसार मुक्तिका प्रवाना (बीड़ा) पाये हुए मुमुक्षु वीरको यमराज रोक नहीं सकता इसलिये वह बेरटके मुक्ति धामको चला जाता है। और 'यमसे तिनुका तोर' का मतलब तिनका तोड़ना है,

यह साम्प्रदायिक पंच संस्कारमें से तिनका तुड़ाना प्रथम संस्कार विधि है जो गुरु पूजन विधिमें शरणागत शिष्यको इस अभिप्रायसे तिनुका अर्पण कराया जाता है कि अब तुम्हारा यमराजसे कोई सम्बन्ध नहीं रहा ॥ २७ ॥

गुरु सों प्रीति निवाहिये, जिहि तत निबहै संत।
प्रेम बिना ढिग दूर है, प्रेम निकट गुरु कंत ॥२८॥

जैसे बने तैसे सद्गुरुसे आदिसे अन्ततक सच्चा प्रेम निवाहना चाहिये, प्रेमसे प्राप्त होने योग्य सद्गुरु स्वामी अत्यन्त समीप होते हुए भी प्रेम बिना दूर पड़ जाते हैं ॥ २८ ॥

गुरु मारै गुरु झट करै, गुरु बोरै गुरु तार।
गुरु सों प्रीति निवाहिये, गुरु हैं भव कँडिहार ॥२९॥

संसार सागरके जहाज़का खेवनहार सद्गुरु ही कर्णधार (केवट) है, अतः चाहे वे मारें या धुत्कारें, तारें या बोरें, सब हालतमें सदैव सद्गुरुसे प्रेम प्रीतिका निर्बाह करना चाहिये २९

गुरु की महिमा को कहै, शिव विरंचि नहिं जान।
गुरु सतगुरु को चीन्हि के, पावे पद निरबान ॥३०॥

जबकि गुरुकी महिमाको शिव, ब्रह्मादि नहीं जानता फिर और कौन ऐसा है जो कह सकता है? जगत्के अनेक गुरुओंमें जो सद्गुरुको पहिचानता है वही मुक्तिपदको पाता है ॥ ३० ॥

गुरु मुख बानी ऊचरै, शीष साँच करि मान।
या विधि फंदा छूटहीं, और युक्ति नहिं आन ॥३१॥

"सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा। संयम यह न विषयकी आशा"

इत्यादि वचनानुसार विवेकादि साधनयुत शिष्यका यही परम कर्त्तव्य है कि गुरुमुख वाणीमें पूर्ण विश्वास रक्खे, इसके

अतिरिक्त निर्बन्ध होनेके लिये और कोई उपाय नहीं है ॥ ३१ ॥

गुरु मूरति गति चंद्रमा, सेवक नैन चकोर ।
आठ पहर निरखत रहे, गुरु मूरति की ओर॥३२॥

सेवकको उचित है कि चकोरकी तरह नेत्र इन्द्रियको संयममें रक्खे, गुरु मूर्तिरूप चन्द्रके सिवाय अन्य गति (विषय) न होने देवे, आठों पहर गुरुमूर्तिमें वृत्तिको लीन कर दे ॥३२॥

गुरू समाना शीष में, शीष लिया करि नेह ।
बिलगाये बिलगे नहीं, एक प्रान दुइ देह ॥३३॥

इस प्रकार शिष्यका गुरु विषयक अखण्ड स्नेह होनेसे गुरु भी अपने स्वरूपको ऐसे प्रवेश कर देते हैं कि किसी तरह पृथक करने पर भी पृथक नहीं होता देखनेके लिये केवल शरीर दो हैं प्राण तो एकही हो जाता है ॥ ३३ ॥

गुरु शरणागत छाँड़िके, करै भरोसा और ।
सुख संपति की कह चली, नहीं नरक में ठौर ॥३४॥

परम सुखका स्थान दयालु सद्‌गुरुकी शरणको छोड़कर जो कोई अन्यकी आशा करता है, उसको सुख सम्पत्तिकी क्या वार्ता चलाते हो? अहो! उसके लिये तो नरकमें भी ठौर नहीं है ॥ ३४ ॥

गुरु मूरति आगे खड़ी, दुतिय भेद कछु नाँहि ।
उनही कूँ परनाम करि, सकल तिमिर मिटि जाँहि३५

सद्‌गुरुकी वाङ्मय मूर्तिको संमुख रखलो, दूसरे भेद भावकी झंझटमें मत पड़ो, उन्हींके चरणोंमें सर्वाङ्ग शिर झुकाने से सम्पूर्ण अविद्या अन्धकार मिट जायगा ॥ ३५ ॥

ज्ञान प्रकासी गुरु मिला, सो जनि विसरौ जाय ।
जब गोविंद किरपा करी, तब गुरु मिलिया आय ३६

घटमें ज्ञान दीपक चेतानेवाले जो सद्गुरु मिले हैं उन्हें कभी मत भुलाओ, प्रभुने बड़ी कृपा की है, ऐसे ज्ञानप्रकाशी गुरु आ मिले हैं ॥ ३६ ॥

ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विश्वास ।
गुरु सेवा ते पाइये, सतगुरु चरण निवास ॥३७॥

ज्ञानी सन्त गुरुके सत्संगमें परस्पर प्रेमका प्रत्यक्ष सुख मिलता है, कीड़ीसे कुंजर पर्यन्त प्राणीपर दया रखनी परम भक्ति और सत्‌चित् आत्मस्वरुपमें अटल विश्वास श्रेष्ठ धर्म है। और कामनारहित केवल सद्गुरुकी सेवासे सद्गुरु के चरणोंकी शरण मिलती है ॥ ३७ ॥

कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और । ✓
हरि के रूठे ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥ ३८ ॥

ऐ गुरु भक्तो ! वह मनुष्य अन्धा है जो कल्याणकारक गुरु-विषयक भावना और तरहकी लाता है । ध्यान रक्खो ! हरिके रुष्ट होने पर रक्षाहित गुरुकी शरण है परन्तु गुरुके अप्रसन्न होनेपर कहीं भी ठिकाना नहीं ॥ ३८ ॥

कबीर हरि के रूठते, गुरु के शरणै जाय । ✓
कहैं कबीर गुरु रूठते, हरि नहिं होत सहाय ॥३९॥

सुनो ! हरिके रुष्ट होने पर बेखटके सद्गुरुकी शरणमें आ जावो । होश करो कबीर गुरु समझा रहे हैं, गुरुकी अप्रसन्नतामें हरि सहायता नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

हरि रूठे गति एक है, गुरु शरणागत जाय ।
गुरु रूठै एकौ नहीं, हरि नहिं करै सहाय ॥४०॥

क्योंकि हरिकी अप्रसन्नतामें तो सद्गुरुकी शरणमें जानेके लिये एक गति (उपाय) है परन्तु गुरुकी विमुखतामें हरि कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ४० ॥

कबीर गुरु ने गम कहा, भेद दिया अरथाय ।
सुरति कंवल के अंतरे, निराधार पद पाय ॥४१॥

सद्गुरु कबीरने सत्य मिथ्याको पृथक २ समझाके उस परमार्थ स्वरूपका ज्ञान बतलाया है जो निराधार पद है उस निरालम्ब लक्ष्यपदको केवल अभ्यासी पुरुषही अन्तर्मुख शुद्ध वृत्तिसे हृदयकमलके बीचमें प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं ॥ ४१ ॥

बलिहारी गुरु आपकी, घरी घरी सौ बार ।
मानुषते देवता किया, करत न लागी बार ॥४२॥

सद्गुरो ! आप धन्य हैं, बारम्बार कोटिशः आपको धन्यवाद है, ज़रा भी देरी न लगी शरणमें आतेही मनुष्यसे पूज्यदेव बना दिया है ॥ ४२ ॥

शिष खाँड़ा गुरु मसकला, चढ़ै शब्द खरसान ।
शब्द सहै सनमुख रहै, निपजै शीष सुजान ॥४३॥

शिष्यरूप तलवारको शब्दरूप सैकल देकर शुद्ध करनेवाले सद्गुरु सिकलीगर हैं, जो कोई उनके शब्द-सान पर चढ़के सन्मुख शब्द खरसान की रगड़ सहन करता है वही शिष्य श्रेष्ठ ज्ञानी बनता है ॥ ४३ ॥

भली भई जो गुरु मिले, नातर होती हानि ।
दीपक जोति पतंग ज्यों, पड़ता आय निदान ॥४४॥

अहो! धन्य भाग! जो सद्गुरु मिल गये नहीं तो वड़ी हानि होती। जैसे पतंग दीपककी ज्योतिमें जल मरता है तैसे ही गुरु विना आखीर कामाग्निमें जल मरता ॥ ४४ ॥

भली भई जो गुरु मिले, जाते पाया ज्ञान।
घट ही माहिं चबूतरा, घट ही माहिं दिवान॥४५॥

वड़ी अच्छी वात हुई कि सद्गुरु मिले जिनसे सत्यज्ञान प्राप्त हुआ। और घटहीके तख्तपर कचहरी लगी तथा घटमें परस्पर ऊधम मचानेवालेका फैसला करनेवाला मुन्सिफ भी घटहीमें मिल गये ॥ ४५ ॥

रामनाम के पटतरै, देवै को कछु नाहिं।
कहले गुरु संतोषिये, हवस रही मन माहिं ॥४६॥

गुरुका दिया हुआ वख्शीश राम नामके वदले कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि दिया जाय। फिर आप्तकाम गुरुको क्या लेकर सन्तुष्ट किया जाय ऐसी अभिलाषा शिष्यके हृदयमें वनी ही रही ॥ ४६ ॥

निज मनमाना नाम सों, नजरि न आवै दास।
कहैं कवीर सो क्यों करै, राम मिलनकी आस॥४७॥

जिसकी मनोवृत्ति रामनाम ऐसा अनूठा पदार्थ पाकर हृदयमें शान्त होगई है ऐसा जिज्ञासु दृष्टि में नहीं आता। कबीर गुरु कहते हैं कि यदि हृद्गत आरामप्रद राम नाममें प्रेम करनेवाला हो तो वह अन्य राम मिलनेकी आशाही क्यों करेगा।४७।

निज मन सों नीचा किया, चरण कमल की ठौर।
कहैं कवीर गुरुदेव विन, नजरि न आवै और॥४८॥

जिन जिज्ञासुओंने अपने मन भ्रमरको सद्गुरुके चरण-कमलके रसमें स्थिर कर दिया है, कबीर गुरु कहते हैं उसको गुरुदेवके अतिरिक्त और कहीं ठौर नज़र नहीं आती। फिर जाय तो कहाँ ? ॥ ४८ ॥

तन मन दीया(तो)भल किया, सिरका जासी भार ।
जो कबहूँ कहै मैं दिया, बहुत सहै शिर मार॥४६॥

तन सहित मनको गुरु चरणोंमें अर्पण कर दिया तो बहुत अच्छा किया, शिरका भार उतर गया अर्थात् कर्तव्य समाप्त हो गया परन्तु जो कदाचित् कहे कि मैं दिया तो ध्यान रक्खो वह बहुत चौरासी भोग का दण्ड सहेगा ॥ ४६ ॥

तन मन ताको दीजिये, जाको विषया नाहि ।
आपा सब ही डारि के, राखै साहिब माँहि ॥५०॥

होशियारीके साथ तन मन उसी गुरुको अर्पण करो जो विषयसे विरक्त और मायिक पदार्थोंके अभिमानसे रहित आत्मनिष्ठ है ॥ ५० ॥

ऐसा कोई ना मिला, रामनाम का मीत ।
तन मन सौंपे मिरग ज्यौं, सुनै बधिक की गीत ॥५१॥

केवल एक निरन्तर रामनामसे प्रीति करनेवाला प्रेमी बहुत कम होता है, जैसाकि तन मनकी सुधि भुलाकर मृग व्याधाकी गीत श्रवण करता है ॥ ५१ ॥

जल परमानै माछली, कुल परमानै सुद्धि ।
जाको जैसा गुरु मिला, ताको तैसी बुद्धि ॥५२॥

जल परिमाणके अनुसारही सरोवर, सागरादिमें छोटी बड़ी मछलियाँ रहती हैं और ऊँच नीच खानदानके अनुसारही

मनुष्यके आचरणमें स्वाभाविक शुद्धता होती है । ऐसेही जिसको जैसा उपदेशक गुरु मिले वैसीही उसको बुद्धि हुई और होती है ॥ ५२ ॥

जैसी प्रीति कुटुंब की, तैसी गुरु सों होय ।
कहैं कबीर ता दास का, पला न पकड़ै कोय ॥५३॥

मनुष्योंको जैसी प्रेमासक्ति परिवारमें है वैसी यदि ज्ञानप्रद गुरुमें होय तो गुरु कबीर कहते हैं ऐसे मोक्ष धामके मुसाफिरको कोई विघ्न बाधा नहीं डाल सकता ॥ ५३ ॥

सब धरती कागद करूँ, लिखनी सब बनराय ।
सात समुँद की मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय ५४

"कहि न जात उपकार अनेकन, श्रुति गावत गुणहारी ।
हरि विरंचि शंकर मुख वर्णन, गुरु पदको अधिकारी" ॥

इत्यादि गुरुका गुण लिखनेके लिये यदि सम्पूर्ण पृथ्वीको कागज किया जाय और सब जंगलकी क़लम बनाई जाय एवं सप्त सागर हीं को मसि पात्र बनाके जन्म पर्यन्त लिखें तो भी नहीं पार लग सकता ॥ ५४ ॥

बूड़ा था पर ऊबरा, गुरु की लहरी चमक्क ।
बेड़ा देखा झाँझरा, उतरी भया फरक्क ॥५५॥

"लोक वेदको कर्मधारमें, बहे जात अभिमानी ।
त्रिविध दुसह दुख देखि दयानिधि, प्रेर्यो परख निसानी" ॥

इत्यादि गुरुकी ऐसी लहर चमकी अर्थात् कृपा हुई कि संसार सागरमें डूब रहा था परन्तु बच गया, क्योंकि, गुरु-दृष्टि से शतशः छिद्र वाला संसाररूप जीर्ण जहाज़ देखनेमें आ गया इसलिये शीघ्र उतरकर अलग हो गया ॥ ५५ ॥

अहं अगनि निश दिन जरै, गुरु सों चाहै मान ।
ताको जम न्यौता दिया, हो(उ) हमार मिहमान ५६

जिसके हृदयमें आठों पहर मिथ्या वर्णादिकी अहंकार रूप अग्नि धधक रही है और गुरुसे जो प्रतिष्ठा चाहता है तिसको मानो मृत्युने अपने अतिथि सत्कारके लिये निमंत्रण दिया है। अर्थात् वह स्वयं कालका पहुना हो चुका ॥ ५६ ॥

जम गरजै बल बाघ के, कहैं कबीर पुकार ।
गुरु किरपा ना होत जो, तो जम खाता फार ॥५७॥

गुरु कबीर पुकार कर कहते हैं-ऐ मिथ्या अहंकारियों! बलीष्ठ सिंहके सदृश यमराज गर्जना कर रहा है यदि गुरु-कृपा न होती तो अवश्य मार खाता ॥ ५७ ॥

अबरन बरन अमूर्त जो, कहो ताहि किन पेख ।
गुरू दया ते पावई, सुरति निरति करि देख॥५८॥

जिसका न कोई रक्तादि वर्ण है न स्थूलादि आकार, ऐसे साक्षी स्वरूप आत्मतत्त्वको गुरु बिना कोई कैसे दर्शन कर सकता है ? उसको तो केवल गुरु-कृपासे शुद्ध और एकाग्रवृत्ति ही करके देखा जाता है ॥ ५८ ॥

पंडित पढ़ि गुनि पचि मुये, गुरु बिन मिले न ज्ञान ।
ज्ञान बिना नहिं मुक्ति है, सत्त शब्द परमान ॥५९॥

सद्गुरु बिना केवल शास्त्रका श्रवण, मनन करनेवाले पंडि-तोंको जिसके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान हो जाता है उसका ज्ञान नहीं होता न उस ज्ञान बिना मुक्ति होती, इसमें आप्त वक्ताका

१ "वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।

सत्य वचन प्रमाण भी है। "तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्"। अर्थात् परमार्थ तत्वको जाननेके लिये अधिकारीको गुरुकी शरणमें ही जाना चाहिये "को ? कबीर गुरु इव करुणालय, वेद वदत इति जानी। तद्विज्ञान हेतु शरणागत,गच्छ सकल भ्रम भानी" इत्यादि ॥ ५६ ॥

मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पुजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सत भाव॥६०॥

आत्मैक बोधेन विना विमुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्म शतान्तरेऽपि ॥"

विवेक चूडामणि ॥

अर्थ—भलेही कोई शास्त्रोंकी व्याख्या करें, देवताओंकी यजन करें। नाना शुभ कर्म करें। अथवा देवताओंको भजें, तथापि जब तक गुरुमुखसे ऐक्य आत्मस्वरूपका बोध नहीं होता तबतक सौ कल्पमें भी मुक्ति नहीं हो सकती।

"अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान् संन्यस्त बाह्यार्थ सुखस्पृह सन्।
सन्त महान्तं समुपेत्य देशिकं तेनोपदिष्टार्थं समाहितात्मा ॥"

विवेक चूडामणि ॥

अर्थ—शंकराचार्य कहते हैं-इसलिये विद्वान् सम्पूर्ण बाह्य भोगोंकी इच्छा त्यागकर सन्त शिरोमणि गुरुदेवकी शरण जाकर उनके उपदेश किये हुए विषय में समाहित होकर मुक्तिके लिये प्रयत्न करे। और भी है—

"गुरु विन ज्ञान नहिं गुरु विन ध्यान नहिं, गुरु विन आत्मविचार न लहतु है।
गुरु विन प्रेम नहिं गुरु विन नेम नहिं, गुरु विन शीलहु सन्तोष न गहतु है॥
गुरु विन प्यास नहिं बुद्धिको प्रकाश नहिं, भ्रमहुको नाश नहिं संशय रहतु है।
गुरु विन बाट नहिं कौड़ी विन हाटनहिं, सुन्दर प्रगट लोक वेद यों कहतु है॥'

सुन्दर विलास।

'ईश्वर ते गुरु में अधिक, धारे भक्ति सुजान विन गुरु भक्ति प्रवीणहु, लहे न आत्मज्ञान॥'

विचार सागर।

प्रतीक उपासकोंके लिये गुरु-स्वरूपका ध्यान ही परमाभिष्ट सिद्धिका मूल है और गुरु-चरणोंकी पूजा करना ही देव दर्शनार्थी पुजारी का मुख्य कर्तव्य है। त्रिविधि तापोंसे सन्तप्त तृषातुरोंको गुरु वचनामृत पान करनेके अतिरिक्त और कोई तृप्तिका मुख्य हेतु नहीं है, एवं अपनी भावनाको सत्यरूपमें पलट देना इससे बढ़कर सत्यकी जिज्ञासा और कोई नहीं किमधिकम् एक सद्गुरुही सबका सत्य ध्येय, सेव्य, पेय स्वरूप हैं॥ ६०॥

कहैं कबीर तजि भरम को, नन्हा ह्वै करि पीव।
तजी अहं गुरु चरण गहु, जम सों बाचै जीव॥६१॥

कबीर गुरु कहते हैं, ऐ नरजीवो! यदि अपनेको मृत्युसे बचाना चाहते हो तो मिथ्या बड़प्पन वर्णादिका भ्रम छोड़कर गुरु चरणोंमें स्तन पायी नन्हा बच्चा बन जाओ और गुरु-वाक्य सुधाको पानकर अमर हो जाओ॥ ६१॥

तीन लोक नव खंड में, गुरु ते बड़ा न कोय।
करता करै न करि सकै, गुरु करै सो होय॥६२॥

सम्पूर्ण खण्ड, ब्रह्माण्डमें ढूँढ़ देखो, कर्मकी रेख पर मेख मारनेवाले गुरुसे बढ़कर और कोई नहीं। किसीका किया कुछ नहीं होता, अविद्या अन्धकार दूर करनेवाला कोई नहीं, गुरु करैं सोई सत्य है॥ ६२॥

कोटिन चंदा ऊगहीं, सूरज कोटि हजार।
तीमिर तो नाशै नहीं, बिन गुरु घोर अँधार॥ ६३॥

चाहे करोड़ों चन्द्र, सूर्य क्यों न उदय होवें, परन्तु सद्गुरु-ज्ञान-दीपक बिना अज्ञान तम दूर नहीं होता॥ ६३॥

पहिले बुरा कमाइ के, बाँधी विष की पोट।
कोटि करम पल में कटै, (जब) आया गुरु की ओट ६४

जन्म जन्मान्तरोंके दुष्कर्मोंके भारसे भले पीड़ित हो या विषय वासना रूप विष पानकर बेभान हो किन्तु श्रद्धायुत, निष्कपट भावसे सत्गुरुकी शरण आनेपर सर्व कर्म नष्ट हो उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ ६४ ॥

जगत जनायो सकल जिहि, सो गुरु प्रगटे आय।
जिन गुरु आँखिन देखिया, सो गुरु दिया लखाय॥६५

जिस ज्ञान दृष्टिसे सम्पूर्ण जगत् दृश्य रूपसे जाननेमें आ जाता है। वही ज्ञानरूप गुरु जब अन्तरमें प्रकट होते हैं, तब गुरु प्रतापसे उस अदृश्य स्वरूपका भी दर्शन हो जाता है ॥६५॥

हरि किरपा तब जानिये, दे मानव अवतार। ✓
गुरु किरपा तब जानिये, छुड़ावे संसार॥६६।

मनुष्यका अवतार मिला यही मालिककी बड़ी मिहरबानी समझो। किन्तु गुरुकी कृपा तो तबही समझना जब संसारकी संसृति चक्र छूटे। अर्थात् गुरुकृपा बिना संसारसागरके पार कोई नहीं जा सकता ॥ ६६ ॥

जाके शिर गुरु ज्ञान है, सोइ तरत भव माँहि।
गुरु बिन जानो जन्तु को, कबहुँ मुक्ति सुख नाँहि॥६७॥

जिसके माथे गुरु और हृदयमें ज्ञान है, वही भवसिन्धुके उस पार है। गुरु बिना प्राणीको मोक्ष सुख कदापि नहीं मिलता ॥ ६७ ॥

देवी बड़ा न देवता, सूरज बड़ा न चंद। ✓
आदि अंत दोनों बड़े, कै गुरु कै गोविंद ॥६८॥

देवी, देव, सूरज, चन्द ये गोविन्दसे बड़े कोई नहीं केवल प्राणीके। नर जन्म देनेके हेतु आदिमें गोविन्द बड़े कहे जाते हैं और संसारसे मुक्त करनेके कारण अन्तमें तो गुरुही सबसे बड़े होते हैं ॥ ६८ ॥

सब कुछ गुरु के पास है, पाइये अपने भाग।
सेवक मन सौंपे रहै, निशदिन चरणों लाग ॥६६

"गुरु सम दाता कोई नहीं" इत्यादि अपने भाग्यके अनुसार गुरुसे सबही कुछ प्राप्त कर सकते हैं। सेवकको उचित है कि मनोवृत्तिको आठों पहर गुरुके चरणोंमें लगाये रहे ॥६६॥

बहुत गुरू भै जगत में, कोई न लागे तीर।
सबै गुरू बहि जायँगे, जाग्रत गुरू कबीर ॥७०॥

यों तो अनादि संसारमें गुरु नाम धरानेवाले बहुत हुये और हैं किन्तु भवसिन्धुमें गोता खाने खिलानेवाले हैं तीर लगने, लगानेवाले कोई नहीं। मुर्दा और स्वप्न रूप संसारमें जो गुरु जीवित और जाग्रत है वही स्वयं तीर लगता व लगाता है ॥७०॥

वेद पुराना साधु गुरु, सबन कही निज बात।
गुरु तें अधिक न दूसरा, का हरि का पितु मात ॥७१॥

वेद, पुरान, साधु और गुरु सबही कोई अपनी २ वाणीसे इस बातको प्रगट कर दिया है, कि संसारके क्या माता, पिता, क्या गुरु, गोसइयाँ? सत्य ज्ञानदाता सद्गुरुसे बड़ा कोई नहीं है ॥ ७१ ॥

ताते शब्द विवेक करि, कीजै ऐसो साज।
जिहि विधि गुरुसों प्रीति रहै, कीजै सोई काज ॥७२॥

इसलिये सार शब्दका विचार करके ऐसा प्रयत्न करो, कि जिससे सद्गुरुके ज्ञान उपदेशमें सदा प्रीति बनी रहे और मोक्षरूप कार्य भी सिद्ध होय ॥ ७२ ॥

सो(इ)सो(इ)नाच नचाइये, जिहि निबहै गुरुप्रेम।
कहैं कबीर गुरु प्रेम बिन, कितहुँ कुशल नहिं छेम७२

मनोवृत्तिरूपी नर्तकीको उसी २ नाचमें नचाओ जिससे प्रेमका निर्वाह हो और गुरु प्रसन्न होयँ, कबीर गुरु कहते हैं, सच्चे प्रेम विना कहीं कुशल नहीं है ॥ ७३ ॥

तन मन शीष निछावरै, दीजै सरबस प्रान।
कहैं कबीर दुख सुख सहै, सदा रहै गलतान ॥७४॥

गुरु चरणोंमें तन, मनके सहित शीश तो अर्पण करही दो, किन्तु गुरुदेवके संमुख प्राणको भी बलिदान कर दो, दुख सुख समान करके गुरु ज्ञानमें सदा गलतान (लीन) रहो॥७४॥

तब ही गुरु प्रिय बैन कहि, शीष बढ़ी चित प्रीत।
तो रहिये गुरु सनमुखाँ, कबहुँ न दीजै पीठ ॥७५॥

जब शिष्यकी बढ़ी चढ़ी अन्तर-प्रीति देखते हैं, तबही गुरु मोक्ष उपदेश रूप प्रेम वचन बोलते हैं। इसलिये मुमुक्षु सदा गुरुके सम्मुख रहे, विमुख किसी हालतमें न होय ॥ ७५ ॥

स्नेह प्रेम गुरु चरण सों, जिहि प्रकार से होय।
क्या नियरै क्या दूर बस, प्रेम भक्त सुख सोय ॥७६॥

जैसे बने तैसे सद्गुरु-चरणों में सच्चा प्रेम बनाय रक्खें। चाहे शरीरकी स्थिति दूर हो या नजदीक, प्रेमी भक्त सदा सुखी रहता है ॥ ७६ ॥

जिहि विधि शिषको मन बसै, गुरु पद परम सनेह।
कहैं कबीर क्या फरक ढिग, क्या परवत वन गेह७७॥

चाहे जिस तरह शिष्यका मन भँवरा गुरु चरण कमलके परम प्रेमी बने, उसी प्रकार बनावे। प्रेमके मुग्रामिलेमें दूर, नज़दीक या घर, वन, पहाड़का कोई विचार नहीं रहता ॥७७॥

जो गुरु पूरा होय तो, शीपहि लेय निवाह।
शीप भाव सुत जानिये, सुत (ते) श्रेष्ठ शिप आह ७८॥

सद्ग्रन्थ ज्ञान-पूर्ण, पारखनिष्ठ गुरु जो हों तो शिष्यको भी भवसिन्धुसे पार कर सकते ह। यद्यपि शिष्य भाव पुत्र भावके समान ही है, तथापि लोक परलोक विचारसे पुत्रसे शिष्य भाव श्रेष्ठ है ॥ ७८ ॥

अवुध सुवुध सुत मातु पितु, सबहि करै प्रतिपाल।
अपनी ओर निवाहिये, सिख सुत गहि निज चाल७९॥

ज्ञानी अज्ञानी, काना कुबड़ा आदि कैसी ही सन्तान हो माता पिता उन सबहीको जिस तरह पोषण करते हैं। उसी तरह गुरु अपनी गुरुत्व गतिको ग्रहण कर पुत्रकी नाईं शिष्यको अपनी ओरसे निर्वाह करते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते ॥ ७९ ॥

सुनिये संतो साधु मिलि, कहहिं कबीर बुझाय।
जिहि विधि गुरु सों प्रीति है, कीजै सोइ उपाय ॥८०॥

कबीर गुरु समझाके कहते हैं कि साधु, सन्तसे मिलकर हितकी बात सुनिये और वही उपाय कीजिये, जिस उपायसे गुरु में अटल प्रीति हो ॥ ८० ॥

करै दूरि अज्ञानता, अंजन ज्ञान सु देय।
बलिहारी वे गुरुन की, हंस उबारि जु लेय ॥८१॥

सद्गुरु अपने प्रेमीको ज्ञान-अंजन लगाके उसके भीतरका अविद्या अन्धकार एकदम दूर कर देते हैं, इसलिये ऐसे गुरुके चरणोंमें सर्वस्व निछावर है जो हंस जीवोंको उद्धार करते हैं॥८१॥

✓ हरि सेवा युग चार है, गुरु सेवा पल एक। ✓
ताके पटतर ना तुलै, संतन कियो विवेक ॥८२॥

श्रद्धासे की हुई सद्गुरुके एक लवकी सेवाका मुकाबला हरिके चारों युगकी आराधना नहीं कर सकती ऐसा सन्तोंने विचार कर प्रचार किया है ॥ ८२ ॥

ते मन निर्मल सत खरा, (जो) गुरु सों लागै हेत।
अंकुर सोई ऊगसी, (गुरु) शब्दै बोया खेत ॥८३॥

वही अन्तःकरण वास्तविक सत्य और शुद्ध है, जिसमें गुरु विषयक लगन लगी है। उसी चित्‌रूप खेतमें गुरुका बोया हुआ उपदेश रूप बीज अंकुरित हो उत्पन्न होगा और मनोवाँच्छित फल देगा ॥ ८३ ॥

भौसागर की त्रास ते, गुरु की पकड़ो बाँहि।
गुरु बिन कौन उबारसी, भौजल धारा माँहि ॥८४॥

भवसिन्धुके भयसे उद्धारहित केवल सद्गुरुके चरण-जहाज़की शरण लो। संसार प्रवाहमें बहतेहुये को गुरु बिना कौन पार करेगा? कोई भी नहीं ॥ ८४ ॥

लौ लागी विष भागिया, कालक (ख) डारी धोय।
कहैं कबीर गुरु साधु सों, कोइ इक ऊजल होय ॥८५॥

गुरुमें प्रेम होने पर विषय वासनासे वृत्ति स्वयं निवृत्त हो

जाती है, और दुष्कर्मजन्य अन्तःकरणकी कालिमा भी नहीं रह जाती। कबीर गुरु कहते हैं कोई एक गुरु-प्रेमीही गुरुके ज्ञान साबुनसे निर्मल होता है ॥ ८५ ॥

साबु बिचारा क्या करै, गाँठै राखै मोय।
जल सों अरसा परस नहिं, क्योंकर ऊजल होय॥८६॥

एक तो साबुन गॉठमें बाँधा हुआ है दूसरे जलसे स्पर्श नहीं, फिर वह कपड़ेको उज्ज्वल कैसे करे? ऐसेही सन्त गुरुमें दृढ़ श्रद्धा भक्ति सहित सत्संग ज्ञान विना किसीके अन्तःकरण-का मल, विक्षेपादि दूर न हो तो इसमें गुरु सत्संग ज्ञानका क्या दोष है? कुछ नहीं ॥ ८६ ॥

नारद सरिखा शीष है, गुरु है मच्छी मार।
ता गुरु की निन्दा करै, पड़ै चौरासी धार ॥८७॥

"नारद मुख गुरु निन्दा सुनि हरि कोप कियो अति भारी।
गुरु करुणानिधान इक पलमें चोरासी भय हारी॥"

इत्यादि नारद ऐसे शिष्यको भी विष्णुजीने धीमर गुरुकी निन्दा करने पर चोरासी भोगका दण्ड दिया था परन्तु फिर उसका उसी गुरुसे उद्धार हुआ। इसवास्ते शिष्यको चाहिये कि गुरुके ज्ञानसे अपना अन्तःकरण सदा पवित्र रखे, वर्ण आदिके झगड़ेमें पड़कर मनको कलुषित कभी न करै ॥ ८७ ॥

राजा की चोरी करै, रहै रंक की ओट।
कहैं कबीर क्यों ऊबरै, काल कठिन की चोट ॥८८॥

मालिकका माल चुराकर दरिद्रका आश्रय लेने पर वह कालदण्डसे कैसे बचेगा? कभी नहीं। कबीर गुरुका उपदेश सुनो, जो कुछ जन्मभर अज्ञानतामें बुरा कमाया है उसकी क्षमाके लिये केवल सद्गुरुकी शरण लो ॥ ८८ ॥

इति श्रीगुरुदेवको अंग ॥ १ ॥

सतगुरुको अंग ॥ २ ॥

कबीर ! रामानंद को, सतगुरु भये सहाय।
जगमें युक्ति अनूप है, सो सब दई बताय॥ १॥

ऐ कबीर ! जब रामानन्दजीको सद्गुरु सहायक हुये तब मानसिक पूजा विधिमें विस्मृत अनुष्ठान विधिको उपमा रहित युक्ति सब बतला दिये॥ १॥

सतगुरु के परताप तें, मिटी गयो सब दुंद।
कहैं कबीर दुविधा मिटी,(गुरु)मिलिया रामानंद॥२॥

फिर तो सद्गुरुकी कृपासे उनकी एक, दो नहीं किन्तु संशयजन्य सबही उपाधियाँ मिट गई॥ २॥

सतगुरु सम को है सगा, साधू सम को दात।
हरि समान को है हितु,हरिजन समको जात॥३॥

जगतमें सद्गुरुके सदृश न तो कोई परमार्थ-सहायक सम्बन्धी है, न परोपकारी साधुके समान कोई दानी है। एवं न हरि तुल्य कोई हितकर है, न हरि-जन सम कोई ज्ञाति बन्धु है॥ ३॥

सतगुरु सम कोई नहीं, सात द्वीप नव खंड।
तीन लोक ना पाइये, अरु इकइस ब्रह्मंड॥४॥

जम्बु द्वीप आदिक सात द्वीपोंमें तथा भरतखण्ड आदिक नव खण्डोंमें एवं स्वर्गादिक तीनों लोक और इकइस ब्रह्माण्डोंमें भी खोज देखो सद्गुरुके समान ठेठ उपकारी कोई नहीं॥ ४॥

सतगुरु महिमा अनंत है, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार ॥५॥

सद्गुरुकी महिमा अगम है, उन्होंने अपार उपकार किया है, अखण्ड आत्मदेवके दर्शन करनेवाली अनन्त दृष्टि उन्होंने ही उघाड़ दी है ॥ ५ ॥

दिल ही में दीदार है, वादि झखै संसार।
सतगुरु शब्दहि मसकला, मुझे दिखावनहार ॥६॥

अब दूर जानेकी ज़रूरत न रही, दिलहोमें दर्शन होता है, व्यर्थ संसारकी चिन्ता कौन करे? अर्थात् संसारी व्यर्थकी चिन्ता करता है, उससे मुझे क्या, जब कि सद्गुरु शब्द-सान पर चढ़ाके दिल दर्पण स्वच्छ कर स्वस्वरूप दिखानेवाले मिल गये हैं ॥ ६ ॥

सतगुरु साँचा शूरमा, नख शिख मारा पूर।
बाहिर घाव न दीसई, अन्तर चकना चूर ॥७॥

सच्चे शूर-वीर सद्गुरुका शब्दबाण नखाग्रसे शिखा पर्यन्त भरपूर बिंध गया वह घाव बाहर दूसरेको नहीं दीखता जिसको लगा वही जानता है क्योंकि बाण बाहर नहीं निकला वह तो अन्दरही टूटकर चूरमचूर हो गया ॥ ७ ॥

सतगुरु साँचा शूरमा, शब्द जु बाह्या एक।
लागत ही भय मिटि गया, पड़ा कलेजे छेक ॥८॥

सदुपदेशक सद्गुरका सार शब्द उपदेश रूप बाण अधिकारी प्रति चलाया हुआ एकही बड़ा काम करता है। उसके लगते ही भ्रान्ति भय मिट जाता है और प्रारब्ध भोग क्षय पर्यन्त दिलका छेद नहीं पुराता ॥ ८ ॥

सतगुरु मेरा सूरमा, बेधा सकल शरीर।
शब्द बाण से भरि रहा, (क्यौं)जीये दास कबीर॥९॥

जब सद्गुरुका शब्दबाण सम्पूर्ण शरीरमें प्रवेश कर जाता है तब शब्दबाणसे भरा हुआ जिज्ञासु संसार भोगके लिये पुनः जीवित नहीं होता ॥ ९ ॥

सतगुरु मेरा शूरमा, तकि तकि मारै तीर।
लागे पन भागे नहीं, ऐसा दास कबीर ॥१०॥

पारख स्वरूप उपदेशक सद्गुरु शूरमा तो निशान ताकके तीर लगाते हैं, मुमुक्षुको ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि शब्द कसनीसे डिगे नहीं ॥ १० ॥

सतगुरु मारा बाण भरि, निरखि निरखि निज ठौर।
नाम अकेला रहि गया, चित्त न आवै और ॥११

सद्गुरु का उपदेश 'भृङ्गी कीट न्याय' होता है, शिष्यकी मनोवासनाकी स्थिति देख २ उससे निवृत्तिका ऐसे उपदेश देते हैं। जिसमें शिष्यकी वृत्ति केवल ज्ञान विषयक हो जाती और भावना नहीं आने पाती॥ ११ ॥

सतगुरु मारा बाण भरि, धरि करि धीरी मूठ।
अंग उघाड़े लागिया, गया दुवाँ सों फूट ॥१२॥

सद्गुरुने ज्ञान धनुषपर शब्द बाण चढ़ाके मूठको ऐसे धीरेसे खैंचकर मारा कि उन्मुख शिष्यके प्रत्यङ्गमें विंध गया और आरपार निकल गया, ठीक ही है "मुझही ऐसा होय रहो" ऐसा उपदेशक गुरु शरणागत सच्चे शिष्यको किसीकी आशा नहीं रह जाती ॥ १२ ॥

सतगुरु मारा बाण भरि, टूटि गई सब जेब।
कहँ आपा कहँ आपदा, तसवी कहँ किनेब ॥१३॥

सद्गुरुके बाण लगतेही शरीर-सजाव विषयक मोहासक्ति सब दूर हो गई। स्वरूपमें ऐसा निष्ठ होगया कि मिथ्या अहंकार और दुख एवं जपमाला तथा वेद, कुरान-पाठका भी होश न रहा॥ १३॥

सतगुरु मारा बाण भरि, डोला नाहिं शरीर।
कहु चुंबक क्या करि सकै, सुख लागै वहि तीर॥१४॥

जब सद्गुरुके बाण लगने पर शिष्यका तन मन स्थिर हो गया, तब कहो! उसे चुम्बक (भोग) की क्या ज़रूरत? जब कि शब्दबाण (योग) उसको सुखदाई प्रतीत होता है॥ १४॥

सतगुरु मारा बाण भरि, रहा कलेजे भाल।
राठी काढ़ी तल रहै, आज मरै की काल॥१५॥

जिसे सद्गुरुका निराश उपदेश रूप भाला हृदयमें चुभ रहा है, उसे राठी यानी नाम ख्यातिसे क्या प्रयोजन है। जब कि अन्तर्हृदयसे मिथ्या मोहासक्तिको निकाल कर मरण शैया पर पड़ा है और आज काल मृत्यु घड़ीको गिन रहा है॥ १५॥

गोसा ज्ञान कमान का, खैंचा किनहु न जाय।
सतगुरु मारा बाण भरि, रोमहि रहा समाय॥१६॥

शिष्यका हृदयमें लगा हुआ ज्ञान धनुषका गोसा अर्थात् शब्द बाण वह किसीसे भी नहीं निकलता। क्योंकि सद्गुरुने ऐसा मारा कि वह रोम २ में प्रवेश कर गया है॥ १६॥

सतगुरु मारा तान करि, शब्द सुरंगी बाण।
मेरा मारा फिर जिये, (तो)हाथ न गहौं कमान॥१७॥

सद्गुरुने प्रण करके सदुपदेश रूपी सोधा बाण ज्ञान कमान पर चढ़ाके ऐसा मारा कि मेरा मारा हुआ पुनः संसारके लिये जीवित होगा तो ज्ञान कमान फिर नहीं ग्रहण करूँगा ॥१७॥

सतगुरु मारी प्रेम की, रही कटारी टूट।
वैसी अनी न सालई, जैसी सालै मूठ ॥१८॥

सद्गुरुने ऐसी प्रेम कटारी शिष्यको मारी कि मूठ सहित टूट गई। नोक इतनी दुखदाई नहीं होती जितनी कि मूठ सहित, भाव यह है कि पूर्ण आत्म प्रेमी ही संसार भोगसे उपराम होता है ॥ १८ ॥

सतगुरु शब्द कमान करि, बाहन लागे तीर।
एकहि बाहा प्रेम सों, भीतर बिधा शरीर ॥१६॥

सद्गुरुका शब्द कमानका प्रेम बाण तो एक ही काफ़ी है। और जहाँ अनेकों लगे फिर शरीर क्यों न विंधेगा ? ॥ १६ ॥

सतगुरु सत का शब्द है, (जिन) सत्त दिया बतलाय।
जो सत को पकड़े रहै, सत्त हि माँहि समाय ॥२०॥

सद्गुरने जिसको सदुपदेशसे सत्स्वरूपको लखा दिया और वह सत्य पर स्थिर होगया तो अन्तमें उसकी वृत्ति सत्य हीमें प्रवेश करती है ॥ २० ॥

सतगुरु शब्द सब घट बसै, कोइ कोइ पावै भेद।
समूँद बूँद एकै भया, काहे करहु निषेद ॥२१॥

यद्यपि सद्गुरुका सदुपदेश सब घटमें है तथापि इसका मर्म विरलाही सत्संगी पाता है, और जो भेद पाता है उसको समुँद बूँद यानी द्वैत अद्वैतका खेद भी मिट जाता है फिर वह विधि निषेधके झंझट में नहीं पड़ता ॥ २१ ॥

सतगुरु दाता जीवके, जीव ब्रह्म करि लेह।
सरवन शब्द सुनायके, और रंग करि देह ॥२२॥

सद्गुरु जीवके जीवनदाता हैं, कानमें अपना शब्द ऐसे सुनाते हैं कि जीव ब्रह्मादिका आग्रह मिटाकर और ही रंग कर देते, भावार्थ-विशिष्ट पुरुष किसीका पक्षपाती नहीं होता॥२२॥

सतगुरुसे सूधा भया, शब्द जु लागा अंग।
ऊठी लहरि समुँदकी, भींजि गया सब अंग॥२३॥

सद्गुरुके सार शब्द ग्राहीजन दुराग्रह को छोड़कर सीधी राह चलते हैं, उन्हें और कोई चिन्ता न होनेसे वे सदा शान्ति सागरकी मौज लिया करते हैं ॥ २३ ॥

शब्दै मारा खैंचि करि, तब हम पाया ज्ञान।
लगी चोट जो शब्दकी, रही कलेजे छान ॥२४॥

सद्गुरुने ऐसा मर्मभेदी शब्दवाण मारा कि हमें जन्मभर-के लिये होश होगया। हृदयमें चोट अच्छी तरह विंध गई, नहीं भूलती ॥ २४ ॥

सतगुरु बड़े सराफ हैं, परखे खरा रु खोट।
भौसागर ते काढ़िके, राखे अपनी ओट ॥२५॥

सत् मिथ्या परखने वाले सद्गुरु उत्तम पारखी हैं भव-सिन्धुमें डूबते हुएको निज शरणकी सहारा देकर रक्षा कर लेते हैं ॥ २५ ॥

सतगुरु बड़े जहाज हैं, जो कोइ बैठे आय।
पार उतारै और को, अपनो पारस लाय ॥२६॥

सद्गुरु शरण-जहाज पर जो कोई आकर बैठता है उसको

अपनी ओरसे पारस (पारसमणि, ज्ञानरूप पैसा) लगाके भव-सिन्धु पार कर देते हैं ॥ २६ ॥

सतगुरु बड़े सुनार हैं, परखे वस्तु भँडार।
सुरतिहि निरति मिलायके, मेटि डारे खुटकार॥२७॥

निज ज्ञान कसौटी पर परखने वाले सद्गुरु श्रेष्ठ सोनार हैं। अपनी लक्ष्य निष्ठामें जीवोंकी सुरति-श्रुति लगाके सर्वचिन्ता मेट देते हैं ॥ २७ ॥

सतगुरुके सदके किया, दिल अपनेको साँच।
कलियुग हमसों लड़ि पड़ा, मुहकम मेरा बाँच॥२८॥

दीक्षार्थ हमने अपने आपको सच्चे दिलसे सद्गुरुके चरणोंमें अर्पण कर दिया। जब कलहप्रिय कलियुगी संयोगी गुरु सब हमसे लड़ने लगे तब हमने अपना मुहकम यानी गुरु-आज्ञा पत्रिका रुक्का उनके सामने पेश कर दिया, ले, बाँच ॥ २८ ॥

सतगुरु मिलि निर्भय भया, रही न दूजी आश।
जाय समाना शब्दमें, रामनाम विश्वास॥२९॥

सद्गुरुके सच्चे उपदेशमें चित्त लगानेसे निर्भय होगया, अब तो दूसरी आशाही न रही। रामनाम शब्दको विश्वास कर श्रुति भी छुक गई ॥ २९ ॥

सतगुरु मोहि निवाजिया, दीन्हा अमर बोल।
शीतल छाया सुगम फल, हंसा करैं किलोल॥३०॥

सद्गुरुने बड़ी दया की, कि अमर स्वरूपकी बोली कानमें सुना दी। अब तो हंसा अमरफल खाके सद्गुरु-शरणरूपी शीतल छायाही में आनन्द आनन्द होगया ॥ ३० ॥

सतगुरु पारसके शिला, देखो सोचि विचार ।
आइ परोसिन ले चली, दीयो दिया सम्हार ॥३१॥

अच्छी तरह सोच समझकर देख लो, सद्गुरु वह पारस-मणि या जीता जागता जोन है जिसके स्पर्शसे जीवरूप लोहा सोनाही नहीं बनता किन्तु पारसरूप बन जाता है एवं प्रेमी पड़ोसी भी अपना दीपक सँभालके घर प्रकाश कर लेता है। भावार्थ-अनादि ज्ञान सद्गुरुका शिष्य प्रशिष्यसे प्रसरित होता है ॥ ३१ ॥

सतगुरु शरण न आवहीं, फिरि फिरि होय अकाज ।
जीव खोय सब जायँगे, काल तिहूँपुर राज ॥३२॥

ऐसे सद्गुरुकी शरण जो मोहवश नहीं आते उन्हें बारम्बार कल्याणमें विघ्न होता है यानी नरजन्म व्यर्थमें जाता है। क्यों-कि तीनों लोकमें कालका अधिकार है, सद्गुरु बिना उससे कोई नहीं बचता न बचेगा ॥ ३२ ॥

सतगुरु तो सतभाव है, जो अस भेद बताय ।
धन्य सीप धन भाग तिहिं, जो ऐसी सुधि पाय ॥३३॥

सत्यरूपकी भावनाका रहस्य बतलाने वाला सद्गुरु है। और जिसको ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है, वह शिष्य तथा उसका भाग्य भी धन्य है। क्योंकि उसके कल्याणमें कोई रुकावट नहीं रहती ॥ ३३ ॥

सतगुरु हमसों रीझि कै, कह्यो एक परसंग ।
बरषै बादल प्रेमको, भींजि गया सब अंग ॥३४॥

हमारेसे प्रसन्न होकर सद्गुरुने एक सत्स्वरूपका ही उप-

देश दिया। फिर तो प्रेमकी घटा ऐसी झड़ी लगाई कि हम तरबतर होगये ॥ ३४ ॥

सतगुरु बादल प्रेम के, हम पर बरष्यो आय।
अन्तर भींजी आतमा, हरी भई बनराय ॥३५॥

सद्गुरुने प्रेमका बादल हमारे ऊपर ऐसा बरसाया कि त्रिविधि तापोंसे सन्तप्त आत्मा शीतल हो गई, सूखा जंगल हरा होगया यानी सब तरफ आनन्दका दृश्य दीखने लगा ॥ ३५ ॥

हरी भई सब आतमा, शब्द उठे गहराय।
डोरी लागी शब्द की, ले निज घरकूँ जाय ॥३६॥

गूढ रहस्य युत सद्गुरुके सार शब्द सुनते ही मुमुक्षु हंसकी आत्मा प्रसन्न होगई और मोह नींदसे जाग उठी, सद्गुरुकी शब्द डोरीके सहारे क्षण भंगुर ससारको छोड़कर अपने अमर धामको चल दी ॥ ३६ ॥

हरी भई सब आतमा, सतगुरु सेंया मूल।
चहुँदिस फूटी बासना, भया कली सों फूल ॥३७॥

जैसे वृक्षके जड़में पानी डालनेसे प्रफुल्लित हो सब तरफ सुवासित करता है। तैसेही सब सेवाओंका मूल कारण सद्गुरुकी सेवासे जिज्ञासुकी आत्मा प्रसन्न होकर अपने मुक्तपदको पा जाती है ॥ ३७ ॥

सतगुरु हमसों भल कही, ऐसी करै न कोय।
तीन लोक जम फंद में, पला न पकड़े कोय ॥३८॥

सद्गुरुने हमसे बड़ी भली बात कही, ऐसी भलाई करनेवाले जगतमें कोई नहीं। यद्यपि तीनों लोकमें यमका फन्दा है।

तथापि सद्गुरुके प्रतापसे मेरी पल्ला (धोतीका अञ्चल) कोई भी नहीं पकड़ सकता ॥ ३८ ॥

सतगुरु मिले जु सब मिले, ना तो मिला न कोय।
मातु पिता सुत बंधुवा, ये तो घर घर होय॥३९॥

सदुपदेशक सद्गुरु मिले तो जानो सब मिल गये नहीं तो कोई न मिला। क्योंकि माता पिता आदि तो सबहीके घर घरमें हैं ॥ ३९ ॥

सतगुरु मिला जु जानिये, ज्ञान उजाला होय।
भ्रम का भाँडा तोड़ि करि, रहै निराला होय ॥४०॥

सद्गुरुका मिलना भी तबही समझो, जब घटके ज्ञानदीपक प्रकाशित हो जाय। भ्रमकुण्डाको तोड़कर स्वयं प्रकाशित हीरा स्वरूपको प्राप्त करले और निराधार हो रहै ॥ ४० ॥

सतगुरु आतम दृष्टि है, इन्द्री टिकै न कोय।
सतगुरु बिन सूझै नहीं, खरा दुहेला होय ॥४१॥

आत्मस्वरूप स्वसंवेद्य है, वहाँ तक बाह्य, अभ्यन्तर इन्द्रियोंकी गति नहीं, उस दुर्गम गढ़का रास्ता सद्गुरु-दृष्टि बिना नहीं दीखता ॥ ४१ ॥

सतगुरु किरपा फेरिया, मन का औरहि रूप।
कबीर पाँचौ पलटिया, भेले किया अनूप ॥४२॥

सद्गुरुकी कृपासे मनकी गति और की और हो जाती है, मनही नहीं किन्तु पाँचों इन्द्रियाँ भी सहायक हो जाती और अनूप अलख लखनेमें आ जाता है ॥ ४२ ॥

सतगुरु की मानै नहीं, अपनी कहै बनाय।
कहैं कबीर क्या कीजिये, और मता मन माँय॥४३॥

"शब्द न माने कथै विज्ञाना। ताते यम दियो है थाना" इस उपदेशके अनुसार कबीर गुरु कहते हैं कि जो सद्गुरुकी कही नहीं मानकर अपनी उलटी सीधी करता है उसको कोई क्या करेगा जब कि उसके मनमें औरही मत समाया हुआ है ४३

सतगुरु अमृत बोइया, शिष खारा ह्वै जाय।
राम रसायन छाँड़ि कर, आक धतूरा खाय ॥४४॥

सद्गुरुने तो सदुपदेश रूप अमर फलका बीज शिष्यके हृदय खेतमें बो दिया है यदि कोई सत् शिष्य होय और उसे श्रद्धा जलसे सींचे तो फल प्राप्तकर सकता है। अन्यथा राम सजीवन रसको छोड़कर आक धतुरा वत् भोगासक्त और श्रद्धा हीन कुछ नहीं पा सकता है ॥ ४४ ॥

सतगुरु महल बनाइया, प्रेम गिलावा दीन्ह।
साहिब दरशन कारनै, शब्द झरोखा कीन्ह ॥४५॥

चैतन्यात्म देव दर्शनके वास्ते सद्गुरुने प्रेमगारा से देवालय तैयारकर दिया है, यदि कोई श्रद्धावान् चाहे तो शब्द खिड़कीसे देख सकता है ॥ ४५ ॥

सतगुरु तो ऐसा मिला, ताते लोह लुहार।
कसनी दे कंचन किया, ताय लिया ततसार ॥४६॥

तपे हुये टुकड़े २ लोहेको घनसे पीटकर जोड़नेवाले लोहारके समान स्वरुप विमुख नरजीवोंको जब सद्गुरु मिलते हैं तब साधन कसौटी पर कसके शुद्ध कञ्चन बना देते और तत्त्व स्वरूपसे पुनः मिला देते हैं ॥ ४६ ॥

सतगुरु के उपदेश का, सुनिया एक विचार।
जो सतगुरु मिलता नहीं, जाता जम के द्वार ॥४७॥

"लोका मध्ये लोकाचार। सद्गुरु मध्ये एक विचार" इस मसलाके अनुसार जो एक सत्यात्म तत्त्व विचारी सद्गुरु नहीं मिलते तो अवश्य यम द्वारेका अतिथि होना पड़ता ॥ ४७ ॥

जम द्वारे में दूत सब, करते ऐंचातान ।
उनते कबहुँ न छूटता, फिरता चारौं खान ॥४८॥

वहाँ यमदूतोंके ऐसे झकझोरमें पड़ता कि उनसे कभी न छुटकारा पाता और उत्तम मध्यमादि चारों खानिमें चक्कर खाया करता ॥ ४८ ॥

चारि खानिमें भरमता, कबहु न लगता पार।
सो फेरा सब मिटि गया, सतगुरु के उपकार ॥४९॥

रहट घड़ियोंकी तरह चक्कर खाने पर भी कभी पार नहीं लगता। अहो! धन्य भाग और सद्गुरुका उपकार कि वह सबही फेरा एकही बेरा मिट गया ॥ ४९ ॥

पाछे लागा जाय था, लोक वेद के साथ।
पैड़े में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ ॥५०॥

लोक, वेद विहित क्रिया कर्मके पीछे अन्धेकी तरह धुन बाँधे दौड़ा जा रहा था कि रास्तेमें सद्गुरु मिल गये और ज्ञान दीपक हाथमें थमा दिये। बस! निज घरकी राह मिल गई ५०

दीपक दीन्हा तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आवैं हट्ट ॥५१॥

अखण्ड बत्तिवाले तेल भरके दीपक दे दिये जिसके प्रकाशमें ऐसा पूर्ण पदरूप सौदा कर लिया कि पुनः संसार बाजारमें आने ही न पड़ा ॥ ५१ ॥

पूरा सतगुरु सेवताँ, अंतर प्रगटे आप।
मनसा वाचा कर्मना, मिटे जनम के ताप ॥५२॥

मन, वच, कर्मसे पूरे सद्गुरुकी सेवा करनेपर अन्तरमें स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता फिर त्रिविधि तापोंकी भी अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है ॥ ५२ ॥

पूरा सतगुरु सेव तूँ, धोखा सब दे डार।
साहिब भक्ति कहँ पाइये, अब मानुष अवतार॥५३॥

ऐ मनुष्यो! इस नरदेहसे पूरे सद्गुरुकी सेवा करलो और धोखा रूप वर्णाश्रमका मिथ्या अभिमान सब टाल दो, पूर्णपद भक्ति ही से प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

पूरा सतगुरु सेवताँ, शरणे पायो नाम।
मनसा वाचा कर्मना, सेवक सारा काम ॥५४॥

श्रद्धा सहित मन, वच, कर्मसे सद्गुरुकी सेवा करनेवाले शरणागत सेवकको सम्पूर्ण अर्थकी सिद्धि हो जाती है ॥ ५४ ॥

मनहि दिया जिन सब दिया, मन के संग शरीर।
अब देवे को क्या रहा, यौं कथि कहैं कबीर५५

कबीर गुरु इस प्रकार कहते हैं कि जिसने गुरु चरणोंमें मनको अर्पण कर दिया उसने सब कुछ दे दिया क्योंकि शरीर और शरीर सम्बन्धी सारे पदार्थ मनके साथ हैं ॥ ५५ ॥

तन मन दिया जु क्या हुआ, निज मन दिया न जाय।
कहैं कबीर ता दास सों, कैसे मन पतियाय ॥५६॥

तन मन देने पर भी जिसने अन्तर मन गुरुको नहीं

सौंपता उसको गुरुका मन भी सेवक रूपमें विश्वास नहीं करता ॥ ५६ ॥

तन मन दिया जु आपना, निज मन ताके संग ।
कहैं कबीर सदके किया, सुनि सतगुरु परसंग ॥५७॥

अन्दरूनी मन अपने अन्दर रखके ऊपरसे तन मन अर्पण कर जो सद्गुरुका कहलाता है, कबीर गुरु कहते हैं कि सद्गुरुका ज्ञान सुनकर भी उसने सतप्रतिज्ञा क्या किया ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ५७ ॥

पारस लोहा परसते, पलटि गयो सब अंग ।
संशय सबही मिटि गया, सतगुरु के परसंग ॥५८॥

पारसमणिके स्पर्शसे जैसे लोहा सर्वांग सोना बन जाता । तैसेही सद्गुरुके ज्ञान-स्पर्शसे शरणागतका सर्व संशय निवृत्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

सब जग भरमा यौं फिरैं, ज्यों रामा का रोज ।
सतगुरुसों सुधि जब भई, पाया हरि का खोज ॥५९॥

हरिकी खोजमें जंगली गायकी तरह संसार-जंगलमें भटक रहा था लेकिन सद्गुरुसे जब ज्ञान मिला तब अपने आपमें हरिको पा गया ॥ ५९ ॥

थापन पाई थिर भया, सतगुरु दीन्ही धीर ।
कबीर हीरा बनिजिया, मान सरोवर तीर ॥६०॥

सद्गुरुने हृदयमें हरिको स्थापन कर मनको धीरज दे स्थिर कर दिया इसी लिये स्वात्मरूप हीरा हृदय ही में खरीद लिया ॥ ६० ॥

कबीर हीरा बनिजिया, हिरदै प्रगटी खान ।
पारब्रह्म किरपा करी, सतगुरु मिले सुजान॥६१॥

"परम प्रभु अपने ही उर पायो । युगन २ की मिटी कल्पना सद्गुरु भेद बतायो ॥" इत्यादि वचनके अनुसार प्रभुने बड़ी कृपा की, कि ज्ञाननिष्ठ सद्गुरु मिल गये । हृदयमें खान प्रगट होगई और मैंने वहीं हीरा खरीद लिया ॥ ६१ ॥

निश्चय निधी मिलाय तत, सतगुरु साहस धीर ।
निपजी में साम्की घना, बाँटनहार कबीर ॥६२॥

सद्गुरुकी धीरज और दृढ़तासे निश्चयपूर्वक परमतत्त्वका खज़ाना मिल गया । अब प्रगट खानके भागीदार भाग लेनेवाले अनेकों जिज्ञासु हैं । अच्छा तो अटूट खजानामें हर्जही क्या है ? कोई नहीं ॥ ६२ ॥

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाय ।
अनन्य कथा जिव संचरी, हिरदै रही समाय ॥६३॥

सद्गुरुकी सहायतासे स्वरूप स्थिति होनेपर मन भी स्थिर होगया । अब जीव अपना वह स्थान पा गया जिसको दूसरी कथा नहीं है ॥ ६३ ॥

कर कमान सर साधि के, खैंचि जु मारा माँहि ।
भीतर बींधै सो मरै, जिय पै जीवै नाँहि ॥६४॥

सद्गुरु जिज्ञासुके हृदयमें ज्ञान कमान पर शब्दबाण चढ़ाके ऐसे तानकर मारे कि जिनके भीतर बिंधा वे मर ही गये, केवल संसारियोंकी दृष्टिमें देखने मात्रके जीवित रहे ॥ ६४ ॥

चेतन चौकी बैठि के, सतगुरु दीन्ही धीर।
निर्भय होय निःशंक भजु, केवल कहँ कबीर ॥६५॥

सद्गुरुने चित्स्वरूप तख्त पर स्थिर हो सबको ऐसा साहस दिया और देते हैं कि शंका रहित कैवल्य स्वरूपको ही निर्भय चिन्तन करो ॥ ६५ ॥

जबही मारा खैंचि के, तब मैं मूआ जानि।
लागी चोट जु शब्द की, गई कलेजे छानि ॥६६॥

सद्गुरुका शब्दबाण ऐसा घाव किया कि हृदय छिद गया और मैं उसी वक्त विदेह होगया ॥ ६६ ॥

हँसै न बोलै उनमुनी, चंचल मेल्या मार।
कहैं कबीर अंतर बिंध्या, सतगुरु का हथियार ॥६७॥

गुरु कबीर कहते हैं कि जिसके हृदयमें सद्गुरुका ज्ञान हथियार बिंधता है। हँसना, बोलना और चचलता सबही दूर होकर उसकी काष्ठवत् उनमुनी अवस्था हो जाती है। यथा— "शङ्ख दुन्दुभि नादं च न शृणोति कदाच न। काष्ठ वज्जायते देह उन्मुन्यवस्थया ध्रुवम् ॥" हठयोग प्रदीपिका ॥ ६७ ॥

गूँगा हुआ बावरा, बहरा हुआ कान।
पाँवन ते पँगुला भया, सतगुरु मारा बान ॥६८॥

ज्योंही सद्गुरुका बाण लगा त्योंही सब तरफसे गूँगा, बावरा, बहरा और पंगुल होगया। संसारके किसी कामका नहीं रहा ॥ ६८ ॥

ज्ञान कमान रु लौ गुना, तन तरकस मन तीर।
भलक बहै तत सार का, मारा हदफ कबीर ॥६९॥

सद्गुरु ज्ञानके कमान और ध्यानकी डोरी तथा तनका भाथा और मनके तीर बनाके अच्छी तरह जिज्ञासुके प्रति आत्मतत्त्वका निशान लगाने लगे ॥ ६६ ॥

जो दीसै सो विनसि है, नाम धरा सो जाय।
कबीर सोई तत गह्यो, सतगुरु दीन्ह बताय॥७०॥

ऐ जिज्ञासुओ! परिणामी नाम रूपको छोड़ो, अपरिणामी उस आत्मतत्त्वको पकड़ लो जिसको सद्गुरुने निर्देश किया है॥

कुदरत पाई खबर सों, सतगुरु दिया बताय।
भँवर विलंबा कमल रस, अब उड़ि अंत न जाय॥७१॥

सद्गुरुने मायाका सच्चा स्वरूप दिखला दिया, इसलिये प्राप्त ज्ञान जिज्ञासुका मन भ्रमर, भ्रमण छोड़कर सद्गुरुका चरण कमल-रसको ही पान करने लगा ॥ ७१ ॥

राम नाम छाँड़ौं नहीं, सतगुरु सीख दई।
अविनाशी सों परसि के, आतम अमर भई॥७२॥

सद्गुरुके बतलाया हुआ राममें मन रमने लगा अब उसको नहीं छोड़ सकता, क्योंकि अविनाशी स्वरूपका स्पर्श कर आत्मा अमर होगई ॥ ७२ ॥

चित चोखा मन निरमला, बुधि उत्तम मति धीर।
सो धोखा नहिं विरहहीं, सतगुरु मिले कबीर॥७३॥

जिन जिज्ञासुओंको सद्गुरु मिल गये, चित मन बुद्धि विशुद्ध होगई और मति कर्तव्याकर्तव्य अगामी फलको विचार कर रही है वे धोखामें कभी नहीं पड़ सकते ॥ ७३ ॥

बिन सतगुरु बाचै नहीं, फिर बूड़ै भव माँहि।
भौसागर की त्रास सें, सतगुरु पकड़े बाँहि ॥७४॥

सद्गुरु बिना भवसागर भयसे पार कभी कोई नहीं हो सकता, जिसकी बाँह सद्गुरु पकड़ते हैं, वही निर्भय होता है॥

जीव अधर्म अति कुटिल हैं, काहु नहीं पतियाय।
ताका औगुन मेटि कर, सतगुरु होत सहाय ॥७५॥

कुसंगी नरजीव अधर्मी और कपटी होता है, जिसका कोई नहीं विश्वास करता। तिसका भी दोष दूरकर सद्गुरु सहायक हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

जेहि खोजत ब्रह्मा थके, सुर नर मुनि अरु देव।
कहैं कबीर सुन साधवा, करु सतगुरु की सेव ॥७६॥

सद्गुरु बिना जिसकी खोजमें ब्रह्मादि देव सब थक गये। हे सन्तो ! उस तत्वको पानेके लिये केवल सद्गुरुकी सेवा करो॥

काल के माथे पाँव दे, सतगुरु के उपदेश।
साहिब अंक पसारिया, ले चल अपने देश ॥७७॥

सन्देह मत करो, सद्गुरुके ज्ञान बलसे कालके शिरपर पैर धर दो। सद्गुरु तो शरणागत शिष्यको निज लोक ले जानेके लिये भुजा फैलाये हैं ॥ ७७ ॥

जाय मिल्यो परिवार में, सुख सागर के तीर।
बरन पलटि हंसा किया, सतगुरु सत्त कबीर॥७८॥

"सत्यलोक सुखसागर सोई। प्रभु शरणागत पारखी जोई॥"

इत्यादि वचनानुसार सुखसागरके किनारे अपने परिवारसे जाकर मिलो, सद्गुरु सत् जिज्ञासुको काकसे हंस कर देते हैं ७८

जग मूआ विषधर धरै, कहैं कबीर पुकार ।
जो सतगुरु को पाइया, सो जन उतरै पार ॥७९॥

"बेड़ा बाँधिन सर्पका, भवसागरके माँहि" इत्यादि संसारी जीव सब काम क्रोधादि रूप विषधर सर्पको पकड़के मरे व मर रहे हैं। कबीर गुरु पुकार कर कह रहे हैं, जो सद्गुरुको पायगा वही भवसिन्धुके पार गया व जायगा ॥ ७९ ॥

अंधा ऊवट जात है, दोनों लोचन नाँहि ।
उपकारी सतगुरु मिले,(लै) डारै बस्ती माँहि॥८०॥

अन्तर बाहर दृष्टि हीन कामातुर कुमार्गको जाता है। परम उपकारी सद्गुरु मिल जाते हैं तो उसको भी सुमार्ग लैके निज नगरमें रख छोड़ते हैं ॥ ८० ॥

दौड़ आय सो दौड़सी, पहुँचेगा उन देश ।
जाय मिले वा पुरुष कूँ, सतगुरु के उपदेश ॥८१॥

जो सद्गुरुके उपदेशसे संसारसे भगेगा वही सुमार्गसे चलकर उनके देशको पहुँचेगा, और उस पुरुषसे मिलेगा जहाँसे पुनः आना नहीं होता ॥ ८१ ॥

जग में युक्ति अनूप है, साध संग गुरु ज्ञान ।
तामे निपट अनूप है, सतगुरु लागा कान॥८२॥

संसारमें जो उपमारहित युक्ति है, उसकी प्राप्ति केवल सन्त गुरुके सत्संग ज्ञानसे होती है। यद्यपि उस युक्तिसे बिलकुल अजान हो तो भी सद्गुरुका ज्ञान कान धरनेसे कल्याण हो जाता है ॥ ८२ ॥

शीप हरन गुरु पारधी, रामनाम के बाण ।
लागा तबही भय मिटा, तबही निकसे प्राण॥८३॥

शिष्यरूपी मृगको सद्गुरु-पारधीका राम बाण लगतेही प्राण निकल गया और वह निर्भय होगया। भावार्थ—सद्गुरु ज्ञानसे कल्याण हो जाता है ॥ ८३ ॥

सब जग तो भरमत फिरै, ज्यों जंगल का रोज।
सतगुरु सों सूधि भई, जब देखा कछु मौज ॥८४॥

नीलगायकी तरह संसार जंगलमें भटक रहा था लेकिन सद्गुरुसे ज्ञान प्राप्त होने पर कुछ आनन्द मिल गया ॥ ८४ ॥

तीन लोक हैं देह में, रोम रोम में धाम।
सतगुरु बिन नहिं पाइये, सत्तसार निज नाम॥८५॥

ब्रह्माण्डके सारे पदार्थ शरीरमें प्राप्त है, किन्तु निज सत्स्वरूपका राम-ज्ञान सद्गुरु बिना नहीं मिलता ॥ ८५ ॥

सकल जगत जानै नहीं, सो गुरु प्रगटे आय।
जिन आँखों देखा नहीं, सो गुरु दीन्ह लखाय॥८६॥

विवेक दृष्टि हीन संसारी जीव सब जिस वस्तुको कभी न देखे न सुने हैं उसी अलख वस्तुको सद्गुरु प्रत्यक्ष लखा दिये व देते हैं ॥ ८६ ॥

चलते चलते युग गया, को (इ) न बतावै धाम।
पैंडे में सतगुरु मिले, पाव कोश पर गाम॥८७॥

चलते २ युगों चले गये लेकिन मायारूप पावकोशके परे स्वरूपधामको न तो किसीने बतलाया न पहुँचा। रस्तेमें सद्गुरु मिले और झट पहुँच गये ॥ ८७ ॥

सीप जु तबलग उतरती, जबलग खाली पेट।
उलटि सीप पैंडे गई, (जब) भई स्वाँति सों भेंट॥८८

जब खाली पेटे रहती है तबही सीपी जल पर तैरती है, स्वाती बूंदसे मिलाप होतेही अपने घरकी राह ली। भावार्थ- इसी प्रकार गुरु-ज्ञान प्राप्त जिज्ञासु मुक्तिधामको पहुँचते हैं ८८

सीप समुंदर में बसै, रटत पियास पियास।
सकल समुँद तिनखा गिनै,(एक)स्वाँति बूँद की आश

सीपी समुद्रहीमें रहती है परन्तु उस जलको तुच्छ समझ कर ग्रहण नहीं करती केवल एक बूंद स्वाति जलकी आशामें ऊपर तैरा करती है ॥ ८९ ॥

कबीर समझा कहत है, पानी थाह बताय।
ताकूँ सतगुरु कह करै,(जो)औघट डूबै जाय॥९०॥

सद्गुरु भवसिन्धु पार जानेवाले जिज्ञासुओंको तो सागर की थाह (हद) बतलाकर अपनी समझ कह रहे हैं। लेकिन कहने पर भी कुघाट (कुमार्ग) में बूड़नेवालोंको वे क्या करैं।९०।

डूबा औघट ना तरै, मोहि अंदेसा होय।
लोभ नदी की धार में, कहा पड़ो नर सोय॥९१॥

ऐ नरजीवो! लोभरूपी सागर प्रवाहमें पड़कर अचिन्त निद्रा कैसे लेते हो? मुझे तो चिन्ता है, औघटमें डूबनेवाले पार नहीं लगते ॥ ९१ ॥

सचुपाया सुख ऊपजा, दिल दरिया भरपूर।
सकल पाप सहजे गया, सतगुरु मिले हजूर॥९२॥

हाज़िर हजूर सद्गुरु भरपूर जिसे मिले उसे लपालप हृदय सागरमें स्थिति मिली और अनायास ही संपूर्ण पाप दूर होकर सुख मिल गया ॥ ९२ ॥

बिन सतगुरु उपदेश,सुरनर मुनि नहि निस्तरे।
ब्रह्मा विष्णु महेश,और सकल जीव को गिनै॥६३॥

और जीवोंकी क्या कथा? जबकि सद्गुरु विना ब्रह्मादि देवको भी निस्तार नहीं हुआ ॥ ६३ ॥

केते पढ़ि गुनि पचि मुआ, योग यज्ञ तप लाय।
बिन सतगुरु पावै नहीं, कोटिन करै उपाय॥६४॥

पढ़ गुनकर यज्ञ योगादि करते हुये कितने मर मिटे। चाहे करोड़ों उपाय करें, सद्गुरु विना पार नहीं पा सकते ॥ ६४ ॥

करहु छोड़ कुल लाज, जो सतगुरु उपदेश है।
होय तब जीव काज, निश्चय करि परतीति करु॥६५॥

कुल-कानि छोड़कर सद्गुरुके उपदेशको निश्चयकर अनुष्ठान करनेवाले अवश्य कृतार्थ होंगे ॥ ६५ ॥

अच्छर आदि जगत में, जाका सब विस्तार।
सतगुरु दाया पाइये, रामनाम निज सार॥६६॥

संसारमें शास्त्र पुराण आदि रूप अक्षरोंका फैलाव जिसका है, उस सार तत्त्व स्वरूपकी प्राप्ति सद्गुरु कृपासे होती है॥६६॥

सतगुरु खोजो संत, जीव काज जो चाहहु।
मेटो भव को अंक, आवा गवन निवारहु ॥६७॥

हे सन्तो! यदि अपना परम प्रयोजन मोक्ष चाहते हो तो सद्गुरुकी खोज करो और संसृति रेखपर मेख मारके आवागवनसे निवृत्त हो जाओ ॥ ६७ ॥

राम नाम निज सोय, जो सतगुरु दाया करै।
और झूठ सब होय, काहे को भरमत फिरै॥६८॥

राम नाम सत्य है और सब असत्य है, यदि सद्गुरु दया करै तो उसीको ग्रहण करो ! क्यों झूठमूठके भ्रममें पड़े हो ६८

ततदर्शी जो होय, सो ततसार विचारई।
पावै तत्त बिलोय, सतगुरु के चेला सई ॥६६॥

जो कुशाग्र बुद्धि तत्त्वदर्शी होगा वह सार तत्त्वका अवश्य विचार करेगा और वही सद्गुरुका सच्चा शिष्य है, जो तत्त्वों- को छानबीन कर आत्मतत्त्वको प्राप्त करता है ॥ ६६ ॥

जग भौसागर माँहि, कहु कैसे बूड़त तरै।
गहु सतगुरु की बाँहि, जो जल थल रक्षा करै॥१००॥

यदि संसार सागरमें बूड़ते हुयेको पार होनेकी शंका है तो सर्वत्र रक्षा करनेवाले सद्गुरुकी शरण ग्रहण करो ॥ १०० ॥

यह सतगुरु उपदेश है, जो मानै परतीत।
करम भरम सब त्यागिके, चलै सो भवजल जीत॥

यही सद्गुरुका मुख्य उपदेश है जो विश्वास करके मानेगा वह मिथ्या भ्रम कर्मको परित्याग कर अवश्य संसार बाजीको जीतेगा ॥ १०१ ॥

इति श्री सतगुरुको अंग ॥२॥

अथ गुरु पारखको अंग ॥ ३ ॥

गुरु लोभी शिष लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों बूड़े बापुरे, चढ़ि पाथर की नाव॥१॥

जहाँ गुरु लोभी और शिष्य लालची दोनों अपने २ दावकी ताक लगा रहे हैं वहाँ दोनोंकी दशा पत्थरकी नाव पर चढ़नेवालोंकी सी होती है। इसी आशयसे शिवजीने गुरु गीतामें कहा है:—

"गुरवो बहवः सन्ति शिष्य वित्तापहारकः।
दुर्लभस्सद्गुरुर्देवि शिष्य संतापहारकः॥"

और गुरु विमुख शिष्यके प्रति ऐसा कथन है—

"गुरोरवज्ञया मृत्युर्मंत्रत्यागाद्दरिद्रता।
गुरुमंत्रपरित्यागी सिद्धोऽपिनरकं व्रजेत्॥"

श्रुतस्यदातारमनुत्तमस्य निधिर्निधीनामपि लब्ध विद्याः।
येनाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकाँस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः।"

इत्यादि ॥ १ ॥

गुरु मिला नहिं शिप मिला, लालच खेला दाव।
दोनों बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव॥२॥

गुरु शिष्यका मेल नहीं हुआ, केवल दावका खेल हुआ। लोभ, लालचरूपी पत्थरकी नौका पर चढ़के दोनों संसार धार में डूब मरे ॥ २ ॥

जाका गुरु है आंधरा, चेला खरा निरंध।
अंधे को अंधा मिला, पड़ा काल के फंद ॥३॥

गुरु अन्धा और चेला चौपट, बस! दोनों मिलमिलाके कालके गालमें गड़गप्प होगये ॥ ३ ॥

जानीता बूझा नहीं, बूझि किया नहिं गौन।
अंधे को अंधा मिला, पंथ बतावै कौन ॥४॥

"पन्थी पन्थ बूझि नहिं लीन्हा। मूढ़हो मूढ़ गँवारा हो"॥ इत्यादि। पारखी गुरुसे ज्ञान समझकर चलनेका आरम्भ नहीं किया कहो! अन्धे अन्धेके मिलापमें रस्ता कौन दिखायगा?॥४॥

जानीता जब बूझिया, पैंड़ा दिया बताय।
चलता चलता तहँ गया, जहँ न निरंजन राय॥५॥

जानकार गुरुसे पूछा तो रास्ता बतला दिये, और चलते २ उस मुकाम पर पहुँच गया जहाँ पर मन मायाकी हुक्म रानी नहीं ॥ ५ ॥

सो गुरु निशदिन वन्दिये, जासों पाया राम।
नाम विना घट अंध है, ज्यों दीपक बिन धाम॥६॥

आरामप्रद राम जिससे मिला उसी गुरुकी सदा सेवा बन्दगी करो जिसके विना, विना दीपकके घरकी तरह हृदयागार अन्धकूप था ॥ ६ ॥

आगे अंधा कूप में, दूजा लिया बुलाय।
दोनों डूबे बापुरे, निकसे कौन उपाय ॥७॥

प्रथम स्वयं अन्धा कूपमें पड़ा है और दूसरेका गुहार किया वह भी अन्धा कहो! उसे निकलनेका क्या उपाय है, दोनों बेचारे डूब मरे ॥ ७ ॥

रात अँधेरी रैन में, अंधे अंधा साथ।
वो बहिरा वो मूँगिया, क्यों करि पूछै बात ॥८॥

मोहरुपी निशामें अज्ञान अन्धेरी छाई है, अन्धे अन्धाका साथ है, तिसपर भी एक बहिरा और दूसरा गूँगा है, कहो! उनकी आपत्ति कौन कहै और कौन सुनै ॥ ८ ॥

अगम पंथ को चालताँ,(सब)अंधा मिलिया आय।
औघट घाट सूझै नहीं, कौन पंथ है जाय ॥९॥

अजान मार्गके मुसाफिरको मिला भी सो अन्धा। कुवाटमें पड़ा है, किस रस्ते जाना कुछ भी सूझता नहीं ॥ ९ ॥

जाका गुरु है लालची, दया नहीं शिष माँहिं।
उन दोनों कूँ भेजिये, ऊजड़ कूआ माहिं ॥१०॥

जो लोभी गुरु और शिष्य निर्दयी हैं उन दोनों निरपयोगियोंको अन्धकूपमें भेज दो ॥ १० ॥

जिसका गुरु है लालची, पीतल देखि भुलाय।
शिष पीछे लागा फिरै,(ज्यौं)बछुआ पीछे गाय॥११॥

जिसका गुरु ऐसे २ के लोभी और पीतलकी मूर्तिमें भुला हुआ है, वह लोभके मारे शिष्यके पीछे ऐसे फिरा करता है जैसे बछड़ेके पीछे गाय ॥ ११ ॥

जाके हिय साहिब नहीं, शिष लाखों की भूख।
ते जन ऊभा सूखसी, (ज्यौं)दाहै दाभा रूख ॥१२॥

स्वतः जिसके हृदयमें स्वरूप पारखका ज्ञान नहीं और शिष्य प्रशिष्य करनेकी भारी तृष्णा है वह स्वयं तृष्णा अग्निमें जलकर औरोंको भी ऐसे जलायगा जैसे सूखा वृक्ष जंगलको॥१२॥

माई मूँडूँ (उस) गुरु की, जाते भरम न जाय।
आपन बूड़ा धार में, चेला दिया बहाय ॥१३॥

जिससे हृदयकी भ्रान्ति निवृत्त न हो ऐसे गुरुकी ऐसी तैसी। स्वयं तो लोभ प्रवाहमें डूवा ही लेकिन चेलोंको भी बहा दिया ॥ १३ ॥

गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।
सोइ गुरू नित बंदिये, शब्द बतावै दाव ॥१४॥

कलियुगी गुरुओंमें बड़ाही भेदभाव है, इस वास्ते शिष्यको उचित है कि, "गुरू कीजिये जान" और "करकरगी विवेककी" इत्यादि उपदेशानुसार उसी गुरुकी सदा वन्दना करनी चाहिये जो स्वरूपबोधक शब्दका रहस्य बतलावे ॥ १४ ॥

पूरे सतगुरु के बिना, पूरा शीष न होय।
गुरु लोभी शिप लालची, दूनी दाझन सोय॥१५॥

शान्तिप्रद ज्ञाननिष्ठ पूरे सद्गुरु बिना शिष्यको कदापि पूरा न पड़ेगा। लोभ व लालचकी दशामें दोनों पतंग वत् कामाग्निमें जल मरेंगे ॥ १५ ॥

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी शीख।
स्वाँग यती का पहिरिके, घर घर माँगी भीख॥१६॥

बस! पूर्ण सद्गुरुके अभावमें अधूरी शिक्षा मिली। इसलिये निवृत्तिका भेष बनाया तो भी घरोंघर भिक्षामें प्रवृत्ति हुई ॥ १६ ॥

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी शीख।
निकसा था हरि मिलनको, बीचहि खाया बीख॥१७॥

यद्यपि घरसे तो हरि मिलनेकी खोजमें निकला था लेकिन अपूर्ण गुरुकी अधूरी शिक्षासे बीचही मार्गमें विषयरूप विष पान कर मर मिटा ॥ १७ ॥

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख।
मूँड़ मुँड़ावे मुक्ति कूँ, चालि न सकई बीख ॥१८॥

यद्यपि मुक्तिके लिये शिष्य बनते हैं किन्तु विवेकादि साधन सम्पन्न सद्गुरुके पूर्ण ज्ञान बिना विषयसे निवृत्ति होती नहीं इसलिये विषय प्रवृत्त मन कुमार्गमें गिरा देता है ॥ १८ ॥

कबीर गुरु हैं घाट के, हाटूँ बैठा चेल।
मूँड़ मुँड़ाया साँझ कूँ, गुरु सवेरे ठेल ॥१९॥

गुरु निवृत्ति मार्गका और शिष्य प्रवृत्ति मार्गका हो तो भी नहीं हो सकता मेल। साँझे मूड़ मुड़ाये और सवेरे हुये अकेल ॥१९॥

पूरा सहजे गुन करै, गुन नहिं आवै छेह।
सायर पोषै सर भरै, दान न माँगे मेह ॥२०॥

पूरा सदा गुणकारी होता है, क्योंकि उसके गुणके अन्त नहीं। जैसे मेघ, नद, नदीको पूर्ण करके भी याँचता कुछ नहीं २०

गुरु किया है देह का, सतगुरु चीन्हा नाँहि।
भौसागर की जाल में, फिर फिर गोताँ खाँहि ॥२१॥

जो केवल देह (उच्च वर्ण, वेषादि) का गुरु बनाया है वह सद्गुरुको नहीं पहचाना अतः संसार सागरमें बारम्बार डूबेगा ॥ २१ ॥

जा गुरु ते भ्रम ना मिटैं, भ्रान्ति न जिव की जाय।
सो गुरु झूठा जानिये, त्यागत देर न लाय ॥२२॥

जिस गुरुसे हृदयकी भ्रान्तिकी निवृत्ति न हो। उस मिथ्यावादीको त्यागनेमें देरी नहीं करनी चाहिये ॥ २२ ॥

झूठे गुरु के पच्छ को, तजत न कीजै वार।
द्वार न पावै शब्द का, भटके बारंबार ॥२३॥

झूठे गुरुके पक्षको शीघ्र त्यागकर सद्गुरुकी शरण लेनी चाहिये क्योंकि द्वारी भूत सार शब्दका रहस्य न मिलनेसे चौरासीका फेरा नहीं मिटता ॥ २३ ॥

साँचे गुरु के पच्छ में, मन को दे ठहराय।
चंचल ते निश्चल भया, नहिं आवै नहिं जाय ॥२४॥

सदुपदेशक सद्गुरुके ज्ञानमें मनको स्थिर कर देनेसे चंचल मन निश्चल हो जाता और आवागवन मिट जाता है ॥ २४ ॥

कनफूका गुरु हद्द का, बेहद का गुरु और।
बेहद का गुरु जब मिलै, लहै ठिकाना ठौर ॥२५॥

केवल कान फूँकनेवाला संयोगी गुरु संसारका होता है। पार करनेवाले सद्गुरु हैं। उनहीके मिलने पर पूर्ण स्थिति होती है ॥ २५ ॥

जा गुरु को तो गम नहीं, पाहन दिया बताय।
शिप सोधे बिन सेइया, पार न पहुँचा जाय ॥२६॥

स्वयं स्वरूप ज्ञानहीन धातु पाषाण पूजनेवाला गुरुके मार्गको विना विचारे अवलम्बन करनेवाला शिष्य भवसिन्धु पार नहीं जा सकता ॥ २६ ॥

सतगुरु ने तो गम कही, भेद दिया अरथाय।
सुरति कमल के अंतरे, निराधार पद पाय ॥२७॥

सद्गुरुने जब रहस्ययुत पारख स्वरूपका ज्ञान करा दिया तब निरालम्ब पूर्ण पद हृदयके अन्दरही पा गया ॥ २७ ॥

सतगुरु का मारा नहीं, शब्द न लागा अंग।
कोरा रहिगा सींदरा, सदा तेल के संग ॥२८॥

जिसने सद्गुरु ज्ञानकी आधीनता स्वीकार नहीं करी वह शब्द विमुख सदा ऐसे कोरा अनाड़ी रहा जैसे तेलके साथ कुप्पा ॥ २८ ॥

सतगुरु मिले तो क्या भया, जो मन परिगा भोल।
कपास बिनाया कापड़ा, (क्या) करै बिचारी चोल २९

सद्गुरुके मिलने पर भी मलीन अन्तःकरण शिष्य कुछ फल प्राप्त नहीं कर सकता। कहो! बिना शुद्ध किये कपासका बुनाया कपड़ाका अँगरखा, अँगिया साफ सुन्दर कैसे बनेगी? ॥ २९ ॥

सतगुरु ऐसा कीजिये, ज्यों भृंगी मत होय।
पल पल दाव बतावही, हंस न जाय बिगोय ॥३०॥

सद्गुरु-सत्शिष्यका परस्पर कर्त्तव्य भृङ्गी कीट सिद्धान्त वत् होना चाहिये। ऐसे होनेसे हंसकी वृत्ति नहीं बिचलती ॥३०॥

सतगुरु ऐसा कीजिये, लोभ मोह भ्रम नाँहि।
दरिया सों न्यारा रहै, दीसै दरिया माँहि ॥३१॥

लोभ, मोह और भ्रान्ति रहित सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। उनका प्रारब्ध व्यवहार 'जलकमल' न्याय वत् परमार्थ रूपही होता है ॥ ३१ ॥

सतगुरु ऐसा कीजिये, जाका पूरन मन्न।
अनतोले ही देत हैं, नाम सरीखा धन्न ॥३२॥

पूर्ण ज्ञानी और सन्तोषी सद्गुरुकी शरण लेनी चाहिये। वेही अतोल, अनूप ज्ञान धन देते हैं ॥ ३२ ॥

गुरु तो ऐसा कीजिये, (सब)वस्तू लायक होय।
यहाँ दिखावै शब्द में, वहँ पहुँचावै लोय ॥३३॥

कल्याणार्थ, वस्तुपलब्ध सद्गुरुका शिष्य बनो। जो व्यवहारमें शब्दका यथार्थ बोध करके परमार्थ स्वरूप तक पहुँचा दे।

गुरु तो ऐसा कीजिये, तत्त्व दिखावै सार।
पार उतारे पलक में, दरपन दे दातार ॥३४॥

जैसे हस्तगत दर्पणमें प्रत्यक्ष प्रतिविम्ब दीखता है तैसेही सार तत्त्वको दिखलानेवाले सद्गुरुकी शरण लो, वेही शीघ्र पार उतारेंगे ॥ ३४ ॥

गुरु की सूनी आतमा, चेल चहै निज नाम।
कहैं कबीर कैसे बसे, धनी बिहूँना गाम ॥३५॥

जो नाम बड़ाई इच्छुक चेला आत्मज्ञान शून्य गुरुकी शरण लेता है, कबीर गुरु कहते हैं, वह मालिक विना गाम कैसे बसेगा ? ॥ ३५ ॥

काचे गुरु के मिलन से, अगलीः भी बिगड़ी।
चाले थे हरि मिलन को, दूनी विपत्ति पड़ी ॥३६॥

गुरुपदके अयोग्य गुरुके मिलनसे हरि मिलनेके प्रथमकी शुभ जिज्ञासा भी बिगड़ जाती और जिज्ञासुको द्विगुण विपत्ति आ पड़ती है ॥ ३६ ॥

कबीर बेड़ा सार का, ऊपर लादा सार।
पापी का पापी गुरू, यों बूड़ा संसार ॥३७॥

जैसे पत्थरकी नौका पत्थरके भारको पार नहीं कर सकती तैसे पापी गुरु पापी शिष्यको पारके बदले भवधारमें बुड़ा मारता है ॥ ३७ ॥

ऐसा गुरु ना कीजिये, जैसी लटपटी राव।
माखी जामें फँसि रहै, वा गुर कैसें खाय ॥३८॥

लटपटी रावकी माफिक शान्ति ज्ञानशून्य लटपटी गुरु मत करो। उससे लाभके बदले हानि होगी। चासनी चाखनेवाली मक्खीकी तरह फँसकर मर जावोगे ॥ ३८ ॥

गुरू नाम है गम्य का, शीष सीख ले सोय।
बिनु पद विन मरजाद नर, गुरू शीष नहिं कोय॥३९॥

गुरुका अर्थ है ज्ञान और शिक्षा लेनेवालेको शिष्य कहते हैं। ऐ नरजीवो! इस पद-मर्यादके बिना गुरु शिष्य कोई नहीं कहला सकता ॥ ३९ ॥

गु अँधियारी जानिये, रु कहिये परकास।
मिटे अज्ञान तम ज्ञान ते, गुरू नाम है तास ॥४०॥

गु शब्द अन्धकार-अविद्या वाचक है और रु शब्द प्रकाश ज्ञान वाचक है। जिससे अज्ञान अन्धेरा मिटे उसीको ज्ञान-गुरु कहते हैं। यथाः—

"गुकारोह्यन्धकारः स्याद्रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञान नाशको वस्तु स गुरुः संप्रकीर्तितः" ॥ ४० ॥

भेरें चढ़िया झाँझरे, भौसागर के माँहि।
जो छाँड़े तो बाचिहै, नातर बूड़े माँहि ॥४१॥

संसार सागर तितोपु यदि किसी कारणवश छिद्रवाला नोका वत् अयोग्य गुरुके पाले पड़गया हो तो यदि वह भला

चाहे तो उसे शीघ्र छोड़ दे, नहीं तो वह अन्दर ले बूड़ेगा ॥४१॥

जाका गुरु है गीरही, गिरही चेला होय।
कीच कीच के धोवते, दाग न छूटै कोय ॥४२॥

जैसे कीचड़का दाग कीचड़से नहीं छूटता तैसे मोहासक्त संयोगी गुरुसे चेला निर्बन्ध नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

गुरुवा तो सस्ता भया, पैसा केर पचास।
राम नाम धन बेचिकै, करै शीप की आश ॥४३॥

धनके लोभी गुरु पैसोंके पचासों मारे २ फिरते हैं। राम नाम धन बेचके शिष्य कुछ देगा, इस आशामें पड़े हैं ॥ ४३ ॥

गुरुवा तो घर घर फिरे, दीक्षा हमरी लेहु।
कै बूड़ौ कै ऊबरौ, टका पर्दनी देहु ॥४४॥

शिष्य संसार सागरमें बूड़े या तरें, मुझे तो पैसे धोतीसे काम, ऐसी अन्तर इच्छा वाले गुरु बहुतेरे घरोंघर दीक्षा देते फिरते हैं। मनुष्य समझकर गुरु करें ॥ ४४ ॥

घर में घर दिखलाय दे, सो गुरु चतुर सुजान।
पाँच शब्द धुनकार धुन, बाजै शब्द निशान ॥४५॥

जो देह देवालयमें अन्तर अविनाशी देवसे दर्शन कराता है वही परम ज्ञानी गुरु है। और जो पाँच या दश प्रकारका ब्रह्माण्डमें अनाहत् शब्द होता है उसे भी लखा देता है ॥४५॥

छीपा रँगै सुरंग रँग, नीरस रस करि लेय।
ऐसा गुरु पै जो मिलै, शीष मोक्ष पुनि देय ॥४६॥

जैसे सुन्दर रंगसे रँगनेवाला रँगरेज़ कुरूप वस्त्र को भी

गुरूप बना देता है। तैसे, जो कहीं पूरे सद्गुरु मिले तो ही शिष्यको मुक्त कर सकते हैं ॥ ४६ ॥

मैं उपकारी ठेठ का, सतगुरु दिया सुहाग।
दिल दरपन दिखलायके, दूर किया सब दाग ॥४७॥

ऐसे ज्ञानप्रद सद्गुरुका मैं जीवन पर्यन्तका ऋणी हूँ। क्योंकि उसने दिलदर्पणके सब दोषोंको दूरकर परमदेवका दर्शन करा दिया है ॥ ४७ ॥

ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लाग।
सब जग जलता देखिया, अपनी अपनी आग ॥४८॥

संसारमें ऐसा कोई नहीं मिला कि शान्ति अर्थ जिसको शरण लूँ। सबही अपनी २ कामाग्निमें जलते हुए दीख पड़े ४८

ऐसे तो सतगुरु मिले, जिनसों रहिये लाग।
सबही जग शीतल भया,(जब)मिटी आपनी आग।४६।

ऐसे तो केवल सद्गुरु हैं, जिनकी शरण लेनेसे सर्व तृष्णा मिटकर पूर्ण शान्ति मिल जाती और सारा संसार शीतल हो जाता है ॥ ४६ ॥

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥५०॥

यही शरीर विषलता है और सद्गुरु अमृतका आगार हैं। शिर सौंपे यदि ऐसे गुरु मिल जायें तो भी सस्ता समझो॥५०॥

नादी बिंदी बहु मिले, करत कलेजे छेद।
(कोइ)तख्त तले का ना मिला, जासों पूछूँ भेद ॥५१॥

केवल अनाहत् शब्द उपासी और बकवादी वेदपाठी बहुतेरे

मिले व मिलते हैं, जो हृदय वेधी वाक्य वाण चलाते हैं। किन्तु परमतत्त्वका रहस्य बतलानेवाला कोई नहीं मिला जिससे शान्तिका मर्म पूछा जाय ॥ ५१ ॥

तख्त तले की सो कहै,(जो)तख्त तले का होय।
माँझ महल की को कहै, पड़दा गाढ़ा सोय ॥५२॥

आत्मदेवका दर्शन वही करा सकता है जो आत्मदेवका पुजारी है। किन्तु अविनाशीके महलमें दूसरोंका धसना वड़ी टेढ़ी खीर है क्योंकि, वह वड़े पर्देनशीन और चौतरफ गाढ़ी चौकी वाला है ॥ ५२ ॥

माँझ महल की गुरु कहै, देखा जिन घरबार।
कुंजी दीन्हीं हाथ कर, पड़दा दिया उघार ॥५३॥

अविनाशी देवकेमन्दिरको राह केवल सद्गुरु बतला सकते हैं क्योंकि उन्होंने पग २ जोहा है। जो उनकी शरण लेगा, उसे गुरुगम कुञ्जी देकर परदा उघाड़ दिये व देंगे ॥ ५३ ॥

भेदी लीया साथ करि, दीन्हा वस्तु लखाय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥५४॥

क्योंकि भेदीके संग करनेसे वह गुप्त वस्तुको भी दिखला देता है। और जो मार्ग करोड़ों जन्ममें भी पार आनेको नहीं था उसे क्षणमात्रमें तयकर मुकाम पर जा पहुँचता है ॥ ५४ ॥

घटका पड़दा खोलि करि, सनमुख ले दीदार।
बाल सनेही साँइया, आदि अंत का यार ॥५५॥

सद्गुरु ज्ञानसे अन्तरकी पड़दा खोलके निज स्वामीका संमुख दर्शन करलो। जो बालस्नेही और आदि अन्तका हित-कारी हैं ॥ ५५ ॥

गुरु मिला तब जानिये, मिटे मोह तन ताप।
हरष शोक व्यापै नहीं, तब गुरु आपै आप ॥५६॥

जब शरीरजन्य त्रिविधिताप और मनोजन्य हर्ष, शोक, मोहादि कभी पीड़ित न करे, तबही आपरूप सद्‌गुरुका मिलना समझो ॥ ५६ ॥

शिष साखा बहुते किया, सतगुरु किया न मीत।
चाले थे सतलोक को, बीचहि अटका चीत॥५७॥

सद्‌गुरुसे मित्रता छोड़कर शिष्य शाखाओंसे स्नेह जोड़ते चले। परिणाम यह हुआ कि सतलोकका रास्ता छूट गया, बीच हीमें वृत्ति फँस गई ॥ ५७ ॥

बंधे को बंधा मिला, छूटै कौन उपाय।
कर सेवा निरबंध की, पल में लेत छुड़ाय ॥५८॥

स्वयं बन्धनमें पड़ा हुआ दूसरेका बन्धन नहीं खोल सकता, यदि उपाय पूछते हो तो बन्धनसे मुक्त गुरुकी सेवा करो वे मुक्त कर देंगे ॥ ५८ ॥

गुरु बेचारा क्या करै, (जो) हिरदा भया कठोर।
नौ नेज़ा[1] पानी चढ़ा, पथर न भीजी कोर ॥५९॥

पाषाण तुल्य हृदयमें विचारवान् गुरुका ज्ञान वाण क्या करेगा? जबकि चौवन हाथ पानी चढ़ने पर भी पत्थरकी नोक तक नहीं भीजती ॥ ५९ ॥

१—नेज़ा एक प्रकारका हथियार (अस्त्र विशेष) जिसमें ६ हाथका डंडा लगा रहता है, भाला, बरछा।

गुरु बेचारा क्या करै, शब्द न लागा अंग।
कहैं कबीर मैली गज़ी, कैसे लागै रंग ॥६०॥

पात्र बिना वस्तुकी स्थिति नहीं होती, कहो ! मैली खादी पर सुरंग रंग कैसे चढ़ेगा ? कदापि नहीं ॥ ६० ॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, देता हूँ हेला।
गुरु की करनी गुरु जानै, चेला की चेला ॥६१॥

हाँक मार २ के सबसे कर्तव्या कर्तव्यकान्याय सुनाते जा रहा हूँ। जो जैसा करेगा वही वैसा भरेगा 'यः कर्त्ता स एव भोक्ता' ॥ ६१ ॥

इति श्री गुरुपारखको अङ्ग ॥ ३ ॥

अथ गुरु शिष्य हेरा को अंग ॥४॥

ऐसा कोई ना मिला, हम को दे उपदेश ।
भौसागर में डूबते, कर गहि काढ़े केश ॥१॥

शिष्य—ऐसा कोई सद्गुरु हमें नहीं मिला जो सदुपदेश देकर डूबते हुए को चोटी पकड़के भवसिन्धुसे पार कर दे ॥ १ ॥

ऐसा कोई ना मिला, घर दे अपन जराय ।
पाँचों लड़के पटकि के, रहै नाम लौ लाय ॥२॥

गुरु—ऐसा कोई सत् पात्र शिष्य नहीं मिला जो, अविद्या जन्य संसार-घरमें अग्नि जलाकर काम क्रोधादि या अविद्यादि पंचक्लेश रूप पाँचो लड़काओंको हवन करदे और ध्यानमें लीन हो जाय ॥ २ ॥

ऐसा कोई ना मिला, जासों कहुँ दुख रोय ।
जासों कहिये भेद को, सो फिर वैरी होय ॥३॥

शिष्य—ऐसा कोई स्नेही नहीं मिला जिससे दुखकी बात कहूँ । गुरु—जिसे सदुपदेश देताहूँ, वही शत्रु बन जाता है ॥३॥

ऐसा कोई ना मिला, सब विधि देय बताय ।
सुन्न मंडल में पुरुष है, ताहि रहूँ लौ लाय ॥४॥

शिष्य—गगन महलके निवासी पुरुषकी प्राप्तिका पूर्ण रहस्य बतलानेवाला कोई नहीं मिला । जिसमें वृत्तिको लीनकर निवृत्त हो जाऊँ ॥ ४ ॥

ऐसा कोई ना मिला, समझै सुनै सुजान।
ढोल दमामा ना सुनै, सुरति बिहूँना कान ॥५॥

गुरु—ऐसा कोई सुयोग्य शिष्य नहीं मिला जो चित्स्वरूपका इशारा समझे और अन्तर्मुखवृत्ति करले कि बजता हुआ संसारका नकाराको भी न सुनै ॥ ५ ॥

ऐसा कोई ना मिला, समझै सैन सुजान।
अपना करि किरपा करै, लै उतारि मैदान ॥६॥

शिष्य—सेवककी अन्तर्भावना समझनेवाले ऐसे कोई सुज्ञ गुरु नहीं मिले। जो अपनी ओरसे दया करके संसार वनसे बाहर कर दें ॥ ६ ॥

ऐसा कोई ना मिला, जासो कहूँ निसंक।
जासों हिरदा की कहूँ, सो फिरि माँडे कंक ॥७॥

गुरु—जिसे निर्भय ज्ञान कहूँ ऐसा कोई श्रद्धावान् श्रोता नहीं मिला। प्रत्युत् जिसको अन्तरका भेद कहता हूँ वह उलटे तकरार ठानता है ॥ ७ ॥

ऐसा कोई ना मिला, जलती जोति बुझाय।
कथा सुनावे नाम की, तन मन रहै समाय ॥८॥

शिष्य—कोई ऐसा नहीं मिला जो त्रिविध ईषना अग्निको शान्तकर ज्ञानकी कथा सुनावे,जिससे तन मन एकाग्र हो जाय ८॥

ऐसा कोई ना मिला, टारै मन का रोस।
जा पैड़े साधू चले,(तूँ)चलि न सकै इक कोस॥९॥

गुरु—ऐसा कोई नहीं मिला जो मनकी तरंगको शान्त करे। ऐ नरजीव ! जिस विवेकादि साधन मार्गसे सन्त चलते

हैं तिस मार्ग पर तो तू कोश भर भी नहीं चल सकता ॥ ६ ॥

ऐसा कोई ना मिला, शब्द देउँ बतलाय ।
अच्छर और निहअच्छरा, तामें रहै समाय ॥१०॥

गुरु—ऐसा जिज्ञासु कोई नहीं मिलता जिसे अक्षर, निरक्षर दोनों शब्दके साक्षीका स्वरूप बतला दिया जाय फिर तिसीमें वृत्तिको निवृत्त करे ॥ १० ॥

हम घर जारा आपना, लूका लीन्हा हाथ ।
वाहू का घर फूँक दूँ, (जो) चलै हमारे साथ ॥११॥

गुरु—हमने अपने अहन्ता ममतारूपी घरको जला दिया अब लूआठ लिये फिरता हूँ यदि कोई हमारे साथ चलेगा उसका घर भी जला दूँगा ॥ ११ ॥

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाँहि ।
ऐसा कोई ना मिला, पकड़ि छुड़ावै बाँहि ॥१२॥

शिष्य—हमारी दृष्टिमें संसार और संसारकी दृष्टिमें हम, बेकार ठेलमठेलमें चले जा रहे हैं। ऐसा कोई नहीं मिला जो इस दुनियाँकी झंझटसे बाँह पकड़कर छुड़ा ले ॥ १२ ॥

सरपहि दूध पियाइये, सोई विष है जाय ।
ऐसा कोई ना मिला, आपै हि विष खाय ॥१३॥

गुरु—सर्पके दुग्धपान भी विषवर्धक होता है ऐसेही अनधिकारीके प्रति सदुपदेश भी हानिकारक होता है। क्योंकि, अपने दुर्गुणको स्वयं समझकर दूर करनेवाले बहुत कम हैं॥१३॥

तीन सनेही बहु मिले, चौथा मिला न कोय ।
सब हि पियारे रामके, बैठे परवस होय ॥१४॥

गुरु—"सुत वित लोक ईषना तीनी । केहि की मति इन कृत न मलीनी ॥" तु० । सुत वित लोक भोगके प्रेमी बहुत मिलते परन्तु चौथा सद्गुरुका स्नेही कोई नहीं मिलता । रामके प्यारे तो सबही हैं किन्तु सुत वित नारी के वशीभूत रामसे प्रेम करनेवाला कोई भी नहीं ॥ १४ ॥

जैसा ढूँढ़त मैं फिरूँ, तैसा मिला न कोय ।
ततवेता तिरगुन रहित, निरगुन सों रत होय॥१५॥

गुरु, शिष्य—आत्मवेत्ता सद्गुरु और निर्गुणका प्रेमी उत्तम अधिकारी इन दोनोंके मिले बिना किसीका मनोरथ पूरा नहीं होता । भावार्थ यह है कि,सद्गुरु शम,दम आदि साधन सम्पन्न श्रेष्ठ शिष्यको ढूँढते हैं और ऐसा शिष्य पूर्ण तत्त्ववेत्ता सद्गुरु को ढूँढता है, अभीष्ट पात्रके मिले बिना किसीके कार्यकी सिद्धि नहीं होती ॥ १५ ॥

सारा शूरा बहु मिले, घायल मिला न कोय ।
घायल को घायल मिले, राम भक्ति दृढ़ होय ॥१६॥

गुरु—बिना घावके शूरवीरके समान भक्तिकी हाँक लगाने वाले भक्त बहुतेरे मिले परन्तु स्वरूप वियोगरूप घावसे घायल कोई नहीं मिला, घायलको घायल मिलने परही राम-भक्ति दृढ़ होती है ॥ १६ ॥

माया डोलै मोहती, बोलै कडुवा बैन ।
कोई घायल ना मिले, सांई हिरदा सैन ॥१७॥

शिष्य—कडुवा वचन बोलती हुई माया सब जग मोहती फिरती मिलती है । किन्तु हृदयके स्वामीका सैन बतलानेवाला घायल कोई भी नहीं मिलता ॥ १७ ॥

प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरूँ, प्रेमी मिले न कोय।
प्रेमी सों प्रेमी मिले, विष से अमृत होय ॥१८॥

गुरु—मैं जिस प्रेमीकी खोजमें हूँ वह मिलता नहीं। यदि कहीं वह मिल जाय फिर यह विष-रूप संसार अमृत बन जाय।१८।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहिरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ ॥१९॥

शिष्य—जिसने गहरा गोता लगाके ढूँढ़ा उसने रत्न पाया। मैं बेचारा डूबनेके भयसे किनारे बैठ रहा गुरु रत्न कहाँसे मिले? ॥ १९ ॥

सतगुरु हमसों रीझिके, एक दिया उपदेश।
भौ सागर में बूड़ता, कर गहि काढ़े केश ॥२०॥

शिष्य—संसार समुद्रमें डूबते हुये हमपर ऐसे सद्गुरु प्रसन्न हुये कि हमें आत्म प्रेमका एकही उपदेशसे केश पकड़कर बाहर कर दिये ॥ २० ॥

आदि अंत अब को नहीं, निज बाने का दास।
सब संतन मिलि यों रमै, ज्यों पुहुपन में बास ॥२१॥

आदि, अन्त और मध्यके भेदभावसे रहित सद्गुरु अपने सेवकोंमें ऐसे मिलेजुले रमते हैं जैसे पुष्पमें सुगन्धि ॥ २१ ॥

पुहुपन केरी बास ज्यों, व्यापि रहा सब ठाँहि।
बाहर कबहु न पाइये, पावै संतों माँहि ॥२२॥

जैसे पुष्पकी सुगन्धि पुष्पको ही व्याप्त कर रहती है। तैसेही साहिबकी भाति सन्तोंसे बाहर नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

बिरछा पूछै बीज सों, कौन तुम्हारो जात ।
बीज कहै ता बृच्छसों, कैसे भै फल पात ॥२३॥

(बीज वृक्षके सम्वाद द्वारा ब्रह्म जीवका विचार)

वृक्ष बीजसे पूछता है, कहो तुम्हारी कौन स्थिति है ? बीज कहता है, जहाँसे तुम पत्र फलादि सहित हुये हो ॥ २३ ॥

बिरछा पूछै बीज को, बीज बृच्छ के माँहि ।
जीव जो ढूँढै ब्रह्म को, ब्रह्म जीव के पाँहि ॥२४॥

वृक्ष बीजका स्वरूप पूछता है, वह कहता है मैं तेराही स्वरूप हूँ । ऐसेही जीव और ब्रह्मका एक स्वरूप है ॥ २४ ॥

डाल जो ढूढ़ै मूल को, मूल डाल के पाँहि ।
आप आपको सब चलै, (कोय) मिले मूलसों नाहिं ॥२५॥

शाखा यदि मूल (जड़) की तालाश करै तो वह व्यर्थ प्रयास है क्योंकि वह उससे जुदा नहीं है । आप आपके मार्ग सब चल रहे हैं मूलसे कोई नहीं मिलते ॥ २५ ॥

डाल भई है मूल तें, मूल डाल के माँहि ।
सबहि पड़े जब भरम में, मूल डाल कछु नाँहि ॥२६॥

"आदि अन्त नहिं होत बिरहुली । नहि जर पल्लव डार बिरहुली" इति वत् । भ्रमवश परिणामी वस्तुकी खोजमें सब पड़े हैं । इसीलिये अपरिणामी स्वतः स्वरूपसे सदा विमुख रहते हैं ॥ २६ ॥

मूल कबीरा गहि चढ़े, फल खाये भरि पेट ।
चौरासी की भय नहीं, ज्यौं चाहै त्यौं लेट ॥२७॥

जिसने मूल स्वरूपको पकड़ लिया उसने फल खा लिया

अब उसे कहीं भी भय नहीं, चाहे जिस तरह जहाँ लेटे ॥२७॥

आदि हती सब आपमें, सकल हती ता माँहि ।
ज्यों तरुवर के बीज में, डार पात फल छाँहि ॥२८॥

कार्य कारणवाला पदार्थ वृक्षके बीजमें जिस प्रकार शाखा पल्लवादि रहता है इसी प्रकार आदि कारणरूपमें सकल कार्य सामग्री छिपी हुई थी ॥ २८ ॥

हेरत हेरत हेरिया, रहा कबीर हिराय ।
बूँद समानी समुँद में, सो कित हेरी जाय ॥२९॥

सेवक अपने स्वामीको पृथक समझकर प्रथम उसे मिलने की तलाशमें था लेकिन जब वे मिले तो आपही गुम होगया। जैसे तरंग समुद्रमें, फिर उसे कोई कहाँ खोजे ? यथा—

"गई बूँद लेने समुन्दरकी थाह ।
यकायक लिया मौजने उससे राह ॥
हुई आपही गुम तो पाये किसे ।
बताये ग्रो क्या ओर जताये किसे" ॥२९॥

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराय ।
समुँद समाना बूँद में, सो कित हेरा जाय ॥३०॥

वृत्ति द्वारा व्यवहार होता है, वृत्ति अन्तःकरणका परिणाम है, उसे अन्तःकरणमें लय होने पर स्वामी सेवकादि भाव सब मिट जाते हैं। यही इस साखीका भाव है यथाः—

"चली पूतली लवण की, थाह सिन्धु की लैन ।
अनाथ आप आपे भयी, पलटि कहै को बैन" ॥ ३० ॥

कबीर बैद बुलाइया, जो भावै सो लेह ।
जिहि जिहि औषध गुरु मिले, सो सो औषध देह॥३१॥

स्वरूप ज्ञानके जिज्ञासु उपदेशकोंको बुलाते या उनकी शरण जाते हैं और जिस जिस उपदेशसे पारख स्वरूपकी प्राप्ति हो उसके लिये तन, मन, धन सबही समर्पण कर देते हैं ॥ ३१ ॥

परगट कहूँ तो मारिया, परदा लखै न कोय ।
सहना छिपा पयाल में, को कहि वैरी होय ॥३२॥

किसीकी अज्ञानता कहने पर शत्रुता करता है और इशारा समझता नहीं । आत्मस्वरूप शिकार मायारूपी पयारमें छिपा है, उसे प्रत्यक्ष कहके कौन वैर करे ? ॥ ३२ ॥

जैसे सती पिय सँग जरे, आसा सबकी त्याग ।
सुघर कुर सोचै नहीं, सिख पतिवर्त सुहाग ॥३३॥

शरणागत शिष्यको उचित है कि गुरु विषयक विचार पतिव्रता स्त्री वत् करे । ऊँच नीच वर्ण व्यवस्थादिका संकोच मनमें न रक्खे ॥ ३३ ॥

सरवस सीस चढ़ाइये, तन कृत सेवा सार ।
भूख प्यास सहे ताड़ना, गुरु के सुरति निहार ॥३४॥

निज मुख्य कर्तव्य समझकर गुरु जो आज्ञा करें उसे माथे चढ़ाके शरीरसे भलीभाँति सेवा करे । और चकोर चन्द्रवत् गुरुके सम्मुख क्षुधादि सबही कष्टको मेलता हुआ देखा करे ॥३४

गुरु को दोष रती नहीं, शीष न शोधे आप ।
शीप न छाड़ै मनमता, गुरुहि दोष का पाप ॥३५॥

गुरु सदा निर्दोष हैं, ऐसा अपने मनमें विचार करे उनकी सत् शिक्षाको ग्रहण करे । गुरुमें दोष दर्शन और उनकी शिक्षासे विमुख होनाही महापाप है ॥ ३५ ॥

जैसी सेवा शिष करै, तस फल प्रापत होय।
जो बोवै सो लोवही, कहैं कबीर विलोय ॥३६॥

इस बातको कबीर गुरु समझ, समझाकर कह रहे हैं। सेवाके अनुसार फल प्राप्त होता है, जैसा बोवेगा वैसा लोवेगा॥

हिरदे ज्ञान न ऊपजे, मन परतीत न होय।
ताको सतगुरु कहा करै, घनघसि कुल्हरा न होय॥३७॥

जिसके हृदयमें न तो स्वयं ज्ञान है, न मनमें विश्वास है। "दीन्हों दर्पण हस्तमें, चश्म विना क्या देख" ऐसेको सद्गुरु भी मिलकर क्या कर सकते। हथौड़ाको घीसनेसे कुल्हाड़ा नहीं वनती ॥ ३७ ॥

घनघसिया जोई मिले, घन घसि काढ़े धार।
मूरख तें पंडित किया, करत न लागी बार ॥३८॥

सिकलीगरको चाहे कैसा भी हथियार मिले उसे सिकली पर चढ़ाके धार वना देता है। इसी प्रकार गुरुवचनमें विश्वास करनेवाला कोई मूर्ख ही क्यों न हो उसे ज्ञानी वनाते देरी नहीं लगती ॥ ३८ ॥

शिष पूजै गुरु आपना, गुरु पूजे सब साध।
कहैं कबीर गुरु शीपको, मत है अगम अगाध॥३६॥

शिष्य अपने गुरुकी और गुरु सब सन्तोंकी पूजा करते हैं इस प्रकार गुरु शिष्यका विचार और सिद्धान्त अगम्य और अथाह है ॥ ३६ ॥

गुरू सौंज ले शीप का, साधु संत को देत।
कहैं कबीरा सौंज से, लागे हरि सों हेत ॥४०॥

सद्गुरु शिष्यसे द्रव्य लेकर साधु सन्तोंमें वर्त्ता देते हैं, ऐसे करनेसे सेवकोंको आत्मस्वरूपके ज्ञान हित सन्त गुरुमें प्रेम होता है ॥ ४० ॥

शिष किरपिन गुरु स्वारथी, मिले योग यह आय।
कीच कीच के दाग को, कैसे सकै छुड़ाय ॥४१॥

स्वार्थी गुरु और कृपण शिष्य इन दोनोंका जहाँ संयोग गठता है वहाँ किसीका भी कार्य सिद्ध नहीं होता ॥ ४१ ॥

देश दिशन्तर मैं फिरूँ, मानुष बड़ा सुकाल।
जा देखै सुख ऊपजै, वाका पड़ा दुकाल ॥४२

देश विदेशमें मैं फिरता हूँ मनुष्योंकी कमी कहीं नहीं है किन्तु जिसके मिलनेसे सुख-प्रेम बढ़े उसका बड़ा दुष्काल है ॥४२॥

सत को ढूँढत मैं फिरूँ, सतिया मिलै न कोय।
जब सत कूँ सतिया मिले, विष तजि अमृत होय॥४३

सत व सत् रहनी गहनीवालेको मैं ढूँढ़ता फिरता हूँ, वह कोई नहीं मिलता। जब सत खोजीको सतवादी मिलता है तब विष अमृत फल देता है ॥ ४३ ॥

स्वामी सेवक होय के, मन ही में मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रहिये मन के माँय ॥४४

स्वामी और सेवकके परस्पर एक दिल होना चाहिये उसीमें आनन्द है, वहाँ चतुराईसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता॥४

धन धन शिष की सुरति कूँ, सतगुरु लिये समाय।
अन्तर चितवन करत है, (गुरु) तुरतहि ले पहुँचाय॥४५

धन्य वह शिष्यकी वृत्ति है जो सद्गुरुको लक्ष्य बनाकर अन्तरही दर्शन करती है, ऐसी वृत्तिवालेको सद्गुरु शीघ्रही मुक़ाम पर ले पहुँचाते हैं ॥ ४५ ॥

गुरु विचारा क्या करै, बाँस न ईंधन होय ।
अमृत सींचे बहुत रे, बूँद रही नहि कोय ॥४६॥

जिस प्रकार अन्तः सारहीन बाँस चन्दन लकड़ी नहीं बनती । इसी तरह सद्गुरु भी क्या कर सकते हैं । जब कि उनका सदुपदेश रूपी अमृतका छींटा तक भी शून्य हृदयमें नहीं पड़ता ॥ ४६ ॥

गुरु भया नहिं शिष भया, हिरदे कपट न जाव ।
आलो पालो दुख सहै, चढ़ि पाथरकी नाव ॥४७॥

जब तक हृदयका छल प्रपंच नहीं गया है तब तक न तो उसे गुरु-पदकी योग्यता है न शिष्यही की । ऐसी दशामें वह जहाँ तहाँ, आगे पीछे दुःखही दुख पायगा, सुखी कदापि न होगा ॥ ४७ ॥

चच्छु होय तो देखिये, जुक्ती जानै सोय ।
दो अन्धे को नाचनो, कहो काहि पर मोय ॥४८॥

यदि शिष्य पदको विवेक दृष्टि होय तो आत्मस्वरूपका रहस्य दीखे और यदि गुरुपदको योग्यता होय तो मुक्तिको युक्ति जाने । जब कि गुरु, शिष्य दोनों पदकी दृष्टिसे रहित हैं तब तो दो अन्धोंके नाच तुल्य है वहाँ नृत्यकला निरर्थ जाती है । किसीसे किसीको लाभ नहीं होता ॥ ४८ ॥

गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि ।
बिना विचारे गुरु करै, पड़ै चौरासी खानि ॥४९॥

अतः शिष्यको उचित है कि विचार कर रहस्ययुत ज्ञान निष्ठ गुरु करे और पानी छानकर पीये अर्थात् सार वाणीको ग्रहण करे। इसके विपरीत होनेसे मुक्तिके बदले अधोगति होती है॥ ४९ ॥

गुरु तो ऐसा चाहिये, शिष सों कछू न लेय।
शिष तो ऐसा चाहिये, गुरु को सब कुछ देय ॥५०॥

गुरुको निर्लोभी और सन्तोषी होना चाहिये शिष्यसे कुछ प्राप्तिकी आशा कभी न करे और शिष्यको ऐसा होना चाहिये कि गुरुकी चरणोंमें सर्वस्व समर्पण कर दे ॥ ५० ॥

इति श्री गुरु-शिष्य हेराको अंग ॥ ४ ॥

अथ निगुराको अंग ॥ ५ ॥

जो निगुरा सुमिरन करै, दिन में सौ सौ बार।
नगर नायका सत करै, जरै कौन की लार ॥१॥

गुरु विमुख नरजीवको कोई एक निश्चय इष्टदेव नहिं होनेसे प्रतिदिनका सैकड़ों सुमिरन ऐसे निष्फल जाता है जैसे वेश्याके पति निश्चय विना सति धर्म ॥ १ ॥

गुरु बिनु अहिनिश नाम ले, नहीं संत का भाव।
कहैं कबीर ता दास का, पड़ै न पूरा दाव ॥२॥

सन्त गुरुमें प्रेम विना निगुरा चाहे दिन रात नाम जपे। सद्गुरु कबीर कहते हैं, उसका मनोरथ पूरा कभी नहीं हो सकता ॥ २ ॥

गुरु बिन माला फेरते, गुरु बिन देते दान।
गुरु बिन सब निष्फल गया, पूछौ वेद पुरान ॥३॥

शास्त्र पुरानका कथन है कि गुरु विमुखके सुमिरन भजन दान पुण्य सबही व्यर्थ जाते हैं ॥ ३ ॥

गरभ योगेसर गुरु विना, लागे हरि की सेव।
कहैं कबीर बैकुंठ तें, फेर दिया शुकदेव ॥४॥

न विश्वास हो तो साक्षी लो, देखो शुकदेवजीको गुरु विना सबही सेवा निष्फल गई क्योंकि गुरु विमुखताके कारण भगवानने बैकुण्ठसे लौटा दिया ॥ ४ ॥

जनक विदेही गुरु किया, लागा हरि की सेव।
कहैं कबीर बैकुण्ठ में, उलटि मिला शुकदेव॥५॥

पुनः जनक विदेहको गुरु मानकर जो उसनें सेवा की वह। प्रभुको कबूल हुआ फिर वह संसारसे निवृत्त ही स्वरधामको पहुँच गया॥ ५॥

चौसठ दीवा जोय के, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घर किसका चाँदना, जिहि घर सतगुरु नाँहि ६

चाहे कोई चौसठ कला और चौदहों विद्यामें निपुण क्यों न हों किन्तु जब तक सद्गुरु ज्ञान दीपकका प्रकाश नहीं है तहाँ तक हृदयका अविद्या अन्धकार दूर नहीं हो सकता॥६॥

निशि अँधियारी कारनै, चौरासी लख चंद।
गुरु बिन येते उदय है, तहू सुद्रिष्टि हि मंद॥७॥

हृदयमें अज्ञान तिमिर होनेके कारण, सांसारिक सर्व विद्या और कलावोंमें कुशल होने पर भी स्वरूपज्ञानकी दृष्टि गुरु बिना मन्दही रहती है॥ ७॥

दारुक में पावक बसै, घुन का घर किय जाय।
(यौं) हरिसंग विमुख निगुरु को, काल ग्रासही खाय ८॥

यद्यपि सामान्य अग्नि काष्टमें मोजूद है तथापि घुन घर कर के उसे नष्ट कर देता है, विशेष अग्नि विना वह घुनको नष्ट नहीं कर सकता। इसी तरह हृदयमें हरिको होते हुए भी गुरु विना कालसे निगुरा अपनेकी रक्षा नहीं कर सकता॥ ८॥

पूरे को पूरा मिले, पूरा पड़सी दाव।
निगुरू तो कूवट चलै, जब तब करै कुदाव॥९॥

उत्तम अधिकारीको पूरे सद्गुरुके मिलनेसे मोक्ष प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। लेकिन कुमार्ग गामी निगुराको तो अपने कियेका दण्ड अवश्य भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

जो कामिनी पड़दे रहै, सुनै न गुरमुख बात।
सो तो होगी कूकरी, फिरै उघारे गात ॥१०॥

पड़दे नशीन औरतोंको भी कल्याणहित सद्गुरुका ज्ञानोपदेश श्रवण करना चाहिये। नहीं तो लोकलाजमें पड़के गुरुज्ञान विमुख होनेपर कुत्ती, शूकरी आदि नीच योनि में जाकर उघाड़े अंग फिरेगी ॥ १० ॥

कबीर गुरु की भक्ति बिनु, नारि कूकरी होय।
गली गली भूँकत फिरै, टूक न डारै कोय ॥११॥

गुरु भक्ति बिना नारी कुत्ती शरीरको प्राप्त हो गली २ भूँकती फिरेगी, कोई ग्रास भी नहीं डालेगा ॥ ११ ॥

कबीर गुरु की भक्ति बिनु, राजा रासभ होय।
माटी लदै कुम्हार की, घास न डारै कोय॥१२॥

राज्य सम्पत्तिके अभिमानी गुरु विमुख राजा गद्हा योनिको प्राप्त हो कुँभारकी मिट्टीका द्विगुण भार उठायगा और पेटभर घास भी नहीं पायगा ॥ १२ ॥

गगन मंडल के बीच में, तहवाँ झलकै नूर।
निगुर महल न पावई, पहुँचेगा गुरु पूर ॥१३॥

यद्यपि अविनाशी देवका प्रकाश सबके हृदयमन्दिरमें झलक रहा है तथापि उसके प्रकाशका दर्शन वहीं कर पाता है जो पूरे सद्गुरुकी शरण लेता है ॥ १३ ॥

कबीर हृदय कठोर के, शब्द न लागै सार ।
सुधि बुधि के हिरदै बिधे, उपजे ज्ञान बिचार ॥१४॥

"पाहनमें क्या मारिये, चोखा तीर नशाय ।" इस उपदेशके अनुसार जड़बुद्धि नरके प्रति सार शब्दोपदेश व्यर्थ जाता है प्रेम और जिज्ञासा वाले होके हृदयमें उपदेश प्रवेशकर आत्मका ज्ञान व विचारको प्रगट करता है ॥ १४ ॥

भिरमिर भिरमिर बरसिया, पाहन ऊपर मेह ।
माटी गलि पानी भई, पाहन वाही नेह॥१५॥

पत्थर पर वर्षाकी लगातार झड़ी पड़नेपर भी कुछ नहीं जम सकता क्योंकि पानीके साथही मिट्टी बह जाती और पत्थर फिर सूखेका सूखा रह जाता है ॥ १५ ॥

हरिया जानै रूखड़ा, उस पानी का नेह ।
सूखा काठ न जानि है, कितहूँ बूड़ा मेह ॥१६॥

पानीका स्नेह हरा वृक्षही जानता है, अन्तःसार हीन सूखी लकड़ीको असर नहीं करता चाहे वह वृष्टि-जलसे बूड़ेही क्यों न रहे ॥ १६ ॥

कबीर हरि रस बरसिया, गिरि परवत सिखराय ।
नीर निवानू ठाहरै, ना वह छापर डाय ॥१७॥

सर्वसामान्यके प्रति सद्गुरुका आत्म उपदेश होता है। किन्तु वह जिज्ञासुके हृदयमें ही स्थिर व फलीभूत होता है। जैसे वृष्टि पर्वतकी चोटी तथा पृथ्वीके ऊँचा और समथल भागमें भी होती है, लेकिन पानी गहरी जगह ताल तलैयामें ही ठहरता है ॥ १७ ॥

पशुवा सों पानो पर्यो, रहु रहु हिया न खीज।
ऊपर बीज न ऊगसी, बोवै दूना बीज ॥१८॥

बारम्बार मूर्खोंके पाले पड़नेपर भी ज्ञानियोंका हृदय कभी क्षुभित नहीं होता है क्योंकि चाहे ऊपरमें दूना बीज क्यों न डालो वह कभी उगनेका नहीं ॥ १८ ॥

ऊँचे कुल के कारनैं, बाँस बध्यो हंकार।
राम भजन हिरदे नहीं, जार्यो सब परिवार ॥१९॥

ऊँचा लम्बा होनेके कारण बाँसको अहंकार बहुत बढ़गया इसी लिये अन्तःसार हीन (पोल) और बीच २ में गाँठे पड़ गईं। ऐसे श्रेष्ठ खानदान और परिवारको जला दो जिसके कारण सन्त समागम और राम भजन मनमें नहीं आता ॥१९॥

कबीर चंदन के भिरै, नीम भी चंदन होय।
बूड़यौ बाँस बड़ाइयाँ, यों जनि बूड़ौ कोय ॥२०॥

चन्दनके समीप नीम्ब भी चन्दन हो जाता है किन्तु ऊँची मान बड़ाईरूपी पोलाके कारण बाँस युगोंमें भी नहीं। हे मनुष्यो! ऐसे मिथ्या अहंकारी कोई मत बनो ॥ २० ॥

कबीर लहरि समुद्र की, मोती बिखरे आय।
बगुला परख न जानई, हंसा चुगि चुगि खाय॥२१॥

समुद्रकी लहरके साथ मोती किनारे आकर बिखर गई। लेकिन बगुला पारख बिना उनसे लाभ नहीं ले सका, हंस उसे चुँग २ कर तृप्त होगया। ठीक है 'जो जाको मर्म न जाने,ताको काह कराये' इत्यादि बीजक ॥ २१ ॥

सारा लश्कर ढूँढ़िया, सारदूल नहिं पाय।
गीदड़ को सर बाहिके, नाम काम गँवाय ॥२२॥

लश्कर सब सिंहको ढूँढ़ा उसे न पाकर सिंहके बदले यद्यपि सार मारकर अपना काम निकाला लेकिन नाम गमा बैठा। भावार्थ—बिना स्वरूपज्ञान कल्याण सकाम कर्मादिसे नहीं होता ॥ २२ ॥

शुकदेव सरिखा फेरिया, तो को पावै पार।
गुरु बिन निगुरा जो रहै, पड़ै चौरासी धार॥२३॥

जब कि गर्भ योगेश्वर ऐसे ज्ञानी चौरासीमें ढकेले गये तो और कौन गुरु बिना पार पा सकता है? अतः निगुरोंको चौरासी धारमें अवश्य पड़ना पड़ेगा ॥ २३ ॥

सत्त ज्ञान है मोतिया, सचराचर रह्यो छाय।
सुगुरे थे सो चुनि लिये, चूक पड़ी निगुराय॥२४॥

सत्यात्म स्वरूपका ज्ञान रूप मोति सद्गुरुने सब जगह बिखेर दिया है। गुरुमुखी उसे पातकर तृप्त होता है, कर्मका चूका निगुरा पछता रहा है ॥ २४ ॥

कंचन मेरु अरपहीं, अरपै कनक भंडार।
कहैं कबीर गुरु बेमुखी, कबहुँ न पावै पार॥२५॥

यद्यपि सुमेरु पर्वत सोनाका भण्डार ही है भाग्यवान् उसे चाहे जितना लेले, लेकिन भाग्यहीन वहाँसे भी एक कणिका नहीं पा सकता। ऐसे ही गुरु बेमुखी नर समाज रूप जहाज़ पाकर भी पार नहीं जाता ॥ २५ ॥

दारू के पावक करै,घुनक जरी (क्यों)न जाय।
कहैं कबीर गुरु बेमुखी, काल पास रहि जाय॥२६॥

जिस प्रकार काष्ठकी सामान्य अग्नि घुनका बाधक नहीं

होती इसी प्रकार गुरु विमुखको मैं हूँ, ऐसा सामान्य ज्ञान होते हुए भी असंगतादि गुरु मुख विशेष ज्ञान विना अविद्याजन्य जन्म मृत्यु रूप काल पास नहीं मिट सकता ॥ २६ ॥

साकट का मुख बिंब है, निकसत बचन भुवंग ।
ताकी औषधि मौन है, विष नहिं व्यापै अंग ॥२७॥

साकटका मुख सर्पका बिलरूप है, उसमेंसे दुःखदाई वचन-रूपी सर्प निकलता है । सज्जनोंको उचित है कि उसकी मौन-रूपी औषधि सदा पास रक्खे जिससे उसका विष अंगमें नहीं व्यापे ॥ २७ ॥

साकट कहा न कहि चलै, सुनहा कहा न खाय ।
जो कौवा मठ हगि भरै, (तो) मठ को कहा नशाय ॥२८

साकट क्या नहीं बकता ? और निजी वमन खानेवाला कुत्ता क्या नहीं खाता परन्तु इससे सज्जनको क्या ? कुछ नहीं काकके विट् करनेसे मन्दिर नहीं बिगड़ता ॥ २८ ॥

साकट सूकर कूकरा, तीनों की गति एक ।
कोटि जतन परमोधिये, तऊ न छाड़ै टेक ॥२९॥

निगुरा नर और शूकर कूकर पशु ये तीनोंकी एकसी चाल है । चाहे करोड़ों युक्तिसे इन्हें बोध किया जाय परन्तु ये अपनी टेक नहीं छोड़ते है ॥ २९ ॥

टेक न कीजै बावरे, टेक माँहि है हानि ।
टेक छाड़ि मानिक मिलै, सतगुरु वचन प्रमानि ॥३०॥

ऐ दिवाने ! हठीला मत बनो, हठ वश बड़ा दुःख उठाना पड़ता है गालव ऋषिका दुःखको यादकर हठ छोड़ दो और

सद्गुरुका प्रमाणिक वचनमें विश्वास करो उनकी कृपासे अनमोल मणि मिल जायगी ॥ ३० ॥

टेक करै सो बावरा, टेकै होवै हानि।
जो टेकै साहिब मिलै, सोई टेक परमान ॥३१॥

बस ! सब टेकोंको छोड़कर वही प्रमाणिक एक टेक पकड़ लो जिससे अविनाशी स्वामी मिलें ॥ ३१ ॥

साकट संग न बैठिये, अपनो अंग लगाय।
तत्व शरीराँ झड़ि पड़ै पाप रहै लपटाय ॥३२॥

कुसंगियोंके साथ बैठना ही बुरा है क्योंकि उनके संग अंग मिलानेसे हृदयके सत्य विवेकादि नष्ट होकर अवश्य पाप छा जाता है ॥ ३२ ॥

साकट संग न बैठिये, करन कुबेर समान।
ताके संग न चालिये, पड़ि हैं नरक निदान॥३३॥

साकट चाहे कर्ण, कुबेरके समान क्यों न हों यदि कल्याण चाहो तो उनके साथका बैठना उठना कतई बन्द करो, नहीं तो अन्तमें नरक अवश्य होगा इसमें सन्देह मत करो ॥ ३३ ॥

साकट ब्राह्मण मति मिलो, वैसनव मिलु चंडाल।
अंग भरै भरि भेटिये, मानो मिले दयाल ॥३४॥

साकट ब्राह्मणका संग छोड़कर सत्संगी चण्डाल क्यों न हो उसको हृदयमें ऐसे लगावो मानो परम सुहृद सन्त दयालु गुरु मिले ॥ ३४ ॥

साकट सन का जेवरा, भीजै सो करराय।
दो अच्छर गुरु बाहिरा, बाँधा जमपुर जाय ॥३५॥

साकट सनकी रस्सी की तरह भींजने पर अधिक से अधिक कठोर हो जाता है, गुरु या प्रेम इन दो अक्षरोंसे बहिरा होनेके कारण वह बाँधे मृत्यु द्वारे जाता है ॥ ३५ ॥

साकट से शूकर भला, सूचौ राखै गाँव।
बूड़ौ साकट बापुरा, बाइस भरमी नाँव ॥३६॥

सांकटसे तो वह शूकर अच्छा जो गाँवको साफ रखता है। जहाज़के भरमीला कौवावत् वह साकट भले मरे, उसे कहीं भी शान्ति नहीं ॥ ३६ ॥

साकट ब्राह्मण सेवरा, चौथा जोगी जान।
इनको संग न कीजिये, होय भक्ति में हान ॥३७॥

जैनी, योगी, साकट और ब्राह्मण इन चारोंकी संगत मत करो क्योंकि सद्गुरु भक्तिमें विघ्न होगा ॥ ३७ ॥

साकट ते सँत होत हैं, जो गुरु मिले सुजान।
राम नाम निज मंत्र दे, छुड़वै चारों खान ॥३८॥

साकट भी सन्त बन सकता है जो कहीं पूरे सद्गुरु मिल जायँ। क्योंकि सद्गुरु ऐसे हैं कि निज राम नाम मंत्रसे चारों खानिमें भ्रमणरूपी कर्म रेख पर मेख मार सकते हैं ॥ ३८ ॥

कबीर साकट की सभा, तू मति बैठे जाय।
एक गुवाड़े कदि बड़ै, रोज गदहरा गाय ॥३९॥

ऐ जिज्ञासुओ! तू साकटोंकी सभामें जाकर मत बैठ, उसका फल बुरा है, क्योंकि एक गुवाड़ा (गोशाला) में नीलगाय, गदहा और गौको रहनेसे कभी न कभी परस्पर लड़ाई अवश्य होगी, और न्याय कुछ न होगा। अतः मूर्खोंकी सभा दुखदाई है ॥ ३९ ॥

मैं तोही सों कब कह्यो,(तू)साकट के घर जाव।
बहती नदिया डूबि मरूँ, साकट संग न खाव ॥४०॥

मैंने तुझसे मूर्खोंका संग करनेको कब कहा था? हर्गिज़ नहीं। निगुरोंके संग निर्वाह करनेसे तो दरियामें डूब मरना अच्छा है।

संगति सोई बिगुर्चई, जो है साकट साथ।
कँचन कटोरा छाड़ि कै, सनहक लीन्हीं हाथ ॥४१॥

जो निगुरोंका संग करता है वह उनकी उलझनोंसे अवश्य दुख पाता है। इसीसे तो विरक्त सन्त कनक कटोरा छोड़के मिट्टीके पात्रमें निर्वाह करते हैं॥ ४१ ॥

सूता साधु जगाइये, करै ब्रह्म को जाप।
ये तीनों न जगाइये, साकट सिंहरु साँप ॥४२॥

सन्तोंको अवश्य जगावो वे आत्मज्ञानका विचार करें, करायेंगे। लेकिन सिंह, सर्प और मूर्खोंको हर्गिज़ न जगावो। ये दूसरोंको दुःख देंगे॥ ४२॥

आँखों देखा घी भला, ना मुख मेला तेल।
साधू सों झगड़ा भला, ना साकट सों मेल ॥४३॥

मुखमें डाला हुआ तेलसे घृतका दर्शनमात्र अच्छा है। मूर्खों की मुहब्बतसे सन्तोंसे झगड़ा अच्छा, उसमें कुछ भी निर्णय होगा॥ ४३॥

घर में साकट इस्तरी, आप कहावै दास।
वो तो होयगी शूकरी, वह रखवाला पास ॥४४॥
खसम कहावै वैसनव, घर में साकट जोय।
एक घरा में दो मता, भक्ति कहाँ ते होय ॥४५॥

घरमें यदि स्त्री साकटी है और अपने भक्त है, तो उसके

संग प्रभावसे इसका ज्ञान नष्ट हो जायगा। जब वह अपने कुकृत्यसे शूकरी होगी तो वह शूकर बनके उसकी रक्षा करेगा क्योंकि एक घरमें दो मत होनेसे भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

ऊजड़ घर में बैठि के, किसका लीजै नाम।
साकुट के सँग बैठ के, क्यूं कर पावै राम ॥४६॥

शून्य घरमें बैठनेसे सत्संग विचार कैसे, किसके संग होगा? और गुरु विमुख नर, नारीके संगमें बैठकर भी रामरत्न क्यों कर पावेगा? ॥ ४६ ॥

हरिजन की लातॉं भली, बुरि साकुट की बात।
लातों में सुख ऊपजे, बाते इज्जत जात ॥४७॥

निगुरोंकी मिठी बातोंसे हरिजनकी लातों मार भली है क्योंकि उनकी लातोंमें आनन्द है और उसके साथ बातोंसे इज्ज़त जाती है ॥ ४७ ॥

हरिजन आवत देखि के, मोहड़ो सूख गयो।
भाव भक्ति समुझयो नहीं, मूरख चूकि गयो ॥४८॥

हरिजनोंको आते देखकर हरि विमुखोंका चेहरा उदास हो जाता है क्योंकि वह प्रेम भक्तिका रहस्य नहीं जानता मूर्खतावश नरजन्मके कर्तव्यसे चुका हुआ है ॥ ४८ ॥

निगुरा ब्राह्मण नहिं भला, गुरुमुख भला चमार।
देवतन से कुत्ता भला, नित उठि भूंके द्वार ॥४६॥

गुरु सत्संग विमुख ब्राह्मणसे सत्संगी चमार अच्छा है। और उन जड़ देवोंसे तो कुत्ता अच्छा है जो नित उठि द्वारे भूंकता तो है ॥ ४६ ॥

इति श्रीनिगुराको अंग ॥ ५ ॥

अथ साधुको अंग ॥ ६ ॥

कबीर दरशन साधु के, साहिब आवै याद।
लेखे में सोई घड़ी, बाकी के दिन बाद ॥१॥

सन्तोंके दर्शनसे सद्गुरु साहिबका चिन्तन होता है। अतः वही समय सार्थक और सब निरर्थक है ॥ १ ॥

कबीर दर्शन साधु का, करत न कीजै कानि।
ज्यौं उद्यम से लक्ष्मी, आलस मन से हानि ॥२॥

सन्तोंका दर्शन अभिमान रहित उत्साहपूर्वक करना चाहिये क्योंकि उद्योगी पुरुषको लक्ष्मी मिलती है। आलसीको हर्गिज़ नहीं ॥ २ ॥

कबीर सोई दिन भला, जा दिन साधु मिलाय।
अंक भरै भरि भेटिये, पाप शरीराँ जाय ॥३॥

जिस दिन सन्त मिलें वही दिन अच्छा है। सन्तोंके चरणों में लोट जाओ, खूब प्रेमसे मिलो, शरीरका पाप निवृत्त हो जायगा ॥ ३ ॥

कबीर दरशन साधु के, बड़े भाग दरशाय।
जो होवै सूली सजा, काटै ई टरि जाय ॥४॥

बड़े भाग्यसे सन्तोंका दर्शन होता है। उनके दर्शनसे सूली-की सजा काँटे लगके भुगत जाती है ॥ ४ ॥

दरशन कीजै साधु का, दिन में कइ कइ बार।
आसोजा का मेह ज्यौं, बहुत करै उपकार ॥५॥

दिनमें जितनी वार सन्तोंके दर्शनका मौका मिले उतनी वार करना चाहिये, जैसे आश्विनकी वृष्टि खेतीको बहुत लाभ पहुँचाती है उसी प्रकार सन्तों का दर्शन लाभ पहुँचाता है ॥५॥

कई बार नहिं करि सकै, दोय वखत करि लेय ।
कबीर साधू दरस ते, काल दगा नहिं देय ॥६॥

ज्यादे नहीं तो दिनमें दो वार तो अवश्य सन्तोंका दर्शन करना चाहिये, जिससे काल दगा नहीं देवे ॥ ६ ॥

दोय वखत नहिं करि सकै, दिन में करु इक बार ।
कबीर साधू दरस ते, उतरे भौजल पार ॥७॥

यदि दिनमें दो वार नहीं तो एकही वार सही। सन्तोंका दर्शन भवसिन्धुको पार करता है ॥ ७ ॥

एक दिना नहिं करि सकै, दूजे दिन करि लेह ।
कबीर साधू दरस ते, पावै उत्तम देह ॥८॥

प्रतिदिन नहीं तो दूसरे दिन सही। सन्तोंके दर्शनसे उत्तम शरीर प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

दूजे दिन नहिं करि सकै, तीजै दिन करु जाय ।
कबीर साधू दरस ते, मोक्ष मुक्ति फल पाय॥६॥

दूसरे दिन नहीं तो तीसरे दिन सही। ध्यान रहे सन्तोंके दर्शनसे मोक्ष फल मिलता है ॥ ६ ॥

तीजे चौथे नहिं करै, वार वार करु जाय ।
यामें विलँब न कीजिये, कहैं कबीर समुझाय ॥१०॥

तीजे, चौथे नहीं तो हफ्तेवार सही, इसमें विलम्ब न होना चाहिये ॥ १० ॥

वार वार नहिं करि सकै, पाख पाख करि लेय।
कहैं कबीर सो भक्तजन, जनम सुफल करि लेय॥११॥

हफ्तेवार नहीं तो पन्द्रहवें दिन तो अवश्य नरजन्म सफल करने के लिये सन्तोंका दर्शन भक्तोंको करना चाहिये ॥ ११ ॥

पाख पाख नहिं करि सकै, मास मास करु जाय।
यामें देर न लाइये, कहैं कबीर समुझाय॥१२॥

कबीर गुरु समझा रहे हैं, पक्षमें नहीं तो महीनेमें सही, परन्तु इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

मास मास नहिं करि सकै, छठै मास अलबत्त।
यामें ढील न कीजिये, कहैं कबीर अविगत्त॥१३॥

न महीने २ तो छै महीनेमें सही। इसमें आलस मत करो अविगत पुरुषकी बात मानो ॥ १३ ॥

छठै मास नहिं करि सकै, बरस दिना करि लेय।
कहैं कबीर सो भक्तजन, जमहिं चुनौती देय ॥१४॥

वर्ष दिनमें भी सन्तोंका दर्शन करनेवाला भक्त मृत्युको फारखती दे सकता है ॥ १४ ॥

बरस बरस नहिं करि सकै, ताको लागै दोष।
कहैं कबीरा जीव सो, कबहुँ न पावै मोष ॥१५॥

जो भक्त वर्षमें एकबार भी सन्त गुरुका दर्शन, सत्संग नहीं करता वह पापका भागी और मुक्तिसे विमुख होता है ॥ १५ ॥

मात पिता सुत इस्तरी, आलस बन्धू कानि।
साधु दरस को जब चलै, ये अटकावै खानि ॥१६॥

सन्तोंके दर्शनमें मान मर्यादा, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, सगा सम्बन्धी और आलस्य ये भारी प्रतिबन्धक हैं ॥ १६ ॥

इन अटकाया ना रहै, साधु दरस को जाय।
कबीर सोई संत जन, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥१७॥

इनसे निर्बन्ध हो जो सन्तोंका दर्शन करते हैं वे जिज्ञासु अवश्य मुक्ति फल पाते हैं ॥ १७ ॥

साधु चलत रो दीजिये, कीजे अति सनमान।
कहैं कबीर कछु भेंट धरु, अपने बित अनुमान ॥१८॥

सन्तोंके चरणोंमें अपनी शक्ति अनुसार भेंट धरके सम्मान पूर्वक गद्गद् वाणीसे पुनः दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हुये उन्हें विदा करना चाहिये ॥ १८ ॥

खाली साधु न विदा करु, सुनि लीजो सब कोय।
कहैं कबीर कछु भेंट धरु, जो तेरे घर होय ॥१९॥
कबीर दरसन साधु के, खाली हाथ न जाय।
यही सीख बुधि लीजिये, कहैं कबीर समुझाय ॥२०॥

'न रिक्तः पाणिः पश्येत्तु राजा नं दैव तं गुरुम्' इत्यादि नीतिके अनुसार यथा शक्ति सन्तोंके चरणोंमें कुछ रखके दर्शन और विदा करना चाहिये ॥ १९ ॥ २० ॥

सुनिये पार जु पाइया, छाजन भोजन आनि।
कहैं कबीरा साधु को, देत न कीजै कानि ॥२१॥

कबीर गुरु कहते हैं यदि संसारसे पार जाना चाहते हो तो सन्तोंको अन्न, वस्त्र देनेमें ज़रा भी आगा पीछा मत करो २१

कबीर लौंग इलायची, दातुन माटी पानि।
कहैं कबीरा साधु को, देत न कीजै कानि ॥२२॥

लवङ्ग, इलायची, दातुयन, पानी जो कुछ श्रद्धा भक्तिसे बनि आवे सन्तोंको देनेमें सोच विचार मत करो ॥ २२ ॥

टूका माहीं टूक दे, चीर मांहिं सों चीर।
साधू देत न सकुचिये, यौं कहैं सत्त कबीर ॥२३॥
कंचन दीया करन ने, द्रौपदी दीया चीर।
जो दीया सो पाइया, ऐसे कहैं कबीर ॥२४॥

गुरु कबीर तो ऐसा कहते हैं कि, रोटीके टुकड़ेमेंसे टुकड़ा और वस्त्रके चिथड़ेमेंसे चिथड़ा भी सन्तोंको देनेमें संकोच मत करो। देखो! कर्णने सोना और द्रौपदीने चिथड़ा दिया। जो जैसा दिया वह वैसा पाया ॥ २३ ॥ २४ ॥

निराकार निज रूप है, प्रेम प्रीति सों सेव।
जो चाहै आकार को, साधू परतछ देव ॥२५॥
साधू आवत देखि के, चरणौं लागौ धाय।
क्या जानौ इस भेष में, हरि आपै मिल जाय॥२६॥

निर्गुण आकारका साक्षी अपना स्वरूप है। उसे प्रेम प्रीतिकी वृत्तिसे सेवन करो और यदि आकार चाहिये तो प्रत्यक्ष सन्त गुरुदेवका दर्शन करलो। सन्तोंको आते देखकर चरणोंमें लोट जावो। किसको मालूम? इसी भेषमें साक्षात् प्रभु मिल जाते हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥

साधू आवत देखि करि, हँसी हमारी देह।
माथा का ग्रह ऊतरा, नैनन बढ़ा सनेह ॥२७॥

सन्तोंको आते देखकर, हमारा शरीर प्रसन्न हो गया। और मायेका कुलक्षण टलकर नयनमें स्नेह बढ़ने लगा ॥ २७ ॥

साधू आवत देखि के, मन में करै मरोर।
सो तो होसी चूहरा, बसै गाँव की ओर ॥२८॥

सन्तोंके दर्शनसे जो मनमें मरोड़ अर्थात् हृदयको संकुचित करता है, वह ज़रूर चाण्डाल शरीरको प्राप्त हो गाँवके किनारे बसेगा ॥ २८ ॥

साधु आया पाहुना, मागै चार रतन।
धुनी पानी साथरा, सरधा सेती अन ॥२९॥

सन्त मिहमान आते हैं तो भक्तोंसे चार रतन माँगते हैं। धूप-दीप, जल, बिस्तरा और श्रद्धा भक्तिसे अन्न ॥ २९ ॥

साधु दया साहिब मिले, उपजा परमानन्द।
कोटि विघन पल में टलै, मिटै सकल दुख दंद॥३०॥

पूर्वके सुकृत और सद्गुरुकी दयासे सन्तोंका दर्शन मिलता है। जिससे परम आनन्द लाभ और क्षणमें करोड़ों विघ्न टलके जन्मादि द्वन्द सकल उपाधियाँ मिट जाती है ॥ ३० ॥

साधू शब्द समुद्र है, जामें रतन भराय।
मन्द भाग मुट्ठी भरे, कंकर हाथ लगाय ॥३१॥

सन्त शब्दके सागर हैं जिसमें अनन्त ज्ञान रत्न भरे पड़े हैं। लेकिन भाग्यहतको वहाँ भी मूठी भर कंकड़के सिवा कुछ नहीं हाथ लगता ॥ ३१ ॥

साधु मिलै यह सब टलै, काल जाल जम चोट।
शीश नवावत ढहि पड़े, अघ पापन के पोट ॥३२॥

सन्तोंके मिलनेसे काल जाल जम चोट तो टलती ही है,

किन्तु उनके चरणोंमें शीश झुकानेसे तो जन्मोंके पाप-गट्ठर भी ढह पड़ते हैं ॥ ३२ ॥

साधु सेव जा घर नहीं, सतगुरु पूजा नाँहि ।
सो घर मरघट जानिये, भूत बसै तेहि माँहि ॥३३॥

जिस घरमें सन्त गुरुकी सेवा, पूजा नहीं है, वह घर, घर नहीं वह तो प्रेतका निवास स्थान श्मशान है ॥ ३३ ॥

साधु सीप साहिब समुँद, निपजत मोती माँहि ।
वस्तु ठिकानै पाइये, नाल खाल में नाँहि ॥३४॥

सद्‌गुरु रूप दरियाके निवासी सन्तरूपी सिपीमें मोती पकती है । जो चाहै सो वहाँसे प्राप्त कर सकता है, और ताल तलैयासे नहीं ॥ ३४ ॥

साधु विरछ सत्ज्ञान फल, शीतल शब्द विचार।
जग में होते साधु नहिं, जरि मरता संसार ॥३५॥

सन्त रूपी वृक्षमें सत्य ज्ञान रूप फल लगे हैं और शब्दोंका विचार रूपी शीतल छाया है । यदि संसारमें सन्त नहीं होते तो संसारी त्रिविधि तापोंसे जल मरता ॥ ३५ ॥

साधु हमारी आतमा, हम साधुन की देह ।
साधुन में हम यौं रहैं, ज्यौं बादल में मेह ॥३६॥

सन्त हमारी जान हैं और हम सन्तनके शरीर हैं । घटामें वृष्टिकी तरह हम सन्तोंमें रहते हैं ॥ ३६ ॥

साधु हमारी आतमा, हम साधुन को सांस ।
साधुन में हम यौं रहैं, ज्यौं फूलन में बास ॥३७॥

सन्त हमारी आत्मा और हम उनके स्वाँस हैं। पुष्पमें खुशबूकी भाँति हम उनमें रमे हुए हैं॥ ३७॥

साधु हमारी आतमा, हम साधुन के जीव।
साधुन में हम यों रहैं, ज्यों पय मध्ये घीव ॥३८॥

सन्त हमारी आत्मा और हम सन्तोंके जीव हैं। दूधमें घीके समान हम उनमें रम रहे हैं॥ ३८॥

ज्यौं पय मध्ये घीव है,(त्यों)रमी रहा सब ठौर।
वक्ता श्रोता बहु मिले, मथि काढ़े ते और ॥३९॥

दूधमें घीके सदृश सर्वत्र रमे हुये हैं। उसके वक्ता और श्रोता बहुत मिलते, लेकिन विलोयकर घृतके समान आत्मतत्व को निकालने वाले और ही हैं॥ ३९॥

साधु नदी जल प्रेम रस, तहाँ प्रछालो अंग।
कहैं कबिर निरमल भया, हरि भक्तन के संग॥४०॥

सन्त निर्मल जलका प्रवाह रूप हैं। प्रेम भक्तिसे जाकर उसमें हर एक अङ्गके कल्मषको धो डालो, क्योंकि हरि भक्तोंके संगसे सब कुछ निर्मल होता है॥ ४०॥

साधु मिले साहिब मिले, अन्तर रही न रेख।
मनसा वाचा करमना, साधू साहिब एक ॥४१॥

सन्तोंका मिलना ही साहिबका मिलना है। अन्दरकी दुविधा दूर कर मन, वचन, कर्मसे सन्त साहिब एकही स्वरूप समझो॥ ४१॥

साधुन के मैं संग हूँ, अन्त कहूँ नहिं जाँव।
जु मोहिं अरपै प्रीति सों, साधुन मुख है खाँव॥४२॥

मेरा निवास और कहीं भी नहीं है सदा साधुके संगमें रहता हूँ। भक्तोंका चढ़ाया उन्हींके द्वारा प्रेमसे ग्रहण कर लेता हूँ ॥ ४२ ॥

साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाँहि ।
धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधू नाँहि ॥४३॥

सन्त प्रेमके भूखे हैं, धनके नहीं। जो धनके भूखे हैं वे साधू नहीं हैं ॥ ४३ ॥ -

साधु बड़े परमारथी, घन ज्यौं बरसै आय ।
तपन बुझावै और की, अपनो पारस लाय ॥४४॥
साधु बड़े परमारथी, शीतल जिनके अंग ।
तपन बुझावै और की, दे दे अपनो रंग ॥ ४५ ॥

परमार्थी सन्त बादलकी वृष्टिके सदृश हैं। अपनी ज्ञान वृष्टि से औरोंके तापको शान्त करते हैं। क्योंकि उनका प्रत्यंग शीतल होता है इसलिये अपने ज्ञान रंगके छींटा देकर दूसरोंकी जलन भी बुझा देते हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

आवत साधु न हराखिया, जात न दीया रोय ।
कहैं कवीर वा दास की, मुक्ति कहाँ ते होय ॥४६॥
छाजन भोजन प्रीति सों, दीजै साधु बुलाय ।
जीवत जस है जगत में, अन्त परम पद पाय ॥४७॥

ऐसे सन्तोंके आगमनसे जो भक्त प्रसन्न नहीं होता और उनके जानेसे रोता नहीं, कबीर गुरु कहते हैं, उसकी मुक्ति कहाँसे होगी ? भक्तोंको तो चाहिये कि सन्तोंको बुलाकर प्रेमसे भोजन वस्त्र इत्यादि देवे, ताकि संसारमें जीतेजी यश तथा अन्तमें पूर्ण पद को प्राप्त करै ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

सरवर तरुवर संतजन, चौथा बरसै मेह ।
परमारथ के कारने, चारों धारी देह ॥४८॥
विरछा कबहु न फल भखै, नदी न अँचवै नीर ।
परमारथ के कारने, साधु धरा शरीर ॥४९॥

सन्त, सरोवर, वृक्ष और मेह इन चारोंकी देह केवल परमार्थके लिये है। क्योंकि वृक्ष न तो स्वयं फल खाता है न नदी जल पीती है, ऐसे ही सन्तोंने भी अपने भोग विलासके लिये नहीं, किन्तु परोपकारार्थ शरीर धारण किया है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

अलख पुरुष की आरसी, साधु ही की देह ।
लखा जु चाहै अलख को, इनहीं में लखि लेह ॥५०॥
सुख देवै दुख को हरै, दूर करै अपराध ।
कहँ कबिर वह कब मिलै, परम सनेही साध ॥५१॥

सन्तोंका शरीर अलक्ष्य पुरुषके दर्शनका दर्पण है, यदि उसे कोई देखना चाहे तो इन्हींमें देखले। जो सन्त दुख, दरिद्र आदि दुर्गणोंको दूरकर सुख देते हैं, कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसे परम स्नेही सन्त कब मिलेंगे ? ॥ ५० ॥ ५१ ॥

जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥५२॥
हरि दरबारी साधु हैं, इन ते सब कुछ होय ।
वेगि मिलावें राम को, इन्हें मिले जु कोय ॥५३॥

संसारिक झंझटोंसे जो सन्त अलग हैं उनसे केवल ज्ञानकी चर्चा करनी चाहिये, जातिसे कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि कीमत तलवारकी होती है, म्यानकी नहीं। सन्त तो हरिके

सभासद हैं। यदि इनसे जो कोई मिले तो अन्य चीजोंकी तो बात ही क्या, शीघ्र रामहीसे मिला देते हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

कह आकाश को फेर है, कह(हा) धरती का तोल।
कहा साधु की जाति है, कह(हा) पारसका मोल॥५४॥

कहो! आकाशकी गोलाईका नाप क्या है? एवं पृथ्वीका तोल और पारस मणिका मोल कोई कर सकता है? हर्गिज नहीं, इसी प्रकार सन्तोंकी भी जाति नहीं होती ॥ ५४ ॥

हरि सों तू मति हेत करु, कर हरिजन सों हेत।
माल मुल्क हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत ॥५५॥
साधू खोजा राम के, बसैं जु महलन माँहि।
औरन को परदा लगे, इनको परदा नाँहि ॥५६॥

हरिकी सेवासे हरिजनकी सेवा श्रेष्ठ है, क्योंकि हरिकी प्रसन्नतामें संसारिक वस्तुका लाभ होता है और हरिजन तो साक्षात् हरिही को दे देता है ॥ अन्तःपुर प्रवेशके निमित्त सन्त और खोजा (हिजड़ा) के लिये परदा नहीं होता। दोनोंमें अन्तर इतना ही है कि, वह राजाके रनवासका पहरादार होता है और सन्त साक्षात् परमेश्वरके ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

साधुन की झुपड़ी भली, ना साकट को गाँव।
चन्दन की कुटकी भली, ना बाबुल वनराव ॥५७॥
पुर पट्टन सूबस बसै, आनन्द ठाँवै ठाँव।
राम सनेही बाहिरा, ऊजड़ मेरे भाव ॥५८॥

कुसंगियोंके ग्रामसे सत्संगी सन्तोंकी मड़ई अच्छी है। जैसे काँटेदार बबूलके जंगलसे खुशबूदार चन्दनकी कुटकी (चूर्ण) भली होती है। भले नगर अच्छे बसे हों और जगह व जगह नृत्य,

गानादि आनन्द भी होते हों, परन्तु वे लोग राम कहानीसे यदि वधिर हैं तो मैं उसे उजाड़ समझता हूँ। अथवा रामस्नेही सन्त उस आनन्दसे बाहरहो ऊजड़ झोपड़ीमें ही प्रेम करते हैं ५७।५८

हयवर गयवर सघन धन, छत्रपति की नारि।
तासु पटतर ना तुलै, हरिजन की पनिहारि॥५९॥
क्यों नृपनारी निन्दिये, पनिहारी को मान।
(वह) माँग सँवारै पीव कूँ, नित वह सुमिरै राम॥६०॥

अनेक आभूषणोंसे सजी हुई छत्रधारीकी रानी हरिजनकी पनिहारीकी बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि रानी केवल निज पति प्रसन्नताके लिये माँग सँवारती है और वह प्रति दिन प्रभुका स्मरण करती है॥ ५९ ॥ ६० ॥

साधुन की कुतिया भली, बुरी साकट की माय।
वह बैठी हरिजस सुनै, (वह) निंदा करनै जाय॥६१॥

निन्दकी निगुरेकी मातासे तो हरिजनकी कुतिया अच्छी है जो बैठकर हमेशा हरि-कथा सुनती है॥ ६१ ॥

तीरथ न्हाये एक फल, साधु मिले फल चार।
सतगुरु मिलै अनेक फल, कहैं कबीर विचार॥६२॥

तीर्थमें स्नानसे केवल शुद्धता रूपी एक फल और सन्तोंके समागममें अर्थादि चार फलकी प्राप्ति होती है। परन्तु सद्गुरुके मिलनेसे अनेकों फलकी प्राप्ति हो जाती है ऐसा कबीर गुरु विचार कर कहते हैं॥ ६२ ॥

साधु सिद्ध बहु अन्तरा, साधु मता परचण्ड।
सिद्ध जु तारे आपको, साधु तारि नौ खण्ड॥६३॥

यही बड़ाई सन्त की, करनी देखो आय।
रज हूँ ते झीना रहै, तौलिन है गुन गाय ॥६४॥

सिद्ध और सन्तोंमें बहुत अन्तर है, क्योंकि सिद्ध अपने हितके लिये हैं, और विवेकी सन्त तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके मुमुक्षुका हितकारी है। यथा—"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।" बस! कर्त्तव्य ही देख लो, यही उसकी श्रेष्ठता है। सन्तोंमें उदारता, नम्रता और प्रेम भावमें कुछ कमी नहीं॥ ६३ ॥ ६४ ॥

परमेश्वर ते संत बड़, ताका कहु (हा) उनमान।
हरि माया आगै धरै, सन्त रहै निरबान ॥६५॥
नीलकण्ठ कीड़ा भखै, मुख वाके हैं राम।
औगुन वाके नहिं लगै, दरशन ही से काम ॥६६॥

हरिसे सन्त बड़े हैं। इनकी परस्पर बराबरी नहीं हो सकती, क्योंकि माया हरिके आगे रहती है और सन्त उससे रहित हैं। गुणग्राही बनो, दुर्गुण देखनेमें कुछ लाभ नहीं। नीलकण्ठ-शंकर और पक्षी विशेषको भी कहते हैं जिसके दर्शनसे यात्रा सफल मानते हैं ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

आप साधु करि देखिये, देख असाधु न कोय।
जाके हिरदै हरि नहीं, हानि उसी की होय ॥६७॥
जा सुख को मुनिवर रटै, सुरनर करै विलाप।
सो सुख सहजै पाइया, सन्तों संगति आप ॥६८॥

स्वयं सदा सबके प्रति साधु दृष्टि रखनी चाहिये। जिसके हृदयमें हरि दृष्टि नहीं है, उससे उसीको हानि है। जिस सुखके लिये ऋषि मुनि अहोरात्र रटन, रुदन करते हैं। वह सुख सन्तोंके संगसे सहजहीमें मिल जाता है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

मेरा मन पंछी भया, उड़ि के चढ़ा अकास।
बैकुण्ठहि खाली पड़ा, साहिब सन्तों पास ॥६६॥
परवत परवत मैं फिरा, कारन अपने राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम ॥७०॥

यद्यपि मेरा मनरूपी पक्षी उड़कर आकाशमें पहुँचा, लेकिन वहाँ शून्य ही शून्य पाया, क्योंकि साहिब तो सन्तोंके पास हैं। अतः उनके वास्ते चाहे जङ्गल पहाड़ आदि में ढूँढ़ फिरो परन्तु जब तक उनके स्नेही, सत्संगी नहीं मिलेंगे तबतक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ६६ ॥ ७० ॥

कबीर शीतल जल नहीं, हीम न शीतल होय।
कबीर शीतल संत जन, राम सनेही सोय ॥७१॥
भली भई हरिजन मिले, कहने आयो राम।
सुरति दसौं दिश जाय थी, अपने अपने काम ॥७२॥

शान्ति देनेवाला शीतल न तो ऐसा जल है न बर्फ़, जैसा कि राम स्नेही सन्त हैं। अहो भाग्य! कि ऐसे सन्त मिले, जिनके सत्संग प्रभावसे दिशाओंमें फैली हुई अपने अपने विषय प्रवृत्त वृत्तियाँ भी वहाँसे उपराम हो रामहीमें आराम करने लगीं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

संत मिले जनि बीछुरौ, बिछुरौ यह मम प्रान।
शब्द सनेही ना मिलै, प्राण देह में आन ॥७३॥
कोटि कोटि तीरथ करै, कोटि कोटि करु धाम।
जब लग साधु न सेवई, तब लग काचा काम ॥७४॥

मेरा प्राण जाय तो भलेही जाय, पर ऐसे आनन्दप्रद सन्तोंका

वियोग न हो, क्योंकि फिर ये कहाँ मिलेंगे? प्राणका संयोग तो दूसरे शरीरमें भी होगा। च्याहे तीर्थ, धाम करोड़ों वार क्यों न फिर आवो, परन्तु जब तक सन्तोंकी सेवा नहीं किया तबतक सब काम नाकाम है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

आशा वासा सन्त का, ब्रह्मा लखै न वेद।
षट दरशन खटपट करैं, विरला पावै भेद ॥७५॥
वेद थके ब्रह्मा थके, थाके सेस महेस।
गीता हूँ की गम नहीं, संत किया परवेस ॥७६॥

सन्तकी रहनी, गहनीको ब्रह्माकृत वेद अध्ययनसे कोई नहीं जान सकता। उसके ज्ञात अर्थ योगी आदि षड् दर्शन बहुतेरे खटपटमें लगे, परन्तु मर्म कोई नहीं पाया, या पाता भी है तो विरला सत्सङ्गी। क्योंकि सन्तकी वृत्तिकी गति जिस रूपमें होती है वहाँ तक "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि वेदादिकी गति ही नहीं है ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

धन सो माता सुन्दरी, जाया साधू पूत।
नाम सुमिरि निर्भय भया, अरु सब गया अवूत ॥७७॥

वही सौभाग्यवती जननी धन्य है, जिसने सन्त सन्तानको जनी। जो रामको स्मरण कर निर्भय हुआ और शेष मातायें सन्तान हीन हुई और हैं ॥ ७७ ॥

साधू ऐसा चाहिये, दुखै दुखावै नाँहि।
पान फूल छेड़ै नहीं, बसै बगीचा माँहि ॥७८॥
साधू जन सब में रमैं, दुःख न काहू देहि।
अपने मत गाढ़ा रहैं, साधुन का मत येहि ॥७९॥

सन्त संसार बागका माली या भ्रमर हैं। जो संसारमें रहते हुये किसीको दुखरूपमें नहीं छेड़ते। सबमें रमते हुये भी किसीको दुःखरूप न होकर अपने सिद्धान्त पर दृढ़ स्थिर रहना यही सन्तोंका मत है ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

साधु हजारी कापड़ा, तामें मल न समाय।
साकट काली कामली, भावै तहाँ बिछाय ॥८०॥
साधू भौंरा जग कली, निश दिन फिरै उदास।
टुकि टुकि तहाँ बिलंबिया,(जहाँ)शीतल शब्द निवास

सन्त सुफेद वस्त्र हैं, जिसमें मैलका स्थान नहीं। और कुसंगी काली कम्बल है चाहे जहाँ डाल दो॥ संसारके भोग-रूपी कलीसे सन्त भ्रमर सन्तत उदासीन विचरते हैं। यत्कि-ञ्चित ठहरे भी तो वहाँ ही, जहाँ शान्तिप्रद सार शब्दका विचार है ॥ ८० ॥ ८१ ॥

साधु कहावन कठिन है, आगे की सुधि नाँहि।
शूली - ऊपर खेलना, गिरु तो ठौरहि काहि॥८२॥
साधु कहावन कठिन है, ज्यों खाँड़े की धार।
डगमगाय तो गिरि पड़ै, निहचल उतरै पार ॥८३॥

जिन्हें आगेका ज्ञान है उन्हें सन्त नाम धराना मुश्किल है। "ज्ञानके फाण्ड कृपाण की धारा"इत्यादिवत् सन्त कहाना मानो भालेकी नोक पर दौड़ना है, ज़रासा इधर उधर हुआ कि गया, जो बड़ी सावधानीके साथ स्थिर होगा वही पार उतरेगा ८२।८३

साधु कहावन कठिन है, लम्बी पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखे प्रेम रस, गिरै तो चकनाचूर ॥८४॥

साधू चाल जु चालई, साधु कहावै सोय।
बिन साधन तो सुधि नहीं, साधु कहाँ ते होय ॥८५॥

सन्त बनना मानो चोकने लम्बे खजूर-वृक्ष पर चढ़ना है। जो चढ़ेगा तो अवश्य प्रेमरस चाखेगा, किन्तु गिरने पर कहीं ठोर नहीं। श्रवणादि साधनहीं जब ज्ञानके नहीं है तो सन्त कोई कैसे हो सकता? ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

साधू सोई जानिये, चलै साधु की चाल।
परमारथ राता रहै, बोलै बचन रसाल ॥८६॥
साधु सती औ सूरमा, दुई न मोड़ै मूँह।
ये तीनों भागा बुरा, साहिब जाकी सूँह ॥८७॥

उन्हींको साधु जानना जो साधुकी मर्यादा पालन करें और परमार्थमें सदा प्रेम रक्खें। जिनके सद्गुरुका शपथ है ऐसे सन्त, सती, शूर इन तीनोंको दैव अपने पदमें कभी विमुख न करें ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

साधु सती औ सूरमा, राखा रहै न ओट।
माथा बाँधि पताक सों, नेजा घालैं चोट ॥८८॥
साधु सती औ सिंहको, ज्यौं लंघन त्यौं शोभ।
सिंह न मारै मेंढका, साधु न बाँधै लोभ ॥८९॥

साधु, सती, शूर ये किसीके रक्खे परदेमें नहीं रहते। भले ही कोई भालाकी चोट लगावें, इनकी ध्वजा शिरके साथ रहती है ॥ साधु, सती और सिंहका जितना उपवास, उतनाही गौरव है। सिंह मेंढक मारकर अपना व्रत भग नहीं करता। ऐसेही सन्त अधिक जीनेकी लालसामें अपने कर्तव्य पालनसे विमुख किसी हालतमें भी नहीं होते ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

साधु सिंह का इक मता, जीवत ही को खाय।
भाव हीन मिरतक दसा, ताके निकट न जाय॥९०॥
साधु साधु सब एक हैं, जस अफीम का खेत।
कोई विवेकी लाल हैं, और सेत का सेत ॥९१॥

सिंह, सन्तका एकही सिद्धान्त है। जैसे सिंह जीवित प्राणी को खाता है, वैसेही सन्त भी भावयुत भक्तके ही पास जाते हैं। यों तो सन्त सन्त सब एकही हैं जैसे अफीमका खेत वैसेही और का खेत, परन्तु विवेकी सन्त रत्न कोई एक हैं, और सब श्वेत वेष हैं॥ ९० ॥ ९१ ॥

साधू तो हीरा भया, ना फूटे घन खाय।
ना वह बिनसै कुंभ ज्यौं, ना वह आवै जाय॥९२॥
साधु साधु सबही बड़े, अपनी अपनी ठौर।
शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर॥९३॥

सन्त हीराकी तरह सांसारिक कुभावरूपी घन पड़ने पर भी अपने स्वभावसे कुंभके सदृश नहीं विचलते। सदा निश्चल रहते हैं। इस वास्ते पारख निष्ट सार शब्द विवेकी सन्त सब सन्तोंके मुकुटमणि कहे जाते हैं॥ ९२ ॥ ९३ ॥

साधू ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक।
बाहर मिलते सों मिलै, अन्तर सबसों एक॥९४॥
सदा कृपालु दुख परिहरन, वैर भाव नहिं दोय।
छिमा ज्ञान सत भाखही, हिंसा रहित जु होय॥९५॥

ऐसे ज्ञान विवेक युत सन्त होना चाहिये बाहर मिलनेवाले जिज्ञासुके भावनानुसार मिलें, परन्तु भीतरसे अपना स्वरूप

समझकर एकही दया दृष्टि रक्खें ॥ दूसरोंके दुःख दूर करनेमें वैर भावकी द्वैत दृष्टि त्यागकर सदा दया, क्षमा, सत्य वचन और अहिंसा धर्महीको पालन करें ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

दुख सुख एक समान है, हरष शोक नहिं व्याप।
उपकारी निहकामता, उपजै छोह न ताप ॥९६॥
सदा रहै सन्तोष में, धरम आप दृढ़ धार।
आश एक गुरुदेव की, और न चित्त विचार॥९७॥

हर्ष, शोक मनका धर्म विवेकी सन्तोंको नहीं व्यापता, क्योंकि वे दोनोंको समान समझकर कामना रहित सदा परोपकारमें रहते हैं। अतः उन्हें दैहिकादिक तापोंसे चित्तमें विक्षेप भी नहीं होता। सदा सन्तोष वृत्ति, निज धर्मपर निश्चल हो, केवल सद्गुरुदेवकी आशाके अतिरिक्त किसी वस्तुका चिन्तन चित्तसे नहीं करते ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

सावधान औ शीलता, सदा प्रफुल्लित गात।
निर्विकार गंभीर मत, धीरज दया बसात ॥९८॥
निर्वैरी निहकामता, स्वामी सेती नेह।
विषया सों न्यारा रहै, साधुन का मत येह ॥९९॥

विवेकी सन्तोंके चित्तमें सावचेतता, स्वभावमें शीलता, शरीरमें प्रसन्नता और मनमें निर्विकारता, गम्भीरता, दयालुतादि सद्गुण सदा बसते हैं ॥ सर्व विषयोंसे निवृत्त हो चित्स्वरूप स्वामीमें स्नेह रखना, बस! यही सन्तोंका मत है ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

मान अमान न चित धरै, औरन को सनमान।
जो कोई आशा करै, उपदेशी तेहि ज्ञान ॥१००॥

शीलवंत दृढ़ ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय॥१०१॥

सन्त निज प्रति किया हुआ दूसरोंसे मान अपमानको चित्तमें न लाके सदा दूसरोंको सम्मान करते हैं। मोहासक्तोंको ज्ञान उपदेश करते हैं॥ हृदय शुद्धिके लिये शील, उदारादि शुभ गुण सदा धारण किये रहते हैं॥ १००॥ १०१॥

इन्द्रिय मन निग्रह करन, हिरदा कोमल होय।
सदा शुद्ध आचार में, रह विचार में सोय॥१०२॥
और देव नहिं चित बसै, मन गुरु चरण बसाय।
स्वल्पाहार भोजन करु, तृष्णा दूर पराय॥१०३॥

ज्ञानबाधक विषयादियोंसे इन्द्रिय, मनको निग्रह करके सदा मृदु, शुद्ध और आचार विचार परायण बनाना॥ सद्गुरु चरणोंके अतिरिक्त मनका दूसरा कोई देवादि विषय न होना। सर्व तृष्णाओंको दूरकर भोजन, वस्त्रादिका यथा लाभमें सन्तोष करना आदि विवेकी सन्तोंका लक्षण है॥ १०२॥ १०३॥

षड् विकार यह देह के, तिनको चित्त न लाय।
शोक मोह प्यासहि छुधा, जरा मृत्यु नाशि जाय १०४
कपट कुटिलता छाँड़ि के, सबसों मित्रहि भाव।
कृपावान सम ज्ञानवत, वैर भाव नहिं काव॥१०५॥

क्षुधा पिपासा, हर्ष शोक, जन्म मृत्यु ये षड्विकार शरीरके हैं। इन्हें चित्तमें हर्गिज न आने दे॥ छल प्रपंच वैरभावको छोड़के मैत्री, करुणा मुदिता आदि भाव सबसे रक्खे। यही ज्ञानी सन्तका लक्षण है॥ १०४॥ १०५॥

कपट कुटिलता दुरवचन, त्यागी सब सों हेत ।
कृपावन्त आशा रहित, गुरु भक्ति शिख देत १०६
रवि को तेज घटै नहीं, जो घन जुरै घमंड ।
साधु वचन पलटै नहीं, पलटि जाय ब्रह्मंड १०७

छल प्रपंच और कटु वचन त्यागके विना कारण कृपालु सन्त सबसो प्रीति पूर्वक सद्गुरु भक्तिकी शिक्षा देते हैं॥ क्योंकि जैसे सूर्यका प्रताप बादलके समूहसे कभी नहीं घटता ऐसेही टेकी सन्तगण अपने वचन स्वभावको किसी हालतमें भी नहीं पलटते,चाहे ब्रह्माण्ड क्यों न फिर जाय ॥१०६॥१०७॥

जौन चाल संसार की, तौन साधु की नाँहि ।
डिंभ चाल करनी करै, साधु कहो मति ताहि॥१०८॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारी सों नेह ।
कहैं कबीर ता साधु की, हम चरणन की खेह ॥१०९॥

संसारकी चालसे सन्त अलग रहते हैं। दम्भी और अहंकारियोंको साधु मत कहो॥ कबीर गुरु कहते हैं कि, हम उन्हीं सन्तोंके खाकसार हैं जो कंचन और कामिनीसे विरक्त हैं ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

कोई आवै भाव ले, को(इ)अभाव ले आव।
साधु दोऊ को पोपते, भाव न गिनै अभाव॥११०॥
रक्त छाँड़ि पय को गहै, ज्यों रे गऊ का बच्छ ।
औगुण छाँड़ै गुण गहै, ऐसा साधू लच्छ ॥१११॥

चाहे कोई भावसे आवे या कुभावसे,दयालु सन्त दोनों पर दयाकी दृष्टि समान रखते हैं॥ सन्तोंका लक्ष सद्गुरुकी ओर

होता है। जैसे गौका बछड़ा रुधिरको छोड़कर दूधका पान करता है ॥ ११० ॥ १११ ॥

सन्त न छाड़ै सन्तता, कोटिक मिलै असन्त।
मलय भुवंगम बेधिया, शीतलता न तजन्त ॥११२॥

चाहे करोड़ों असन्त क्यों न टूट पड़ें, परन्तु सन्त अपने शान्ति स्वभावको नहीं छोड़ते। जैसे विषधरके चिपटे रहनेपर भी मलयागिरि अपनी शीतलता नहीं त्यागता ॥ ११२ ॥

कमल पत्र है साधुजन, बसै जगत के माँहि।
बालक केरी धाय ज्यों, अपना जानत नाँहि ॥११३॥

"यों साधू संसारमें कमला जल माहो। सदा सर्वदा सँग रहै जल परसत नाहीं ॥" इत्यादिवत् सन्त कमल पत्रकी तरह संसारमें रहते हुए उससे विरक्त रहते हैं, जैसे दाई अपना बच्चा नहीं समझती ॥ ११३ ॥

हरि दरिया सूभर भरा, साधू का घट सीप।
तामें मोती नीपजै, चढ़ै देशावर दीप ॥११४॥

हरि समुद्रवत् परिपूर्ण हैं। उसमें सन्तोंका हृदय सीपीके सदृश हैं, जहाँसे ज्ञानरूपी मोती उत्पन्न हो सम्पूर्ण संसारको सुशोभित करते हैं ॥ ११४ ॥

बहता पानी निरमला, बन्दा गन्दा होय।
साधू जन रमता भला, दाग न लागै कोय ॥११५॥
बँधा(भी)पानी निरमला, जो टुक गहिरा होय।
साधूजन बैठा भला, जो कछु साधन सोय ॥११६॥

धारावाही जलकी तरह विचरते हुए सन्त सदा निर्मल

रहते हैं। बन्धा पानी, वही निर्मल रहता है जिसमें गहराई है। ऐसे साधन सम्पन्न सन्त जन भी वैठे अच्छेहोते हैं॥११५॥११६॥

ढोल दमामा गड़गड़ी, सहनाई औ तूर।
तीनों निकासि न बाहुरै, साधु सती औ शूर ॥११७॥
टूटै बरत अकास सों, कौन सकत है झेल।
साधु सती औ शूर का, अनी उपर का खेल ॥११८॥

जैसे ढोल, डुग्गी, नगाड़ा, सहनाई और तुरही इनकी निकली हुई आवाज पीछे नहीं लौटती तैसेही सन्त, सती और शूर ये तीनों भी पीछे पग नहीं देते ॥ आकाशसे नटके बाँसकी रस्सीको टूटने पर कोन उसे थाम सकता है? कोई नहीं। ऐसेही सन्त, सती, शूरका खेल भालेकी नोकके बराबर है। उसे दूसरा कोई नहीं छू सकता ॥ ११७ ॥ ११८ ॥

हँसी खेल हराम है, जो जन राते राम।
माया मन्दिर इस्तरी, नहिं साधु का काम ॥११९॥
उड़गन और सुधा करा, बसत नीर की संध।
यौं साधू संसार में, कबीर पड़त न फन्द ॥१२०॥

जिन्हें राममें आराम है उन्हें हँसी, खेल हराम हैं। क्योंकि विरक्त सन्तोंको माया, मन्दिर और स्त्रीसे कुछ काम नहीं॥ यद्यपि मछलीके साथ साथ जलमें चन्द्र, ताराओंके भी प्रतिबिम्ब रहता है किन्तु वे जालमें मछलीके संग नहीं पकड़े जाते। ऐसेही विरक्त सन्त संसार बन्धनमें कभी नहीं पड़ते ११९-१२०

जौन भाव ऊपर रहै, भितर बसावै सोय।
भीतर औ न बसावई, ऊपर और न होय ॥१२१॥

तन में शीतल शब्द है, बोले वचन रसाल।
कहैं कबिर ता साधुको, गंजि सकै नहिं काल॥१२२॥

"जस कथनी तस करनी" इनके अनुसार सन्तोंको बाहर, भीतर एक सा होना चाहिये। वेष रहस्य, कथन और कर्त्तव्यमें भेद कभी न होना चाहिये। जो सन्त शीतल हृदय मन प्रसन्न मधुर वचन बोलते हैं, कबीर गुरु कहते हैं, उनका काल कुछ नहीं कर सकता है॥ १२१॥ १२२॥

तीन लोक उनमान में, चौथा अगम अगाध।
पंचम दसा है अलख की, जानैगा कोइ साध॥१२३॥
सब बन तो चंदन नहीं, शूरा के दल नाँहि।
सब समुद्र मोती नहिं, यौं साधू जग माँहि॥१२४॥

संसारी त्रिगुण लोकके चक्रमें पड़े हैं, और सत्संग विमुख वेषधारी, चौथे लोक मनके अथाह दरियामें गोता खा रहे हैं। पंचम स्थान निवासी अलख स्वरूपको तो कोई विरलेही सत्संगी सन्त जानते हैं। संसारमें ऐसे सन्त बहुत कम होते हैं। जैसे सब स्थानमें चन्दन, शूरमा और मोती नहीं पाया जाता॥

सिंघन के लेंहड़ा नहीं, हँसों की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चले जमात॥१२५॥
स्वांगी सब संसार है, साधू समझ अपार।
अलल पंछि कोइ एक है, पंछी कोटि हजार॥१२६॥

जैसे सिंहोंकी गरोह, हंसकी कतार और रत्नोंका थेला नहीं होता, वैसेही विवेकी और अभ्यासी सन्तोंकी जमात नहीं होती। वेषधारियोंसे संसार भरे पड़े हैं। सन्तोंके ज्ञान रहस्यसे

वे कोशों दूर हैं। गगन विहारी अलल पक्षी कोई एक है और यों तो वातावरणमें उड़नेवाले करोड़ों रंग विरंगे पक्षी हैं ॥

ऐसा साधू खोजि कै, रहिये चरणों लाग।
मिटै जनम की कलपना, जाके पूरण भाग ॥१२७॥
ऊँडा चित अरु सम दसा, साधू गुन गंभीर।
जो धोखा बिचलै नहीं, सोई संत सुधीर ॥१२८॥

ऐसे सन्तोंको खोजकर शरणागत होना चाहिये। जन्मान्तरोंकी कल्पना मिट जायगी, पूर्ण भाग्यशालीको शानी सन्त मिलते हैं॥ अगाध हृदय, सम दृष्टि, और सन्तोंके लक्षणसे भरपूर जो सन्त हैं, वे हर्गिज़ नहीं धोखामें पड़ते ॥१२७॥१२८॥

चित चैन में गरकि रहा, जागि न देख्यौ मित्त।
कहाँ कहाँ सल पारि हो, गलबल सहर अनित्त १२६

ऐ मित्रो! मनको शान्तिमें शान्त रक्खो जागो और देखलो! मेल और प्रेम किससे करना चाहिये? संसाररूपी शहर गड़बड़ और क्षणभंगुर है ॥ १२६ ॥

कबीर हमरा कोइ नहिं, हम काहू के नाँहि।
पारै पहुँची नाव ज्यौं, मिलि के बिछुरी जाँहि १३०
आज काल के लोग हैं, मिलि के बिछुरी जाँहि।
लाहा कारण आपने, सौगँद राम कि खाँहि॥१३१॥

संसारमें कोई किसीका नहीं है मिलना-बिछुड़ना केवल नदी नैयाका संयोग है। सब आज कालके लोग हैं, मिलना और बिछुड़ना इनका काम है। फिर भी नहीं समझते, अपने लाभके लिये रामकी शपथ खाते हैं ॥ १३० ॥ १३१ ॥

कबीर सब जग हेरिया, मेरयौं कंध चढ़ाय।
हरि बिन अपना कोइ नहिं, देखा ठोकि बजाय ॥१३२॥

संसारको कन्धे चढ़ाके भलीभाँति ठोक-ठठाके देख लिया कि अपना हरि बिना हितकारी कोई नहीं ॥ १३२ ॥

निसरा पै बिसरा नहीं, तो निसरा ना काहि।
पहिली खाद उखालिया, सो फिर खाना नाहि १३३

जो बिभूति साधुन तजी, मूढ़ ताहि लपटाय।
ज्यौं हि वमन करि डारिया, स्वान स्वाद करि खाय १३४

त्यक्त संसारके भोगोंको विस्मृत नहीं किया तो वह त्याग किस कामका ? त्यक्तको पुनः ग्रहण कुत्तेके समान वमन चाटना है ॥ जिन विभूतियोंको तुच्छ समझकर सन्तोंने त्याग दी है पामर उसीमें वमन स्वादी कुत्तेकी तरह लिपटे हुए हैं ॥

दुनिया बंधन पड़ि गई, साधू हैं निरबंध।
राखै खड्ग जु ज्ञान का, काटत फिरै जु फंद ॥१३५॥

कबीर कमलन जल बसै, जल बसि रहे असंग।
साधू जन तैसे रहैं, सुनि सतगुरु परसंग॥१३६॥

संसारी लोग बन्धनमें पड़ते हैं, सन्त सदा निर्बन्ध रहते हैं। क्योंकि ज्ञानी सन्त असंग शस्त्रसे फन्दोंको काटते फिरते हैं। जैसे जलमें रहता हुआ कमल जलसे असंग रहता है। वैसेही सद्गुरु ज्ञानमें निमग्न सन्त प्रासंगिक संसार संगसे असंग रहते हैं ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

मुर्गाबी को देख कर, मन उपजा यह ज्ञान।
जल में गोता मारिकर, पंख रहे अलगान ॥१३७॥

सन्तोंके असंग व्यवहारका ज्ञान विश्वास न हो तो भ्रान्ति निवृत्तिके लिये जलकुकड़ीको देख लो, जलमें गोता लगाके भी पंख भींगने नहीं देती ॥ १३७ ॥

जूआ चोरी मुखबिरी, ब्याज बिरानी नारि ।
जो चाहै दीदार को, इतनी वस्तु निवारि ॥१३८॥
संत समागम परमसुख, जान अलप सुख और ।
मान सरोवर हंस हैं, बगुला ठौरे ठौर ॥१३९॥

जुआ, चोरी, जासूसी, सूद और पर स्त्री गमन इतनी वस्तु आत्मतत्त्वदर्शनार्थीको अवश्य त्यागनी चाहिये । सत्संगी जन उसको तुच्छ जानकर सन्तोंके सत्संगमें परम सुखका लाभ लेते हैं । हंस मानसरोवरमें ही रहता है, लेकिन बगुला ठौर ठौर देखनेमें आता है ॥ १३८ ॥ १३९ ॥

सन्त मिले सुख ऊपजे, दुष्ट मिले दुख होय ।
सेवा कीजै सन्त की, जनम कृतारथ होय ॥१४०॥
हरिजन मिले तो हरि मिले, मन पाया विश्वास ।
हरिजन हरिका रूप है, ज्यूँ फूलन में बास ॥१४१॥

सन्तोंके दर्शनसे सुख और दुष्टोंके मिलनेसे दुख होता है । सन्तकी सेवासे नर जन्म सफल होता है ॥ पुष्पमें सुगन्धिके समान हरिजनमें हरि रमे हुए हैं । इसलिये हरिजनके दर्शनसे हरि मिलनेका फल मिलता है । ऐसा मनमें विश्वास रखना चाहिये ॥ १४० ॥ १४१ ॥

राम मिलन के कारनै, मो मन बड़ा उदास ।
संत संग में सोधि ले, राम उनों के पास ॥१४२॥

शरणै राखौ साइयाँ, पूरो मन की आस।
और न मेरे चाहिये, संत मिलन की प्यास ॥१४३॥

यदि सब तरफसे उपराम हो केवल रामसे मिलनेकी मनमें उत्कण्ठा है, तो राम सन्तोंके पास है। उन्हींकी शरणमें जाके खोजो। हे प्रभो! अपनी शरणमें लो, और मनकी आशा पूरी करो। मुझे कुछ न चाहिये केवल रामरूप सन्त दर्शनका प्यासा हूँ। ऐसी पुकार करो॥ १४२॥ १४३॥

कलियुग एकै नाम है, दूजा रूप है सन्त।
साँचे मन से सेइये, मेटै करम अनंत ॥१४४॥
संत जहाँ सुमरण सदा, आठों पहर अभूल।
भरि भरि पीवै राम रस, प्रेम पियाला फूल ॥१४५॥

कलियुगमें शान्ति, गतिके लिये एक राम और दूसरा सन्त हैं। निष्कपट भावसे सेवन करो तो सभी कुकर्म मिट जायँगे। जहाँ सन्त हैं वहाँ सदा अचूक स्मरण विचार हुआ करता है। सत्संगी जन रामरसका प्रेम प्याला सत्संग दरिया से भर भर पिया करते और मस्त रहते हैं॥ १४४॥ १४५॥

फूटा मन बदलाय दे, साधू बड़े सुनार।
तूटी होवै राम सो, फेर सँधायन हार ॥१४६॥
राज दुवार न जाइये, कोटिक मिले जू हेम।
सुपच भगत के जाइये, यह विस्नू का नेम ॥१४७॥

यदि आत्मारामसे मन फूटा यानी विमुख है तो सन्त सोनारके पास पुनः सँधाने (जोड़वाने) के लिये चले जाओ॥ राजाके द्वारे करोड़ों सोनेकी थाली क्यों न मिलती हो तो भी हर्गिज न जाओ। भक्त चाहे स्वपच हो वहाँ अवश्य जाना यही तो भगवानकी टेक है॥ १४६॥ १४७॥

संगत कीजै साधु की, कदी न निष्फल होय ।
लोहा पारस परस ते, सो भी कंचन होय ॥१४८॥
सो दिन गया अकाजमें, संगत भई न संत ।
प्रेम बिना पशु जीवना, भाव बिना भटकंत ॥१४९॥

सन्तोंका सत्संग निष्फल कभी न होता । देख लो पारसके स्पर्शसे लोहा भी कंचन हो जाता है ॥ सन्तोंके सत्संगके बिना दिन सब व्यर्थ गये । प्रेम बिनाके जीवन जंगली पशु तुल्य भ्रमण मात्र है ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

संत मिले तब हरि मिलै, यूँ सुख मिलै न कोय ।
दरशन ते दुरमत कटै, मन अति निरमल होय ॥१५०॥
साहिब मिला तब जानिये, दरशन पाये साध ।
मनसा वाचा करमना, मिटे सकल अपराध ॥१५१॥

हरिरूप सन्तके दर्शन सुखके बराबर कोई भी सुख नहीं है। सन्तोंके दर्शनसे दुरमत दूर हो हृदय अति पवित्र हो जाता है ॥ सन्तोंके दर्शनहीमें साहिबका दर्शन है, उससे मन, वाणी और शरीरसे उत्पन्न सबही अपराध (पाप) मिट जाते हैं १५०-१५१

दया गरीबी बन्दगी, सुमता शील सुभाव ।
येते लच्छन साधु के, कहैं कबीर सद्भाव ॥१५२॥
मान नहिं अपमान नहीं, ऐसे शीतल संत ।
भवसागर उतर पड़े, तोरै जम के दंत ॥१५३॥

गुरु कबीर सद्भावसे कहते हैं कि दया, दीनता, विनय, समता और शील स्वभाव ये सब सन्तके लक्षण हैं ॥ ऐसे लक्षण युक्त जो सन्त मान, अपमानसे रहित सदा स्वरूपमें शान्त रहते हैं, वे जीते जी मृत्युको जीतकर भवसिन्धु तर चुके ॥१५२-१५३॥

आशा तजि माया तजै, मोह तजै अरु मान।
हरख शोक निन्दा तजै, कहँ कबिर संत जान ॥१५४॥
साधू सोइ सराहिये, कनक कामिनी त्याग।
और कछू इच्छा नहीं, निशदिन रह अनुराग॥१५५॥

आशाको त्यागकर माया-मोह और मान, अपमानसे होनेवाली जो हर्ष, शोक और निन्दा स्तुति है उन्हें जो त्यागते हैं वेही कबीर गुरुके मान्य सन्त हैं॥ क्योंकि कनक और कामिनीके त्यागी सन्तही प्रशंसाके पात्र हैं। जो वासना रहित नित्य आत्मस्वरूपमें तृप्त रहते हैं॥ १५४ ॥ १५५ ॥

संतन के मन भय रहे, भय धरि करै विचार।
निशदिन रामजपउ करै, विसरत नहीं लगार ॥१५६॥
आशन तो इकान्त करै, कामिनी संगत दूर।
शीतल संत शिरोमनी, उनका ऐसा नूर ॥१५७॥

विवेकी सन्त जन्मादिका भय मनमें रखके निर्भयताके लिये सदा सत्यासत्यका विवेक और आत्मचिन्तन किया करते हैं, जन्म मृत्युरूपी लगा रीते कभी नहीं गाफ़िल होते॥ जहाँ कामिनीका सहवास न हो ऐसे दूर एकान्तमें आसन रखते हैं। वेही शीतल और श्रेष्ठ सन्त हैं। उनहींके कीर्ति प्रकाशसे संसार प्रकाशित है॥ १५६ ॥ १५७ ॥

साधु साधु मुखसे कहै, पाप भस्म है जाय।
आप कबीर गुरु कहत हैं, साधू सदा सहाय ॥१५८॥
हौं साधुन के संग रहूँ, अंत न कितहूँ जाऊँ।
जु मोहि अरपै प्रीति सों, साधुन मुख है खाऊँ॥१५९॥

जो सन्तोंका नाम यहरूबार मुखसे उच्चारण करेगा उसका

पाप सब क्षय हो जायगा। कबीर गुरु स्वयं कह रहे हैं। सन्त सदा सभीके सहायक हैं। भगवान् भी कहते हैं कि, मैं और कहीं नहीं रहता सदा सन्तोंके संगमें रहता हूँ, जो कोई पत्र, पुष्प प्रेमसे अर्पण करता है उसे साधु मुखसे ग्रहण कर तृप्त होता हूँ ॥ १५८ ॥ १५६ ॥

यह कलियुग आयो अबै, साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनकी पूजा होय ॥१६०॥
संत संत सब कोइ कहै, संत समुन्दर पार।
अनल पंखि कोइ एक है, पंखी कोटि हजार ॥१६१॥

कामी, क्रोधी व भाँड़ोंको तो सत्कार और सन्तोंको फटकार यही कलियुगीका व्यवहार है। सन्त सन्त सबही कोई कहते हैं परन्तु अलल पक्षीके समान कोई एक सन्त हैं भी तो बहुत दूर हैं। और यों तो हज़ारों,कोटियों पक्षी उड़ते फिरते हैं॥

साधू खारा यों तजै,(ज्यों)सीप समुंदर माँहि।
बासो तो वामें रहै, मन चित्त वासों नाँहि ॥१६२॥

संसारमें रहते हुए सन्त संसारको ऐसे त्यागे रहते हैं जैसे सीपी खार समुन्द्रको। यद्यपि निवास उसीमें रहता है तथापि मनोवृत्ति उससे अलग रहती है ॥ १६२ ॥

साधू के घर जाय के, किरतन दीजै कान।
ज्यों उद्यम त्यों लाभहै,ज्यों आलस त्यों हानि॥१६३॥
साधू के घर जाय क, सुधि ना लीजै कोय।
पीछे करी न देखिये, आगे है सो होय ॥१६४॥

सन्तोंके दरबारमें जाके कथा कीर्तनमें ध्यान देना चाहिये। क्योंकि जैसा उद्योग वैसा लाभ। और ज्यों आलस

करेगा त्यों हानि होगी ॥ सन्तोंकी शरणमें प्राप्त हो अपने पूर्व कृत मन्द कर्तव्यको स्मरण कर चिन्तामें किसीको भी नहीं पड़ना चाहिये किन्तु सन्तोंके सदुपदेशमें ध्यान लगाके आगे अच्छा बनानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १६३ ॥ १६४ ॥

साधु विहंगम सुरसरी, चेल विहंगम चाल ।
जो जो गलियाँ नीकसे, सो सो करै निहाल॥१६५॥
साधू सोई सराहिये, पाँचौ राखै चूर ।
जिनके पाँचौ वस नहीं, तिनते साहिब दूर॥१६६॥

सन्त देव नदी गंगाके समान हैं वे जहाँ २ जिस २ मार्गसे विचरते हैं उस २ भूमि और वहाँके निवासियोंका जीवन सफल कर देते हैं ॥ जिसने पाँच विषयोंको जीता वेही सन्त सराहनीय हैं और जो पांचके वश पड़े हैं तिनसे साहिब कोशों दूर हैं ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

साधु दरश को जाइये, जेता धरिये पाँव ।
डग डग पै अस्वमेध जग, कहैं कबिर समुझाय॥१६७॥
साधू दरशन महाफल, कोटि जज्ञ फल लेह ।
इक मंदिर को का पड़ी,(सब) शहर पवित्र करिलेह॥

कामना रहित श्रद्धा भक्ति सहित सन्तोंके दर्शनके लिये जानेमें भूमिपर जितने पग पड़ते हैं उतने अश्वमेध यज्ञके समान फल मिलते हैं ऐसा कबीर गुरु समझाकर कहते हैं ॥ करोड़ों यागोंका महाफल सन्तोंके दर्शन मात्रसे मिलता है । एक मन्दिरकी क्या कथा ये तो शहरके शहर पवित्र कर लेते हे ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

जाकी धोति अधर तपै, ऐसे मिले असंख ।
सब ऋषियन के देखताँ, सुपच बजाया घंट॥१६९॥

साहिब का बाना सही, संतन पहिरा जानि ।
पांडव जग पूरण भयो, सुपच विराजे आनि॥१७०॥

जाको धोति अधर तपे अर्थात् जिनकी यश कीर्तिकी ध्वजा आकाशमें फहराती थी ऐसे अगणित ऋषि मुनि लोग पाण्डवके यज्ञमें एकत्रित हुए थे किन्तु उनके सामने घंट तो बजाया सुपच भक्तही ने ॥ इसीलिये साहिबका बाना सत्य जानकर सन्तोंने धारण किया और करते हैं। देखलो अनन्तों ऋषि मुनिके होते हुए भी पाण्डवका यज्ञको सन्त सुपचने पूरा किया ॥१६६॥१७०॥

कुलवंता कोटिक मिले, पंडित कोटि पचीस ।
सुपच भक्तकी पनहि में, तुलै न काहू शीस॥१७१॥
हरि सेती हरिजन बड़े, जानै संत सुजान ।
सेतु बाँधि रघुवर चले, कूदि गये हनुमान॥१७२॥

करोड़ों कुलीन और करोड़ों शास्त्रज्ञ पण्डित क्यों न मिले। किन्तु सुपच भक्तकी जूतीके बराबर उनके मस्तक भी नहीं तुल सकते ॥ हरिसे हरिजन बड़े हैं, यह महिमा तो सन्त लोग जानते हैं, देखो, रामचन्द्रजी पुल बाँधके समुद्र पार गये और हनुमान जी उसे कूदकर चले गये ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

साधु ऐसा चाहिये, जहाँ रहै तहाँ गैब ।
बानी के विस्तार में, ताकूँ कोटिक ऐब ॥१७३॥

विशेष कर साधुओंको एकान्त स्थानमें एकाकी और गुप्त रहना चाहिये क्योंकि अधिक बाणीके विस्तारमें उन्हें ऐबके सिवा हुनर कुछ नहीं ॥ १७३ ॥

सन्त मता गजराज का, चाले बंधन छोड़ ।
जग कुत्ता पीछै फिरै, सुनै न वाका सोर॥१७४॥

आज काल दिन पांचमें, बरस पंच जुग पंच ।
जब तब साधू तारसी, और सकल परपंच ॥१७५॥

मदमस्त हस्तीके समान सन्त सदा निर्बन्ध रहते हैं। कुत्तेके समान संसारियोंकी बोलको समझ कर ध्यानमें नहीं लाते ॥ आज कल या वर्ष, युगमें इस प्रपंचसे जब तारेंगे तब सन्त। और तो सकल हैं द्वन्द ॥ १७४ ॥ १७५ ॥

सतगुरु केरा भावता, दूरहि ते दीसंत ।
तन छीन मन उनमुनी, झूठा रूठ फिरंत॥१७६॥
ज्यौं जल में मच्छी रहैं,(यों)साहिब साधू माँहि ।
सब जग में साधू रहैं,असमझ चीन्है नाँहि॥१७७॥

सद्गुरु प्रेमी सन्तको विवेकी जन दूरहीसे परख लेते हैं। और ढोंगी, झूठे उनसे सदा रूठे (विमुख) फिरते हैं ॥ जैसे मीन जलमें लीन रहती है तैसेहीं सन्तमें साहिब। और सन्त सब जगह हैं परन्तु "अबुझा लोग कहा लो बूझे, बूझनहार विचारो" इत्यादि। यदि अनभिज्ञको पहिचान नहीं है तो कोई क्या करे ॥ १७६ ॥ १७७ ॥

साधू ऐसा चाहिये, जाका पूरन मंग ।
विपति पड़े छाड़े नहीं, चढ़ै चौगुना रंग॥१७८॥
कबीर साधू(की)दुरमति, ज्यौं पानी में लात ।
पल ऐकै बिरजत रहै, पीछे इक है जात॥१७९॥

सन्तका मन स्वयं पूर्ण सन्तोषी होता है। विपत्ति आनेपर कर्त्तव्य पालनमें तो और चौगुण दृढ़ रंग जमाते हैं ॥ सन्तोंका मन तो कभी आत्म विमुख होता ही नहीं यदि किञ्चित् हुआ

भी तो पानीमें पग चीन्हकी तरह, पल मात्रके लिये पुनः एकदम एक हो जाता है ॥ १७८ ॥ १७६ ॥

केता जिभ्या रस भखै, रती न लागै टंक।
ज्ञानी माया मुक्त ये, यौं साधु निकलंक ॥१८०॥
काग साधू दरशन कियो, कागा ते भय हंस।
कबीर साधू दरस ते, पाये उत्तम बंस॥१८१॥

चाहे जितना षड्रस युत स्निग्ध पदार्थ क्यों न खा लो किन्तु जिह्वाको चिकनाई छू तक नहीं जाती। इसी प्रकार ज्ञानी सन्त मायासे सदा विमुक्त और निष्कलंक रहते हैं॥ ऐसे सन्तोंके दर्शनसे "काक होहिं पिक बकहु मराला' की तरह काकसे उत्तम कुलीन विवेकी हंस बन जाता है ॥१८०॥१८१॥

हंस साधु दरशन कियो, हंसा ते भय कौर।
कबीर साधू दरस ते, पाये उत्तम ठौर॥१८२॥
कौर साधु दरसन कियो, पायो उत्तम मोष।
कबीर साधू दरस ते, मिटिगये तीनौं दोष॥१८३॥

'सुनि आश्चर्य करहि जनि कोई। सत्संगति महिमा नहिं गोई' इत्यादि वचनके अनुसार सन्तोंके दर्शन, सत्संगके प्रभावसे हंससे कोर होके उत्तम स्थितिको प्राप्त हुआ॥ पुनः सन्तोंके दर्शनसे कौरका मल, विक्षेप और आवरण तीनों दोष भी दूर होगया और वह आत्यन्तिक निवृत्ति रूपी मुक्तिको पा गया॥

कागा ते हंसा भयो, हंसा ते भयो कौर।
कबीर साधू दरस ते, भयो और को और ॥१८४॥
हेत बिना आवै नहीं, हेत तहाँ चलि जाय।
कबीर जल औ संतजन, नवै तहाँ ठहराय ॥१८५॥

: इसमें सन्देह नहीं, सन्तोंका दर्शन और सत्संग मनुष्योंमें बहुत परिवर्तन कर देता है ॥ सन्तोंका ज्ञान गुण प्रेम विना नहीं आता जहाँ प्रेम भाव होता है वहाँ स्वयं चला जाता है। क्योंकि सन्त और जलकी एकही गति है, दोनों वहँ जाकर ठहरते हैं जहाँ गहराई और नम्रता है ॥ १८४ ॥ १८५ ॥

संत होत हैं हेत के, हेत तहाँ चलि जाय।
कहँ कबिर वे हेत बिन, गरज कहाँ पतियाय ॥१८६॥
दृष्टि मुष्टि आवै नहीं, रूप बरन पुनि नाँहि।
जो मनमें परतीत है, देखा संतन माँहि ॥१८७॥

सन्त प्रेमीके हैं, प्रेमीके पास जाते हैं। उन्हें प्रेम विना ग़रज़ी पर विश्वास कहाँ? अविनाशी देवका रूप और आकार आँख, हाथका विषय नहीं है। यदि मनमें विश्वास है तो सन्तोंमें देख लो ॥ १८६ ॥ १८७ ॥

सदा मीन जल में रहै, कब अचवै है पानि।
ऐसी महिमा साधु की, पड़ै न काहू जानि ॥१८८॥

सदा मछली पानीमें रहती है किन्तु पानी वह कब पीती है? कभी नहीं, अर्थात् पानी से उछल कर जब बाहर निकलती है, उसी वक्त पानी पीती है। ऐसाही महत्त्व सन्तका है परन्तु विना सत्संगके यह रहस्य जानना टेढ़ी खीर है ॥ १८८ ॥

सँत सेवा गुरु बंदगी, गुरु सुमिरन वैराग।
येता तबही पाइये, पूरन मस्तक भाग ॥१८९॥

सन्त गुरुकी सेवा, वन्दगी और स्मरण, विराग आदि ये सब पूर्ण भाग्यशालीको प्राप्त होता है ॥ १८९ ॥

इति श्री साधुको अङ्ग ॥ ६ ॥

अथ भेषको अंग ॥ ७ ॥

—⸻—

कबीर भेष अतीत का, अधिक करै अपराध।
बाहिर दीसै साधुगति, अन्तर बड़ा असाध ॥१॥

अधिक अपराध अतीतों (गुसांई, संयोगी साधुओं) के वेषमें होता है क्योंकि बाहरकी चाल उनकी सन्तकीसी दीखती है किन्तु भीतर तो कूट भरा रहता है ॥ १ ॥

कबीर वह तो एक है, परदा दीया भेष।
भरम करम सब दूरकर, सबही माँहि अलेख ॥२॥

उस एक आत्म स्वरूप पर पाखण्डियोंने नाना वेषका पड़दा डालके भेद युत कर दिया है। जिज्ञासुओंको उचित है कि सर्व भ्रम कर्मको दूर कर अलेख पुरुषको सबमें एक रूपसे देखै ॥२॥

तत्त्व तिलक तिहुँलोक में, रामनाम निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, शोभा अगम अपार ॥३॥

जो जिज्ञासु निज स्वरूप सार तत्त्व राम नाम रूप तिलकको हृदय, कण्ठ और मस्तक पर धारण करते हैं उनकी अनुपम शोभा होती है। भावार्थ—धारण, स्मरण और कथन नित रामही रूपको करना चाहिये ॥ ३ ॥

तत्त्व तिलक की खानि है, महिमा है निज नाम।
अछै नाम या तिलक को, रहै अछै बिसराम ॥४॥

राम रूप सार तत्त्व सब तिलकोंका उत्पति स्थान है, उसीके

नामकी प्रशंसा है, उसीका अक्षय नाम और उसीमें अखण्ड शान्ति है ॥ ४ ॥

तत्त्व तिलक माथे दिया, सुरति सरवनी कान ।
करनी कंठी कंठ में, परसा पद निरवान ॥५॥

जिज्ञासु जन उसे मस्तक पर चढ़ाके और उसीका लक्ष-रूपी मुद्रा कानमें पहनके तथा उसीका नाम स्मरणरूपी कण्ठी कण्ठमें धारण करके निर्बन्ध परम पदको पाये व पाते हैं ॥ ५ ॥

तत्त्वहि फल मन तिलक है, अछै विरछ फल चार ।
अमर महातम जानि के, करो तिलक ततसार ॥६॥

अखण्ड तिलकरूपी वृक्षमें चार फल लगे हैं प्रथम शरीरकी शुद्धि, दूसरा मनकी शान्ति, तीसरा परम तत्त्वकी प्राप्ति और चौथा फल अमर प्रशंसा है । ऐसा जानके सार तत्त्वरूप तिलक मुमुक्षुको अवश्य करना चाहिये ॥ ६ ॥

त्रिकुटी ही निजमूल है, भ्रुकुटी मध्य निशान ।
ब्रह्म दीप अस्थूल है, अगर तिलक निरवान ॥७॥

त्रिकुटी और भ्रूकुटी शब्दका अर्थ भी होता है । और ब्रह्म दीप अस्थूलका अर्थ मनादि इन्द्रियोंका अविषय अति सूक्ष्म स्वतः प्रकाश आत्मस्वरूप है । तात्पर्य अर्थ यह है कि, अभ्यासी पुरुष सुष्मणामें निज नामका स्मरण और मध्य स्थान हृदयमें ध्यान करके अगर यानी अति पवित्र निर्वान स्वरूपको सबका प्रकाशक सहस्रदलके आगे मुख्य सर्व साक्षीरूपसे अपने आपको दृढ़ निश्चय करते हैं ॥ ७ ॥

अगर तिलक सिर सोहई, वैसाखी उनिहारि ।
शोभा अविचल नाम की, देखो सुरति विचारि ॥८॥

जैसे तिलक मस्तक पर शोभता है, जैसे ज्ञानी पुरुष पवित्र आत्मस्वरूपमें दृढ़ स्थिर हो सुशोभित होते हैं। जिस प्रकार पंगुल वैसाखीके सहारे चलता है इसी प्रकार ज्ञानी आत्म-चिन्तनके सहारे संसार मार्गको तय करते हैं। उसी नामकी अखण्ड शोभा है, लख लगावो और विचार कर देख लो ॥ ८ ॥

जैसि तिलक उनहार है, तस शोभा अस्थीर।
खम्भ ललाटे सोहई, तत्त्व तिलक गम्भीर॥६॥

जिस प्रकार सीधा स्तम्भकी तरह अखण्ड तिलक ललाटमें शोभता है। इसी प्रकार परम तत्त्व स्वरूपमें गंभीर और दृढ़ स्थिर अभ्यासी पुरुष सुशोभित होते हैं ॥ ६ ॥

मध्य गुफा जहँ सुरति है, उपरि तिलक का धाम।
अमर समाधि लगावई, दीसै निरगुन नाम ॥१०॥

जिस प्रकार शरीरके ऊपरी भाग ललाट तिलकका मुख्य स्थान माना गया है इसी प्रकार सन्त मतमें ध्यानका मुख्य स्थान हृदय गहवर या सहस्र दल कमलके आगे आठवाँ सुरति कमल बतलाया जाता है। वहें अमर समाधि लगाई जाती है, जिससे निर्गुणके साक्षीका दर्शन होता है ॥ १० ॥

द्वादश तिलक बनावहीं, अंग अंग अस्थान।
कहँ कबीर बिराजहीं, ऊजल हंस अमान ॥११॥
ऊजल देखि न भरमिये, बक ज्यों लावै ध्यान।
कुटिल चाल करनी करै, सो मूरख अज्ञान ॥१२॥

नाभिसे आरम्भ कर मस्तक पर्यन्त द्वादश स्थानमें तिलक लगाते हैं, कबीर गुरु कहते हैं कि इस प्रकार हंसजीव उज्ज्वल

वेष धारण कर मान अमानसे रहित संसारमें विचरते हैं ॥ परन्तु उज्वल वेषही देखकर मत भ्रममें पड़ जाना, उज्वल बगुलेकी तरह बक ध्यान लगानेवाले बहुतेरे कपटी और छली मूर्ख भी इसी वेषमें फिरा करते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

ऊजल देखि न धीजिये, बग ज्यौं माँडै ध्यान ।
धीरै बैठि चपेट सी, यौं ले बूड़ै ज्ञान ॥१३॥

बक ध्यानियोंको उज्वल वेष देखकर हंस (सन्त) रूपमें मत स्वीकार कर लेना नहीं तो पासमें धीरेसे बैठकर मछली पर बगुलेकी तरह चपेटा लगायेंगे और ज्ञान ध्यान सब ले बूड़ेंगे॥१३॥

चाल बकुल की चलत है, बहुरि कहावै हंस ।
ते मुक्ता कैसे चुँगे, पड़े काल के फंस ॥१४॥
साधु भया तो क्या हुआ, माला पहिरी चार ।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भंगार ॥१५॥

जो चाल बगुलेकी चलते और हंस कहलाते हैं। वे मुक्ता फल (मुक्ति) हर्गिज नहीं पा सकते प्रत्युत कालके फन्दामें पड़ेंगे ॥ बाहरी वेष कण्ठी आदि चार मालाओंको धारण कर साधु भी हो गया तो क्या हुआ? जबकि अन्दरमें काम, कुटिलता रूपी भंगारी भरी है ॥ १४ ॥ १५ ॥

मीठे बोल जु बोलिये, ताते साधु न जान ।
पहिले स्वाँग दिखाय के, पीछे दीसै आन ॥१६॥
बाँबी कूटै बावरा, सरप न मारा जाय ।
मूरख बाँबी ना डसै, सरप सबन को खाय ॥१७॥

मीठे २ बोलों सुनकर साधु मत समझो। पहले सुन्दर

स्वांग दिखाके पीछे और रंग दिखायगा ॥ ऐ दिवाने ! बिलको पीटनेसे सर्प नहीं मारा जाता, बिल कुछ नहीं करता, सर्प सबको खाता है । भावार्थ—कामादिको मारना चाहिये केवल स्वांग-सजावटसे कुछ न होगा ॥ १६ ॥ १७ ॥

माला तिलक लगाय के, भक्ति न आई हाथ ।
दाढ़ी मूँछ मुँड़ाय के, चले दुनी के साथ ॥१८॥
दाढ़ी मूँछ मुँड़ाय के, हूआ घोटम घोट ।
मनको क्यों नहिं मूँड़िये, जामें भरिया खोट ॥१९॥

माला तिलक लगा लिया, भक्तिका मर्म पाया नहीं । तो मुड़िया बनके दुनियाके साथ चलने लगा । ऐ मनुष्यो ! दाढ़ी, मूँछ मुड़वाके घोटम घोट होनेसे क्या हुआ, सारा खोटका कोट तो मन है, उसे क्यों नहीं मूड़ता ? ॥ १८ ॥ १९ ॥

केसन कहा बिगारिया, मूँड़ा सौ सौ बार ।
मनको क्यों नहिं मूँड़िये, जामें विषय विकार॥२०॥
मन मेवासी मूँड़िये, केसहि मूँड़े काहि ।
जो कुछ कियासोमनकिया, केस किया कछु नाँहिं॥२१॥

केशका क्या अपराध है कि उसे सैकड़ों बार मूड़ा, मुड़ाया करते हो, विषय विकारका आकर तो मन है उसे क्यों नहीं मूड़ते ? । मनही लुटेराको मूड़ो, केशसे कुछ मतलब नहीं, जो कुछ किया व करता है वह मन, केश न कुछ किया न करही सकता है ॥ २० ॥ २१ ॥

मूँड़ मुँड़ावत दिन गया, अजहुंनामिलिया राम।
रामनाम कहो क्या करै, मनके औरे काम ॥२२॥

मूँड़ मुँड़ाये हरि मिले, सब कोइ लेहि मुँड़ाय।
बार बार के मूँड़ने, भेड़ न वैकुँठ जाय ॥२३॥

मूड़ मुड़ाते दिनों बीत गये, आज तलक भी रामका दर्शन नहीं हुआ तो कहो ! राम क्या करे जब कि मन और ही काम कर रहा है। मूड़ ही मुड़ानेसे यदि राम मिल जाता तो सब कोई मुड़ा लेता, बार २ तो भेड़ मुड़ाई जाती है क्या वह वैकुण्ठ जायगी। हर्गिज़ नहीं। अतः मुड़ियाका रहस्य समझो और ज्ञान ग्रहण करो ॥ २२ ॥ २३ ॥

स्वाँग पहिरि सोहरा भया, दुनिया खाइ खूँद।
जा सेरी साधू गया, सो तो राखी मूँद॥२४॥
भूला भसम रमाय के, मिटी न मनकी चाह।
जो सिक्का नहि साँच का, तबलग जोगी नाह॥२५॥

पाखण्डी लोग निर्मल स्वांग सन्तोंका धारणकर दुनियामें प्रसिद्धि फैलाते और सन्तोंके सच्चे मार्गको गुप्तकर वेषकी आड़में मन माना शिकार करते हैं॥ ऐ! जबतक कि मनकी वासना निवृत्तकर सत्यको धारणा नहीं होगी तबतक केवल खाक रमाने और धूनी तापनेसे योगी नहीं हो सकता॥२४॥२५॥

ऐसी ठाठँ ठाठिये, बहुरि न यह तन होय।
ज्ञान गुदरी ओढ़िये, काढ़ि न सकही कोय ॥२६॥
मन माला तन सुमरनी, हरिजी तिलक दियाय।
दुहाइ राजा राम की, दूजा दूरि कियाय ॥२७॥

ऐसी युक्ति करनी चाहिये कि जिसमें पुनः दुःख मय शरीर न हो। सद्गुरुसे यह ज्ञान गुदरी प्राप्तकर ओढ़ लो जिसपर किसीका दावा नहीं। मनकी माला और तनकी

सुमिरनी तथा ललाटमें हरिजीका तिलक लगाके रामनामकी घोषणा फिरा दो और दूसरे संशय आदिको ललकारते रहो ॥

मन माला तन मेखला, भय की करै भभूत।
राम मिला सब देखताँ, सो जोगी अवधूत ॥२८॥
माला फेरै मनमुखी, बहुतक फिरै अचेत।
गांगी रोलै बहि गया, हरि सों किया न हेत॥२९॥

मनकी माला और तनकी मेखला (करधनी) पहनके जो भयकी खाक रमाता है और सबके सामने राममें रमण करता है वही वैरागी योगी है ॥ यों तो बहुतेरे गुरु-ज्ञान विमुख मनमती स्नान, तिलक, माला सब कुछ करते, फिराते हैं परन्तु हरिसे हेत बिना संसारकी झंझटमें उलझ पुलझके मर मिटे व मर मिटते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

माला फेरै कछु नहीं, डारि मुआ गल भार।
ऊपर ढोला हींगला, भीतर भरा भंगार ॥३०॥
माला फेरै क्या भया, गाँठि न हियकी खोय।
हरि चरना चित राखिये, तो अमरापुर जोय ॥३१॥

बिना ज्ञानके माला फेरना व्यर्थ है और गले डालके भारसे मरना है। ऊपर तो गिरुओंका पोतन फिराया है और अन्दरमें, कलह कल्पना रूपी भंगार भरी है ॥ ऐसे माला फिरानेसे कुछ लाभ नहीं, जबतक कि अज्ञान जन्य हृदयकी ग्रन्थी नहीं छुटी। सद्गुरुके चरणोंकी भक्तिसे मुक्ति होती है, यही कर्त्तव्य है ॥

माला फेरै कछु नहीं, काती मन के हाथ।
जबलग हरि परसै नहीं, तबलग थोथी बात ॥३२॥

हाथसे तराशी हुई मणकाकी माला पहिरने फिरानेसे कुछ

नहीं हो सकता। जबतक कि सर्वात्म रूप हरिका स्पर्श नहीं तबतक सब करतूत निष्फल है॥ ३२॥

बाना पहिरै सिंघ का, चलै भेड़ की चाल।
बोली बोले सियार की, कुत्ता खावै फाल॥३३॥
भरम न भागै जीवका, बहुतक धरिया भेष।
सतगुरु मिलिया बाहिरै, अन्तर रहा अलेख॥३४॥

सिंहका स्वाँग बनाके भेड़की चाल और सियारकी बोली बोलेगा तो उसे कुत्ता अवश्य फाड़ खायगा। बिना ज्ञानके विविधि वेष बनानेसे भ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। एवं अज्ञानी गुरुसे अलेख स्वरूपका पड़दा भी नहीं हटेगा॥ ३३॥ ३४॥

तन को जोगी सब करैं, मन को करै न कोय।
सहजै सब सिधि पाइये, जो मन जोगी होय॥३५॥
हम तो जोगी मनहिके, तन के हैं ते और।
मन को जोग लगावताँ, दशा भई कछु और॥३६॥

शारीरिक योग क्रियामें सब लगे हैं, मानसिकमें कोई नहीं। यदि मन योगी होगा तो सब सिद्धियाँ आपही मिल जायँगी॥ हमतो "योगश्चित वृत्ति निरोधः" के अनुसार मनके योगी हैं। तनके साधने वाले और हैं। मनोवृत्तिके निरोधसे संसारिक दशासे और ही दशा पलट जाती है॥ ३५॥ ३६॥

पहिले बूड़ी पिरथवी, झूठे कुल की लार।
अलख बिसार्यो भेप में, बूड़ि काल की धार॥३७॥

चतुराई हरि ना मिलै, यह बातों की बात।
निस्प्रेही निरधार का, गाहक दीनानाथ ॥३८॥

प्रथम तो संसारी लोग स्वरूप ज्ञान विना मिथ्या कुल मर्यादाके संगमें पड़के डूब मरे। और दूसरे वेषधारी, मिथ्या वेष पक्षमें अविनाशी देवको भुलाके काल कवल हो गये॥ प्रभु चतुराई से नहीं मिलता। यह तो केवल बात है। अनाथोंके नाथ तो निष्कामी और निरालम्बियोंका ग्राहक हैं ॥३७॥३८॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा, साँचे राचे राम ॥३९॥

केवल जप माला और छाप तिलकसे कल्याण रूप कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि मनतो वृथा नश्वर पदार्थमें नाच रहा है और प्रभु साँचे मनका प्रेमी हैं ॥ ३९ ॥

शीतल जल पाताल का, साठि हाथ पर मेख।
माला के परताप ते, ऊपर आया देख ॥४०॥

जिस प्रकार साठ हाथ गहरा कूवेका शीतल जल रहटकी मालाके प्रतापसे ऊपर चला आता है, इसी प्रकार प्रेम पूर्वक माला फिरानेसे अदृश्य प्रभुका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ ४० ॥

करिये तो करि जानिये, सरिखा सेती संग।
झिरझिर झिमि लोई भई, तऊ न छाड़ै रंग ॥४१॥

यदि प्रेमका तरीका जानो तो सरीखासे संग करो। देखो, जीर्ण शीर्ण हो जाने पर भी लोई का रंग, संग नहीं छोड़ता॥४१॥

वैरागी बिरकत भला, गिरा पड़ा फल खाय।
सरिता को पानी पिये, गिरही द्वार न जाय ॥४२॥

वही विरक्त वैरागी श्रेष्ठ है जो गृहस्थियोंके द्वारे न जाकर स्वयं गिरे फल और नदीके जल पर निर्वाह करता है ॥ ४२ ॥

गिरही द्वारे जाय के, उदर समाता लेय।
पीछे लागे हरि फिरै, जब चाहै तब देय ॥४३॥

गृही द्वारे जाके क्षुधा निवृत्ति मात्र अन्न लेवे। क्योंकि इच्छानुसार फल देने वाला प्रभु तो पीछे लगा ही है। फिर अधिक का संग्रह क्यों ? ॥ ४३ ॥

शिष साखा संसार गति, सेवक परतछ काल।
वैरागी छावै मढ़ी, ताको मूल न डाल ॥४४॥

विरक्तोंको शिष्य-शाखा संसारकी चाल चलाता है और सेवक तो प्रत्यक्ष काल रूप है। और यदि वैरागी होके कहीं कुटी बाँधी तब तो समझ लो कि बिना ठौर ठिकानेके छूटे गये ॥ ४४ ॥

जो मानुष गृहि धर्म युत, राखै शील विचार।
गुरुमुख बानी साधु सँग, मन बच सेवा सार॥४५॥

गृह धर्मियोंको उचित है कि शील विचार सहित गुरुमुख वाणीको श्रवण करे और श्रद्धा भक्ति युत मन वचनसे सन्त गुरुकी सत्संग, सेवाको ही सार समझे ॥ ४५ ॥

गिरही सेवै साधु को, साधू सुमरै नाम।
यामें धोखा कछु नहीं, सरै दोउ का काम ॥४६॥

गृहीको उचित है कि सन्तको सेवा करे और सन्त अपना ज्ञान विचार करें। इसमें किसीकी हानि नहीं, दोनोंकी भलाई है ॥ ४६ ॥

गिरही सेवै साधु को,भाव भक्ति आनन्द ।
कहैं कबिर वैरागि को, निरबानी निरदुंद ॥४७॥
शब्द विचारे पथ चले, ज्ञान गली दे पाँव ।
क्या रमता क्या बैठता,क्या गृह कँदला छाँव॥४८॥

गृही आनन्द पूर्वक श्रद्धा भक्तिसे सन्त गुरुकी सेवा करै और वैरागी संसार उपाधिसे रहित निर्बन्ध स्वरूपमें स्थित रहैं ॥ शब्दोंको विचार करैं और ज्ञान मार्ग पर चलैं। चाहैं जंगल झाड़ोंमें रमता रमै या गृह गुफामें बैठा रहैं ॥ ४७-४८ ॥

जैसा मीठा घृत पकै, तैसा फीका साग ।
रामनाम सों राचहीं, कहैं कबिर वैराग ॥४९॥

घृत पक्व मिष्टान्न और अलोना शाक ये दोनों हैं जिनके समान ऐसे नित्य तृप्त राममें निरत रहनेवालेही सच्चे वैरागी हैं४९

पाँच सात सुमता भरी, गुरु सेवा चित लाय ।
तब गुरु आज्ञा लेय के, रहे दिसन्तर जाय ॥५०॥
गुरु आज्ञा तें जो रमै, रमते तजै शरीर ।
ताको मुक्ति हजूर है, सतगुरु कहैं कबीर ॥५१॥

जिज्ञासुको उचित है कि पाँच सात वर्ष या ज्ञान प्राप्ति पर्यन्त सहन शीलताके साथ एकाग्र चित्तसे गुरुकी सेवा करै, बादमें यदि इच्छा हो तो गुरुकी आज्ञा प्राप्त कर प्रवास या पर्यटन करै॥ ज्ञान प्राप्तिके पश्चात् इस प्रकार गुरु आज्ञासे विचरनेवाले मुमुक्षुको विचरते हुए शरीर पातानन्तर मुक्तिमें कोई देशकालका प्रतिबन्ध नहीं होता, ऐसा सद्गुरु कबीर कहते हैं ॥ ५० ॥ ५१ ॥

गुरु के सनमुख जो रहै, सहै कसौटी दूख।
कहैं कबीर ता दुख पर, वारौं कोटिक सूख ॥५२॥
सतगुरु अधम उधारना, दया सिंधु गुरु नाम।
गुरु बिन कोइ न तरि सकै, क्या जप अल्लह राम ॥५३॥

गुरु समीपमें रहके साधन कसौटी रूपी दुख जो सहता है उसके दुख पर करोड़ों सुखका निछावर है॥ गुरु नाम अर्थात् सद्गुरु दयासागर और पतित पावन हैं। गुरु बिना किसीका उद्धार नहीं चाहे जितना जप अल्लाह, रामका करे ॥५२॥५३॥

माला पहिरे कौन गुन, मन दुविधा नहिं जाय।
मन माला करि राखिये, गुरु चरनन चितलाय ॥५४॥
मन का मस्तक मूँड़ि ले, काम क्रोध का केस।
जो पाँचौ परमोधि ले, चेला सबही देस ॥५५॥

यदि मनका संशय नहीं गया तो माला पहिरनेका कोई अर्थ नहीं। यदि कर्त्तव्य समझो तो फिरानेके लिये मनको माला बना रक्खो और सद्गुरु चरणोंमें चित्तको अर्पण कर दो॥ यदि चेलाकी इच्छा हो तो अपने मनका मस्तक मूड़कर उसकी काम क्रोधरूपी चोटी काट लो और पंचेन्द्रियोंको ज्ञानकी फूँक लगादो बस! सारा संसार चेला होगया ५४-५५

माला तिलक बनाय के, धर्म बिचारा नाँहि।
माल बिचारी क्या करै, मैल रहा मन माँहिं ॥५६॥
माल बनाई काठ की, बिच में डारा सूत।
माल बिचारी क्या करै, फेरन हार कपूत ॥५७॥

केवल माला तिलक सजा लिया, धर्मका विचार नहीं तो

माला वेचारो क्या करे यदि मन दर्पण मलिन है॥ काष्ठकी मणका बनाके बीचमें डोरी डाल दी, यदि फेरनेवाला विधि-ज्ञान शून्य है तो माला वेचारी क्या करे? ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

माल तिलक तो भेष है, राम भक्ति कछु और।
कहैं कबिर जिन पहिरिया, पाँचौ राखै ठौर ॥५८।

माला तिलक भेषसे राम भक्ति न्यारी है। पंच इन्द्रियोंको जिसने ठीक ठिकाने रख दिया बस! उसने वेष पहिर लिया५८

माला तो मन की भली, औ संसारी भेख।
माला फेरे हरि मिले, हरहर के गल देख ॥५९॥

माला मनकी अच्छी है और संसार देखावा वेष है। केवल माला फिरानेसे हरि मिल जाय तो हरहाई गायके गले देखलो॥

मन मैला तन ऊजला, बगुला कपटी अंग।
तासों तो कौआ भला, तन मन एकहि रंग ॥६०॥

मन मैला और तन ऊजला, ऐसा कपटी बगुला कासा अङ्ग बनाना अच्छा नहीं इससे तो वह कोवा अच्छा जो तन मनसे एक रंग है ॥ ६० ॥

कवि तो कोटिन कोटि है, शिर के मूँड़े कोट।
मन के मूँड़े देख करि, ता संग लीजे ओट ॥६१॥
भेष देखि मति भूलिये, बूझि लीजिये ज्ञान।
बिना कसौटी होत नहीं, कंचन की पहिचान ॥६२॥

यों तो संसारमें कविता करनेवाले और शिरके मुड़िये करोड़ों हैं। परन्तु कल्याण हित मनके मुड़ियाको शरण लेनी योग्य है॥ केवल वेष देखकर मत भूलना ज्ञान पूछ लेना क्योंकि

कसौटी बिना असल, नक़ल सोनेकी पहिचान नहीं होती ॥

फाली फूली गाड़री, ओढ़ि सिंघ की खाल।
साँचा सिंघ जब आमिले, गाड़र कौन हवाल ॥६३॥

यदि सिंहकी खाल ओढ़कर भेड़ सिंहके अभिमानमें फूली फिरे। तो इसका अभिमान वहीं तक है जहाँ तक सच्चे सिंहसे मुलाक़ात नहीं हुई है, फिर तो इसकी बुरी दशा होनी है ॥६३॥

बोली ठोली मसकरी, हाँसी खेल हराम।
मद माया औ इस्तरी, नहिं सन्तन के काम ॥६४॥
भाँड़ भवाई खेचरी, ये कुल को बेवहार।
दया गरीबी बन्दगी, सन्तन का उपकार ॥६५॥

सन्तोंको उचित है कि वागिन्द्रिय और शिश्नइन्द्रिय दोनों-को संयममें रक्खें। व्यंग वचन और हँसी दिल्लगी आदि भाँड़ भवइयोंका काम है। सन्तोंको तो पर उपकारकी दया दृष्टि वाले और नम्र एवं शीलवान् होना चाहिये ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

कबिर भेष भगवंत का, माला तिलक बनाय।
उनकूँ आवत देखि के, उठिकर मिलिये धाय ॥६६॥

माला, तिलकादि भगवान्का वेष है अतः उसको धारण करनेवाले सन्तोंको आते देखकर प्रथम संभ्रमके साथ उठकर दण्ड प्रणाम अवश्य करना चाहिये। पुनः ज्ञान वैराग्यादिके अनुसार सत्कार करना योग्य है ॥ ६६ ॥

गिरही को चिन्ता घनी, वैरागी को भीख।
दोनों का विच जीव है, देहु न सन्तो सीख ॥६७॥

वैरागी विरक्त भला, गिरही चित्त उदार।
दोउ चूकि खाली पड़े, ताको वार न पार ॥६८॥

"गृह कारज नाना जंजाला" इत्यादिवत् गृहस्थियोंको गृहकार्यकी अनेकों चिन्ता और त्यागीको भिक्षाकी पड़ी है। हे सन्तों! दोनोंके मध्यवर्ती चिन्ताग्रस्त जीवोंको निम्न लिखित शिक्षा दीजिये। वैरागीको निर्द्वन्द्व और गृहीको चित्त उदार होना चाहिये। यदि इस शिक्षासे विमुख हुए तो उन्हें कहीं भी स्थिति नहीं होगी ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

घर में रहै तो भक्ति करु, ना तर करु वैराग।
वैरागी बन्धन करै, ताका बड़ा अभाग ॥६९॥
धारा तो दोनौं भली, गिरही कै वैराग।
गिरही दासातन करै, वैरागी अनुराग ॥७०॥

गृहधर्मी बनो तो भक्ति करो नहीं तो विवेकादि साधनयुत विरक्त बनो। जो वैरागी होके गृह बन्धनमें पड़ता है उसकी तो फ़ज़ीहती है॥ गृहस्थ और त्याग मार्ग दोनों अच्छे हैं। "अपने अपने धर्ममें सब सुख हो सब काल" के अनुसार दासातन और विरक्तता धर्म पालन करनेसे दोनों सुखी होंगे ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अजर जु धान अतीत का, गिरही करै अहार।
निश्चै होई दरिद्री, कहैं कबीर विचार ॥७१॥

अनधिकार और अनुचित व्यवहार युत आहार करनेसे गृहस्थियोंको अतीतका अन्न अजीर्ण होता है। और वे निश्चय दरिद्री होते हैं, ऐसा कबीर गुरु विचार कर कहते हैं ॥ ७१ ॥

इति श्री भेषको अङ्ग ॥ ७ ॥
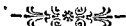
अथ भीख को अंग ॥ ८ ॥

माँगन मरण समान है, मति कोइ माँगो भीख ।
माँगन ते मरणा भला, यह सतगुरु की सीख ॥१॥
माँगन मरण समान है, सीख दई मैं तोहि ।
कहैं कविर सतगुरु सुनो, मतिरे मँगाउ मोहि ॥२॥

किसीसे कुछ माँगना मरण तुल्य है अतः कोई भीग भिक्षार्थी मत बनो । इससे तो भला मरना है, यही सद्गुरु का कहना है । माँगना और मरना दोनों समान है, मैंने तुम्हें सद्गुरुकी शिक्षा सुना दी । अब केवल अद्गुरसे विनयकर दुआ माँगो कि हे सद्गुरो ! मुझसे भीख मत मँगवाओ ॥ १ ॥ २ ॥

माँगन मरण समान है, तोहि दई मैं सीख ।
कहैं कविर समुझाय के, मति कोइ माँगै भीख ॥३॥
माँगन गय सो मर रहे, मरै जु माँगन जाँहि ।
तिनते पहिले वे मरे, होत करत हैं नाँहि ॥४॥

मैंने तो तुझे समझाकर कह दिया, माँगना मरणसदृश है । यदि इज्जत चाहो तो कोई भीख मत माँगो ॥ जो माँगने गया वस ! वह मर गया. अब जो माँगने जायगा अवश्य मरेगा । किन्तु दोनोंसे प्रथम तो वे मर गये जो होते में नकर गये ।३-४॥

उदर समाता माँगि ले, ताको नाहीं दोष ।
कहैं कविर अधिका गहै, ताकी गति न मोष ॥५॥

क्षुधा निवृत्ति मात्र माँगलो कोई हर्ज नहीं परन्तु अधिक संग्रही को दान, कल्याण हर्गिज़ नहीं ॥ ५ ॥

अजहूँ तेरा सब मिटै, जो मानै गुरु सीख।
जबलग तूँ घर में रहै, मति कहुँ माँगै भीख॥६॥

अभी कोई हर्ज नहीं सद्गुरुकी शिक्षा मानो सब अपराध क्षमा हो जायगी, किन्तु ध्यान रक्खो ! जबतक घरमें रहो किसीसे कहीं भीख मत माँगो ॥ ६ ॥

उदर समाता अन्न ले, तनहीं समाता चीर।
अधिक हि संग्रह ना करै, तिसका नाँव फ़क़ीर ॥७॥
अन माँगा तो अति भला, माँगि लिया नहि दोष।
उदर समाता माँगि ले, निश्चै , पावै मोष ॥८॥

निर्वाह मात्र जो अन्न वस्त्रको ग्रहणकर अधिककी तृष्णा नहीं बढ़ाता उसीका नाम फ़क़ीर है ॥ उसमें भी विन माँगा तो अति उत्तम है, परन्तु प्रयोजन भर माँग लेनेमें भी उसकी गति मुक्तिमें कोई बाधा नहीं ॥ ७ ॥ ८ ॥

अन माँगा उत्तिम कहा, मध्यम माँगि जु लेय।
कहैं कबिर निकृष्ट सो, पर घर धरना देय ॥९॥
सहज मिलै सो दूध है, माँगि मिलै सो पानि।
कहैं कबिर वह रक्त है, जामें ऐंचातानि ॥१०॥

विना माँगा प्राप्त उत्तम और माँगा हुआ मध्यम कहा गया है परन्तु विना प्रेमके पर घर अड्डा डालना यह तो नीचोंसे नीच है ॥ सहजमें जो कुछ मिले वह दूधके समान और माँगने

पर वही पानी तुल्य है किन्तु खैंचतानसे यदि जगत् सम्पत्ति भी क्यों न मिल जाय तो भी वह रक्त तुल्य है ॥ ६ ॥ १० ॥

आव गया आदर गया, नैनन गया सनेह ।
यह तीनों तबही गये, जबहि कहा कछु देह॥११॥

ज्योंही चाह प्रगट की गई त्योंही शोभा सत्कार और प्रेम ये तीनों चल धरे ॥ ११ ॥

भीख तीन परकार की, सुनहु संत चितलाय ।
दास कबिर परगट कहै, भिन्न भिन्न अरथाय ॥१२॥
उत्तिम भीख है अजगरी, सुनि लीजे निज बैन ।
कहैं कबिर ताके गहै, महा परम सुख चैन॥१३॥

हे सन्तो ! भिक्षा वृत्ति तीन प्रकारकी है, पृथक २ सुनिये । उत्तम तो प्रारब्ध प्राप्त अजगरी वृत्ति है जो इसपर निर्वाह करते हैं वे परम शान्तिमय जीवन बिताते हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

भँवर भीख मध्यम कही, सुनो संत चितलाय ।
कहैं कबिर ताके गहै, मध्यम माँहि समाय॥१४॥
खर कूकर की भीख जो, निकृष्ट कहावे सोय ।
कहैं कबिर इस भीख में, मुक्ति न कबहूँ होय॥१५॥

मधुकरी वृत्ति मध्यम है इस वृत्तिमें मध्यम कोटिके सन्त प्रवृत्त होते हैं । परन्तु प्रेम बिना लत्तम लत्ती और धुक्कम धुक्कीके साथ जो घरघर अड्डा डाला जाता है वह तीसरी निकृष्ट गर्धप और श्वान वृत्ति है । कबीर गुरु कहते हैं इस वृत्तिमें मुक्ति हर्गिज़ नहीं हो सकती ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्री भीखको अङ्ग ॥ ८ ॥

अथ संगति को अंग ॥ ६ ॥

कबीर संगति साधु की, नित प्रति कीजै जाय ।
दुरमति दूर बहावसी, देसी सुमति बताय ॥ १ ॥
कबीर संगति साधु की, कबहुँ न निष्फल जाय ।
जो पै बोवै भूनि कै, फूलै फलै अघाय ॥ २ ॥

ऐ मनुष्यो ! सन्तोंकी संगति प्रतिदिन करो,सत्संग प्रभावसे दुर्गुण रहित सद्गुणी और सुमार्गी सज्जन बन जावोगे । क्योंकि संतकी संगति कभी भी निष्फल नहीं होती, देखो ! दूधको तपाकर भी जामन देनेसे तृप्तिकारक दधि, घृत रूप पुष्प, फल प्राप्त होता है अथवा ॥ १ ॥ २ ॥

---

१ "महाजनस्य संसर्गः कस्यनोन्नतिकारकः ।
पद्म पत्रस्थितं वारि धत्ते मुक्ताफलप्रदम् ॥ १ ॥
काच काञ्चन संसर्गाद्धत्ते मारकती द्युतीः ।
तथा सत्सन्निधानेन मूर्खोयाति प्रवीणताम्" इति

अर्थात्-श्रेष्ठ पुरुषका सत्संग किसकी उन्नति करने वाला नहीं होता ? यानी सत्संगसे सबकी उन्नति होती है । कमलके पत्तेमें स्थित जल मोतीकी शोभाको धारण करता है ॥ १ ॥ जैसे काच सोनेके संसर्गसे मर्कत मणिकी शोभाको धारण करता है, इसी प्रकार सज्जनके संगसे मूर्ख जन भी बुद्धिमान हो जाता है ॥

२-यद्यपि भूने हुये अन्न (बीज) खेतमें बोनेसे उगता ही नहीं तो फूल, फल की कथा ही क्या ? तथापि साधु या साधु-संगरूप खेतमें बोने (दान देने) से भूने हुये अन्न भी परमार्थ रूप फूल फल का महान कारण हो जाता है ।

कबीर संगति साधु की, जौ की भूसी खाय।
खीर खाँड़ भोजन मिलै, साकट संग न जाय॥ ३॥
कबीर संगति साधु की, ज्यों गंधी की बास।
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी बास सुवास॥ ४॥

मिष्टान्न भोजन मिले तो भी निगुरोंके संगसे सन्तोंके संगमें जौका चोकर खाकर रहना अच्छा है॥ क्योंकि सन्तोंकी संगति मानो अत्तार की दुकान है, अत्तर भले वह न दे किन्तु सुगन्धि नहीं रोक सकता, खुशबू अवश्य मिलेगी॥ ३॥ ४॥

कबीर संगति साधु की, निष्फल कभी न होय।
होसी चंदन वासना, नीम न कहसी कोय॥ ५॥
कबीर संगति साधु की, जो करि जानै कोय।
सकल विरछ चंदन भये, बाँस न चंदन होय॥ ६॥

सन्तोंकी सत्संगति निष्फल कभी न होती। देखो! चन्दनके संसर्गसे नीम वृक्षको नीम कोई नहीं कहता॥ किन्तु सन्तोंकी संगति करनेमें कुछ ज्ञातव्य नम्रतादि गूढ़ तत्त्व है। जैसे चन्दन के सहवासमें सार तत्त्व युत सबही वृक्ष चन्दन हो जाते किन्तु निःसार बाँस हर्गिज़ नहीं होता॥ ५॥ ६॥

कबीर चंदन संग से, बेधे ढाक पलास।
आपसरीखा करि लिया, जो ठहरा तिन पास॥ ७॥

---

१ "सन्त सदैव गन्त या यद्यपि उपदिशान्ति नो।
या हि स्वैर कथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ता"॥

अर्थात्—वशिष्टजीने रामसे कहा कि सन्तोंकी संगतिमें अवश्य जाना चाहिये चाहे वे उपदेश करें या न करें। उनके परस्परकी आत्मचर्चा ही उपदेश रूप हो जायगा॥

मलया गिरिके पेड़ सों, सरप रहै लिपटाय।
रोम रोम विष भीनिया, अमृत कहाँ समाय ॥ ८ ॥

जिस प्रकार पासके सारयुत ढाक पलासको चन्दन अपना गुण प्रवेशकर अपना स्वरूप कर लेता है इसी प्रकार सन्त भी विनयी और शीलवान् निज सत्संगीको स्वगुण अर्पणकर स्वरूप कर लेते हैं। और जैसे मलयगिरिके वृक्षमें लिपटे हुए विषधर का विष दूर नहीं होता इसी प्रकार मिथ्याभिमानी और कपटीके हृदयमें सन्तका शान्तिप्रद अमृतमय वचन भी प्रवेश नहीं करता क्योंकि जगह नहीं है, कूट २ विष भरा है ॥७॥८॥

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी हूँ सों आध।
कबीर संगति साधु की, कटै कोटि अपराध ॥ ६ ॥
घड़ि ही की आधी घड़ी, भाव भक्ति में जाय।
सतसंगहि पलही भली, जमका धका न खाय॥१०॥

"क्षणमपि सज्जन संगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका"॥ इस वचनके अनुसार सन्तोंकि संगति आधी घड़ीका आधा भी करोड़ों अपराधको दूर करता है ॥ प्रेम भक्तिमें चाहे आधी घड़ी लगावो परन्तु पल मात्र भी यदि सन्तोंकी संगति होतो मृत्युकी चोटसे बचा सकती है ॥ ६ ॥ १० ॥

जा पल दरशन साधु का, ता पलकी बलिहार।
रामनाम रसना बसै, लीजै जनम सुधार ॥११॥
ते दिन गये अकारथी, संगति भई न संत।
प्रेम विना पशु जीवना, भक्ति विना भगवंत॥१२॥

सन्तोंके दर्शनकी घड़ीकी बलिहारी है, हे रसज्ञ रसने! राम नाम रस ले और जन्म सुधार दे ॥ सन्त-संगति विनाके

दिन सब व्यर्थ गये क्योंकि प्रभुकी प्रेमभक्ति बिना जीवन पशु-तुल्य है ॥ ११ ॥ १२ ॥

जा घर गुरु की भक्ति नहिं, संत नहीं मिहमान ।
ता घर जम डेरा दिया, जीवत भये मसान ॥१३॥

जिस गृहमें गुरुकी भक्ति और सन्त मिहमान नहीं है, वहाँ उस गृहीके जीतेजी मृत्युका विश्राम स्थान श्मशान समझो ॥१३॥

रिद्धि सिद्धि माँगूँ नहीं, माँगूँ तुम पै येह ।
नित प्रति दरशन साधुका, कहँ कबिर मुहि देह ॥१४॥
मेरा मन हंसा रमै, हंसा गगनि रहाय ।
बगुला मन मानै नहीं, घर आँगुन फिर जाय ॥१५॥

विभव और अणिमादि सिद्धि सफलताकी आवश्यकता नहीं सद्गुरो ! केवल प्रतिदिन सन्तोंका दर्शन चाहिये ॥ हे प्रभु ! मन बगुलेको समझाकर घर-आँगनकी फेरी छुड़ा दो और हंसकी चाल चलाकर सत्संगरूप मानसरोवरमें विश्राम करा दो ॥ १४ ॥ १५ ॥

कबीर बन बन मैं फिरा, ढूँढ़ि फिरा सब गाम ।
राम सरीखा जन मिलै, तब पूरा है काम ॥१६॥
कबीर तासों संग कर, जो रे भजिहैं राम ।
राजा राणा छत्रपति, नाम बिना बेकाम ॥१७॥

मैंने बन, बस्ती सबही जगह फिरकर देख लिया, रामस्नेही सन्त मिलेंगे तबही पूर्ण प्रयोजन सिद्ध होगा । इसलिये रामसे मिलानेवालेकी संगति करनी चाहिये, राम बिना सब बेकाम है, राजा राणासे कोई काम नहीं ॥ १६ ॥ १७ ॥

कबीर लहरि समुद्र की,कभी न निष्फल जाय ।
बगुला परखि न जानई,हंसा चुगि चुगि खाय॥१८॥
कबीर मन पंछी भया, भावै तहवाँ जाय ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसा फल पाय ॥१६॥

समुद्रको लहर निष्फल नहीं जाती किन्तु परीक्षा विना बगुला क्या करे ? मोतीको तो हंस चुग २ तृप्त होता है इसी प्रकार सत्संगका आनन्द विवेकी पुरुष लेता है कुसंगी नहीं पा सकता ॥ मन पक्षी चाहे जहाँ जाय किन्तु संगतिके अनुसारही फल पायगा ॥ १८ ॥ १६ ॥

कबीर खाई कोट की, पानी पिवै न कोय ।
जाय मिले जब गंग में, सब गंगोदक होय ॥२०॥
कबीर कलह रु कलपना, सतसंगति से जाय ।
दुख बासो भागा फिरै, सुख में रहैं समाय ॥२१॥

कोई भी हो, बड़े की संगतिसे बड़ा हो जाता है देखो ! शहरपनालीका जल कोई नहीं पीता, किन्तु वही जब गंगामें जा मिलता है तब सबही गंगाजल हो जाता है ॥ सत्संगतिसे दुखरूपी कलह कल्पना दूर हो जाती और सत्संगी निष्कलह स्वरूपमें स्थिर हो सुखी हो जाता है ॥ २० ॥ २१ ॥

संगति कीजै संत की, जिनका पूरा मन ।
अनतोले ही देत हैं, नाम सरीखा धन ॥२२॥
साधु संग अन्तर पड़े, यह मति कबहुँ न होय।
कहैं कबिर तिहुलोक में, सुखी न देखा कोय ॥२३॥

पूर्ण ज्ञानी और सन्तोषी सन्तका संग करना चाहिये वेही

अनुपम ज्ञान सदृश धन देते हैं ॥ ऐ मनुष्यो! ऐसी मति कदापि न हो जिससे सन्त-संगतिमें भेद पड़े। मैंने सर्वत्र टटोला तो सत्संग, सन्तोष विना किसोको कहीं सुखी नहीं देखा॥२२-२३॥

मथुरा काशी द्वारिका, हरिद्वार जगनाथ।
साधु सँगति हरि भजन बिन, कछू न आवै हाथ॥२४॥
साखि शब्द बहुते सुना, मिटा न मनका दाग।
संगति सो सुधरा नहीं, ताका बड़ा अभाग॥२५॥

चाहे सब धाम करि आवो! किन्तु सन्त-संगति और हरि चिन्तन विना कुछ भी प्राप्त नहीं होनेका॥ साखी शब्दादि बहुतेरे पढ़ा, सुना किन्तु मनकी मलिनता नहीं गई। यदि सत्संगमें भी नहीं सुधरा तो उस भाग्यहतको कहीं भी कुशल नहीं ॥ २४ ॥ २५ ॥

साधुन के सतसंग ते, थर थर काँपै देह।
कबहूँ भाव कुभाव ते, मत मिटि जाय सनेह॥२६॥
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधू संग में, सो वैकुंठ न होय॥२७॥

सत्संगीके हृदयमें सदा इस बातकी चिन्ता रहती है कि, मन चंचल कदाचित सांसारिक भावमें पड़के सन्तके सत्संगसे कुभाव कर प्रेम न घटादे ॥ सत्सग सुखका अनुभवी पुरुष स्वर्गमें भी सुख नहीं मानता, प्रत्युत वह उससे दुखी होता है ॥

राम राम रटिबो करै, निशदिन साधुन संग।
कहो जु कौन विचारते, (नहिं)नैना लागत रंग॥२८॥

मन दीया कहुँ औरही, तन साधुन के संग ।
कहैं कबिर कोरी गजी, कैसे लागे रंग ॥२६॥

सन्तोंके संगमें अहो रात्र राम राम स्मरण करो। कहो! किस विचारसे राम रंग नेत्रमें नहीं लगता? बस यही कारण है कि सन्त संगमें केवल शरीर है मन कहीं और में लगाया है। कहो! बिना धोय खादोमें रंग कैसे चढ़ेगा? हर्गिज नहीं ॥ २८ ॥ २६ ॥

भुवँगम वास न बेधई, चन्दन दोप न लाय ।
सब अँग तो विपसों भरा, अमृत कहाँ समाय ॥३०॥
चन्दन परसा बावना, विप ना तजै भुजंग।
यह चाहै गुन आपना, कहा करै सतसंग ॥३१॥

यदि सर्पमें सुवास प्रवेश नहीं करता तो चन्दनका कोई दोप नहीं, क्योंकि उसका प्रत्येक अंग विपसे भरा है फिर अमृत कहाँ अमाय?॥ बाँबीके ऊपरही चन्दनका वृक्ष क्यों न लग जाय तो भी भुजंग विप नहीं त्यागता "कबीर खलक ना तजे जामें जोन विचार" इसी प्रकार जबतक अपना विचार नहीं पलटेगा तब तक सत्संगका असर नहीं होगा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

कबीर चन्दन के निकट, नीम भि चन्दन होय ।
बूड़े बाँस बड़ाइया, यों जनि बूड़ै कोय ॥३२॥
चन्दन जैसे सन्त हैं, सरप जैसे संसार ।
वाके अंग लपटा रहै, भागै नहीं विकार ॥३३॥

चन्दनके समीप नीम भी चन्दन हो जाता। ऐ नरजीवो! ऊँचेपनका अभिमानमें पड़के बाँसकी तरह मत कोई निःसार बनो॥ चन्दनके समान सन्तके संगमें यद्यपि संसारी लोग

सर्प चन् लिपटे रहते हैं तो भी विचार विना विकार दूर नहीं होता। इसलिये निरभिमानी और विचारी बनो॥ ३२॥ ३३॥

चन्दन डर लहसुन करै, मति रे बिगारै वास।
सुगुरा निगुरा सो डरै, जग से डरपै दास॥३४॥
कबिर कुसंग न कीजिये, लोहा जल न तिराय।
कदली सीप भुजंग मुख, एक बुंद तिर भाय॥३५॥

जिस प्रकार चन्दन सुवास रक्षाके लिये लहसुन-संगसे भय खाता है इसी प्रकार गुरुमुखी मन मतीसे और मुमुक्षु संसार प्रपंचसे डरते रहते हैं॥ कुसंगियोंका संग तो हर्गिज़ न करो क्योंकि लोहा जलमें कदापि नहीं तैरता। संगका गुण, दोष देख लो, स्वातीका एकही बूँदसे केला, सीप, सर्पके संगमें क्रमशः कपूर, मोती और विष पैदा होता है॥ ३४॥ ३५॥

कबिर कुसंग न कीजिये, जाका नाँव न ठाँव।
ते क्यौं होसी बापरा, साध नहीं जिहि गाँव॥३६॥
कबीर गुरु के देश मे, बसि जानै जो कोय।
कागा ते हंसा बनै, जाति बरन कुल खोय॥३७॥

कुसंगीका संग मत करो उसकी कोई स्थिति नहीं है। उनकी कैसे दशा पलटेगी जिस ग्राममें सन्त ही नहीं है॥ जो गुरुके देशमें निवास करनेका तरीका जानता है उसका स्वरूप काकसे हंस बन जाता और जाति पाँति सब मिट जाती है॥ ३६॥ ३७॥

कबीर कहते क्यौं बनै, अन बनता के संग।
दीपक को भावै नहीं, जरि जरि मरैं पतंग॥३८॥

ऊजल बुंद अकाश की, पड़ि गइ भूमि विकार ।
माटी मिलिभइ कीचसो, विन संगति भौ छार॥३९॥

अनमेलका संग नहीं सरसाता, दीपकका भाव नहीं, पतंग यौंही जल २ मरता है ॥ आकाशका निर्मल जल विकाररूपी पत्थरो की भूमि पर पड़ा तो वहाँकी मिट्टी धुलाकर नीचकीचमें जा मिली और सुस्थान संग विना जल निरूपयोगी वन गया, वैसही अधिकारी पात्र विना गुरूपदेश व्यर्थ होता है॥३८॥३९॥

हरिजन सेती रुठना, संसारी सों हेत ।
ते नर कबहु न नीपजे, ज्यौं कालर का खेत ॥४०॥
गिरिये परवत शिखर ते, परिये धरनि मँझार ।
मूरख मित्र न कीजिये, वूड़ो काली धार ॥४१॥

जो कोई सत्संगीसे विरोध और कुसंगीसे प्रेम करता है उसके हृदय क्षेत्रमें कालर वाले खेतकी तरह ज्ञान अंकुर कदापि नहीं उत्पन्न होता ॥ कालर–धान्य विघातक तृण विशेष । भले पर्वतसे गिरकर या पृथिवी तलमें समाकर मर जावो किन्तु मूर्ख से मित्रता मत करो क्योंकि,वह अन्ध कूपमें ले वूड़ेगा॥४०॥४१॥

मूरख को समझावते, ज्ञान गाँठि का जाय ।
कोयला होय न उजला, सौ मन साबुन लाय ॥४२॥
कोयला भि होय ऊजला, जरि बरि है जो सेत ।
मूरख होय न ऊजला, ज्यौं कालर का खेत ॥४३॥

"मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरञ्चि सम" मूर्खके प्रति सदुपदेश यों व्यर्थ है ज्यौं कोयलेमें सैकड़ो मन साबुन । कदाचित कोयला भी जलकर खाक रूपमें सुफेद हो जाता है ।

किन्तु कालरवाले खेतकी तरह मूर्खके हृदयमें चेत हर्गिज़ नहीं होता ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

ऊंचे कुल कह जनमिया, (जो)करनी ऊंचन होय ।
कनककलसमदसों भरा, साधुन निंदा सोय ॥४४॥

श्रेष्ठ कर्तव्य बिना कुलीन कुलमें जन्मसे भी कुछ लाभ नहीं। क्योंकि मद्यसे भरा सोनेका घड़ा भी सज्जनका अग्राह्य है ॥४४॥

जानि बूझि साँची तजै, करै झूठ सों नेह ।
ताकी संगति रामजी, सपने हू मति देह ॥४५॥

सत्संगसे समझ बूझकर जो सत्यको तिरस्कार और झूठेका सत्कार करता है। दोहाई रामजीकी तिसका संग स्वप्नमें भी न हो ॥ ४५ ॥

काचा सेती मति मिलै, पाका सेती बान ।
काचा सेती मिलतहीं, है तन धनकी हान ॥४६॥
तोहि पीर जो प्रेम की, पाका सेती खेल ।
काची सरसों पेलि के, खरी भया नहि तेल॥४७॥

जैसे कच्चे धागाका बन्धन दृढ़ नहीं होता, इसी प्रकार हलका विचार वालेका संग दृढ़ नहीं होता। इसलिये पूर्ण सत्संगीसे प्रेम जोड़ना चाहिये। क्योंकि क्षुद्र बुद्धिवालेके मेलसे तन, धन, ज्ञान सबहीकी हानि होती है ॥ यदि तुझे प्रेमकी पीर सताती है तो पक्केके साथ प्रेम करो, कच्ची सरसोंसे तो तेल खरी कुछ नहीं निकलनेकी ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

---

१ कालर ऊपर भूमिको भी कहते हैं, वहाँ उत्तम बीज बोया हुआ भी निष्फल जाता है। और कालर एक प्रकारकी घास भी होती है।

दाग जु लागा नील का, सौ मन साबुन धोय।
कोटि जतन परमोधिये, कागा हंस न होय॥४८॥

नीलका दाग निर्मूल नहीं होता, चाहे सैकड़ों मन साबुनसे धोवो। इसी प्रकार "पायस पालिये अति अनुरागा। होइ निरामिष कबहुँ कि कागा?" ॥ चाहे कोटिन युक्तियोंसे शिक्षा दो काग हंसकी गति नहीं सीख सकता ॥ ४८ ॥

जग सों आपा राखिये, ज्यौं विषहर सों अंग।
करो दया जो खूब है, बुरा खलक का संग॥४६॥

सर्पकी भाँति अपने आपको कुसंगियोंसे रक्षा करनी चाहिये। प्राणी मात्र पर दया करना उचित है किन्तु 'काग कुबुद्धि निकट नहिं आवे' के अनुसार ध्यान रहे! कुसंगियोंका संग बुरा होता है ॥ ४६ ॥

जीवन जोबन राजमद, अविचल रहै न कोय।
जु दिन जाय सत संगमें, जीवन का फल सोय॥५०॥

'जीवे चारि तरंग चंचल तरे सोख्यं कुतः प्राणिनामि' ति वत् अस्थिर होनेसे जीवन, यौवन और राज्य सम्पत्तिका अहंकार मिथ्या है, इसलिये जीवनका सफल समय केवल सत्संगका समझना चाहिये ॥ ५० ॥

ब्राह्मण केरी बेटिया, मांस शराब न खाय।
संगति भई कलाल की, मद बिन रह्या न जाय॥५१॥

"संगति भलो भली बुधि होई। ओछी संगति मूलहु खोई" के अनुसार कुलीन ब्राह्मणकी लड़की तबही तक मांस, शराबसे घृणा करती है जब तक कि कलालकी सोहबत नहीं हुई है,

फिर तो उसे उसके बिना रहा ही नहीं जाता, सोहबत असर अवश्य जमाती है ॥ ५१ ॥

साखि शब्द बहुतहि सुना, मिटा न मनका मोह।
पारस तक पहुँचा नहीं, रहा लोह का लोह ॥५२॥

साखी शब्द चाहे जितना सुनलो बिना सद्गुरु सत्संगके मन मोह (अज्ञान पड़दा) दूर नहीं हो सकता, जैसे पारससे स्पर्श बिना लोहा सोना नहीं बनता ॥ ५२ ॥

माखी चन्दन परिहरे, जहँ रस मिलि तहँ जाय।
पापी सुनै न हरि कथा, ऊंघे कै उठि जाय ॥५३॥
पुरुब जनम के भाग से, मिले संत का जोग।
कहैं कबिर समुझै नहीं, फिर फिर चाहै भोग ॥५४॥

"जाके जवन सुभाव छुटे नहिं जीव सों। नीम न मीठी होय सींचे गुड़ घीव सों" जिस प्रकार मक्खी चन्दन-सुवासको छोड़कर बदबू युत मल मुत्रमें जा बैठती है इसी प्रकार मलीन मनको आत्मकथा नहीं रुचती, प्रत्युत उससे उसका जी मचलाता है ॥ यद्यपि पूर्व सुकृतसे सन्तका सत्संग प्राप्त भी हो जाता है तथापि वह नासमझके कारण पुनः २ कुभोगको ही चाहता है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

जहाँ जैसी संगति करै, तहँ तैसा फल पाय।
हरि मारग तो कठिन है, क्यों करि पैठा जाय ॥५५॥
ज्ञानी को ज्ञानी मिलै, रस की लूटम लूट।
ज्ञानी अज्ञानी मीले, होवे माथा कूट ॥५६॥

संगतिके अनुसारही फल मिलता है, ज्ञान मार्ग अति सूक्ष्म है वहाँ ऐसे तैसेका प्रवेश कैसे हो सकता ? ॥ राम रसकी लूट

तो ज्ञानी ज्ञानीके मेलमें है और ज्ञानी अज्ञानीके मेलमें तो केवल माया कूट है ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

सज्जन सों सज्जन मिले, होवे दो दो बात।
गदहा सों गदहा मिले, खावे दो दो लात ॥५७॥

"मिलहिं सन्त वचन दुई कहिये" इत्यादि वत् सज्जन सज्जनके संगमें सत् मिथ्या, जीव अजीव आदि दो बातोंका विचार होता है किन्तु 'मिलहिं असन्त मौन ह्वै रहिये' नहीं तो दो गदहोंके मिलापमें दुलत्तीके सिवा और कुछ नहीं ॥ ५७ ॥

मैं माँगूँ यह माँगना, मोहिं दीजिये सोय।
संत समागम हरि कथा, हमरे निश दिन होय ॥५८॥
कंचन भौ पारस परसिं, बहुरि न लोहा होय।
चंदन बास पलास बिधि, ढाक कहै नहिं कोय ॥५९॥

सद्गुरो! सत्संग और हरि कथा हमारे अहो रात्र हो, बस! यहि मुझे माँगना है कृपाकर प्रदान कीजिये॥ पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता, पुनः वह लोहा नहीं होता, जिस प्रकार चन्दनका सुवास पलासमें प्रवेश होनेसे उसे कोई ढाक नहीं कहता ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

पहिले पट पासै बिना, बीबे पड़ै न भात।
पासै बिन लागे नहीं, कुसुँभ बिगारै साथ ॥६०॥

जिस प्रकार प्रथम कपड़ाको अच्छी तरह धोये विना सुन्दर और चमकदार रंग नहीं चढ़ता प्रत्युत कुसुँभिया रंग भी उसके साथ खराब हो जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण शुद्धि और शमादि साधन विना ज्ञानोपदेश स्थिर नहीं रहता ॥ ६० ॥

कबीर सतगुरु सेविये, कहा साधु को संग।
विन धगुरे भिगोय विना, कोरै चढ़े न रंग ॥६१॥

कल्याणार्थ सन्तोंका संग प्रथम कहा गया है अतः सन्त गुरुको सेवा भली भाँति करनी चाहिये, क्योंकि भींगोकर अच्छी तरह धोये विना कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता ॥ ६१ ॥

कबीर विषधर बहु मिले, मणिधर मिला न कोय।
विषधर को मणिधर मिले, विषधर अमृत होय ६२

विषधर सर्प बहुतेरे मिलते किन्तु मणिधर कहीं नहीं मिलते। यदि विषधरको मणिधर मिल जाय तो उसका विष अमृत हो जाता है ॥ ६२ ॥

प्रीति करी सुख लेन को, सो सुख गया हिराय।
जैसे पाइ छछुन्दरी, पकड़ि साप पछिताय॥६३॥
जो छोड़े तो आंधरा, खाये तो मरि जाय।
ऐसे संग छछुन्दरी, दोउ भाँति पछिताय ॥६४॥

अयोग्यके साथ सुख इच्छासे प्रीति करने पर सुखके बदले दुखही होता है, जैसे छछुन्दरके ग्रहणसे सर्पको ॥ यदि छोड़े तो अन्धा और खाये तो उसे मरण होता है, उसे पकड़कर सर्प दोनों तरह से दुखी होता है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

साप छछुन्दर दोय कूँ, नौला नीगल जाय।
वाकूँ विष वेड़े नहीं, जड़ी भरोसे खाय ॥६५॥

१ महात्माओंका कथन है कि मणिवाला सर्पकी मणिमें यह एक विचित्र गुण है कि विषधरके काटने पर उस मणिको लगा देनेसे वह विषको खैंच लेता है। बाद उसे दूधमें डाल देनेसे वह दूध अमृत गुणवाली हो जाता है। यदि यह दूध कोढ़ीको पिला दिया जाय तो उसका कोढ़ भी जाता रहता है॥

कुसंगति लागे नहीं, शब्द सजीवन हाथ।
बाजीगर का बालका, सोवै सरप कि साथ ॥६६॥

साँप, छुछुन्दर दोनोंको नेवला निगल जाता है और उसे विष भी नहीं व्यापता क्योंकि उसके पास जड़ी है॥ इसी प्रकार सद्गुरुकी सार शब्द सजीवन मूरी यदि पासमें हो तो कुसंगतिका असर नहीं लग सकता। देखो! बाजीगरका लड़का युक्तिसे सर्पके साथ सो जाता है॥ ६५॥ ६६॥

निर्गुणै गाँव न बासिये, सब गुण को गुण जाय।
चंदन पड़िया चौके में, ईंधन बदले जाय ॥६७॥

यदि क़दर चाहें तो जहाँ गुण ग्राहक नहीं हैं वहाँ गुणियोंको हर्गिज़ न रहना चाहिये। क्योंकि इन्धनकी बाज़ारमें चन्दन भी उसीका भाव बिकता है॥ ६७॥

संगति को बैरी घनो, सुनो सन्त इक बैन।
येही काजल कोठरी, येही काजल नैन ॥६८॥

हे जिज्ञासुओ! एक सुनने योग्य बात सुन लो और संगतिका प्रभाव देख लो। "ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुयोग सुयोग। होई कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलक्षण लोग" देखो, वस्तुके योग्य, अयोग्य संगतिसे गुण और शोभामें कितना फर्क पड़ जाता है, एकही काजल नेत्रोंको सुरूप अन्य स्थानोंको कुरूप कर देता है॥ ६८॥

साधू संगति परिहरै, करै विषय को संग।
कूप खनी जल बावरे, त्यागि दिया जल गंग ॥६९॥

१—चौकामें जानेसे चन्दन भी जलौनी लकड़ीके साथ जलाया जाता है।

जो सन्तोंकी संगति छोड़कर पामरोंका संग करता है वह दिवाना मानों गंगाजल त्यागकर जलके वास्ते कुँआ खोदता है।

लकड़ी जल डूबै नहीं, कहो कहाँ की प्रीति ।
अपनो सींचों जानि के, यही बड़न की रीति ॥७०॥
मैं सींचो हित जानि के, कठिन भयो है काठ ।
ओछी संगति नीच की, शिर पर पाड़ी, बाट ॥७१॥

कहो ! लकड़ी (नौका) जलमें क्यों नहीं डूबती ? सुनो "विष वृक्षोपि संवद्ध्र्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्" इस सूक्तिके अनुसार जल इसे इस प्रकार अपना समझता है कि मैंनेही इसे प्रेम पूर्वक सींचकर समृद्ध किया है, अतः इसे डुबाना योग्य नहीं। यही बड़ोंके बड़ापनकी रीति है॥ लेकिन काठका हृदय बड़ा कठोर है, वह जलकी सौजन्यताको कुछ नहीं समझ कर उसके मस्तक परही अपना मार्ग बना लिया यही ओछी संगतिका फल या नीचोंकी नीचता समझ लो ॥ ७० ॥ ७१ ॥

तरुवर जड़ सें काटिया, जबै सम्हारो जहाज ।
तारै पन बोरै नहीं, बाँह गहे की लाज ॥७२॥

बड़े पुरुष जिसे अपना कर लेते हैं उसे किसी हालतमें दुखी नहीं होने देते, देखो, वृक्षको जड़से काटकर जहाज़ बनाया तो भी काटनेवालेको सदैव सागरसे पारही करता है, कभी डुबाता नहीं ॥ ७२ ॥

साधु संगति गुरु भक्तिजु, निष्फल कबहुँ न जाय ।
चंदन पास है रूखड़ा, (सो)कबहुँक चंदन थाय७

सन्त गुरुकी संगति और भक्ति निष्फल कदापि नहीं होती, जैसे चन्दन समीपका वृक्ष कभी न कभी चन्दन अवश्य होता है।

संत सुरसरी गंगजल, आनि पखारा अंग ।
मैले से निरमल भये, साधू जन के संग ॥७४॥

सन्त गंगाके प्रवाह रूप हैं उसमें जो कोई डुबकी लगाया व लगाता है वह सन्तोंके सगमें मैलेसे निर्मल हुआ और होता है।

चर्चा करु तब चौहटे, ज्ञान करो तब दोय ।
ध्यान धरो तब एकिला, और न दूजा कोय ॥७५॥

सभा सत्संग चार जने मिलके या सरे मैदानमें कर सकते हैं किन्तु निर्विघ्न आत्मतत्त्वका विचार करो तब तो दोही जने 'अपनी कहे मेरी सुने' में योग्य होगा और इसे आगे मनन चिन्तनादि तो एकाकी। वहाँ दूसरेकी आवश्यकता नहीं ॥७५॥

संगति कीजै साधु की, दिन दिन होवै हेत ।
साकुट काली कामली, धोते होय न सेत ॥७६॥

संगति सन्तोंकी करनी चाहिये उसमें प्रीति प्रति दिन बढ़ती है, निगुरोंका सग तो काला कम्बल है जो धोने पर भी सुफेद नहीं होता ॥ ७६ ॥

साधु संगति गुरुभक्ति रु, बढ़त बढ़त बढ़ि जाय ।
ओछी संगति खर शब्द रु, घटत घटत घटि जाय ॥७७॥

सद्गुरु-भक्तिके समान सन्तकी सगति बढ़ती बढ़ती अधिक बढ़ जाती है। और निगुरोंकी सगति गदहेके चिकारके सदृश शनैः शनैः घटतीही जाती है ॥ ७७ ॥

संगति ऐसी कीजिये, सरसा नर सों संग ।
लर लर लोई होत है, तऊ न छाड़ै रंग ॥७८॥

ऐसे सुहृद पुरुषसे संग करना चाहिये कि किसी हालतमें

भी संग न छोड़े जैसे जीर्ण शीर्ण होने पर भी लोई (वस्त्र विशेष) का रंग संग नहीं छोड़ता ॥ ७८ ॥

तेल तिली सों ऊपजै, सदा तेल को तेल ।
संगति को बेरो भयो, ताते नाम फुलेल ॥७९॥

संगतिसे स्वरूप पलट जाता है, देखि लो तिलसे तेल उत्पन्न हो सदा तेल ही रहता है परन्तु पुष्प सुगन्धी (Scient) का सम्बन्ध होतेही फुलेल नाम पड़ जाता है ॥ ७९ ॥

हरिजन केवल होत हैं, जाको हरिका संग ।
विपति पड़ै बिसरै नहीं, चढ़ै चौगुना रंग ॥८०॥

जो हरिका संग करता है वही हरिजन होता है, हरिका नाम विपत्तिमें भी वह नहीं विसारता किन्तु और चौगुन राममें रंग जमाता हैं ॥ ८० ॥

इति श्री संगतिको अङ्ग ॥ ६ ॥

अथ सेवक को अंग ॥१०॥

सेवक सेवा में रहै, अन्त कहूँ नहिं जाय।
दुखसुख शिर ऊपर सहै, कहैं कबिर समुझाय ॥१॥
सेवक सेवा में रहै, सेवक कहिये सोय।
कहैं कबिर सेवा बिना, सेवक कभी न होय ॥२॥

कबीर गुरु समझाकर कहते हैं सेवकको उचित है कि स्वामीकी सेवकाई में लगा रहे और कहीं न जाय चाहे दुःख हो या सुख, सबको सहन करे ॥ उसीका नाम सेवक है, सेवकाई बिना दास नहीं कहला सकता ॥ १ ॥ २ ॥

सेवक मुखै कहावई, सेवा में दृढ़ नाँहि।
कहैं कबिर सो सेवका, लख चौरासी माँहि ॥३॥
सेवक सेवा में रहै, सेव करै दिन रात।
कहैं कबिर कुसेवका, सनमुख ना ठहरात ॥४॥

जो सेवकाई में दृढ़ नहीं है, केवल मुखसे दास कहलाता है, वह चौरासीमें पड़ेगा ॥ सेवक तो वह है जो सदा स्वामीके सत्कारमें लगा रहता है, जो स्वामीके सन्मुख ठहरता ही नहीं वह सेवक कैसा ? ॥ ३ ॥ ४ ॥

सेवक फल माँगै नहीं, सेव करै दिन रात।
कहैं कबिर ता दास पर, काल करै नहिं घात ॥५॥
सेवक स्वामी एक मत, मत में मत मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाय ॥६॥

जो सेवक सेवकाई के फलकी चाह नहीं रखता और सेवा दिन रात करता है, उसपर कालका घात हर्गिज़ नहीं लगता ॥ सेवक और स्वामीका एक सिद्धान्त होना चाहिये। चालाकीकी ज़रूरत नहीं, स्वामी तो सेवकको निष्कपट भक्तिसे प्रसन्न होते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

सेवक कुत्ता राम का, मुतिया वाका नाँव।
डोरी लागी प्रेम की, जित खैंचै तित जाँव ॥७॥
तू तू करु तो निकट है, दुर दुर करु तो जाय।
ज्यौं गुरु राखै त्यौं रहै, जो देवै सो खाय ॥ ८ ॥

सेवकको उचित है कि कुत्तेकी तरह वृत्ति बना ले, स्वामी प्रेमसे जहाँ बुलावे वहाँही जावे ॥ तू तू करे तो पास और दुर दुर करे तो दूर हो जाय, स्वामी जिस प्रकार रखना चाहें उसी प्रकार रहे और जो देवें वह खाकर पड़ा रहे ॥ ७ ॥ ८ ॥

फल कारन सेवा करै, निश दिन जाँचै राम।
कहैं कबिर सेवक नहीं, चाहै चौगुन दाम ॥ ९ ॥

जो ऋद्धि सिद्धिके लिये सेवा करता है और प्रति दिन प्रभुसे याँचना करता है वह सेवक नहीं वह लोभी है एकके चार गुणा पैसा चाहता है ॥ ६ ॥

सब कछु गुरु के पास है, पाइये अपने भाग।
सेवक मन सौंप्या रहै, रहै चरण में लाग ॥१०॥

गुरुके पास किसीकी कमी नहीं है किन्तु प्राप्त अपने भाग्यके अनुसार होगा। सेवकको तो इतनाही बस है कि गुरुके चरणोंमें मन अर्पण कर शरणमें पड़ा रहे ॥ १० ॥

सतगुरु शब्द उलंघि कर, जो सेवक कहुँ जाय।
जहाँ जाय तहँ काल है, कहैं कबिर समुझाय॥११॥
सतगुरु बरजै शिष करै, क्यौं करि बाचै काल।
दहुँ दिशि देखत बहि गया, पानी फूटी पाल ॥ १२॥

जो सेवक सद्गुरु उपदेशके विपरीत आचरण करता है, उसके लिये वही काल रूप बन जाता है ॥ सद्गुरु आज्ञाके विरुद्ध करनेवाले शिष्य किसी हालतमें भी कालसे अपनेको इस तरह रक्षा नहीं कर सकता, जिस प्रकार तालाबके बाँध फूटने पर पानी सब तरफ़ पलक भरमें निकल जाता और सम्भालमें नहीं आता ॥ ११ ॥ १२ ॥

सतगुरु कहि जो शिष करै, सब कारज सिध होय।
अमर अभय पद पाइये, काल न झांकै कोय ॥१३॥

सद्गुरु-आज्ञानुसार चलनेवाले शिष्यको सर्व कार्य सिद्ध होता और निर्भय मोक्षपदको भी पा जाता, उसे काल भी कुछ नहीं करता ॥ १३ ॥

साहिब को भावै नहीं, सो हमसों जनि होय।
सतगुरु लाजै आपना, साधु न मानै कोय ॥१४॥

जो प्रभुको अनुचित है वह हमसे कदापि न हो! क्योंकि उसमें अपने सद्गुरुकी अप्रतिष्ठा और सन्त हमें धिक्कारेंगे॥१४॥

साहिब जासों ना रुचै, सो हमसों जनि होय।
गुरु की आज्ञा में रहूं, बल बुधि आपा खोय ॥१५॥

हे सद्गुरो! वह कार्य हमसे हर्गिज़ न हो, जिसमें आपकी प्रसन्नता नहीं है। मैं तो अपने बल, बुद्धिकी अहन्ता ममता

छोड़कर फ़क़त आपहीकी तावेदारीमें रहना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

साहिब के दरबार में, कमी काहु की नाँहि ।
बंदा मौज न पावहीं, चूक चाकरी माँहि ॥१६॥
द्वार धनी के पड़ि रहै, धक्का धनी का खाय ।
कबहुक धनी निवाजिहै, जो दर छाँड़ि न जाय ॥१७॥

गुरो ! आपकी शरणमें कुछ कमी नहीं है किन्तु चाकरीमें चूक है तो चाकर आनन्द कैसे पायगा ॥ फिर भी यदि धक्का मुक्का खाकर आपके चरणोंमें पड़ा रहे और कहीं न जाय तो दयालो ! कभी न कभी आपकी दयादृष्टि अवश्य होगी ॥१६-१७॥

आश करै वैकुंठ की, दुरमति तीनों काल ।
शुक्र कही बलि ना करी, ताते गयो पताल ॥ १८ ॥

जो अज्ञानी मनमती गुरु-आज्ञाके विरुद्ध वैकुण्ठकी आशा करता है। उसे इस प्रकार अधोगतिको जाना पड़ेगा जिस प्रकार शुक्राचार्यके मने करने पर सर्वस्व दानी बलि राजाको पातालमें जाना पड़ा ॥ १८ ॥

गुरु आज्ञा मानै नहीं, चलै अटपटी चाल ।
लोक वेद दोनौं गये, आगे शिर पर काल ॥१९॥

गुरु-आज्ञाके विरुद्ध मनमाना करनेवाला स्वार्थ परमार्थ दोनों ओरसे विमुख हो कालके मुखमें चला जाता है ॥ १९ ॥

भुक्ति मुक्ति माँगौं नहीं, भक्ति दान दे मोहि ।
और कोइ जाँचौं नहीं, निशदिन जाँचौं तोहि ॥२०॥
भोग मोक्ष माँगौं नहीं, भक्ति दान गुरुदेव ।
और नहीं कुछ चाहिये, निश दिन तेरी सेव ॥२१॥

सद्गुरो! भोग मोक्षकी चाह नहीं केवल मुझे भक्ति प्रदान कीजिये। प्रतिदिन आपही के मिलनेकी चाह बनी रहे। गुरुदेव! भक्ति भी वही चाहिये, जिससे अहोरात्र आपहीकी सेवकाई हो।

यह मन ताको दीजिये, साँचा सेवक होय।
शिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा होय ॥२२॥

सद्गुरो! यह भक्ति उपदेश उस सच्चे सेवकको दीजिये जो शिर पर आराका घाव सहै, फिर भी दूसरा भाव न होनेदे।

अन राते सुख सोवना, राते निंद न आय।
ज्यौं जल छूटी माछरी, तलफत रैन बिहाय ॥२३॥

जो आत्म प्रेमी नहीं हैं उसे मोह निशामें सोना अच्छा लगता है किन्तु 'तस्यां जागरति संयमी' के अनुसार आत्म-प्रेमीको उसमें निद्रा कहाँ? उन्हें तो जल वियोगी- मच्छलीकी तरह तड़फड़ातेही यह रात्रि बीतती है ॥ २३ ॥

राता राता सब कहै, अनराता नहिं कोय।
राता सोई जानिये, जा तन रक्त न होय ॥२४॥
राता रक्त न नीकसे, जो तन चीरै कोय।
जो राता गुरु नाम सौं, ता तन रक्त न होय ॥२५॥

सबही प्रेम और प्रेमीकी बातें करते हैं किन्तु प्रेम मगन वही हो सकता है जिसे और लगन न हो। जो सद्गुरु ज्ञानमें अनुरक्त है उसके शरीरमें कुछ भी रक्त नहीं, चाहे कोई चीर देखे ॥ २४ ॥ २५ ॥

शीलवंत सुर ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावान् अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ॥२६॥

दयावंत धरमक ध्वजा, धीरजवान प्रमान।
सन्तोषी सुख दायका, सेवक परम सुजान॥२७॥

सद्गुरु-प्रेमी शीलवान्, प्रतिज्ञावान्, ज्ञानवान् तथा अति उदार हृदय और विशेषकर संकोची निश्छली तथा मृदुचित्त होते हैं॥ दया, धैर्य, सन्तोष आदि सद्गुण युत सेवक मानो धर्मके पताका रूप हैं॥ २६॥ २७॥

ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहूँ सो हेत।
सत्यवान परमारथी, आदर भाव सहेत २८
षद् दरशन को प्रेम करि, असन बसन सों पोष।
सेव करै हरिजनन की, हरषित परम संतोष २६

ज्ञानी होते पर अभिमानी नहीं, कुसंगियोंसे दूर रहते किन्तु प्रेम सबसे रखते, सत्य प्रतिज्ञ, परमार्थी प्रेम भावसे सबको आदर करनेवाले॥ प्रेम पूर्वक योगी जंगमादि षड् दर्शनोंको भोजन आच्छादनसे तुष्ट करते, परम सन्तोष और प्रसन्नतासे हरिजनोंकी सेवा करते हैं॥ २८॥ २६॥

यह सब लच्छन चित धरै, अप लच्छन सब त्याग।
सावधान सम ध्यान है, गुरु चरनन में-लाग ३०
गुरु मुख गुरु चितवत रहै, जैसे मणी भुवंग।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, यह गुरुमुख को अंग ३१

ऊपर बताये हुए लक्षणोंको धारण करे और ईर्षा द्वेषादि दुर्गुणोंको त्याग दे। सदैव एकाग्र चित्तसे सद्गुरु चरणोंमें ध्यान रक्खे॥ जिस प्रकार सर्प मणिका ध्यान रखता है इसी प्रकार गुरमुखी सेवक गुरमें लव लगाय रहे। कभी भूले नहीं यही गुरुमुख-शिष्यका लक्षण है॥ ३०॥ ३१॥

गुरुमुख गुरु चितवत रहै, जैसे शाह दिवान ।
और कभी नहिं देखता, है वाही को ध्यान ॥३२॥
गुरुमुख गुरु आज्ञा चलै, छाँड़ि देइ सब काम ।
कहैं कबिर गुरुदेव को, तुरत करै परणाम ॥३३॥

जिस प्रकार दिवान बादशाहको ओर देखता रहता है, इसी प्रकार गुरुमुख सेवक और कहीं कभी न देखकर सदा गुरुकेही ध्यानमें रहते हैं ॥ सेवकको यही उचित है कि गुरु आज्ञानुसार चले और यदि गुरु संमुख हो तो सब काम छोड़-कर शीघ्र प्रणाम करे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

उलटे सुलटे बचन के, शीप न मानै दूख ।
कहै कबिर संसार में, सो कहिये गुरु मूख ३४
सुरति सुहागिन सोइ सहि, जो गुरु आज्ञा माँहि ।
गुरु आज्ञा जो मेटहीं, तासु कुशल है नाँहि ३५

दयालु गुरु शिष्य-सुधारके लिये कदाचित् नरम गरम बचन कहैं तो जो उसे दुख न मानकर सहन करता है वही संसारमें सेवक कहलाता है ॥ शिष्यकी मनोवृत्ति वही सोभाग्यवती है जो गुरु-आज्ञामें है । गुरु-आज्ञा विरुद्ध चलनेवालोंको कहीं भी कुशल नहीं होता ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

गुरु आज्ञा लै आवही, गुरु आज्ञा लै जाय ।
कहैं कबिर सो सन्त प्रिय, बहुबिधि अमृत पाय ॥३६॥
कहैं कबिर गुरु प्रेम बस, क्या नियरै क्या दूर ।
जाका चित्त जासों बसै, सो तिहि सदा हजूर ॥३७॥

गुरु-आज्ञानुसार चलनेवाला सेवक सन्तका प्रिय और सब प्रकार मोक्षका अधिकारी होता है ॥ प्रेमीको दूर, निकट कोई नहीं, जिससे जिसका चित्त मिला है वह उसके पास है ॥

कबीर गुरु औ साधु कूँ, शीष नवावै जाय ।
कहैं कबिर सो सेवका, महा परम पद पाय ॥३८॥

जो सेवक सन्त, गुरुके कदमोंमें शीष झुकाता है वही परम पद पाता है ॥ ३८ ॥

इति श्री सेवकको अङ्ग ॥ १० ॥

अथ दासातनको अंग ॥११॥

गुरु समरथ शिर पर खड़े, कहा कमि तोहि दास।
रिद्धि सिद्धि सेवा करै, मुक्ति न छाड़े पास ॥१॥

हे गुरु-भक्तो! तुझे क्या कमी है! जब कि तेरे शिर मुकुट समर्थ गुरु बने हैं। समृद्धि और सफलता सेवा में और मुक्ति तो तेरे पासही है ॥ १ ॥

दुख सुख शिर ऊपर सहै, कबहुँ न छाड़ै संग।
रंग न लागै और का, व्यापै सतगुरु रंग ॥२॥

सुख दुख सहते रहो सद्गुरुका संग कभी न छोड़ो। सद्गुरुके ज्ञान रंगमें एसे रंग जावो कि दूसरे रंगको गुंजाइश न हो ॥ २ ॥

धूम घाम सहता रहै, कबहु न छाड़ै संग।
पाहा बिन लागे नहीं, कपड़ा के बहु रंग ॥३॥

धूम धड़का सहते रहो, सद्गुरुका साथ मत छोड़ो। क्योंकि बिना भट्ठी चढ़ाये कपड़े पर सुन्दर रंग नहीं चढ़ता ॥ ३ ॥

कबीर गुरु सबको चहै, गुरु को चहै न कोय।
जब लग आश शरीर की, तब लग दास न होय ॥४॥
कबीर गुरु के भावते, दूरहि ते दीसन्त।
तन छीना मन अनमना, जग ते रूठि फिरन्त ॥५॥

सद्गुरु सबको चाहते हैं परन्तु शरीर सुखाभ्यासी उन्हें

कोई नहीं चाहता॥ सद्गुरु सत्संगी तो दूरहीसे दीख जाते हैं। क्योंकि उनका तन क्षीण, और मन संसारसे उदासीन रहता है॥४॥५॥

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोय।
कै जागै विषया भरा, दास बन्दगी जोय॥६॥

एक संसारका मालिक जागता है दूसरा कोई नहीं। और जो दो जने जागते हैं उनमेंसे एक विषय भोगी और दूसरे विषय वियोगी हैं॥६॥

कबीर पाँचौ बलधिया, ऊजड़ ऊजड़ जाँहि।
बलिहारी वा दास की, पकड़ि जु राखै बाँहि॥७॥
काजर केरी कोठरी, ऐसो यह संसार।
बलिहारी वा दास की, पैठी निकसन हार॥८॥

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषयमें दौड़ा करती हैं उस दासको धन्यवाद है जो पकड़कर पासमें रखता है। बलिहारी उस पुरुषकी जो संसार रूपी कज्जलकी कोठरीमें पैठकर बेदाग निकल आता है॥७॥८॥

निरबंधन बँधा रहै, बँधा निरबँध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय॥९॥

विरक्त वेष आदिका भी अहन्ता ममता करना बन्धन रूप है। किसी भी वेषमें रहके अविद्या प्रयुक्त मेरी तेरी राग द्वेषसे रहित निर्बन्ध हो सकता है। किन्तु जो शुभदानादि कर्म करके भी कर्त्तापनाका अहकार नहीं लाता वही दास कहलाता है॥९॥

दासातन हिरदै नहीं, नाम धरावै दास।
पानी के पिये बिना, कैसे मिटै पियास॥१०॥

दासत्व भावमें तो उतरते नहीं केवल दासका नाम धराते हैं तो कहो भला ! पानी पिये विना प्यास कैसे मिटेगी ? हर्गिज नहीं ॥ १० ॥

दासातन हिरदै बसै, साधुन सों आधीन ।
कहैं कबिर सो दास है, प्रेम भक्ति लौ लीन ॥११॥

जो हृदयमें दीनता गरीवी धारणकर सन्तोंके अधीन प्रेम भक्तिमें तल्लीन रहता है वही सव दासोंमें दास और प्रवीण है ॥ ११ ॥

नाम धराया दास का, मन में नाहीं दीन ।
कहैं कबिर सो श्वान गति, औरहि के लौलीन ॥१२॥

जो दासका नाम धराया और प्रेम भक्ति हृदयमें नहीं लाया वस ! वह धोवीका कुत्ता, घरका भया न घाटका ॥ १२ ॥

नाम धरावै दास को, दासातन में लीन ।
कहैं कबिर लौलीन बिन, श्वान बुद्धि कहि दीन ॥१३॥

सेवकको उचित है कि सेवकाई में लीन रहे । विना प्रेमका ज्ञान तो श्वान-बुद्धि समान है ॥ १३ ॥

स्वामी होना सोहरा, दुहरा होना दास ।
गाड़र आनी ऊन को, बाँधी चरै कपास ॥१४॥

गुरु वन जाना तो वॉया हाथका खेल है, मुश्किल तो होना दास है । क्योंकि गुरु-वृत्तिसे विपरीत दासत्व वृत्तिमें दीनता गरीवीकी आवश्यकता है । परन्तु जो दास भावमें उतरे विना ही गुरु पद पर चढ़ते हैं । उन्हें फायदाके वदले नुकसान इस प्रकार उठाना पड़ता है जिस प्रकार कपास चर जाने पर ऊनके लिये लाई हुई भेड़से कपास कृषकको पश्चाताप करना पड़ता है।

दास दुखी तो हरि दुखी, आदि अन्त तिहुँ काल।
पलक एक में प्रगट है, छिन में करूँ निहाल ॥१५॥

स्वामी सेवक का एक दिल होनेसे दासके दुखी होने पर प्रभु सदा दुखी रहते हैं। क्षण मात्रमें प्रगट होके दासका दुःख दूरकर सुखी कर देते हैं ॥ १५ ॥

कबीर कुल सो ही भला, जा कुल उपजै दास।
जा कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥१६॥

वही कुल कुलीन है जिस कुलमें दास प्रगट होता है। 'निर्गन्धा इव किंशुका' के समान वह खानदान व्यर्थ है जिसमें दासका जन्म नहीं ॥ १६ ॥

भली भई जो भय मिटा, टूटी कुल की लाज।
बेपरवाही है रहा, बैठा नाम जहाज ॥१७॥

बहुत अच्छा हुआ कुल कानिका भय मिट गया और सद्गुरु ज्ञान जहाज़ पर बैठने से निर्भय, निःशंक भी हो गया ॥ १७ ॥

कबिर भये हैं केतकी, भँवर भये सब दास।
जहँ जहँ भक्ति कबीर की, तहँ तहँ मुक्ति निवास॥१८॥

सद्गुरु कबीर केतकी पुष्प और दास सब भ्रमर हैं। जहाँ जहाँ गुरुकी भक्ति है तहाँ तहाँ मुक्तिका निवास है ॥ १८ ॥

दास कहावन कठिन हैं, मैं दासन का दास।
अब तो ऐसा है रहूँ, पाँव तले की घास ॥१९॥

दासका कहाना मुश्किल है किन्तु मुझे तो दासोंके दासमें आनन्द है अब तो ऐसा चाहता हूँ कि हरिजनोंके पाँव तलेकी घास बन जाऊँ ॥ १९ ॥

काहूँ को न सँतापिये, जो शिर हंता सोय।
फिर फिर वाकूँ बन्दिये, दास लच्छ है सोय॥२०॥

ऐ गुरु भक्तो! जिसके शिर वर्णाश्रमादिका मिथ्या अहंकार सवार है उसे मत सतावो वह अपने आपमें नहीं है। दासका लक्षण यह है कि उसको पुनः पुनः स्तुति करो, शायद जो उठे॥

लगा रहै सतज्ञान सों, सबही बन्धन तोड़।
कहैं कबिर वा दास सों, काल रहै हथ जोड़॥२१॥

जो वर्णाश्रमकी बेड़ी तोड़कर केवल गुरु ज्ञानमें लीन रहता है उसके सामने काल (मृत्यु) भी हाथ जोड़ता है॥ २१॥

दास कहावन कठिन हैं, जब लग दूजी आन।
हाँसी साहिब जो मिले, कौन सहै खुरसान॥२२॥

जब तक दूसरी मर्यादामें पड़ा है तबतक दास होना मुश्किल है। यदि हँसी खेलमें प्रभु मिले तो विवेकादिको खुराफ़ात कौन सहे?॥ २२॥

डग डग पै जो डर करै, नित सुमिरै गुरुदेव।
कहैं कबिर वा दास की, साहिब मानै सेव॥२३॥

जो सदा दुष्कर्मोंसे डरता और सद्गुरुका स्मरण करता है। उसीकी सेवा साहिब क़बूल करता है॥ २३॥

निहकामी निरमल दशा, नित चरणोंकी आश।
तीरथ इच्छा ता करै, कब आवै वे दास॥२४॥

वही दास निर्मल है जिसमें सद्गुरु चरणोंको आशाके अतिरिक्त दूसरी कामना नहीं है, अपनी महिमा रक्षाके लिये तीर्थवासी भी ऐसे दासोंके आगमनकी अभिलाषा करते हैं॥२४॥

इति श्रीदासातनको अङ्ग॥ १२॥

अथ भक्तिको अंग ॥१२॥

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट करी कबीर ने, सात दीप नवखंड ॥१॥

पहिले पहल सद्गुरुको भक्ति द्रविड़ देश निवासी श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराजके हृदयमें उत्पन्न हुई और इन्होंने उसे अच्छी तरह हृदयसे लगाया। किन्तु उसे सात द्वीप नव खण्डों तथा श्रीस्वामीजीके हृदयमें प्रगटकर्ता सद्गुरु कबीरही हैं ॥१॥

भक्ति भाव भादौं नदी, सबहि चली घहराय।
सरिता सोई सराहिये, जेठ मास ठहराय ॥२॥

भादोंमें तो सबही नदियाँ उमड़ चलती हैं किन्तु प्रशंसनीय सरिता तो वही है जो जेठमें ठहरती है। इसी प्रकार भक्त वही है जिसकी भक्ति विपत्तिमें दृढ़ रहती है ॥ २ ॥

---

१ स्वामी रामानन्द ये १४वीं सदीके अन्त और १५वीं सदीके प्रारम्भमें रामानुजाचार्य्यके सम्प्रदायमें पाँचवें आचार्य्यमें हुये थे। ऐसा कहा जाता है, दक्षिणके वैष्णव लोगोंने इनका अपमान किया, तिससे स्वामी रामानन्दने वहाँसे चलके काशीमें पंचगंगा पर मठ स्थापन किया। इन्होंने भी रामानुजाचार्य्यकी तरह भक्ति मार्गका उपदेश किया। परन्तु रामानुजाचार्य्यने विष्णु, वासुदेव, पुरुषोत्तम, नारायण, परतात्माके इन नामोंके जो उपदेश किया था। तिसके बदले स्वामी रामानन्दजीने केवल एक रामनाम ही की महिमाका प्रचार किया। और इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य्यने जो जाति पंक्ति का भेद माना था तिसको इन्होंने त्याग दिया और प्रभु भक्तिमें सर्व वर्णको बराबर अधिकार बताया।

भक्ति प्रन सों होत है, मन दे कीजै भाव।
परमारथ परतीति में, यह तन जाये जाव ॥३॥
भक्ति बीज विनसै नहीं, आय पड़ै जो झोल।
कंचन जो विष्टा पड़ै, घटै न ताको मोल ॥४॥

भक्ति प्रतिज्ञासे होती है, परमार्थके लिये तन मन सबही अर्पण कर देना चाहिये॥ कोई भी अड़चन भले आन पड़ो भक्ति-बीज नाश नहीं होता। जैसे विष्टामें पड़ जाने पर भी कंचनकी कीमत नहीं घटती ॥ ३ ॥ ४ ॥

भक्ति बीज पलटै नहीं, जो जुग जाय अनंत।
ऊँच नीच घर औतरे, होय सन्त का सन्त ॥५॥

कल्पान्तोंमें भी भक्तिकी वासना नहीं बदलती, चाहे किसी भी खानदानमें उत्पन्न हो पुनः सन्त होकर वह वासना बलसे अभ्यास वैराग्यमें लग जाता है ॥ ५ ॥

भक्ति कठिन अति दुर्लभ, भेष सुगम नित सोय।
भक्ति जु न्यारी भेष से, यह जानै सब कोय ॥६॥
भक्ति भेष बहु अन्तरा, जैसे धरनि अकास।
भक्त लीन गुरु चरण में, भेष जगत की आस ॥७॥

भक्ति अति दुष्कर और दुर्लभ है, इससे वेष बनाना सदा सीधा है। भेष-भक्ति की जुदाई सब कोई जानता है। भेष और भक्ति में जमीन आसमान का फ़र्क़ है। भक्त सद्गुरु के चरणोंमें लीन रहता और भेषधारी जगत की आशा में डोलता है।६-७॥

भक्ति रूप भगवन्त का, भेष आदि कछु और।
भक्ति रूप भगवन्त है, भेष जु मन की दौर ॥८॥

भक्ति पदारथ तब मिलै, जब गुरु होय सहाय।
प्रेम प्रीति की भक्ति जो, पूरण भाग मिलाय॥९॥

भक्ति भगवान् का स्वरूप है और भगवान् भक्तके। और भेष तो औरही कुछ मनकी तरङ्ग है। प्रेम प्रीति की भक्ति एक ऐसी अनूठी वस्तु है कि सद्गुरु की सहायतासेही मिलती है वह भी पूर्ण भाग्यशाली को॥ ८॥ ९॥

भक्ति दुहीली गुरुन की, नहिं कायर का काम।
शीष उतारै हाथ सों, ताहि मिलै निज धाम॥१०॥
भक्ति दुहीली राम की, नहिं कायर का काम।
निस्नेही निरधार को, आठ पहर संग्राम॥११॥

सद्गुरुकी भक्ति कठिन है यहाँ 'काया सींचनहार' कायरों का काम नहीं। यहाँ तो स्वधाम प्राप्ति के लिये अपने हाथों से धड़से शिर उतार कर अर्पण करना पड़ता है। और निराश व निरालम्ब हो काम क्रोधादि रूप शत्रुओं से आठों पहर युद्ध करना होता है।

भक्ति दुहीली राम की, जस खाँडे की धार।
जो डोलै सो कटि पड़ै, निहचल उतरै पार॥१२॥
भक्ति जु सीढ़ी मुक्ति की, चढ़ै भक्त हरषाय।
और न कोई चढ़ि सकै, निज मन समझो आय॥१३॥

राम-भक्ति मार्ग पर चलना मानो तलवार की धार पर चढ़ना है, ज़रासा इधर उधर हुआ कि पारके बदले भवधार गया। इसका हानि लाभ तो भक्त जनही अपने मनमे समझ कर प्रसन्न चित्तसे मुक्ति को भक्ति रूपी सीढ़ी पर चढ़ते हैं। और कोई नहीं॥ १२॥ १३॥

भक्ति निसैनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनमजनम पछिताय॥
भक्ति बिना नहिं निसतरै, लाख करै जो कोय।
शब्द सनेही है रहै, घर को पहुँचै सोय॥

भक्ति मुक्ति का सोपान है। उस पर चढ़ाई सन्तोंको होती है। आलसी बैठे २ जन्म २ पछताता है। चाहे कोई लाखों उपाय करे। भक्ति बिना मुक्ति नहीं। जो सार शब्द स्नेही होगा वही निज घरको पहुँचेगा ॥ १४ ॥ १५ ॥

भक्ति दुवारा साँकरा, राई दसवें भाय।
मन तो मैंगल है रहा, कैसे आवै जाय ॥१६॥
भक्ति दुवारा मोकला, सुमिरी सुमिरि समाय।
मन को तो मैदा किया, निरभय आवै जाय ॥१७॥

भक्ति का द्वार बहुत सकेत राई के दशवें भाग है और मन मदमस्त हस्ती बना है, कहो ! कैसे आना जाना होगा ? सुनो, जिसने सद्गुरु नाम स्मरण में मनको चूर्ण बना रक्खा है वह उस द्वारसे निर्भय जाता आता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

भक्ति सोइ जो भाव सों, इक मन चित को राख।
साँच शील सों खेलिये, मैं तैं दोऊ नाख ॥१८॥
भक्ति गेंद चौगान की, भावै कोइ ले जाय।
कहैं कबिर कछु भेद नहीं, कहा रंक कहँ राय ॥१९॥

भक्ति वही है जो प्रेम पूर्वक एकाग्र चित्तसे कीजाती है। और मेरी तेरी रहित शील सहित सत्यसे व्यवहार होता है॥ मैदानके गेंदकी तरह भक्तिमें भेदभाव नहीं है, राजा चाहे रंक कोई भी ले सकता है ॥ १८ ॥ १९ ॥

भक्ति सरव ही ऊपरै, भागिन पावै सोय।
कहै पुकारै सन्त जन, सत सुमिरल सब कोय ॥२०॥
भक्ति बनाये ना बनै, भेष बनाये होय।
भक्ति भेष बहु अन्तरा, जानै विरला कोय ॥२१॥

भक्तिपद सबसे ऊँचा है, इसे भाग्यशाली पाता है, अतः चिन्तनके लिये सन्तजन सबसे पुकार पुकार कह रहे हैं॥ वेषकी तरह भक्ति बनावटी नहीं चलती भेष भक्तिका अन्तर विरला कोई समझता है ॥ २० ॥ २१ ॥

कबीर गुरु की भक्ति करु, तज विषया रस चौंज।
बार बार नहिं पाइये, मनुष जनम की मौज॥२२॥
कबीर गुरुकी भक्ति बिन, धिक् जीवन संसार।
धूँवा का सा धौरहरा, विनसत लगे न बार ॥२३॥

ऐ नरजीवो! सद्गुरुकी भक्ति करो विषय रसकी चाट छोड़ो। नर जन्मका आनन्द बार बार नहीं मिलता॥ सद्गुरुकी भक्ति विना जगमें जीवन धिक्कार है। इसे धुँयेकी ऊँची लाटके सदृश नाश होते देरी नहीं लगती ॥ २२ ॥ २३ ॥

कबीर गुरु की भक्ति का, मन में बहुत हुलास।
मन मनसा माँजै नहीं, होन चहत है दास ॥२४॥
कबीर गुरु की भक्ति से, संशै डारा धोय।
भक्ति विना जो दिन गया, सो दिन सालै मोय ॥२५॥

यदि मनमें सद्गुरु-भक्तिकी अभिलाषा अधिक है तो बहुत अच्छा किन्तु मन-दर्पणको शुद्ध किये विना केवल दास होनेकी चाहना व्यर्थ है॥ ऐ मनुष्यो! सद्गुरु-भक्ति जलसे दिल दर्पणके

संशय मलको धो डालो, उस दिनके लिये मुझे पश्चाताप है जो दिन भक्ति बिन योंही गुज़र गया ॥ २४ ॥ २५ ॥

जब लग नाता जाति का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़ै गुरु भज, भक्त कहावै सोय ॥२६
छिमा खेत भल जोतिये, सुमिरन बीज जमाय।
खंड ब्रह्मंड सूखा पड़े, भक्ति बीज नहिं जाय॥२७

"जाति पाँतिके भर्म भुलाने, सो नर काल अधीना। निज स्वरूप परख्यो नहीं मूरख, ताते दुविधा कीना॥ सन्तो! सन्त विलग किन कीन्हा?॥ इसलिये भक्त वही है जो वर्णाश्रम भ्रमसे पृथक है॥ चाहे खण्ड, ब्रह्माण्ड भले सूखा पड़ जावो किन्तु क्षमा रूप खेतमें बोया हुआ भक्ति बीज निष्फल नहीं होता॥ २६ ॥ २७ ॥

जल ज्यौं प्यारा माछरी, लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका, भक्ति प्यारी राम ॥२८॥
प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दंभ विचार।
उदर भरन के कारनै, जनम गँवायो सार ॥२९॥

मीनको जल, लोभीको धन और माताको पुत्र जिस प्रकार प्रिय है इसी प्रकार प्रभुको भक्तकी भक्ति प्रिय है॥ किन्तु प्रेम विनाकी भक्ति पाखण्ड है। पेट पोषणके लिये व्यर्थमें पाखण्डी लोग नर जन्म गमाय व गमाते हैं॥ २८ ॥ २९ ॥

भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम प्रीति का भक्त।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्त भर्यो सब जक्त॥३०॥

जहाँ भक्ति तहँ भेष नहिं, बरणाश्रम तहाँ नाँहिं।
नाम भक्ति जो प्रेम सों, सो दुरलभ जग माँहिं॥३१॥

प्रेमी भक्त और प्रीति युत भक्ति पूर्ण भाग्य बिना प्राप्त नहीं होता। यों तो प्रेम प्रीति बिनाके भक्त जगत्में भरे पड़े हैं॥ भक्तिमें वेष और वर्णाश्रमकी आवश्यकता नहीं होती। यथार्थ जो प्रेम भक्ति है वह संसारमें दुर्लभ है॥ ३०॥ ३१॥

भाव बिना नहिं भक्ति जग, भक्ति बिना नहिं भाव।
भक्ति भाव इक रूप है, दोऊ एक सुभाव॥३२॥
गुरु भक्ती अति कठिन है, ज्यों खाँडे की धार।
बिना साँच पहुँचै नहीं, महा कठिन व्यवहार॥३३॥

भाव और भक्तिको परस्पर अन्योऽन्याश्रय है, दोनोंका स्वभाव और स्वरूप एक है॥ सद्गुरुकी भक्ति अति दुर्गम तलवारकी धारके समान है। भक्ति व्यापारमें साँच बिना कोई भी नफा नहीं उठा सकता॥ ३२॥ ३३॥

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ शूरमा, जाति बरन कुल खोय॥३४॥
जाति बरनकुल खोयके, भक्ति करै चितलाय।
कहैं कबिर सतगुरु मिलै, आवागवन नशाय॥३५॥

कामी, क्रोधी और लोभी इनसे भक्ति नहीं हो सकती, भक्ति करना उस शूराका काम है जिसके धड़पर लोक लाज रूप शिर नहीं है। वही वर्णादि उलझन से रहित एकाग्रचित्त से भक्ति करता है और सद्गुरु स्वरूप में मिलकर आवागमन से रहित होता है॥ ३४॥ ३५॥

जब लग भक्ति सकाम है, तबलग निष्फल सेव।
कहैं कबिर वह क्यौं मिलै, निहकामी निज देव३६॥
जान भक्त का नित मरण, अन जाने का राज।
सर औसर समझै नहीं, पेट भरन सों काज३७॥

कामना युक्त भक्ति निष्फल है, क्योंकि निजात्म देवका दर्शन निष्काम से होता है। प्रसिद्ध भक्तोंकी भक्ति में प्रति दिन की यही भारी कठिनाइयाँ हैं कि आये गये सन्त महात्माओं के यथा योग्य सेवा सत्कार का मौका सँभालना पड़ता है। और समय-ज्ञान शून्य के लिये तो कहनाही क्या है? उन्हें तो पेट पूरण से काम है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

मन की मनसा मिटि गई, दुरमति भइ सब दूर।
जन मन प्यारा राम का, नगर बसै भरपूर ॥३८॥

जब मनकी तृष्णायें मिट जाती औ सद्गुरु ज्ञान से दुर्बुद्धि सब नष्ट हो जाती है तब भक्त जन का मन रामका प्रिय और नगर (हृदय) सन्तुष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

मेवासा मोहै किया, दुरिजन काढ़े दूर।
राज पियारे राम का, नगर बसै भरपूर ॥३९॥

जिसने मोह ममता को जीता और पापों को हृदय से दूर किया। बस वह राम का प्रेमी और उसका नगर माला माल हुआ।

आरत ह्वै गुरु भक्ति करु, सब कारज सिध होय।
करम जाल भौजाल में, भक्त फसै नहिं कोय४०।
आरत सों गुरु भक्ति करु, सब सिध कारज होय।
कृपा मांग्या राछ है, सदा न फबसी कोय४१।

आर्त्त, जिज्ञासा और अर्थार्थी ये तीन भावसे भक्तजन सद्गुरु

की भक्ति करते हैं। तिसमें संसार से सन्तप्त होकर आर्तस्वरसे सद्गुरु की भक्ति करने वाले भक्त संसार के कर्म जाल में नहीं फँसते और उनका सर्व कार्य सिद्ध हो जाता है। इसलिये ऐ भक्तो! आर्त्तनादसे सद्गुरुकी पुकार करो, तेरा सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जायगा ध्यान रक्खो! दूसरेसे माँगा हुआ यह शरीर रूप चमड़ेका भाण्ड सदा किसीको भी सुशोभित नहीं करता ॥४०-४१॥

सब सों कहूँ पुकारि कै, क्या पंडित क्या सेख।
भक्ति ठानि शब्दै गहै, बहुरि न काछै भेष ॥४२॥
देखा देखी भक्ति का, कबहु न चढ़सी रंग।
विपत्ति पड़े यौं छाँड़सी, केचुली तजत भुजंग ॥४३॥

मैं सबसे पुकार कर कहे देता हूँ, चाहे पण्डित हो या काजी, जो सद्गुरुका सार शब्द ग्रहण कर भक्तिसे लगन लगायगा वह पुनः संसार नाटकका भाँड़ नहीं कहायगा यानी मुक्त हो जायगा॥ किन्तु देखा देखी भक्तिका रंग कभी न जमता क्योंकि विघ्न आने पर जिस प्रकार सर्प केंचुलीको त्यागता है इसी प्रकार वह भक्तिको छोड़ देगा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

तोटै में भक्ति करै, ताका नाम सपूत।
मायाधारी मसखरै, केते गये अऊत ॥४४॥

वही पूर्ण भक्त है जो आपत्तिमें भक्ति करता है, यों तो मायासाज और दिल्लगीबाज बहुतेरे निर्वंश हो गये ॥ ४४ ॥

ज्ञान संपूरण ना भिदा, हिरदा नाँहिं जुड़ाय।
देखा देखी भक्ति का, रंग नहीं ठहराय ॥४५॥
खेत बिगार्यो खरतुआ, सभा बिगारी कूर।
भक्ति बिगारी लालची, ज्यौं केसर में धूर ॥४६॥

पूर्ण ज्ञान विना हृदयमें शान्ति नहीं आती और देखा देखी-को भक्ति भी स्थायी नहीं होती। जिस प्रकार खरतुआ (तृण विशेष) खेतीको, दुष्टजन सभाको और धूल केसरको नष्ट कर देती है इसी प्रकार "कबिरन भक्ति बिगारिया" लोभियोंने सद्गुरु-भक्तिको नाश कर दिया ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

तिमिर गया रवि देखते, कुमति गई गुरुज्ञान।
सुमति गई अति लोभसे, भक्ति गई अभिमान ॥४७॥
निर्पक्षी की भक्ति है, निर्मोही को ज्ञान।
निरद्वंदी की मुक्ति है, निर्लोभी निरबान ॥४८॥

जिस प्रकार सूर्यसे अन्धकार, कुबुद्धिसे गुरु-ज्ञान और लोभ से सुबुद्धि नहीं रहती इसी प्रकार वर्णादिके मिथ्या अभिमानसे सद्गुरुकी भक्ति भी नहीं ठहरती ॥ 'निर्पक्ष ह्वैके हरि भजे' के अनुसार भक्ति पक्षपात रहितसे होती है, और निर्मोहीको स्वरूप ज्ञान एवं राग, द्वेषादि द्वन्द्व से रहित मोक्ष और निर्लोभी निर्बन्ध पदको पाता है ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

विषय त्याग वैराग है, समता कहिये ज्ञान।
सुखदाई सब जीव सों, यही भक्ति परमान ॥४९॥

उभय लोक-भोगके त्यागका नाम वैराग्य और सम दृष्टिका नाम ज्ञान है। 'निर्वैरी वर्त्ते जग माही। मन वच कर्म घात कोउ नाहीं ॥' बस! इसीका नाम भक्ति है ॥ ४९ ॥

जब लगि आशा देह की, तब लगि भक्ति न होय।
आशा त्यागी हरि भजै, भक्त कहावै सोय ॥५०॥

चार चिन्ह हरि भक्तिके, प्रगट दिखाई देत।
दया धर्म आधीनता, पर दुख को हरि लेत ॥५१॥

शरीर सम्बन्धी आसक्तियालोंसे भक्ति नहीं हो सकती भक्ति निराश पद है। प्रभुके भक्तोंको चार लक्षण प्रत्यक्ष रहता है। दया, धर्म्म, नम्रता औ परोपकारिता ॥ ५० ॥ ५१ ॥

और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निहकर्म।
कहैं कबीर पुकारि के, भक्ति करो तजि भर्म॥५२॥
भक्ति भक्ति सबकोइ कहै, भक्ति न आई काज।
जिहिको कियो भरोसवा, तिहि ते आई गाज ॥५३॥

कबीर गुरु पुकारकर कहते हैं कि और कर्मोंकी भाँति भक्ति कर्म ज्ञान जनक होनेसे बन्धनका हेतु नहीं होता अतः भ्रम त्यागकर सद्गुरु-सत्संग, भक्ति अवश्य करनी चाहिये। नाम मात्रकी भक्ति मोक्ष प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकती। आशा जनक भक्ति अन्त दुखदाई होती है ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

इन्द्र राज सुख भोग कर, फिर भौसागर माँहि।
यह सिरगुण की भक्ति है, निर्भय कबहूँ नाँहि॥५४॥

आशा जनक भक्ति गुरु विमुखोंकी है, जिससे इन्द्रादि पद पाने पर भी जन्मादि संसारसे निर्भय कदापि नहीं होते ॥५४॥

भक्त आप भगवान है, जानत नाहिं अयान।
शीष नवावै साधु कूँ, बूझि करै अभिमान॥५५॥

भक्त स्वयं भगवान स्वरूप है, परन्तु इस बातको गुरु सत्संग विमुख नहीं जानता। मिथ्या जाति अभिमानमें पड़ा रहता है, सन्तोंके नमस्कार करनेमें भी जाति पूछता है ॥ ५५ ॥

भक्ति महल बहु ऊँच है, दूरहि ते दरसाय।
जो कोइ जन भक्ति करै, शोभा बरनि न जाय ॥५६॥
भक्तन की यह रीति है, बँधे करै जो भाव।
परमारथ के कारनै, या तन रहो कि जाव ॥५७॥

भक्ति मन्दिर बहुत ऊँचा है, वह दूरहीसे दीखता है, भक्तों-की शोभा अकथनीय है। भक्तोंकी यही रीतिहै कि 'धन कुलका अभिमान त्यागिके, रहे अधीना रे। परमारथके हेत देत शिर, विलम्ब न कीना रे" भक्तजन परोपकारार्थ सदा शरीरको अर्पण किये रहते हैं ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

भक्ति भक्ति बहु कठिन है, रती न चाले खोट।
निराधार का खेल है, अधर धार की चोट ॥५८॥

भक्ति मार्ग पर चलना बड़ी कठिनइयाँ है इसमें असत्यताकी तो रति मात्र भी गुञायश नहीं है यहाँ बिलकुल निरालम्बका व्यवहार है। ज़रासामें रसातलका भोग भोगना पड़ता है ॥५८॥

भक्ति निसैनी मुक्ति की, संत चढ़े सब आय।
नीचै बाघिन लुकि रही, कुचल पड़े कूँ खाय ॥५९॥
भक्ति भक्ति सब कोइ कहै, भक्ति न जानै भेव।
पूरण भक्ति जब मिलै, कृपा करै गुरुदेव ॥६०॥

मुक्ति महलमें जानेकी सीढ़ी भक्ति है, इस पर सन्त लोग दृढ़तासे क़दम जमाके चढ़ जाते हैं। नीचे छिपी हुई मायारूपी बाघिनी गिरनेवालेको फाड़ खाती है॥ यों तो भक्तिका नाम सबही कोई जानते हैं किन्तु भक्तिका पूर्ण रहस्य तो तबही मिलता है जब सद्गुरु कृपा करते हैं ॥ ५९ ॥ ६० ॥

इति श्री भक्तिको अङ्ग ॥ १२ ॥

अथ सुमिरनको अंग ॥१३॥

नाम रतन धन पाय कर, गाँठी बाँध न खोल ।
नहिं पाटन नहिं पारखी, नहिं गाहक नहिं मोल॥१॥

'ज्ञान रतनकी कोठरी चुम्बक दीन्हों ताल' के अनुसार सद्गुरुके ज्ञान धन रत्नको प्राप्त कर दृढ़ गाँठी लगा लो, जिस नगरमें इसके कदरदाँ पारखी नहीं हैं वहाँ मत खो लो ॥ १ ॥

नाम रतन धन संत पहँ, खान खुली घट माँहि ।
सेंत मेंत ही देत हैं, गाहक कोई नाँहि ॥२॥

सन्तोंका हृदय ज्ञान रत्नकी खान है और मुफ्त देते हैं तो भी नहीं कोई लेते हैं ॥ २ ॥

नाम बिना बेकाम है, छप्पन भोग विलास ।
क्या इन्द्रासन बैठना, क्या बैकुंठ निवास ॥३॥
नाम रतन सो पाइहैं, ज्ञान दृष्टि जेहि होय ।
ज्ञान बिना नहिं पावई, कोटि करै जो कोय ॥४॥

चाहे इन्द्रासन या वैकुण्ठहीका भोग विलास क्यों न हो ? किन्तु ज्ञान बिना सब व्यर्थ है ॥ गुरु ज्ञान रत्न वही पाता है जिसे ज्ञान दृष्टि है, इसके विना उसके प्राप्त्यर्थ करोड़ों उपायें व्यर्थ हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

नाम जो रती एक है, पाप जु रती हजार ।
आध रती घट संचरै, जारि करै सब छार ॥५॥

एक रति ज्ञान और हज़ार रति पाप क्यों न हो किन्तु आधि रति भी यदि हृदयमें ज्ञान दृढ़ हो जाय तो सबको ज़ार कर क्षार कर देता है ॥ ५ ॥

राम जपत कुष्ठी भला, चुइ चुइ परै जु चाम।
कंचन देह किस काम को, जा मुख नाहीं राम ॥६॥

रामका चिन्तन करनेवाला गलित कुष्ठी उस सर्वाङ्ग सुन्दर शरीरवालेसे अच्छा है जिसके मुखसे रामका नाम उच्चारण नहीं होता ॥ ६ ॥

राम जपत कन्या भली, साकुट भला न पूत ।
छेरी के गल गल थना, जामें दूध न मूत ॥७॥

बकरीकी गलथनी वत् निरर्थक उस गुरु विमुख लड़केसे तो लड़की अच्छी, जो रामका नाम स्मरण करती है ॥ ७ ॥

राम जपत दरिद्री भला, टूटी घर की छान ।
कंचन मंदिर जारि दे, जहाँ न सतगुरु ज्ञान ॥८॥

सद्गुरुकी ज्ञान चर्चा विनाके सोनेका मन्दिरमें अग्नि लगा दो और उस दरिद्रीकी टूटी झोपड़ीमें रहो जहाँ रमैया रामका चिन्तन होता है ॥ ८ ॥

राम लिया जिन सब लिया, सब शास्त्रन को भेद ।
बिना राम नरके गये, पढ़ि गुनि चारों वेद ॥९॥

सब शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य जो राम है उसे जिसने जान लिया बस ! उसका काम हो गया । "राम बिना नर ! होइ हो कैसा । बाट माझ गोबरौरा जैसा" बिना राम तो चारो वेदोंका श्रवण मनन भी हराम है ॥ ९ ॥

नाम पियू का छोड़ि के, करै आन का जाप ।
वेस्या केरा पूत ज्यौं, कहै कौन को बाप ॥१०॥

अन्तर्यामी प्रभुका नाम छोड़कर जो अन्यका नाम जपता है। वह वेश्याके पुत्र वत् बिना आश्रयका होता है ॥ १० ॥

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह ।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह ॥११॥

रामका नाम पारसमणि है और मन मलिन लोहा रूप है। उसमें स्पर्श होते ही मन कंचन रूप बन जाता और अविद्या जन्य मोह बन्धन भी सब छुट जाते ॥ ११ ॥

कोटि नाम संसार में, ताते मुक्ति न होय ।
आदि नाम जो गुप्त जप, बिरला जाने कोय ॥१२॥

एक स्वरूप ज्ञान बिना संसारके अनेकों ज्ञानसे भी मुक्ति नहीं हो सकती। इसे बिरलाही कोई जानता है ॥ १२ ॥

राम नाम निज औषधि, कोटिक कटै विकार ।
विष बारी बिरकत रहै, काया कंचन सार ॥१३॥
यह औषधि अंगहीं लगि, अनेक उधरी देह ।
कोउ फेर कूपथ करे, नहिं तो औषधि येह ॥१४॥

निज स्वरूप रामका नाम रूप ओषधिसे करोड़ों व्याधियाँ मिट जाती हैं और शरीर उत्तम स्वर्णमय बन जाता यदि संसार बागसे सदा उदास रहे ॥ इस ओषधिके अङ्ग लगनेसे अनेकों शरीरका उद्धार हो गया। परम औषधि यही है, यदि पुनः कुपथ करके कोई भले रोगी बने ! ॥ १३ ॥ १४ ॥

राम नाम निज औषधि, सतगुरु दई बताय।
औषधि खाय रु पथ रहै, ताकी वेदन जाय ॥१५॥

उन्मादि रोग निवृति अर्थ सद्गुरुने रामनाम रूपी औषधि बतला दी है 'सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा। संयम यह न विषय कर आशा' बस। औषधि खाने पर भी उसीकी पीड़ा जाती है जो संयमसे रहता है ॥ १५ ॥

राम नाम विश्वास, करम भरम सब परिहरै।
सतगुरु पुरवै आस, जो निराश आशा करै ॥१६॥
राम नाम को सुमिरताँ, उधरे पतित अनेक।
कहैं कबिर नहिं छाँड़िये, राम नाम की टेक ॥१७॥

जो सब भ्रम कर्मोंको छोड़कर एक रामही नामका विश्वास रक्खे और निराश वर्तमानमें वर्ते तो सद्गुरु उसकी सम्पूर्ण आशाओंको पूर्ण कर देते हैं॥ क्योंकि रामनामके सुमिरनसे अनेकों पतितका उद्धार हुआ है इसलिये राम राम सुमिरन टेकको कभी न छोड़नी चाहिये ॥ १६ ॥ १७ ॥

राम नाम को सुमिरताँ, हँसि कर भावै खीझ।
उलटा सुलटा नीपजै, ज्यौं खेतन में बीज ॥१८॥
राम नाम जाना नहीं, लागी मोटी खोर।
काया हाँड़ी काठ की, ना वह चढ़ै बहोर ॥१९॥

भाव या कुभाव किसी भी हालतमें रामका स्मरण करो फल अवश्य होगा जैसे सुखेतमें बीज उलटा, सुलटा पड़ने पर भी जम जाता है ॥ कायाके अभिमानमें रामनाम भुलानेवालेकी बड़ी भूल हुई। क्योंकि यह काया हाँड़ी काठकी है दूसरी बार नहीं चढ़ती ॥ १८ ॥ १९ ॥

ॐकार निश्चै भया, सो कर्ता मति जान।
साँचा शब्द कबीर का, परदे माँहिं पिछान ॥२०॥

ॐकार निश्चय भया, सो कर्ता मत जान। लिखकर मेटे नाहि जब, सो है पद निर्वान ॥ ॐकार जो निश्चय हुआ है उसे सत्य कर्ता मत समझो, जो उसे लिखता और मिटा देता है उसीको पहिचानो, यही निर्बन्ध और सत्य पद है ॥ २० ॥

जो जन होइहैं जौहरि, रतन लेहिं बिलगाय।
सोहँगसोहँग जपि मुआ, मिथ्या जनम गँवाय ॥२१॥
सबहि रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय।
रंचक घट में संचरै, सब तन कंचन होय ॥२२॥

पारखी सन्त पत्थरसे रत्नको अलग कर लेते हैं। और सोऽहंग सोऽहंग जपनेवाले गँवार व्यर्थमें जन्म गमाँते हैं। हमने सबही रसायन (धातु शोधन) क्रियाको कर देखी, परन्तु नाम रसायनके समान कोई भी नहीं यदि वह रति मात्र भी घटमें प्रवेश करने पावे तो सारे शरीरको स्वर्ण बना देवे ॥

जबहि राम हिरदे धरा, भया पाप का नाश।
मानो चिनगी आग की, परी पुराने घास ॥२३॥

ज्योंही हृदय निवासी राममें वृत्ति लगाई त्योंही अघ समुदाई नाश होगई। मानो अग्निकी चिनगारी पुराने घास-गंज पर पड़ गई ॥ २३ ॥

कोई न जम से बाँचिया, राम बिना धरि खाय।
जो जन बिरही राम के, ताको देखि डराय ॥२४॥
पूँजि मेरी राम है, जाते सदा निहाल।
कबीर गरजे पुरुष बल, चोरी करै न काल ॥२५॥

रामाश्रय विना कालबलीसे कोई भी नहीं बचता किन्तु रामके विरहमें जो बेचैन है उसे देखकर काल भी डरता है ॥ मैं अपनी राम नाम पूँजीसेही सदा कृत कृत्य हूँ। रामाश्रय जिज्ञासु सदा मौजमें रहते हैं वहाँ कालकी दाल नहीं गलती ॥

कबीर हरिके नाम में, सुरति रहै करतार।
ता मुख से मोती झरे, हीरा अनँत अपार ॥२६॥
कबीर हरि के नाम में, बात चलावै और।
तिस अपराधी जीव को, तीन लोक कित ठौर ॥२७॥

प्रभुके नाममें जिसका लक्ष एक तारसे लगा रहता है उसके मुखसे शान्तिरूपी मोती और सन्तोष रूप अनन्त, अपार हीरा झरता रहता है ॥ प्रभुके नाममें जो अनमेल बात छेड़ता है उस अपराधी जीवको कहीं भी स्थान नहीं मिलता है ॥२६॥२७॥

कबीर सब जग निरधना, धनवन्ता नहिं कोय।
धनवंता सो (इ) जानिये, राम नाम धन होय ॥२८॥
साहेब नाम सँभारताँ, कोटि बिघन टरि जाय।
राई भार बसन्दरा, केता काठ जराय ॥२९॥

संसार सब निर्धन है, धनवान् कोई नहीं, धनवान् तो वही है जिसके पास रामनाम धन है ॥ सद्गुरु नामका याद करो, करोड़ों विघ्न टल जायँगे। देख लो, राई भर अग्नि कितने काठ समुदायको खाक कर देती है ? ॥ २८ ॥ २९ ॥

कबीर परगट राम कहु, छानै राम न गाय।
फूसक जोड़ा दूरि करु, बहुरि न लागे लाय ॥३०॥

ऐ कबीरो ! प्रत्यक्ष रामकी पुकार करो गुप्त मत रक्खो। फूसके पहिरनको दूर करो, अग्नि फिर नहीं लगेगी ॥ ३० ॥

कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाय।
जा मुख राम न नीसरै, ता मुख राम कहाय ॥३१॥
कबीर मुख सोई भला, जा मुख निकसै राम।
जा मुख राम न नीकसै, ता मुख है किस काम ॥३२॥

अपने भी राम जपो और दूसरे जो नहीं जपते उनसे भी जप करावो। ऐ कबीरो! वही मुख सुन्दर है जिस मुखसे सुन्दर रामका नाम निकलता है। जिस मुखसे रामका नाम नहीं निकलता वह मुख किस कामका? ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कबीर हरि के मिलन की, बात सुनी हम दोय।
कै कछु हरि को नाम ले, कै कर ऊँचा होय ॥३३॥
कबीर राम रिझाय ले, जिह्वा सों कर प्रीत।
हरि सागर जनि बीसरै, छीलर देखि अनीत ॥३४॥

ऐ कबीरो! प्रभु मिलने को मैंने दो बातें सुनी है। धन होय तो दान दे नहीं तो रामका नाम ले। रसज्ञ रसना से प्रीति कर रामको प्रसन्न कर ले। छिछला तलैया (इन्द्रिय भोग) तुच्छ को देख आत्म सुख अगाध सागर को मत भूले॥३३-३४॥

कबीर राम रिझाय ले, मुख अमृत गुन गाय।
फूटा नग ज्यौं जोरि मन, सन्धै सन्धि मिलाय ॥३५॥
कबिर नैन झर लाइये, रहट बहै निस जाम।
पपिहा ज्यौं पी पी करै, कबरि मिलेंगे राम ॥३६॥

ऐ कबीरो! मुखसे अमर स्वरूप का गुण गावो और रमैया रामको रिझाओ। मनको राममें ऐसे जोड़ो जैसे सधि से सधि मिलाकर फूटा नग जोड़ा जाता है। प्रभु मिलने के लिये रहट-धाराकी तरह अहोरात्र नेत्र झड़ों का प्रवाह चलाओ। रमैया

राममें मेरा मन कब रमेगा ? इसके समाधान अर्थ पपिहा की तरह पीव २ पुकार करो ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरत हरि को नाम।
सूली ऊपर नट विधा, गिरै तो नाहीं ठाम ॥३७॥

प्रभु नाम सुमिरन में खरे खरी कठिनाइयाँ है। यह तो नटवत् विना सहारा सूली परका खेल है, ज़रासा चूका कि गया।

लम्बा मारग दूर घर, विकट पंथ बहु मार।
कहो सन्त क्यों पाइये, दुर्लभ गुरु दीदार ॥३८॥

सद्‌गुरु का देश बहुत दूर है। रस्ता भी बहुत विघ्न वाला 'विकट और लम्बा है इस लिये सद्‌गुरु का दर्शन दुष्कर है कहो कैसे प्राप्त किया जाय ? ॥ ३८ ॥

घटहि राम की आस करु, दूजी आश निरास।
बसै जु नीर गँभीर में, क्यों वह मरै पियास ॥३९॥
जा घट प्रीत न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं राम।
ते नर पशु संसार में, उपजि मरे बेकाम ॥४०॥

दूसरे से उदासीन हो घटमें रमने वाला रामकी आशा करो अगाध जलमें रहने वाला प्यासे क्यों मरेगा ? हर्गिज नहीं। जिसके हृदय में प्रीति युत प्रेम रस और जिह्वा पर रामका नाम नहीं है वह नर पशु है उसका जन्म जगत् में व्यर्थ है ॥३९॥४०॥

जैसे माया मन रमै, तैसा राम रमाय।
तारा मण्डल बेधि के, तब अमरापुर जाय ॥४१॥
ज्ञान दीप परकाश करि, भीतर भवन जराय।
तहाँ सुमिर गुरु नामको, सहज समाधि लगाय ॥४२॥

जिस प्रकार मन माया में रमता है इसी प्रकार यदि राममें रमेगा तबही तारा मण्डल को बेध के अमर धामको जायगा। और अन्दर हृदय भवन में ज्ञान दीपक जलाके वहाँही गुरुज्ञान के विचार रूपी सहज समाधि लगा के स्थिर हो जाय ॥४१,४२॥

एक राम को जानि करि, दूजा देइ बहाय।
तीरथ व्रत जप तप नहीं, सतगुरु चरण समाय ॥४३॥

एक आत्मस्वरूप रामको जानिके दूसरे तीर्थ व्रतादि की झंझट छोड़ दे, केवल सद्गुरु-चरणों में वृत्ति लगाय रक्खे॥४३॥

सुरति समावे राम में, जग से रहे उदास।
कहैं कबिर गुरु चरण में, दृढ़ राखो विश्वास ॥४४॥
अस औसर नहिं पाइहो, धरो राम कड़िहार।
भौसागर तरि जाव जब, पलक न लागे बार ॥४५॥

संसार से उपराम वृत्तिकर चित्स्वरूप राममें लगाओ कबीर गुरु कहते हैं, सद्गुरु चरण में दृढ़ विश्वास रक्खो। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा नाव खेवइया रामका नाम हृदय में धारण करो। देरी नहीं लगेगी क्षणमात्र में संसार सिन्धु पार हो जावोगे ॥ ४४ ॥४५ ॥

कोटि करम कटि पलक में, रंचक आवै राम।
जुग अनेक जो पुन्य करु, नहीं राम बिनु ठाम ॥४६॥
सपने में बरराई के, धोखे निकरै राम।
वाके पग की पानही, मेरे तन को चाम ॥४७॥

जन्मान्तरोंका संचित कर्म समुदाय क्षण मात्रमें निवृत्त हो जायगा यदि लव मात्र भी वृत्ति राममें प्रवृत्त हो जाय। यों

चाहे अनेकों युग पुण्य कर्म किया करो, राम विना स्थिति कहीं नहीं ॥ धोखाहीसे स्वप्न अवस्थामें वरवराता हुआ रामका नाम यदि मुखसे निकल आवे तो अपने तनको चाम वरावर उसकी पग पनही समझो ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

जाकी गाँठी राम है, ताके हैं सब सिद्धि।
कर जोरे ठाढ़ी सबै, अष्ट सिद्धि नव निद्धि ॥४८॥

जिसकी गिरहमें राम रत्न है उसके पास अष्ट सिद्धि और नव निधियाँ सब हाथ जोड़े हाजिर रहती हैं ॥ ४८ ॥

सुख के माथे शिल परै, राम हृदे से जाय।
वलिहारी वा दुःख की, पल पल राम रटाय ॥४९॥
लेने को गुरु नाम है, देने को अँन दान।
तरने को आधीनता, बूड़न को अभिमान ॥५०॥

उस सुखके ऊपर पत्थर पड़ो, जिससे कि रामका चिन्तन हृदयसे चला जाय। उस दुखहीको वलिहारी है जिसमें सद्गुरुका नाम वारम्वार याद आता है ॥ वस ! गुरुका नाम लो और अन्नका दान दो। तरनेके लिये दीनता और बूड़नेके लिये अभिमान है ॥ ४९ ॥ ५० ॥

लूटि सकै तो लूटि ले, राम नाम की लूट।
फिर पाछे पछिताहुगे, प्राण जाहिंगे छूट ॥५१॥
लूटि सकै तो लूटि ले, राम नाम की लूट।
नामजु निरगुणको गहौ, नातर जैहो खूट ॥५२॥

राम नामकी लूट है यदि समर्थ है तो लूट लो। नहीं तो प्राण छूटने पर पछतानाही होगा॥ निर्गुण संसार है भलाई चाहो तो निर्गुण रामको लूटो नहीं तो टोटा सहोगे ॥५१॥५२॥

कहै कबिर तूँ लूटि ले, राम नाम भण्डार।
काल कंठको जब गहे, रोके दशहूँ द्वार ॥५३॥
कबिर निर्भय राम जपु, जब लग दीवे बाति।
तेल घटे बाती बुझै, सोवोगे दिन राति ॥५४॥

गुरु कबीर कहते हैं रामनाम खजाना खुला है अभी चाहो तो ले सकते हो। किन्तु जब दशों द्वार रोक कर काल कण्ठ दबायेगा उस वक्त कुछ न बसायगा। निर्भय रामका नाम वहाँही तक जपलो जब लग शरीररूपी दीपकमें आयुरूपी तेलसे प्राणरूपी बत्ती जल रही है। तेल चूकनेपर बत्ती बुझ जायगी फिर तो दिन रात सोनाही होगा ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

कबीर सूता क्या करै, जागी जपो मुरार।
एक दिना है सोवना, लम्बे पाँव पसार ॥५५॥
कबीर सूता क्या करै, उठि न भजो भगवान।
जम घर जब ले जायँगे, पड़ा रहेगा म्यान ॥५६॥

ऐ कबीरो! क्यों सोये हो? उठो, प्रभुको भजो। एक दिन (मरने पर) तो लम्बे पाँव पसार कर गहरी नींद सोना ही है॥ इसलिये अभी क्यों सोते हो? उठो, भगवानको भजो। जब मृत्यु पकड़ ले जायगी तब शरीररूप म्यान या कोष सब पड़ाही रह जायगा ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

कबीर सूता क्या करै, गुण सतगुरु का गाय।
तेरे शिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाय ॥५७॥
कबीर सूता क्या करै, सूते होय अकाज।
ब्रह्मा को आसन डिग्यो, सुनी कालकी गाज ॥५८॥

ऐ कबीरो ! सूतो मत, सद्गुरुका गुण स्मरण करो । तेरे शिर पर यम कबसे खड़ा है और गाँठका खर्च खा रहा है ॥ इसलिये मत सोवो, सोने से कल्याण कार्यमें हानि होगी । अरे ! कालकी गर्जनासे तो ब्रह्माका आसन भी हिल जाता है ॥५७ ५८॥

कबीर सूता क्या करै, ऊठि न रोवो दूख ।
जाका वासा गोर में, सो क्यों सोवे सूख ॥५६॥
कबीर सूता क्या करै, जागन की कर चौंप ।
ये दम हीरा लाल है, गिन गिन गुरुको सौंप ॥६०॥

ऐ कबीरो ! उठो, अपना दुख सद्गुरुको सुनावो ! कबरमें निवास करनेवाला सुख निद्रा कैसे सोयगा ? अतएव जागनेकी चिन्ता करो इस श्वासरूपी हीरा लालको एक एक गिनके गुरुको सुपुर्द कर फारखती ले लो ॥ ५६ ॥ ६० ॥

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि ।
जाके संग ते बीछुरा, ताहि के संग लागि ॥६१॥
अपने पहरे जागिये, ना परि रहिये सोय ।
ना जानौ छिन एक में, किसका पहरा होय ॥६२॥

ऐ कबीरो ! क्या सोये पड़े हो, जागकर क्यों नहीं देखते ? जिस आत्मस्वरूपके संगसे बिछुड़े हो उसमें पुनः क्यों नहीं मिलते हो ? अपने पहरेमें जागो, अलसा कर मत सो रहो । क्या खबर ! पल भरमें किसका पहरा होगा ? ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

नींद निशानी मीच की, ऊठु कबीरा जाग ।
और रसायन छाँड़ि के, राम रसायन लाग ॥६३॥
सोया सो निष्फल गया, जागा सो फल लेहि ।
साहिब हक्क न राखसी, जब माँगे तब देहि ॥६४॥

नींद मौतकी निशानी है, ऐ कबीरो! उठ बैठो। अन्य रसायनको छोड़ दो केवल राम रसायन ग्रहण करो॥ जिन सोया तिन खोया, जागा सो फल पाया। साहिब किसीका हक नहीं मारते माँगते ही दे देते हैं॥ ६३॥ ६४॥

केशव कहि कहि कूकिये, ना सोइये असरार।
रात दिवस के कूकते, कबहुँक लगै पुकार॥६५॥

बार बार प्रभुके नामका चिन्तन करो बेफिक्र मत सो रहो। अहो रात्रके विलापसे कभी तो प्रभु लग पुकार पहुँचेगी॥६५॥

कबिर क्षुधा है कूकरी, करत भजन में भंग।
वाकूँ टुकड़ा डारि के, सुमिरन करू सुरंग॥६६॥

ऐ कबीरो! भजनमें भंग पाड़नेवाली क्षुधारूपी कूकरी को प्रथम टुकड़ा डाल दो फिर एक तार सुमिरन करो॥ ६६॥

गिरही का टुकड़ा बुरा, दो दो आँगुल दाँत।
भजन करै तो ऊबरे, नातर काढ़ै आँत॥६७॥

संसारीका टुकड़ा बड़ा बुरा है उसे दो दो अंगुलका दाँत है, भजनानन्दी उसे पचाते हैं। वेकार खानेवालेको अँतड़ी तक निकाल डालती है॥ ६७॥

बाहिर क्या दिखलाइये, अन्तर जपिये राम।
कहा महोला खलक सों, पर्यो धनी सों काम॥६८॥

बाहर दिखलानेकी कोई जरूरत नहीं हृदयमें रामका नाम जपो। मालिकसे प्रयोजन है, संसारसे क्या मतलब॥ ६८॥

गोविंद के गुण गावता, कबहु न कीजै लाज।
यह पद्धति आगे मुक्ति, एक पंथ दो काज॥६९॥

प्रभु के नाम लेनेमें लज्जा कदापि न करो इसी मार्गसे आगे मुक्ति मिलती है अतएव यहाँ एकही मार्गमें परम्परा भक्ति और मुक्ति दोनों कार्यकी सिद्धि है ॥ ६६ ॥

गुण गाये गुण ना कटै, रटै न नाम वियोग।
अहिनिशि गुरु ध्यायो नहीं,(क्यों)पावै दुरलभ योग॥

जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ नहीं साफ होता इसी प्रकार निगुण मायाके गुण गानेसे जन्मादि बन्धन नहीं कटता। एवं संसारसे उपराम हो निशिदिन सद्गुरुके नाम स्मरण और ध्यान विना दुष्कर योगको कोई कैसे पायगा ? ॥ ७० ॥

सुमिरण मारग सहजका, सतगुरु दिया बताय।
साँस साँस सुमिरण करूँ, इक दिन मिलसी आय ७१
सुमिरण से सुख होत है, सुमिरण से दुख जाय।
कहैं कबिर सुमिरण किये, साँई माँहि समाय ७२

सुमिरणका सरल मार्ग सद्गुरुने इस तरह बतला दिया है कि प्रत्येक श्वासमें अन्तर्यामी रामका नाम लो वह स्वयं एक दिन आ मिलेगा। सुमिरन करनेसे सुख आता और दुख चला जाता है, अतः स्वामीमें वृत्ति समाकर सुमिरन करो ॥७१-७२॥

सुमिरण की सुधि यौं करो, जैसे कामी काम।
एक पलक विसरै नहीं,निशदिन आठौं जाम॥७३॥

सुमिरनकी सुधि (चेत) इस प्रकार करो जिस प्रकार कामी पुरुष कामनाओं की। एक क्षण भी नहीं भूलता सदैव चिन्तित रहता है ॥ ७३ ॥

सुमिरण की सुधि यौं करो, ज्यौं गागर पनिहारि।
हालै डोलै सुरति में, कहैं कबीर विचारि॥७४॥

सुमिरनकी सुधि इस प्रकार करो जिस तरह पनिहारी गागरको रखती है। मार्गमें हिलती डोलती भी उसे नहीं भूलती ७४

सुमिरन की सुधि यौं करो, ज्यौं सुरभी सुत माँहि।
कहैं कबिर चारा चरत, बिसरत कबहूँ नाँहि ७५

सुमिरनकी चिन्ता इस प्रकार करो जिस प्रकार गाय बछड़ेकी। चारा भी चरती है तो भी कभी नहीं बिसरती है॥७५॥

सुमिरन की सुधि यौं करो, जैसे दाम कंगाल।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, पल पल लेत सँभाल॥७६॥

सुमिरनकी खबर इस तरह लो जिस तरह दरिद्र पैसेको। वह कभी भी नहीं भूलता बारम्बार सम्भालता है॥ ७६॥

सुमिरन की सुधि यौं करो, जैसे नाद कुरंग।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, प्राण तजै तिहि संग॥७७॥

सुमिरनकी सुधि इस प्रकार करो जिस प्रकार मृगा शब्दकी उसके साथ वह प्राण त्याग देता किन्तु भूलता नहीं॥ ७७॥

सुमिरन सों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबिर बिसारे आपको, होय जाय तिहि रंग॥७८॥

सद्गुरु-सुमिरनमें इस प्रकार मन लगाओ जिस प्रकार कीट भृङ्गमें लगाता है। और अपने आपको भुलाकर वही रूप बन जाता है॥ ७८॥

सुमिरन सों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्राण तजे छिन एक में, जरत न मोरै अंग॥७९॥

चित्तवृत्तिको सुमिरनमें इस तरह लगाव जिस तरह पतंग दीपकमें जलनेसे नहीं डरता पलमें प्राण त्याग देता है॥ ७९॥

सुमिरन सों मन लाइये, जैसे पानी मीन।
प्राण तजै पल बीछुरे, सत्य कबिर कहि दीन ॥८०॥

सुमिरन में वृत्ति इस प्रकार लगावो जिस प्रकार मछली पानी में। वह पानीका वियोग पल मात्र भी नहीं सहता यह सत्य कबीरने सत्यही वचन कहा है ॥ ८० ॥

सुमिरन सों मन जब लगै, ज्ञानांकुस दे सीस।
कहैं कबिर डोलै नहीं, निश्चै बिस्वा बीस ॥८१॥
सुमिरन मन लागै नहीं, बिषहि हलाहल खाय।
कबीर हटका ना रहै, करिकरि थका उपाय ॥८२॥

सुमिरनमें मन तबही लगेगा जब ज्ञान अंकुश शिर पर दोगे, फिर इधर उधर नहीं डोलेगा यह पूर्ण निश्चय कर लो ॥ ज्ञान अंकुश बिना मन सुमिरनमें नहीं लगेगा जहरीला विषयहीं खाने दौड़ेगा, चाहे करोड़ों उपायकरो हटका नहीं मानेगा ८१-८२

सुमिरन माँहि लगाय दे, सुरति आपनी सोय।
कहैं कबिर संसार गुण, तुझे न व्यापै कोय ॥८३॥

ज्ञानांकुश देकर अपनी वृत्तिको ध्यानमें लगा दे। फिर तुझे संसारका संशय गुण नहीं लगेगा ॥ ८३ ॥

सुमिरन सुरति लगाय के, मुख ते कछू न बोल।
बाहर के पट देय के, अन्तर के पट खोल ॥८४॥

चिति स्वरूपमें वृत्ति लगादो मुखसे कुछ बोलनेकी ज़रूरत नहीं, बाहरके नेत्र बन्द कर हृदय-दृष्टिका पलक उघाड़ कर देखो ॥ ८४ ॥

सुमिरन तू घट में करै, घट ही में करतार।
घट ही भीतर पाइये, सुरति शब्द भंडार ॥८५॥

तेरा मालिक तेरे घटमें है अन्दरही उसका सुमिरन करो मिल जायगा, ध्यानसे देखो शब्दका खजाना भी अन्दरही है८५॥

राजा राणा राव रँक, बड़ो जु सुमिरै राम।
कहँ कबिर सब सों बड़ा, जो सुमिरै निहकाम ॥८६॥

मालिकके ध्यानमें राजा, रंकका कोई हिसाब नहीं, जो कामना रहित रामका नाम लेना है वही सबसे बड़ा है ॥८६॥

सहकामी सुमिरन करै, पावै उत्तम धाम।
निहकामी सुमिरन करै, पावै अविचल राम ॥८७॥
जप तप संयम साधना, सब कछु सुमिरन माँहि।
कबीर जाने भक्त जन, सुमिरन सम कछु नाँहि ॥८८॥

कामना युक्त सुमिरन करनेसे उत्तम लोक, भोगको प्राप्त होता है और कामना रहितको अविनाशी अन्तर्यामी रामही मिलता है ॥ सद्गुरुके सुमिरनमें जप तप आदि सबही साधन भरे हैं, इसके समान दूसरा कुछ नहीं है। इस रहस्यको भक्त लोग जानते हैं ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

थोड़ा सुमिरन बहुल सुख, जो करि जानै कोय।
हरदी लगै न फिटकरी, चोखा ही रंग होय ॥८९॥
ज्ञान कथे थकि थकि मरै, काहे करै उपाय।
सतगुरु ने तो यों कहा, सुमिरन करो बनाय ॥९०॥

थोड़ेही सुमिरनसे बहुत सुखका लाभ होता है, यदि कोई इसे करनेकी विधि जाने। हरदी, फिटकरी बिनाही सुन्दर रङ्ग

होता है। भाव है कि, कर्म, योगादिकी तरह भक्तिमें विशेष अड़चन नहीं होती सब कोई सरलतासे कर सकता है॥ चित्त वृत्तिके एकाग्र विना ज्ञानादिका कथन और उपाय व्यर्थ है। विषयोंसे वृत्ति निरोध कर अन्तर अविनाशीका भलीभाँति ध्यान करना, यही सद्गुरुका कथन है ॥ ८६ ॥ ६० ॥

कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत मधि सोधिया, दूजा देखा काल ॥६१॥

ऐ कबीरो! आत्म चिन्तनही सार है और सब कालका जंजाल है। आदि, अन्त, मध्य सर्वत्र मैंने भलीभाँति शोधकर देख लिया है ॥ ६१ ॥

कबीर हरि हरि सुमिरि ले, प्राण जाहिंगे छूट।
घर के प्यारे आदमी, चलते लेंगे लूट ॥६२॥
कबीर चित चंचल भया, चहुँदिशि लागी लाय।
गुरु सुमिरन हाथे घड़ा, लीजै बेगि बुझाय ॥६३॥

ऐ कबीरो! प्रभुका नाम लो संसारमें प्रिय कोई नहीं सब लूटारे हैं, प्राण वियोग होतेही सब लूट लेंगे॥ चित्त वृत्तिकी चंचलतासे चारों ओर अग्नि लगी है। उसे सद्गुरु चिन्तनरूपी घड़ासे शीघ्र शान्त करो ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

कबीर मेरी सुमिरनी, रसना ऊपर राम।
आदि जुगादि भक्ति है, सबका निज बिसराम॥६४॥

ऐ कबीरो! सदा रसना ऊपर राम रहे वही मेरी सुमिरनी है सबके अपने विश्रान्तिका स्थान अनादि कालकी एक भक्ति है॥

कबीर मुख से राम कहु, मनहि राम को ध्यान।
रामक सुमिरन ध्यान नित, यही भक्ति यहि ज्ञान ६५

ऐ कबीरो ! यही भक्ति और ज्ञान है कि सदा मुखमें, मनमें, ध्यानमें रामही का नाम हो ॥ ६५ ॥

जीना थोड़ा ही भला, हरिका सुमिरन होय।
लाख बरस का जीवना, लेखै धरै न कोय ॥६६॥
निज सुख आतम राम है, दूजा दुःख अपार।
मनसा बाचा करमना, कबीर सुमिरन सार ॥६७॥

थोड़ाही जीना अच्छा है, उसमें गुरुका चिन्तन होता है। सुमिरन बिना लाख वर्षका जीवन बिना हिसाब व्यर्थ है॥ अपना सुख स्वरूप अन्तर राम है और सब दुःख रूप है। इसलिये उसी परम प्रभुको मन, वचन और कर्मसे सुमिरन करना चाहिये ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

दुखमें सुमिरन सब करै, सुख मे करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय॥६८॥
सुख में सुमिरन ना किया, दुख में कीया याद।
कहै कबिर ता दास की, कौन सुनै फरियाद॥६६॥

विपत्ति में सब ही रामकी पुकार करते किन्तु सुख सम्पत्ति में कोई भी नहीं। यदि सुखमें सुमिरन करें तो दुख ही क्यों होवे? । कबीर गुरु कहतेहैं कि उसकी पुकार कोई नहीं सुनता जो दुखमें करता और सुखमें नहीं ॥ ६८ ॥ ६६ ॥

साँइ सुमिर मति ढील कर, जो सुमिरे ते लाह।
इहाँ खलक खिदमत करै, उहाँ अमर पुर जाह१००
साँई यौं मति जानियो, प्रीति घटे मम चीत।
मरूँ तो सुमिरत मरूँ, जियत सुमिरूँ नीत १०१

स्वामीके सुमिरनमें लाभ है आलस मत करो। यहाँ संसार सेवा करेगा, आगे अमर धामका रस्ता खुलेगा ॥ स्वामिन्! ऐसा मत जानिये कि मेरे हृदयमें प्रीति कम है, मैं जीते जी सदा आपका नाम स्मरण करता हुआ प्राण त्यागूँगा १००।२०१

साँई को सुमिरन करै, ताको बन्दे देव।
पहली आप उगावही, पाछे लागै सेव ॥१०२॥
चिन्ता तो गुरु नाम की, और न चितवै राम।
जो कछु चितवै नाम बिनु, सोइ कालकी फाँस ॥१०३॥

स्वामीके सुमिरन करने वालेकी देवता स्तुति करता है। किन्तु प्रथम अपना कर्तव्य पालन करना होता है पीछे सेवा होती है ॥ ऐ भक्तो! एक प्रभु नामकी चिन्ता रक्खो, और की जरूरत नहीं प्रभु चिन्तन विना सब कालका बन्धन है॥१०२।१०३॥

मन जो सुमिरै राम को, राम बसै घट आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, शीष नवाऊँ काहि ॥१०४॥
तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँय।
वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तूँय॥१०५॥

मन रामका नाम जपता है, राम हृदयमें रहता है। अब तो मन राम रूप ही हो गया फिर जाप किसके जपना? ॥ ऐ प्रभु! तेरा नाम लेते २ मेरे में मुभता (अहन्ता ममता) ही न रही, बलिहारी है तेरे नामकी जहाँ है तहाँ तुहीं तू है ॥ १०४॥१०५॥

तू तू करता तू भया, तुझ में रहा समाय।
तुझ माँहीं मन मिलि रहा, अबकहुँ अनत न जाय१०६

तेरे नाम स्मरणके प्रभावसे मैं तेरा ही होगया। तेरे स्वरूपमें मन मिल गया अब कहीं विलग नहीं होता ॥ १०६ ॥

ऐ कबीरो! यही भक्ति और ज्ञान है कि सदा मुखमें, मनमें, ध्यानमें रामही का नाम हो ॥ ९५ ॥

जीना थोड़ा ही भला, हरिका सुमिरन होय।
लाख बरस का जीवना, लेखै धरै न कोय ॥९६॥
निज सुख आतम राम है, दूजा दुःख अपार।
मनसा वाचा करमना, कबीर सुमिरन सार ॥९७॥

थोड़ाही जीना अच्छा है, उसमें गुरुका चिन्तन होता है। सुमिरन बिना लाख वर्षका जीवन बिना हिसाब व्यर्थ है॥ अपना सुख स्वरूप अन्तर राम है और सब दुःख रूप है। इसलिये उसी परम प्रभुको मन, वचन और कर्मसे सुमिरन करना चाहिये ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

दुखमें सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय॥९८॥
सुख में सुमिरन ना किया, दुख में कीया याद।
कहैं कबिर ता दास की, कौन सुनै फरियाद ॥९९॥

विपत्ति में सब ही रामकी पुकार करते किन्तु सुख सम्पत्ति में कोई भी नहीं। यदि सुखमें सुमिरन करें तो दुख ही क्यों होवे? । कबीर गुरु कहते हैं कि उसकी पुकार कोई नहीं सुनता जो दुखमें करता और सुखमें नहीं ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

साँइ सुमिरि मति ढील कर, जो सुमिरे ते लाह।
इहाँ खलक खिदमत करै, उहाँ अमर पुर जाह१००
साँई यौं मति जानियो, प्रीति घटै मम चीत।
मरूँ तो सुमिरत मरूँ, जीयत सुमिरूँ नीत१०१

स्वामीके सुमिरनमें लाभ है आलस मत करो। यहाँ संसार सेवा करेगा, आगे अमर धामका रस्ता खुलेगा॥ स्वामिन्! ऐसा मत जानिये कि मेरे हृदयमें प्रीति कम है, मैं जीते जी सदा आपका नाम स्मरण करता हुआ प्राण त्यागूँगा १००।१०१

साँई को सुमिरन करै, ताको बन्दे देव।
पहली आप उगावही, पाछे लागै सेव ॥१०२॥
चिन्ता तो गुरु नाम की, और न चितवै राम।
जो कछु चितवै नाम बिनु, सोइ कालकी फाँस ॥१०३॥

स्वामीके सुमिरन करने वालेकी देवता स्तुति करता है। किन्तु प्रथम अपना कर्तव्य पालन करना होता है पीछे सेवा होती है॥ ऐ भक्तो! एक प्रभु नामकी चिन्ता रक्खो, और की जरूरत नहीं प्रभु चिन्तन बिना सब कालका बन्धन है॥१०२॥१०३॥

मन जो सुमिरै रामको, राम बसै घट आहि।
अब मन रामहि है रहा, शीष नवाऊँ काहि ॥१०४॥
तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँय।
वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तूँय ॥१०५॥

मन रामका नाम जपता है, राम हृदयमें रहता है। अब तो मन राम रूप ही हो गया फिर जाप किसके जपना?॥ ऐ प्रभु! तेरा नाम लेते २ मेरे में मुझता (अहन्ता ममता) ही न रही, बलिहारी है तेरे नामकी जहाँ हे तहाँ तुहीं तू है॥ १०४॥१०५॥

तू तू करता तू भया, तुझ में रहा समाय।
तुझ माँहीं मन मिलि रहा, अबकहुँ अनत न जाय१०६

तेरे नाम स्मरणके प्रभावसे मैं तेरा ही होगया। तेरे स्वरूपमें मन मिल गया अब कहीं विलग नहीं होता॥ १०६॥

रग रग बोले रामजी, रोम रोम (र) रंकार।
सहजे ही धुन होत है, सोई सुमिरन सार ॥१०७॥
सहजे ही धुन होत है, पल पल घटही माँहि।
सुरति शब्द मेला भया, मुखकी हाजत नाँहि ॥१०८॥

यही सुमिरनका सार है जो नस २ और रोम २ में स्वाभाविक रकार मकारकी ध्वनि होती है ॥ हरदम हृदयके अन्दर स्वभाविक ध्वनि होती है। जब अपने लक्ष्यमें मनोवृत्ति प्रवेश करती है तब मुखकी ज़रूरत नहीं रहती ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अजपा सुमिरन घट विषे, दीन्हा सिरजन हार।
ताही सों मन लगि रहा, कहैं कबीर विचार १०९
साँस साँस पर नाम ले, वृथा साँस मति खोय।
न जानै इस साँस को, आवन होय न होय ११०

सद्गुरुने उपांसु जाप घटहीमें दिखलाया है, उसीमें मन लग रहा है। और कबीर गुरु विचार कर यह भी कहते हैं कि, प्रत्येक श्वास पर नाम लो व्यर्थ एक भी मत जाने दो कौन जानता है इसका आना जाना कब रुक जाय ॥ १०९ ॥ ११० ॥

सास सुफल सो जानिये, जो सुमिरन में जाय।
और साँस यों ही गये, करि करि बहुत उपाय१११
कहा भरोसा देह का, बिनसि जाय छिन माँहि।
साँस साँस सुमिरन करो, और जतन कछु नाँहि ११२

यही श्वास सार्थक जानो जिसमें गुरुका नाम लिया और तो योंही व्यर्थमें चला गया, जो दूसरे व्यवसायमें गमाया ॥ इस क्षण भंगुर शरीरका क्या भरोसा ? पल २ गुरुका नाम लो और

कुछ मत करो ॥ "और जतन कछुवो मति करहु । केवल साहिब पारस लहहु " इति पंच ग्रन्थी ॥ १११ ॥ ११२ ॥

जाकी पूँजी साँस है, छिन आवै छिन जाय ।
ताको ऐसा चाहिये, रहे नाम लौ लाय ॥११३॥
कहता हूँ कहि जात हूँ, कहूँ बजाये ढोल ।
स्वासा खाली जात है, तीन लोक का मोल ॥११४॥

जो जीवनकी पूँजी श्वासको ही समझता उसे उचित है कि राममें वृत्ति लगावे । इस रहस्यको मैंने बहुते कहा और फिर भी सचेत कर कह रहा हूँ कि नाम बिनाके श्वास व्यर्थ जा रहा है जिसका मोल तीन लोकमें भी नहीं है ॥११३॥११४॥

ऐसे महँगे मोलका, एक साँस जो जाय ।
चौदह लोक न पटतरै, काहे धूर मिलाय ॥११५॥
माला साँसउ साँस की, फेरै को(इ) निज दास ।
चौरासी भरमै नहीं, कटै करम की फाँस॥११६॥

ऐ मनुष्यो ! जिसके समान चौदहों भुवनमें भी कोई नहीं है ऐसे बहुमूल्य श्वासको धूलमें क्यों मिलाते हो ॥ प्रत्येक श्वासका मनका बनाके सद्गुरु नामका जप करो यही सद्गुरु-सेवकका कर्त्तव्य है इसीसे चौरासीका कर्म बन्धन कटता है ।११५।११६।

माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर ।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर॥११७॥

करका मनका फिराते तो युगों बीत गये मन विषयोंसे नहीं फिरा, इस लिये उसे छोड़ो और मनही का मनका फिरावो११७

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि ।
मनवा तो दहु दिश फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि ११८
माला फेरुँ न हरि भजूँ, मुख से कहूँ न राम ।
मेरा हरि मोको भजै, तब पाऊँ विसराम ११६

सुमिरनका यह मतलब नहीं है कि माला हाथमें फिरे व जीभ मुखमें हिले और मनोवृत्ति दशों दिशा प्रपंचमें फिरे ॥ मैं तो न इस प्रकार माला फिराऊँ न हरि भजूँ न मुखसे रामही कह सकता। मैं तो उस सुमिरनमें आराम मानता हूँ जिसमें मेरा राम मेरेको भजे ॥ ११८ ॥ ११६ ॥

माला मोसे लड़ि पड़ी, का फेरत है मोहि ।
मन की माला फेरि ले, गुरु से मेला होय ॥१२०॥
माला फेरै कह भयो, हिरदा गाँठि न खोय ।
गुरु चरणन चित राखिये, तो अमरापुर जोय ॥१२१॥

मेरेसे माला रुष्ट होके कहने लगी मुझे तू बार बार क्यों फिराता है अपने मनका मनका फिराओ शीघ्र गुरुसे मिलाप हो जायगा ॥ माला फिरानेसे कुछ न होगा जब तक हृदयकी ग्रन्थी नहीं खुलेगी । सद्गुरु-चरणोंमें चित्त लगावो और अमर-धामकी शोभा देख लो ॥ १२० ॥ १२१ ॥

कबीर माला काठ की, बहुत जतन का फेर ।
माला साँस उसाँस की, जामें गाँठ न मेर ॥१२२॥
क्रिया करै अँगुरि गिनै, मन धावै चहुँ ओर ।
जिहि फेरै साँई मिलै, सो भय काठ कठोर ॥१२३॥

हे कबीरो ! काठकी माला फिरानेमें बड़ो झगड़ा है माला

तो सरल श्वास उश्वासकी है जिसमें न गाँठ न सुमेर है ॥ कोई अमरोली आदि क्रिया करता तो कोई अँगुली जपका हिसाव करता है किन्तु मन चारों दिशामें दौड़ धूपका और ही हिसाव बैठा रहा है जिसके फिरानेसे स्वामी मिलना है वह मन तो महा कठोर बना है ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

तन थिर मन थिर वचन थिर, सुरति निरति थिर होय
कहैं कविर उस पलक को, कल्प न पावै कोय १२४
जाप मरै अजपा मरै, अनहद भी मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नहिं खाय॥

तन, मन, वचन सहित चित्त वृत्ति स्थिर हो जो स्वरूपको चिन्तन करती है उसीका नाम सुमिरन है, कवीर गुरु कहते हैं उस क्षणको कल्प भी नहीं पा सकता॥ जिसकी वृत्ति स्वरूप में लीन हो गई उसे जाप, अजपा और अनाहत् शब्दसे कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि उसे काल नहीं खाता ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

बिना साँच सुमिरन नहीं, (बिन) भेदी भक्ति न सोय।
पारस में परदा रहा, (कस) लोहा कंचन होय ॥

सत्स्वरूपके ज्ञान विना सुमिरन और रहस्य ज्ञान विना भक्ति नहीं होती। क्योंकि पारसमें वाल भर भी अन्तर रहनेसे लोहा सोना नहीं बनता ॥ १२६ ॥

देखा देखी सब कहै, भोर भये हरि नाम।—
अरध रात को (इ) जन कहै, खाना ज़ाद ग़ुलाम १२९

सवेरा होने पर तो देखा देखी सव लोग राम २ कहते हैं किन्तु आधी रात को तो निज घरका भेदी भक्त ही कोई एक राम धुन लगाता है ॥ १२७ ॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, सुनता है सब कोय।
सुमिरन सों भल होयगा, नातर भला न होय १२८
कबीर माला काठ की, पहिरी मुगद डुलाय।
सुमिरन की सुधि है नहीं, (ज्यौं) डींगर बाँधी गाय १२९

मैं कहता हूँ और कहते जाता हूँ सब कोई सुन भी रहा है कि सुमिरनके सिवा भलाई किसीमें भी नहीं॥ तो भी अज्ञानी लोग काठकी माला पहिनकर सुमिरन ज्ञान विना हरही गायके गलेको डिंगरकी तरह डोलाता फिरता है॥ १२८॥ १२९॥

सुरति फँसी संसार में, ताते परिगो दूर।
सुरति बाँधि अस्थिर करो, आठों पहर हजूर॥१३०॥

मनोवृत्ति संसारमें फसी है इसलिये अपना प्रभु दूर पड़ गया है, सुरतिको विषयोंसे निवृत्त कर स्थिर करो वह तो हर वक्त हाज़िर हुजूर है॥ १३०॥

वाद विवादाँ मत करो, करु नित एक विचार।
नाम सुमिर चितलायके, सब करनी में सार १३१
बाद करै सो जानिये, निगुरे का वह काम।
संतों को फुरसत नहीं, सुमिरन करते राम १३२

किसीसे व्यर्थ वादविवाद मत करो सदा एक आत्म स्वरूपका विचार करो। चित लगाके गुरुका नाम लो यही सबका सार है॥ वादविवाद करना गुरु विमुखोंका काम है सन्तोंको तो राम सुमिरन से ही फुरसत नहीं॥ १३१॥ १३२॥

कबीर सुमिरन अंग को, पाठ करै मन लाय।
विद्याहिन विद्या लहै, कहैं कबिर समुझाय॥१३३॥

जो कोय सुमिरन अंगको, पाठ करै मन लाय।
भक्ति ज्ञान मन ऊपजै, कहैं कबिर समुझाय॥१३४॥

वे नरजीवो ! सुमिरन अङ्गको मन लगाकर चिन्तन करनेसे विद्या हीन विद्याको प्राप्त करता है और उसके हृदयमें ज्ञान जनक भक्ति भी उत्पन्न होती है। इस बातको कबीर गुरु समझा कर कहते हैं ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

जो कोय सुमिरन अंग को, निशिवासर करै पाठ।
कहैं कबिर सो सन्त जन, सन्धै औघट घाट १३५

इस सुमिरन अङ्गको जो कोई दिन रात पाठ करता है कबीर गुरु कहते हैं वही सन्त औघट घाट (आत्मस्वरूप) में प्रवेश करता है ॥ १३५ ॥

॥ इति श्री सुमिरनको अङ्ग ॥

अथ परिचयको अंग ॥ १४ ॥
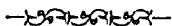
पिव परिचय तब जानिये, पिव सों हिलमिल होय ।
पिवकी लाली मुख परै, परगट दीसै सोय ॥१॥

साहिब का जानकार तबही जानो जब साहिबसे मेल हो और उसका चीह्न प्रसन्नता है जो जानकारके चेहरे पर प्रत्यक्ष झलकती है ॥ १ ॥

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल ॥२॥
जिन पाँवन भुइँ बहु फिरै, घूमें देश विदेश ।
पिया मिलन जब होइया, आँगन भया विदेश ॥३॥

जहाँ देखूँ तहाँ प्रभुकी शोभा है और उसे देखते २ मैं भी वही रूप होगया। जिन पगोंसे मैंने देश और विदेशोंमें बहुतेरे भ्रमण किया अब मालिकका दर्शन होनेसे वही आँगन भी विदेश प्रतीत होता है ॥ २ ॥ ३ ॥

उलटि समानी आप में, प्रगटी जोति अनंत ।
साहिब सेवक एक सँग, खेलें सदा बसंत ॥४॥

वृत्ति उलट कर जब आपमें हुई तब अखण्ड स्वरूपका प्रकाश प्रत्यक्ष होगया और स्वामी सेवकका वसन्त विहार एक संग होने लगा ॥ ४ ॥

जोगी हूआ झक लगी, मिटि गइ ऐंचातान ।
उलटि समाना आप में, हूआ ब्रह्म समान ॥५॥

हम वासी वा देश के, जहाँ पुरुष की आन।
दुख सुख कोइ व्यापै नहीं, सब दिन एक समान॥६॥

योगी वन गया ध्यानकी धुन लग गई मतवादकी खैंचतान जाती रही। वृत्ति उलट कर आपेमें लय हुई और राग द्वेष रहित जैसाका तैसा हो गया। हम उस देशके निवासी हुये जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तमकी मर्यादा (हद) है वहाँ हर्ष, शोक, मनका धर्म नहीं व्यापता, सब दिन एक समान रहता है॥५-६॥

हम वासी वा देश के, गगन धरण दुइ नाँहि।
भौंरा बैठो पंख विन, देखौ पलकौं माँहि॥७॥

हम उस देशके निवासी हैं जहाँ शीश और धड़ दो नहीं हैं विना पंख का मन भँवरा पलकों में पलक उलट कर मालिकके ध्यानमें निमग्न होगया ॥ ७ ॥

हम वासी वा देश के, जहाँ ब्रह्म का कूप।
अविनासी विनसै नहीं, आवै जाय सरूप॥८॥

हम उस अखण्ड ज्ञान कुण्डके निवासी हैं जहाँ परिणामी रूपका परिवर्तन होनेपर भी जिसका नाश कभी नहीं होता।८।

हम वासी वा देश के, आदि पुरुप का खेल।
दीपक देखा गैब का, विन बाती विन तेल॥९॥
हम वासी वा देश के, बारह मास विलास।
प्रेम झरै विगसै कमल, तेज पुंज परकास॥१०॥

हम उसी देशके हैं जहाँ आदि पुरुपका स्वयं विनोद है। -उस अजब देशके दीपकको विना बत्ती तेलका जलता देखा॥ 'आतम ज्योति जले दिन राती। नहीं कछु चहिये दिया घृत

वार्ता ॥' वहाँ बारहों महीना आनन्द होता है। प्रेम रसकी झरनासे हृदय कमल प्रफुल्लित होता है। और आत्मस्वरूपका ज्योति समूह प्रकाशित करता है ॥ ६ ॥ १० ॥

हम वासी वा देस के, जाति वरन कुल नाँहि।
शब्द मिलावा ह्वै रहा, देह मिलावा नाँहि ॥११॥

'ऊँच नीच कुल की मर्यादा आश्रम वर्ण विचारा।
धर्म अधर्म्म किछुवो नहिं तहवाँ संयम नियम अचारा॥'

"सन्तो! सो निज देश हमारा" इस वचनके अनुसार गुरु कबीर कहते हैं हमारा वह देश है जहाँ मिथ्या वर्णादिकी व्यवस्था नहीं है उस देशका मिलाप केवल सार शब्द से होता है, शरीरसे नहीं ॥ ११ ॥

हम वासी वा देस के, रूप वरन कछु नाँहि।
सैन मिलावा ह्वै रहा, शब्द मिलावा नाँहि ॥१२॥

'पाँच तत्त्व गुण तीन तहाँ नहिं, नहिं तहाँ सृष्टि पसारा।
तहाँ न माया कृत प्रपञ्च यह, लोग कुटुम परिवारा॥'

'सन्तो सो निज देश हमारा' ॥ कहते हैं हम उस देशके वासी हैं, जहाँ मायाकृत नाम रूप कुछ नहीं है उस देशका सम्बन्ध फक्त इशारासे होता है वर्णात्मक शब्दसे नहीं ॥१२॥

संसै करौं न मैं डरौं, सब दुख दिये निवार।
सहज शुन्न में घर किया, पाया नाम अधार ॥१३॥

'संशय सब जग खंडिया' के अनुसार न मैं संशय करता न डरता, दुख सुखका निर्णय कर ज्ञानके आधारसे निराधार स्वरूपमें घर कर लिया ॥ १३ ॥

बिन पाँवन का पंथ है, बिन बस्ती का देश ।
बिना देह का पुरुष है, कहैं कबिर संदेश ॥१४॥
नोंन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहैं गौन ।
सुरति शब्द मेला भया, काल रहा गहि मौन ॥१५॥

गुरु कबीर इशारा कर रहे हैं कि, उस मार्ग पर चलनेके लिये इस पगकी जरूरत नहीं है क्योंकि वह देश और पुरुष बिना बस्ती व शरीर के हैं ॥ जब नमक गलके पानी हो गया। फिर थैलेमें कैसे भर सकता? जहाँ वृत्ति सार स्वरूपमें मिलगई वहाँ काल चूँ भी नहीं करता ॥ १४ ॥ १५ ॥

हिलमिल खेलै शब्द सों, अन्तर रही न रेख ।
समझे का मत एक है,क्या पंडित क्या सेख॥१६॥
अलख लखा लालच लगा, कहत न आवै बैन ।
निज मन धसा सरूप में, सतगुरु दीन्हीं सैन॥१७॥

जहाँ सार शब्दका विचार है वहाँ पण्डित, काज़ीका भेद भाव नहीं रहता, क्योंकि समझदारोंका मत एक होता है ॥ सद्गुरुके इशारासे अलख लखनेमें आगया, मनोवृत्ति निज स्वरूपमें लीन होगई किन्तु वह वाणिसे व्यक्त नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥

कहना था सो कहि दिया,अब कछु कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहरि समाय॥१८॥
जो कोइ समझै सैन में, तासों कहिये धाय ।
सैन बैन समझै नहीं, तासों कहै बलाय ॥१९॥

कहने योग्य कह दिया अब न बाकी है न कहा जा सकता

याती ॥' वहाँ बारहों महीना आनन्द होता है। प्रेम रसकी भरनासे हृदय कमल प्रफुल्लित होता है। और आत्मस्वरूपका ज्योति समूह प्रकाशित करता है ॥ ६ ॥ १० ॥

हम बासी वा देस के, जाति बरन कुल नाँहि।
शब्द मिलावा ह्वै रहा, देह मिलावा नाँहि ॥११॥

'ऊँच नीच कुल की मर्यादा आश्रम वर्ण विचारा।
धर्म अधर्म किछुवो नहिं तहवाँ संयम नियम अचारा॥'

"सन्तो! सो निज देश हमारा" इस वचनके अनुसार गुरु कबीर कहते हैं हमारा वह देश है जहाँ मिथ्या वर्णादिकी व्यवस्था नहीं है उस देशका मिलाप केवल सार शब्द से होता है, शरीरसे नहीं ॥ ११ ॥

हम बासी वा देस के, रूप बरन कछु नाँहि।
सैन मिलावा ह्वै रहा, शब्द मिलावा नाँहि ॥१२॥

'पाँच तत्त्व गुण तीन तहाँ नहिं, नहिं तहाँ सृष्टि पसारा।
तहाँ न माया कृत प्रपञ्च यह, लोग कुटुम परिवारा॥'

'सन्तो सो निज देश हमारा' ॥ कहते हैं हम उस देशके वासी हैं, जहाँ मायाकृत नाम रूप कुछ नहीं है उस देशका सम्बन्ध फक्त इशारासे होता है वर्णात्मक शब्दसे नहीं ॥१२॥

संसै करौं न मैं डरौं, सब दुख दिये निवार।
सहज शुन्न में घर किया, पाया नाम अधार ॥१३॥

'संशय सब जग खंडिया' के अनुसार न मैं संशय करता न डरता, दुख सुखका निर्णय कर ज्ञानके आधारसे निराधार स्वरूपमें घर कर लिया ॥ १३ ॥

विन पाँवन का पंथ है, विन वस्ती का देश।
विना देह का पुरुप है, कहैं कबिर संदेश ॥१४॥
नोंन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहैं गौन।
सुरति शब्द मेला भया, काल रहा गहि मौन ॥१५॥

गुरु कबीर इशारा कर रहे हैं कि, उस मार्ग पर चलनेके लिये इस पगकी जरूरत नहीं है क्योंकि वह देश और पुरुष विना वस्ती व शरीर के हैं॥ जब नमक गलके पानी हो गया। फिर थैलेमें कैसे भर सकता? जहाँ वृत्ति सार स्वरूपमें मिलगई वहाँ काल चूँ भी नहीं करता ॥ १४ ॥ १५ ॥

हिलमिल खेलै शब्द सों, अन्तर रही न रेख।
समझे का मत एक है, क्या पंडित क्या सेख॥१६॥
अलख लखा लालच लगा, कहत न आवै बैन।
निज मन धसा सरूप में, सतगुरु दीन्हीं सैन॥१७॥

जहाँ सार शब्दका विचार है वहाँ पण्डित, काज़ीका भेद भाव नहीं रहता, क्योंकि समझदारोंका मत एक होता है॥ सद्गुरुके इशारासे अलख लखनेमें आगया, मनोवृत्ति निज स्वरूपमें लीन होगई किन्तु वह वाणिसे व्यक्त नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥

कहना था सो कहि दिया, अब कछु कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहरि समाय॥१८॥
जो कोइ समझै सैन में, तासों कहिये धाय।
सैन बैन समझै नहीं, तासों कहै बलाय ॥१९॥

कहने योग्य कह दिया अब न बाकी है न कहा जा सकता

बिन पाँवन का पंथ है, बिन बस्ती का देश ।
बिना देह का पुरुष है, कहैं कबिर संदेश ॥१४॥
नोंन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहैं गौन ।
सुरति शब्द मेला भया, काल रहा गहि मौन ॥१५॥

गुरु कबीर इशारा कर रहे हैं कि, उस मार्ग पर चलनेके लिये इस पगकी जरूरत नहीं है क्योंकि वह देश और पुरुष बिना बस्ती व शरीर के हैं ॥ जब नमक गलके पानी हो गया । फिर थैलेमें कैसे भर सकता? जहाँ वृत्ति सार स्वरूपमें मिल गई वहाँ काल चूं भी नहीं करता ॥ १४ ॥ १५ ॥

हिलमिल खेलै शब्द सों, अन्तर रही न रेख ।
समझे का मत एक है, क्या पंडित क्या सेख॥१६॥
अलख लखा लालच लगा, कहत न आवै बैन ।
निज मन धसा सरूप में, सतगुरु दीन्ही सैन॥१७॥

जहाँ सार शब्दका विचार है वहाँ पण्डित, काज़ीका भेद भाव नहीं रहता, क्योंकि समझदारोंका मत एक होता है ॥ सद्गुरुके इशारासे अलख लखनेमें आगया, मनोवृत्ति निज स्वरूपमें लीन होगई किन्तु वह वाणिसे व्यक्त नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥

कहना था सो कहि दिया, अब कछु कहा न जाय ।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहरि समाय॥१८॥
जो कोइ समझै सैन में, तासों कहिये धाय ।
सैन बैन समझै नहीं, तासों कहै बलाय ॥१९॥

[illegible] ने योग्य कह दिया अब न बाकी है न कहा जा सकता

है। क्योंकि दरिया और लहर दो नहीं है और एकमें कुछ कहा जाता नहीं। इशारा समझनेवालोंको इशारा किया जा सकता है किन्तु सैन बैन समझसे जो बाहर हैं उनसे कुछ कहना व्यर्थ है ॥ १८ ॥ १६ ॥

पिंजर प्रेम प्रकाशिया, जागी जोति अनंत।
संशै छूटा भय मिटा, मिला पियारा कंत ॥२०॥
उनमुनि लागी सुन्न में, निशादिन रहि गलतान।
तन मनकी कछु सुधि नहीं, पाया पद निरबान ॥२१॥

देह देवालयमें प्रेम दीपक जलनेसे अखण्ड स्वरूपकी ज्योति जाग उठी। संशय निवृत्त हुआ, निर्भय प्रीतमसे मिलाप हो गया। निरालयमें उन्मुनि समाधि लग गई, मन मस्तीमें आ गया रात दिन और तन मनकी भी कुछ सुध न रही क्योंकि निर्बन्ध पद पा गया ॥ २० ॥ २१ ॥

उनमुनि चढ़ी अकास को, गई धरणि से छूट।
हंस चला घर आपने, काल रहा शिर कूट ॥२२॥
उनमुनि सों मन लागिया, गगनहिं पहुँचा जाय।
चाँद बिहूना चाँदनी, अलख निरंजन राय ॥२३॥

जब निरावरण स्वरूपमें उन्मुनि वृत्ति हुई तब धर-धरतीसे सम्बन्ध छूट गया। हंस निज देशका रस्ता लिया उस पर गति न होनेसे काल शोकातुर हुआ। मनोवृत्ति उन्मुन हो नवकोशके आगे दशवें द्वारमें जा पहुँची जहाँ बिना चाँदके शीतल प्रकाश है और मायावी ब्रह्मकी गति नहीं ॥ २२ ॥ २३ ॥

उनमुनि सों मन लागिया, उनमुनि नहीं बिलंगि।
लौंन बिलंग्या पानिया, पानी नौंन बिलंगि ॥२४

पानी ही ते हिम भया, हिमही गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय ॥२५

मन उनमुनी दशासे प्रेम कर लिया अब वह अलग इस प्रकार नहीं होता जिस प्रकार पानीमें मिला हुआ लवण ॥ पानीसेही पाला हुआ था पाला ओगलके पुनः जो था सोई हो गया, दो का कथन मिट गया ॥ २४ ॥ २५ ॥

मेरी मिटि मुक्ता भया, पाया अगम निवास ।
अब मेरे दूजा नहीं, एक तुम्हारी आस ॥२६॥
सुरति समानी निरतिमें, अजपा माहीं जाप ।
लेख समाना अलख में, आपा माहीं आप ॥२७॥

'मैं' मेरी' मिट गई और मुक्त स्वरूपकी अगम स्थितिकी गम हो गई । प्रभुजी ! अब मुझे आपके सिवा दूसरोंकी आशा भी न रही ॥ निरालम्ब स्वरूपमें सुरति और अजपामें जाप एवं लेख किया अलखमें और अपने स्वरूपमें आप समा गया ॥

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार ।
सुरति निरति परिचय भया, खुलगया सिंधु दुवार २८
गुरू मिले शीतल भया, मिटी मोह तन ताप ।
निशिवासर सुख निधि लहूँ, अन्तर प्रगटे आप २९

लक्ष्यमें सुरति समा गई और लक्ष्य निरालम्ब है। सुरतिको निरतिसे परिचय होनेपर सिन्धु स्वरूप निरावरण हो गया ॥ सद्गुरु मिले ज्ञान-कपाट खुल गया शान्ति आगई मोह जनित त्रिविध तन-ताप मिट गया । प्रभो ! आप भीतर प्रगट हुये कि रात दिन सुख सागरकी प्राप्ति होगई ॥ २८ ॥ २९ ॥

सुचि पाया सुख ऊपजा, दिल दरिया भरपूर।
सकल पाप सहजै गया, साहिब मिले हजूर ॥३०॥
तत पाया तन बीसरा, मन धाया धरि ध्यान।
तपत मिटी शीतल भया, शुन्न किया अस्थान ॥३१॥

शुद्ध शान्तिकी प्राप्ति हुई, सुख उत्पन्न हुआ, हृदय सागर उमड़ चला, अघ समूह धोआ गया, फिर हुजूर साहिब आप हाजिर हो गये॥ स्वरूप तत्त्वकी प्राप्तिसे तनकी सुध नहीं रहती। विषयमें दौड़नेवाला मन भी ध्यानमें मग्न होता है, निरालम्बमें स्थिति होनेसे ताप मिटकर शान्ति आ जाती है ३०।३१।

कौतुक देखा देह बिन, रवि शशि बिना उजास।
साहिब सेवा माहिं है, बेपरवाही दास ॥३२॥

'सूर्य चन्द्र तहाँ नहिं प्रकाशत, नहिं नभ मण्डल तारा।
उदय न अस्त दिवस नहिं रजनी, बिना ज्योति उजियारा॥
सन्तो सो निज देश हमारा' इत्यादि, बिना देहका दृश्य और बिना सूर्य चन्द्रका प्रकाश देखनेमें आया और साहिबकी सेवामें दास अचिन्त है॥ ३२॥

नेव बिहूँना देहरा, देह बिहूँना देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलख की सेव ॥३३॥

बिना बुनियादका देवालय और पंच भूतोत्पन्न देह बिनाका चेतन देव है। उसी मन्दिरमें कबीरकी स्थिति और उसी अलक्ष्य देवकी सेवा पूजा हैं॥ ३३॥

देवल माँहि देहुरी, तिल जैसा बिस्तार।
माहीं पाती फूल जल, माहीं पूजन हार ॥३४॥

शरीररूप मन्दिरमें हृदयरूपी देहरी यानी स्थानक है उसका फैलाव अति सूक्ष्म तिल परिमाण है और उसीमें प्रेम-पुष्पको मन मालीने स्नेह जलसे सींचकर प्रफुल्लित किया है और उसीमें पूजनेवाला प्राण पुजारी अपने आपको अर्पण कर चेतन देवका पूजन करता है ॥ ३४ ॥

पवन नहीं पानी नहीं, नहिं धरणी आकास।
तहाँ कबीरा सन्त जन, साहिब पास खवास ॥३५॥

ऐ कबीरो! जहाँ सन्तजन मालिकका चिन्तनरूप गुलामी करते हैं वहाँ भौतिक पवन, पानी आदि नहीं है ॥ ३५ ॥

अगुवानी तो आइया, ज्ञान विचार विवेक।
पीछे हरि भी आयँगे, सारे सौंज समेत ॥३६॥

प्रभु मिलनेकी सूचना प्रथम ज्ञान, विवेक और विचार जिसके हृदयमें आ गये फिर वहाँ मालिक भी अपनी सम्पूर्ण सामग्री सहित अवश्य आवेंगे ॥ ३६ ॥

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान
कहिये की शोभा नहीं, देखै ही परमान ॥३७॥

पारब्रह्मके तेजका अन्दाज करना व्यर्थ है क्योंकि कहनेमें उसकी शोभा नहीं वह देखनेहीसे प्रमाणित हो सकता है ॥३७॥

सुरज समाना चाँद में, दोउ किया घर एक।
मन का चेता तब भया, पुरब जनम का लेख ॥३८॥

ईड़ा, पिंगलाका मिलाप सुषुम्णामें एक ठिकाने करके योगी लोग जब वहाँ ध्यान लगाते हैं तब पूर्व जन्मके शुभ संस्कारसे मनोवृत्ति चेतनमय हो जाती है ॥ ३८ ॥

पिंजर प्रेम प्रकाशिया, अन्तर भया उजास।
सुख करि सूती महल में, बानी फूटी बास ॥३९॥

घटमें प्रेम प्रकाश होनेसे भीतर उजाला हुआ और हृदय मन्दिरमें ध्याता अचिन्त निद्रा लेने लगे हैं अनुभव वाणीका विकाश भी होने लगा ॥ ३९ ॥

आया था संसार में, देखन को बहु रूप।
कहैं कबीरा सन्त हो, परि गया नजर अनूप ॥४०॥
पाया था सो गहि रहा, रसना लागी स्वाद।
रतन निराला पाइया, जगत टटोला बाद ॥४१॥

संसारके रंग बिरंगे रूपोंको देखनेको आया था, उसी सिलसिलेमें सन्तोंका सत्संग हुआ और अनुपम वस्तु नज़रमें आगई॥ बस! उसीको पकड़ लिया, रसना रस लेने लगी क्योंकि विशुद्ध रत्न मिल गया फिर व्यर्थमें गन्दे जगतको क्या टटोलना॥ ४० ॥ ४१ ॥

कुछ करनी कुछ करम गति, कुछ पूरबले लेख।
देखो भाग कबीर का,लख से भया अलेख॥४२॥

ऐ कबीर! भाग्यका तमाशा देख ले, लखते २ अलख हो गया इसमें कर्त्तव्यका यथावत् पालन और कर्मका यथार्थ ज्ञान एवं जन्मान्तरका संचित शुभ संस्कार। बस! यही तीन कारण हैं ॥ ४२ ॥

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं मैं नाँहि।
कबीर नगरी एक मैं, दो राजा न समाँहि ॥४३॥
मैं जाना मैं और था, मैं तजि है गय सोय।
मैं तैं दोऊ मिटि गये, रहे कहन को दोय ॥४४॥

जहाँ तक 'मैं' 'मेरी' का ख़याल था, गुरु नहीं थे, अब 'मैं' 'मेरी' मिट गई स्वयं गुरु हैं। ऐ कबीरो! एक तख्त पर दो राजा नहीं बैठता। मैं अपने आपको और समझ रक्खा था, परन्तु खुदी मिटानेसे वही होगया। 'मैं' 'तू' दोनों मिट गये, केवल कहने को दो रहे ॥ ४३-॥ ४४ ॥

अगम अगोचर गम नहीं, जहाँ झिलमिली जोत।
तहाँ कबीरा रमि रहा, पाप पुन्न नहिं छोत ॥४५॥

वहाँ स्थूल इन्द्रियों की गति नहीं है जहाँ स्वतः प्रकाश स्वरूप है। वहाँ मुमुक्षुकी वह शुद्ध वृत्ति विहार करती है। जो पाप पुण्य, स्पर्शास्पर्शादि भेद भावसे रहित है ॥ ४५ ॥

कबीर तेज अनंत का, मानो सूरज सैन।
पति सँग जागी सुंदरी, कौतुक देखा नैन ॥४६॥

ऐ कबीरो! 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वम्' के अनुसार अनन्त आत्मस्वरूपके प्रकाशसे ही सूर्य प्रकाशता है ऐसा समझो, उसी स्वामीके संग सुन्दरी यानी शुद्ध वृत्ति जगीऔर विवेक दृष्टिसे उस अनुपम खेलको देखा ॥ ४६ ॥

कबीर देखा एक अँग, महिमा कही न जाय।
तेज पुंज परसा धनी, नैनों रहा समाय ॥४७॥

ऐ कबीरो! जिसके एक अंगकी शोभा वर्णन नहीं हो सकती उस स्वामीके सर्वाङ्गको जिसने देखा और स्पर्श किया वह उससे अलग कैसे हो सकता! हर्गिज़ नहीं ॥ ४७ ॥

कबीर कमल प्रकासिया, ऊगा निरमल सूर।
रैन अँधेरी मिटि गई, बाजै अनहद तूर ॥४८॥

कबीर मन मधुकर भया, करै निरन्तर वास ।
कमल खिला है नीर बिन, निरखै कोइ निजदास॥४६॥

हृदय कमल शुद्ध होनेसे निर्मल ज्ञान रूप सूर्य उदय हुआ मोह निशा जाती रही ज्ञान विगुलकी अनाहत ध्वनि होने लगी। मन भ्रमर लुब्ध होकर वहँ निरन्तर निवास करने लगा। विना जलके कमल खिला है उसका दर्शन निजी सेवक करता है ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

कबीर मोतिन की लड़ी, हीरों का परकास।
चाँद सूर की गम नहीं, दरशन पाया दास ॥५०॥
कबीर दिल दरिया मिला, पाया फल समरत्थ ।
सायर माँहि ढिंढोरताँ, हीरा चढ़ि गया हत्थ ॥५१॥

हीरा रूपी स्वरूपके प्रकाशमें वृत्तियोंकी स्थिरता रूपी मोतियोंका हार शोभा बढ़ा रहा है। वहाँ सूर्य चन्द्रका प्रवेश नहीं है, दास दर्शन कर कृतकृत्य होता है। मन-तरंग सागरसे मिला और समर्थ साहेब रूप फल पा लिया। संसाररूप सागरमें टटोलनेसे हीरा (स्वरूप) हाथ लग गया ॥ ५० ॥ ५१ ॥

कबीर जब हम गावते, तब जाना गुरु नाँहि ।
अब गुरु दिलमें देखिया, गावन को कछु नाँहि॥५२॥
कबीर दिल दरिया मिला, बैठा दरगह आय ।
जीव ब्रह्म मेला भया, अब कछु कहा न जाय॥५३॥

'गावे कथे विचारे नाहीं' के अनुसार विचार विना गुरुका ज्ञान नहीं होता, दिल दरबारमें गुरुका दर्शन कर लिया अब गानेकी ज़रूरत न रही। चित्स्वरूप सागरमें मनरूप तरंग

मिला और उसी दरबारमें आ बैठा। जीव ब्रह्मका मिलाप हुआ, अब कथन नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
चहुँदिशि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर ॥५४॥
गगन मंडल के बीच में, झलकै सत का नूर।
निगुरा गम पावै नहीं, पहुँचै गुरुमुख शूर ॥५५॥

ऐ कबीरो! ब्रह्माण्डमें सघन बादल लगा है अभ्यासियोंकी वृत्तिरूपी वायु वहाँ जाकर उसे हिलाती और अमृत बर्षाती है। चारों ओर बिजली चमक रही है, दास तर हो रहा है। यद्यपि वहाँ सत्स्वरूपका प्रकाश हो रहा है तथापि निगुरोंको पहुँच वहाँ तक नहीं होती वहाँ तो गुरु सत्संगी वीर पहुँचती है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

गगन मंडल के बीच में,महल पड़ा इक चीन्हि।
कहैं कबीर सो पावई,जिहिं गुरुपरिचै दीन्हि॥५६॥
गगन मंडल के बीच में, बिना कमल की छाप।
पुरुष एक तहाँ रमि रहा, नहीं मंत्र नहिं जाप॥५७॥

हृदय दहरमें एक महल है और उसीकी निशानी भी है किन्तु वहाँ वही जा सकता है जिसको सद्गुरुने परिचय कराया है। वहाँ कमल आकार बिना निशानी मात्र है, एकही पुरुष वहाँ रमता है, मंत्र जप कुछ नहीं करता ॥५६॥५७॥

गगन मंडल के बीच में, तुरी तत्त इक गाँव।
लच्छ निशाना रूप का, परखि दिखाया ठाँव॥५८॥

हृदय आकाशमें एक नगर है, तुरीयावस्था वाला वहाँ पहुँ-

कबीर मन मधुकर भया, करै निरन्तर वास।
कमल खिला है नीर बिन, निरखै कोइ निजदास॥४६॥

हृदय कमल शुद्ध होनेसे निर्मल ज्ञान रूप सूर्य उदय हुआ मोह निशा जाती रही ज्ञान बिगुलकी अनाहत ध्वनि होने लगी। मन भ्रमर लुब्ध होकर वहँ निरन्तर निवास करने लगा। बिना जलके कमल खिला है उसका दर्शन निजी सेवक करता है ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

कबीर मोतिन की लड़ी, हीरों का परकास।
चाँद सूर की गम नहीं, दरशन पाया दास॥५०॥
कबीर दिल दरिया मिला, पाया फल समरत्थ।
सायर माँहि ढिंढोरताँ, हीरा चढ़ि गया हत्थ॥५१॥

हीरा रूपी स्वरूपके प्रकाशमें वृत्तियोंकी स्थिरता रूपी मोतियोंका हार शोभा बढ़ा रहा है। वहाँ सूर्य चन्द्रका प्रवेश नहीं है, दास दर्शन कर कृतकृत्य होता है। मन-तरंग सागरसे मिला और समर्थ साहेब रूप फल पा लिया। संसाररूप सागरमें टटोलनेसे हीरा (स्वरूप) हाथ लग गया ॥ ५० ॥ ५१ ॥

कबीर जब हम गावते, तब जाना गुरु नाँहि।
अब गुरु दिलमें देखिया, गावन को कछु नाँहि॥५२॥
कबीर दिल दरिया मिला, बैठा दरगह आय।
जीव ब्रह्म मेला भया, अब कछु कहा न जाय॥५३॥

'गावे कथे विचारे नाहीं' के अनुसार विचार बिना गुरुका ज्ञान नहीं होता, दिल दरबारमें गुरुका दर्शन कर लिया अब गानेकी जुरुरत न रही। चित्स्वरूप सागरमें मनरूप तरंग

मिला और उसी दरबारमें आ बैठा । जीव ब्रह्मका मिलाप हुआ, अब कथन नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

गगन गरजि बरसै असी, बादल गहिर गँभीर ।
चहुँदिशि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर ॥५४॥
गगन मंडल के बीच में, झलकै सत का नूर ।
निगुरा गम पावै नहीं, पहुँचै गुरुमुख सूर ॥५५॥

ऐ कबीरो ! ब्रह्माण्डमें सघन बादल लगा है अभ्यासियोंकी वृत्तिरूपी वायु वहाँ जाकर उसे हिलाती और अमृत वर्षाती है । चारों ओर बिजली चमक रही है, दास तर हो रहा है । यद्यपि वहाँ सत्स्वरूपका प्रकाश हो रहा है तथापि निगुरोंको पहुँच वहाँ तक नहीं होती वहाँ तो गुरु सत्संगी वीर पहुँचती है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

गगन मंडल के बीच में, महल पड़ा इक चीन्हि ।
कहैं कबीर सो पावई, जिहिं गुरु परिचै दीन्हि ॥५६॥
गगन मंडल के बीच में, बिना कमल की छाप ।
पुरुष एक तहाँ रमि रहा, नहीं मंत्र नहिं जाप ॥५७॥

हृदय दहरमें एक महल है और उसीकी निशानी भी है किन्तु वहाँ वही जा सकता है जिसको सद्गुरुने परिचय कराया है । वहाँ कमल आकार बिना निशानी मात्र है, एकही पुरुष वहाँ रमता है, मंत्र जप कुछ नहीं करता ॥५६॥५७॥

गगन मंडल के बीच में, तुरी तत्त इक गाँव ।
लच्छ निशाना रूप का, परखि दिखाया ठाँव ॥५८॥

हृदय आकाशमें एक नगर है, तुरीयावस्था वाला वहाँ पहुँ-

चता है जिसको सद्गुरुने लक्ष्यस्वरूपका निशाना ठीक ठीक परखाया है ॥ ५८ ॥

गरजै गगन अमी चुवै, कदली कमल प्रकास।
तहाँ कबीरा संत जन, सत्त पुरुष के पास ॥५९॥
गरजै गगन अमी चुवै, कदली कमल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदगी, कर कोई निज दास ॥६०॥

गगन गर्जता और अमृत बरसता है, शरीररूपी कदलीमें हृदय कमल प्रफुल्लित होता है। ऐ कबीरो! यहाँ सत्पुरुषके समीप अभ्यासी सन्तजन रहते हैं। या वन्दगी दार भक्त, जिसको वे अपना सेवक समझ लें ॥ ५९ ॥ ६० ॥

दीपक जोया ज्ञान का, देखा अपरम देव।
चार वेद की गम नहीं, तहाँ कबीरा सेव ॥६१॥
मानसरोवर सुगम जल, हंसा केलि कराय।
मुक्ताहल मोती चुगै, अब उड़ि अंत न जाय॥६२॥

ज्ञान-दीपक जलाया और अनुपम देवका दर्शन कर लिया जहाँ वेद वाणीकी गति नहीं, ऐ कबीरो! वहाँ के लिये प्रयत्न करो ॥ हृदयरूप मानसरोवरमें निर्मल चित्स्वरूप जल भरा है, उसमें सत्संगी हंस जीव विहार करते हैं और अनबेधे मोती (अचल मुक्ति) का आहार भी। अब उड़कर अलग नहीं जाते ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

शून्न महल में घर किया, बाजै शब्द रसाल।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ॥६३॥
पूरे से परिचय भया, दुख सुख मेला दूर।
जम सों बाकी कटि गई, साईं मिला हजूर ॥६४॥

निरालम्ब स्वरूपमें अपनी स्थिति कर ली, जहाँ उद्वेग रहित मधुर शब्द हो रहा है वहाँ रोम रोममें ज्ञानदीपक जलाके तरन तारन प्रभु प्रगट हुए ॥ बस! पूरे साहिबसे परिचय हुआ सुख दुःख का झमेला दूर हो गया। स्वामी का प्रत्यक्ष हुआ और मृत्यु से फारखती हुई ॥ ६३ ॥ ६४

सुरति उड़ानी गगन को, चरन विलंबी जाय ।
सुख पाया साहिब मिला, आनंद उर न समाय ॥६५॥

सुरति उड़ी और निरालम्ब सद्गुरु के चरणों में जा लगी। साहिब मिल गये आनन्द सिन्धु में शान्त हो गई ॥ ६५ ॥

जा वन सिंघ न संचरै, पंछी उड़ि नहिं जाय ।
रैन दिवस की गम नहीं, रहा कबीर समाय ॥६६॥

जिस वन यानी निरालम्ब स्वरूप में सिंहरूप हिंसक संसारी जीवों का प्रवेश नहीं और मलिन मनरूप पक्षी की गति नहीं एवं रात दिन समयका आक्रमण नहीं, ऐ कबीर! वहाँ सत्संगियोंकी शुद्ध सुरति जाकर स्थिति की और करती है ॥६६॥

सीप नहीं सायर नहीं, स्वाति बुंद भी नाँहि ।
कबीर मोती नीपजै, सुन सरवर घट माँहि ॥६७॥
काया सिप संसार में, पानी बुन्द शरीर ।
बिना सीप के मोतिया, प्रगटै दास कबीर ॥६८॥

न शरीररूपी सीप है न संसाररूप सागर, फिर भोगरूप स्वाती बूँदकी भी क्या जरूरत? ऐ कबीरो! अब तो निराधार हृदय सागरमें मोती पकता है। और जिज्ञासुजन संसाररूप सागरमें बूँदसे रचा हुआ शरीररूपी सीपोंके विनाही मोती (ज्ञान) पकाते हैं ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

घट में औघट पाइया, औघट माहीं घाट।
कहैं कबिर परिचय भया, गुरु दिखाईं बाट ॥६९॥
जा कारण मैं जाय था, सो तो मिलिया आय।
साईं ते सनमुख भया, लगा कबीरा पाय ॥७०॥

शरीरहीमें चित्स्वरूप औघटको प्राप्त कर लिया, क्योंकि सद्गुरुने औघट घाटका बाट लखा दिया इसलिये साहिबसे परिचय हो गया ॥ जिसके लिये मैं अनेकों मार्गमें जा रहा था वह सद्गुरुकी दयासे स्वयं आकर मिल गया, बस! सेवक स्वामीके संमुख हुआ और चरणोंमें लेट गया ॥ ६९ ॥ ७० ॥

जा कारन मैं जाय था, सो तो पाया ठौर।
सो ही फिर आपन भया, जाको कहता और ॥७१॥

"दूर दूर ढूंढे मन लोभी मिटै न गर्भ तरासा" इत्यादि वचनके अनुसार जिसके वास्ते मैं लोक, वेदके पीछे दौड़ रहा था वह वस्तु पासहीमें मिल गई 'सोहंग पलटे हंसा होई। पावे पारख पारखी सोई॥' 'है समीप संधि बूझै कोई' इत्यादि वचनके अनुसार भ्रमिकोंके कहनेसे जिसे तुच्छ समझ रहा था सद्गुरु-दया-अन्तमुर्ख वृत्तिसे वही पुनः आपना आप हुआ ॥ ७१ ॥

जा दिन किरतम ना हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हता कबीरा सन्त जन, देखा औघट घाट ॥७२॥
नहीं हाट नहिं बाट था, नहीं धरति नहिं नीर।
असंख जुग परलै गया, तब की कहैं कबीर ॥७३॥

जिस दिन (सत्संगमें) कृत्रिम प्रपंचका अभ्यास नहीं था और न यह बाज़ार न मार्गही था पे कबीरो! सद्गुरुसे परि-

चित सन्तजन उसदिन औघट घाट (चित्स्वरूप) में थे और रहते हैं ॥ स्वरूपमें स्थित पुरुषको हाट बाट और ये सम्पूर्ण संसार प्रपंच न था न है और न युग-प्रलयोंकी संख्या थी न हो सकती है । कवीर गुरु कहते हैं उस वक्तकी यह बात है७२-७३

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता नहीं ओंकार।
तहाँ कबीरा सन्त जन, को जानै संसार ॥७४॥
धरति गगन पवनै नहीं, नहिं होते तिथि वार।
तब हरि के हरिजन हुते, कहैं कबीर विचार ॥७५॥

जहाँ चन्द्र व सूर्यकी गति नहीं है एवं वेदका मस्तक ॐकार भी न था न है । ऐ कबीरो! वहाँ (स्वरूपमें) शान्त चित्त सन्तजन रहते हैं फिर उन्हें परिवर्त्तन संसारमें रहनेवाला कोई कैसे जान सकता ? ॥ पृथ्वी, पवनादि परिणामी पदार्थ अपरिणामी चित्स्वरूपमें न था न है । कवीर गुरु कहते हैं-हरिजन हरवक्त हाजिर हजूर थे व हैं ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

धरति हती नहिं पग धरूँ, नीर हता नहिं न्हाऊँ।
माता ने जनम्या नहीं, छीर कहाँ ते खाऊँ ॥७६॥

आत्मस्वरूपसे विदेह मुक्तिकी स्थिति बतलाते हैं कि परिणामी पृथ्वी आदिके आधार विना चित्स्वरूप स्थित है उसकी स्थितिके लिये न पृथ्वी थी न स्नानार्थ जलही था और जब उसे माता (माया) ने जन्म नहीं दिया तो दुग्ध पानकी कथा ही क्या ? ॥ ७६ ॥

पाँच तत्त्व गुन तीन के, आगे मुक्ति मुकाम।
तहाँ कबीरा घर किया, गोरख दत्त न राम ॥७७॥

पृथ्वी आदि पंच तत्त्व और सत् आदि तीन गुणके आगे

मोक्षधाम है। ऐ कबीरा! वहाँ विदेह मुक्तकी स्थिति होती है जहाँ गोरख, दत्तात्रेय और राम, रहीमका भेद नहीं है॥ ७७॥

सुर नर मुनिजन औलिया, ये सब उरली तीर।
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर॥७८॥
सुर नर मुनिजन देवता, ब्रह्मा विष्णु महेस।
ऊँचा महल कबीर का, पार न पावै सेस॥७९॥

ऐ कबीर! सुर, नर, मुनि और औलिया इन सबकी स्थिति उरले किनारे हैं परले किनारे तो प्रभुसे परिचित विरले सन्त पहुँचते हैं जहाँ राम, रहीमकी गति नहीं॥ .वह बहुत ऊँचा स्थान है, भेद वादी कोरा कर्मकाण्डी ब्रह्मा आदिकी वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती॥ ७८॥ ७९॥

जब दिल मिला दयाल सों, तब कछु अंतर नाँहि।
पाला गलि पानी भया, यौं हरिजन हरि माँहि॥८०॥
ममता मेरा क्या करै, प्रेम उघारी पोल।
दरशन भया दयाल का, शूल भई सुख सोल॥८१॥

प्रभुसे परिचय होनेपर स्वामी, सेवकमें ऐसे अन्तर भेद नहीं रहता जैसे पाला ओगलने पर पानी पाला में॥ ममता मेरा कुछ नहीं कर सकती क्योंकि प्रेमका द्वार खुल गया और दयालके दर्शनसे कृतकृत्य हो चुका हूँ अब दुःख भी सब सरल और सुख रूप प्रतीत हो रहा है॥ ८०॥ ८१॥

सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव।
सुधा सिंधु सुख विलसही, विरला जानै भेव॥८२॥

जिस शीतल, शान्ति आनन्दको तटस्थ देवगण नहीं ले सकते उस एकान्त अमृत सागरका विहार अभ्यासी जनका

मनरूपी मछली लेती है। क्योंकि उसका रहस्य विरलाही सत्संगी जानता है ॥ ८२ ॥

गुन इन्द्री सहजे गये, सतगुरु करी सहाय।
घट में नाम प्रगट भया, वकि वकि मरै बलाय ॥८३॥

सद्गुरुने सहायता की, विषयोंमें प्रवृत्तिरूप गुण इन्द्रियोंके सहजही चले गये और हृदयमें राम प्रगट हो गया अब मेरा बलाय वकि वकि मरे, मुझे कोई प्रयोजन नहीं ॥ ८३ ॥

जब लग पिय परिचय नहीं, कन्या क्वाँरी जान।
हथ लेवो हूँ सालियो, मुस्किल पड़ि पहिचान ॥८४

जब तक पतिसे परिचय नहीं है तबही तक कन्याको कुमारी समझो परिचय होने पर तो पाणिग्रहण भी बुरा लगता है ॥ ८४ ॥

सेजै सूती रंग रम्हा, भागा मान गुमान।
हथ लेवो हरि सूँ जूर्यो, अखै अमर वरदान ॥८५॥
पूरे सों परिचय भया, दुख सुख मेला दूर।
निरमल कीन्ही आतमा, ताते सदा हजूर ॥८६॥

निर्भय सेज पर सो गई और स्वामीके रंगमें रमने लगी, मान और अभिमान दोनों चले गये पाणिग्रहणका संयोग प्रभुसे हुआ वही अखण्ड अविनाशी वर मिला। जब पूर्ण धनीसे पहिचान हुई तब सुख दुख दोनों दूर हो गये आत्मा पवित्र हो गई, अतः सर्वदा अब स्वामी हाजिर हैं ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

मैं लागा उस एक सों, एक भया सब माँहि।
सब मेरा मैं सबन का, तहाँ दूसरा नाँहि ॥८७॥

भली भई जो भय पड़ी, गई दिसा सब भूल।
पाला गलि पानी भया, ढूलि मिला उस कूल॥८८॥

मैंने तो उस एक अपने स्वामीसे प्रेम किया किन्तु अब वह एक सबमें प्रतीत होने लगा। तब मैं समझ गया सब मेरा और सबका मैं हूँ यहाँ द्वैती भेद नहीं है॥ बहुत अच्छा हुआ ऐसा होनाही योग्य था, सब दिग् भ्रम मिट गया। भेदभावरूप पाला निज ज्ञान स्वरूप पानी होकर उस अपने असल प्रथम स्वरूपमें जा मिला॥ ८७॥ ८८॥

चितमनि पाई चौहटे, हाड़ी मारत हाथ।
मीराँ मुझपर मिहर करि, मिला न काहू साथ॥८९॥
बरसि अमृत निपज हिरा, घटा पड़े टकसार।
तहाँ कबीरा पारखी, अनुभव उतरैं पार॥९०॥

हृदय-हाटमें चितमनि-स्वामी मिल गये अब तृष्णारूपी हाड़ी दम पछाड़ खाने लगी, मेरे ऊपर तो केवल मीरां-सद्‌गुरुने ही दया की और कोई भी संग साथी नहीं॥ उपदेशामृतकी वर्षा हुई और हृदयमें ज्ञानरूप हीरा उत्पन्न हुआ। घटहीमें टँकसाल घर खुला और मुहर छाप पड़ने लगा, ऐ कबीरा! तहाँ सारासार पारखी सन्तही निज अनुभव परीक्षासे वस्तुको परखकर पार उतरे व उतरते हैं॥ ८९॥ ९०॥

मकर तार सों नेहरा, झलकै अधर विदेह।
सुरति सोहंगम मिलि रहि, पल पल जुरै सनेह॥९१॥

दशवें द्वारका मार्ग मकर तारकी तरह बारीक और तेलकी तरह सचिक्कण है जहाँ विदेह पुरुषका प्रकाश होता है। केवल

अभ्यासियोंकी वृत्ति वहाँ जाकर उससे मिलती और प्रेम करती है ॥ ६१ ॥

ऐसा अविगति अलख है, अलख लखा नहिं जाय।
जोति सरूपी राम है, सब में रह्यौ समाय ॥९२॥

यद्यपि प्रकाश रूपसे घट घटमें रमा हुआ राम है। तथापि वह पुरुष ऐसा अगम, अलख है कि उसे सर्व साधारण नहीं लख सकता ॥ ६२ ॥

मिलि गय नीर कबीर सों, अंतर रही न रेख।
तीनों मिलि एकै भया, नीर कबीर अलेख ॥६३॥
नीर कबीर अलेख मिलि, सहज निरंतर जोय।
सत्त शब्द औ सुरति मिलि, हंस हिरंबर होय ॥६४॥

मनरूप नीर[1] जब काया वीर कबीरसे[2] मिला तब अन्तर पड़दा हट गया और नीर, कबीर, अलेख[3] तीनों एक स्वरूप हो गये ॥ मनोवृत्तिकी चंचलता मिट जाने व शुद्ध होने पर स्वभाविक सदा स्वरूपहीको विषय करती है क्योंकि सद्गुरु उपदिष्ट सत्स्वरूपको छोड़ अन्य कोई उसका विषयही नहीं होता अतः चित्स्वरूपमें सुरति लीन होनेसे हंस जीव कंचन (अमर, मुक्त) हो जाता है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

कहना था सो कहि दिया, अब कछु कहना नाँहि।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माँहि ॥६५॥

---

१ मन–मनकी वाह्य प्रवृत्ति होनेसे २ कबीर–आत्म स्वरूपको ३ अलेख–अलख जैसा समझता था पड़दों दूर होनेसे "परम प्रभु अपने ही उर पायो" के सदृश प्रभु से परिचय हुआ भेद मिट गया ॥

कथन—वाग्विलास भी तबही तक होता है जबतक पाँचसे अपरिचित वृत्ति बाह्य होती है और स्वरूप सागरमें लीन होने पर तो दूसरोंको भावनाही नहीं रहती फिर कथन, श्रवण कैसा ? अतः कहते हैं कि'कहना था सो कह दिया'इत्यादि।६५।

आया एकहि देश ते, उतरा एकही घाट।
बिच में दुविधा हो गई, हो गये बारह बाट ॥६६॥
तेज पुंज का देहरा, तेज पुंज का देव।
तेज पुंज झिलमिल झरै, तहाँ कबीरा सेव ॥६७॥

सबका मन मुसाफिर एकही आत्मदेशसे आया और एकही संसार घाटमें उतरा किन्तु गुरु विमुखताके कारण मनमें दुविधा पैदा होगई। अतः जहाँ तहाँ छिन्न भिन्न होगया ॥ ऐ कबीरो ! वहाँ उस देवको सेवन करो जहाँ तेजोमय देव और देवालय है और जिसको तेजपुञ्ज ज्योति प्रकाशित है ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

खाला नाला हीम जल, सो फिर पानी होय।
जो पानी मोती भया, सो फिर नीर न होय ॥६८॥

जलका नाम और रूप खाला, नाला व पाला भेदसे बदलता है और वह नामरूप मिटकर पुनः पानी बन जाता है किन्तु जो जल मोती बन जाता वह फिर पानी कभी नहीं होता ॥ ६८ ॥

जब मैं था तब हरि नहिं, अब हरि है मैं नाँहि।
सकल अँधेरा मिटि गया, दीपक देखा माँहि ॥६९॥

जब मैं 'मैं' 'मैं' का भावमें था तब हरि नहीं था अब हरिहै मैं नहीं। अन्दर ज्योति स्वरूप देखा और अन्धेरा सब दूर होगया ॥ ६९ ॥

सूरत में मूरत बसै, मूरत में इक तत्त।
ता तत तत्व विचारिया, तत्व तत्व सो तत्त॥१००॥
फेर पड़ा नहीं अंग में,नहिं इन्द्रियनकेमाँहि।
फेर पड़ा कछु बूझ में, सो निरुवारै नाँहि॥१०१॥

शुद्ध वृत्तिका एक लक्ष्य स्वरूप होता है और उसीमें एक तत्त्व है, तिसी तत्त्वके विचारसे वही तत्त्वरूप हो जाता है॥ किसीके भी अंग, इन्द्रिय आदिमें भेद नहीं है, भेद विचारमें है, वह कुसंगी नहीं सुधारता॥ १०० ॥ १०१ ॥

साहेब पारस रूप हैं, लोह रूप संसार।
पारस सो पारस भया,परखि भया टकसार॥१०२॥
मोती निपजै सुन्न में,बिन सागर बिन नीर।
खोज करंता पाइये, सतगुरु कहैं कबीर॥१०३॥

पारस स्वरूप साहिब लोहरूप संसारीको टकसार-बीजक ज्ञानसे स्पर्श कराकर पारसरूप बना लेते हैं॥ बिना सागर और नीरके निरालम्बमें मोती (मुक्ति) मिलता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं वह खोजनेवाला पाता है॥ १०२ ॥ १०३ ॥

या मोती कछु और है, वा मोती कछु और।
या मोती है शब्द का, व्यापिरहा सब ठौर॥१०४॥
दरिया माँहीं सीप है, मोती निपजै माँहि।
वस्तु ठिकानै पाइये, नाले खाले नाँहि॥१०५॥

इस मोती और उस (सागरके) मोतीमें भेद है, यह तो शब्दका मोती है और सर्वत्र गुंज रहा है॥ जिस प्रकार

समुद्रकी सीपमेंही मोती उत्पन्न होता है। ताल, तलैयामें नहीं, इसी प्रकार सद्वस्तु सत्पुरुषके पासही मिलती है ॥१०४-१०५॥

यह पद है जो अगम का, रन संग्रामे जूझ।
समुझे कूँ दरशन दिया, खोजत मुये अबूझ॥१०६॥

यह जो अगमका पद है इसे प्राप्त करनेवालेको संसार संग्राममें मन इन्द्रियोंसे युद्ध करना पड़ता है। जो इसे समझा और मनेन्द्रियों पर विजयी हुआ और होता है उसीको दर्शन दिया व देता हूँ। अज्ञानी खोजते खोजते मर मिटे न वह पाया न पा सकता है ॥ १०६ ॥

शीतल कोमल दीनता, संतन के आधीन।
चासों साहिब यों मिले, ज्यौं जल भीतर मीन॥१०७॥

जिसका हृदय शान्त और मृदु है एवं सन्तोंसे नम्र और अधीन रहता है उससे साहिब ऐसे मिले जुले रहते हैं जैसे जल बीच मछली ॥ १०७ ॥

कबीर आदू एक है, कहन सुनन कू दोय।
जल से पारा होत है, पारा से जल होय॥१०८॥
दिललागा जु दयालसों, तब कछु अंतर नाँहि।
पारा गलि पानी भया, साहिब साधू माँहि॥१०९॥

ऐ कबीर! यह आत्मस्वरूप स्वयं अनादि, अनन्त और परिणामी पदार्थका आदि एक है किन्तु 'एक चेता एक चेतवन हारा' इत्यादिके अनुसार श्रोता वक्ताके भेदसे दो कहा जाता है। दृष्टान्त पानी पालाको समझना चाहिये॥ मन साहिबमें लीन होने पर भेद इस प्रकार नहीं रह जाता, जिस प्रकार

पाला गलने पर पाला पानीमें। इसी तरह साहिव सन्तमें रहते हैं ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

रामनाम तिरलोक में, सकल रहा भरपूर ।
लाजै ज्ञान शरीर का, दिखवै साहिब दूर॥११०॥

आत्मस्वरूप रमैया राम जो सर्वत्र घटमें रम रहा है उस साहिवको जो दूर (पृथक) वतलाता है उसका ज्ञान लज्जास्पद है अर्थात् वह अज्ञानी है ॥ ११० ॥

जिन जेता प्रभु पाइया, ताकूं तेता लाभ ।
ओसे प्यास न भागई, जब लग धसै न आभ॥१११॥

"कहहिं कवीर जिन जैसी समझी' ताकी गति भई तैसी" इत्यादि वचनके अनुसार जिसने जिस प्रकार जितना प्रभुका ज्ञान प्राप्त किया तिसको तितनाही लाभ हुआ। सचा जल पिये विना ओस कणसे प्यास नहीं जाती अतः सत्स्वरूपका सचा ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये ॥ १११ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत-सटीक
परिचयको अंग ॥ १४ ॥

अथ प्रेमको अंग ॥१५॥
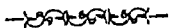
यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि ।
शीप उतारै भुयँ धरै, तब पैठै घर माँहि ॥१॥
यह तो घर है प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
शीप काटि पग तर धरै, निकट प्रेम का स्वाद ॥२॥

सद्गुरुका दरवार प्रेम भक्तिका है, वेखटके जाने योग्य मौसीका नहीं । जब धड़से शिर उतारकर उस वेदिपर वलि धरे तब इस घरमें पैठे । इसलिये प्रेमका मार्ग अगम, अथाह कहा जाता है क्योंकि, चरणोंमें शिरकी वलि देनेहींसे प्रेमका स्वाद समीप होता है ॥ १ ॥ २ ॥

यह तो घर है प्रेम का, ऊँचा अधिक इकंत ।
शीप काटि पग तर धरै, तब पैठै कोइ संत ॥३॥
शीपकाटि पासंग किया, जीव सेर भरि लीन ।
जिहि भावै सो आय ले, प्रेम आगु हम कीन ॥४॥

प्रेमका स्थान वहुत ऊँचा और एकान्त है धड़से शीश चरणोंमें रखके कोई सन्त वहाँ पहुँचता है ॥ शिर काटके तुलाकी डाँड़ी ठीक की है और जीवको सेर वनाया है यदि किसीको प्रेम चाहिये तो इस प्रकार ले सकता है हमने प्रेम सौदाको आगे कर रक्खा है ॥ ३ ॥ ४ ॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय ।
राजा परजा जो रुचै, शीश देय ले जाय ॥५॥

प्रेम पियाला सो पिये, शीश दच्छिना देय।
लोभी शीश न दे सकै, नाम प्रेम का लेय ॥६॥

प्रेम न तो बागमें उत्पन्न होता न बाज़ारमें बिकता है
बस! चाहे राजा हो या प्रजा, जिसे चाहिये वह शिरके
बदलेमें ले जाओ॥ प्रेम प्याला तो वही पीता है जो शीश
दक्षिणा देता है। जीनेकी आशावाला शीश नहीं दे सकता
केवल प्रेमका नाम लेता है ॥ ५ ॥ ६ ॥

प्रेम पियाला भरि पिया, राचि रह्या गुरु ज्ञान।
दिया नगारा शब्द का, लाल खड़े मैदान ॥७॥
प्रेम प्रेम सब को(इ) कहै, प्रेम न चीन्हैं कोय।
आठ पहर भींजा रहै, प्रेम कहावै सोय ॥८॥

जिसने प्रेमरस प्याला भरके पी लिया वह गुरु ज्ञान रंगमें
रंग गया। और वह गुरुका लाल सरे मैदानमें खड़े हो सा
शब्दका निर्भय आवाज़ करने लगा॥ यों तो बहुतेरे प्रेमका
अर्थ जाने बिना प्रेमका नाम लिया करते हैं। किन्तु प्रेम तो
वह कहलाता है जो आठों पहर उसमें तर रहै ॥ ७ ॥ ८ ॥

प्रेम प्रेम सब को(इ) कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
जा मारग साहिब मिलै, प्रेम कहावे सोय ॥९॥
प्रेम पियारे लाल सों, मन दे कीजै भाव।
सतगुरु के परसाद से, भला बना है दाव ॥१०॥

प्रेम मार्गकी पहचान बिना कथन मात्रसे कुछ न होगा
जिस मार्गसे प्रभु मिलता है वही प्रेम-मार्ग कहलाता है। ऐ

प्रभुके प्रेमियो! मनको अर्पण कर प्रेम करो, सद्गुरुकी कृपासे यह बहुत सुन्दर अवसर मिला है ॥ ६ ॥ १० ॥

प्रेम बिकाता मैं सुना, माथा साटै हाट।
पूछत बिलम न कीजिये, ततछिन दीजै काट ॥११॥
प्रेम बनिज नहिं करि सकै, चढ़ै न राम कि गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढ़ि फिरै ज्यौं बैल ॥१२॥

मैं बाजारमें शिरके बदले प्रेम बिकाता सुना। पूछते देर मत करो शीघ्र काटकर चढ़ाही दो ॥ जो न तो प्रेमका व्यापार कर सकता और न राम-मार्ग पर चढ़ सकता है तो वह केवल मनुष्यकी खोलरी ओढ़े बैल है ॥ ११ ॥ १२ ॥

प्रेम बिना धीरज नहीं, बिरह बिना बैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन मनसा का दाग ॥१३॥
प्रेम भक्ति में रचि रहै, मोक्ष मुक्ति फल पाय।
शब्द माँहि जब मिलि रहै, नहिं आवै नहिं जाय ॥१४॥

जिस प्रकार प्रेम बिना धैर्य और वियोग बिना वैराग्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सद्गुरु ज्ञान बिना हृदयका आवरण दूर नहीं हो सकता। प्रेमीको चाहिये कि प्रेम भक्तिमें लीन रहे मुक्ति फल अवश्य प्राप्त होगा। सद्गुरु उपदिष्ट शब्द पर आरूढ़ होनेसे आवागमन मिट जाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥

प्रेम पाँवरी पहिरि के, धीरज कज्जल देय।
शील सिंदूर भराय के, तब पिय का सुख लेय ॥१५॥
प्रेम छिपाया ना छिपै, जा घट परगट होय।
जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय ॥१६॥

जब पगमें प्रेमरूपी घूँघुरू पहने और नयनमें धैर्यका अंजन लगावे एवं शिरमें शीलका सिन्दूर भरावे तब प्रियतम प्रभुका आनन्द ले सकता है। क्योंकि उसका प्रेम प्रभु पहिचान लेगा, कारण यह है कि जिसके हृदयमें प्रेम प्रगट होता है वह छिपानेसे नहीं छिपता, भले वह मुखसे न बोले किन्तु उसका नेत्र आँसु द्वारा प्रगट कर देता है ॥ १५ ॥ १६ ॥

प्रेम विना नहिं भेष कछु, नाहक करै सुवाद।
प्रेम वाद जब लग नहीं, सबै भेष बरबाद ॥१७॥
प्रेम विना नहिं भेष कछु, नाहक का सवाद।
प्रेम भाव जब लग नहीं, तबलग वाद विवाद ॥१८॥

प्रेम बिना किसी भी प्रकारका वेष निरर्थक है उसके लिये वाद विवाद करना व्यर्थ है। जब तक प्रेम वचन नहीं है तब तक सब वेष फ़िजूल है ॥ प्रेम विनाका वेष और सम्वाद वेकार है। जब तक प्रेम भाव नहीं है तब तक केवल वाद विवाद है ॥

प्रेम भाव इक चाहिये, भेष अनेक बनाय।
भावै घर में वास कर, भावै बन में जाय ॥१९॥
प्रेम तो ऐसा कीजिये, जैसे चन्द चकोर।
घींच टूटि भुँय में गिरै, चितवै वाही ओर ॥२०॥

फ़क़ एक प्रेम भाव होना चाहिये चाहे वेष अनेक बनावो या न बनावो चाहे घरमें रहो या वनमें जावो ॥ प्रेम चन्द्र चकोर की तरह होना चाहिये। चाहे उसकी गर्दन टूटकर जमीन पर भले गिर पड़े किन्तु वह देखता उसी तरफ ॥ १९ ॥ २० ॥

प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरूँ, प्रेमी मिलै न कोय।
प्रेमी सों प्रेमी मिलै, विष से अमृत होय ॥२१॥

छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ॥२२॥

मैं प्रेमीको ढूँढ़ता फिरता हूँ लेकिन वह मिलता नहीं यदि प्रेमीसे प्रेमी मिले तो विष अमृत बन जाय॥ क्षणमात्रमें चढ़कर उतरनेवाला प्रेम नशा नहीं कहलाता प्रेम तो वह कहलाता है जो कमी घटे नहीं सदैव तन मन प्रेम मस्ती में माता रहे॥२१।२२॥

आया प्रेम कहाँ गया, देखा था सब कोय।
छिन रोवै छिन में हँसै, सो तो प्रेम न होय॥२३॥
सागर उमड़ा प्रेम का, खेवटिया कोइ एक।
सब प्रेमी मिलि बूड़ते, यह नहिं होती टेक॥२४॥

जिस प्रेमको आते सबने देखा था वह कहाँ गया? पलमें हँसना और रोना वह प्रेम नहीं होता॥ प्रेमका सागर उमड़ चला किन्तु उसे खेनेवाला कोई एक ही है यदि यह प्रण सहारा नहीं मिलता तो सब प्रेमी बूड़ मरते ॥ २३ ॥ २४ ॥

यही प्रेम निरबाहिये, रहनि किनारे बैठि।
सागर ते न्यारा रहा, गया लहरि में पैठि॥२५॥
पहिले प्रेम न चाखिया, चाखि न लीया स्वाद।
सूने घर का पाहुना, ज्यौं आवै त्यौं बाद॥२६॥

यही प्रेमका निर्वाह है कि रहस्यका किनारा पकड़ बैठो। जो सागरसे अलग रहता है वह लहरमें पैठता है। जो प्रथम प्रेम रसको चखकर स्वाद नहीं लिया तो वह उससे ऐसे वंचित हुआ जैसे सूने घरका पाहुना ॥ २५ ॥ २६ ॥

पहिले प्रेम न चाखिया, मुक्ति निरासी आय ।
पीछे तन मन बाँटिया, गया चकमका लाय॥२७॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान ।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान॥२८॥

प्रेम बिना अखण्ड मोक्ष सुख नहीं मिलता और उसका नर तन यों व्यर्थ चला जाता है ज्यों रूई सँभाले बिना चकमककी आग ॥ जिसके हृदयमें प्रेमका प्रवेश नहीं है वह श्मशान सदृश समझो । लोहारकी धौंकनीकी तरह बिना प्राणका वह श्वास लेता है अर्थात् उसका जीवन बेकार है ॥ २७ ॥ २८ ॥

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहीं,तहाँ न बुधि व्यवहार ।
प्रेम मगन जब मन भया,कौन गिनै तिथि वार॥२९॥
जोगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेस ।
बिना प्रेम पहुँचे नहीं, दुरलभ सतगुरु देस॥३०॥

जहाँ प्रेम होता है वहाँ किसी तरह का नियम (परहेज़) नहीं और बुद्धि पूर्वक व्यवहार भी नहीं होता । यहाँ तक कि जब प्रेम में मन निमग्न होता है तिथि, वार की भी सुधि नहीं रहती॥ जोगी जंगमादि कोई भी हो बिना प्रेम सद्गुरुका देश पाना दुर्लभ है ॥ २९ ॥ ३० ॥

जो तूँ प्यासा प्रेम का,शीश काटि करि गोय ।
जब तूँ ऐसा होयगा, तब कछु है सो होय॥३१॥
पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान ।
दोय खड़ग इक म्यानमें, देखा सुना न कान॥३२॥

यदि तू प्रेमका प्यासा है तो शीश काटि कर गेंद बना ले।

यदि ऐसा करेगा तो कुछ प्रेम रस चाखेगा ॥ यदि मान रखके प्रेम प्याला पीने चाहेगा तो यह नहीं होगा क्योंकि एक कोषमें दो तलवारको किसीने भी न देखी न सुनी ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

गोता मारा सिंधु में, मोती लाये पैठि ।
यह क्या मोती पायँगे, (जो)रहे किनारे बैठि॥३३॥
पिया पिया रस जानिये, उतरै नहीं खुमार ।
नाम अमल माता रहै, पिये अमीरस सार॥३४॥

जिसने प्रेम सागरमें गोता लगाया उसने मोक्ष-मोती पाया । वह कहाँसे मोती पायगा जो कि किनारे बैठ रहा है ॥ प्रेम रस पिया उसीको जानो जिसे प्रेम नशा कभी नहीं उतरता सदा राम अमलमें मते रहता अमृत रस-सार पिया करता३३-३४

कबीर भाठी प्रेम की, बहुतक बैठे आय ।
शिर सौंपै सो पीवसी, नातर पिया न जाय॥३५॥

ऐ कबीरो ! प्रेमकी भट्ठीमें बहुतेरे आके बैठते हैं किन्तु प्रेम रस वही पीयेगा जो शिर सौंपेगा नहीं तो नहीं पिया जा सकता ॥ ३५ ॥

कबीर हम गुरु रस पिया, बाकी रही न छाक ।
पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न चढ़सी चाक॥३६॥
कबीर तासे प्रीति करु, जो निरबाहै ओर ।
बने तो विविधि न राचिये, देखत लागै खोर॥३७॥

ऐ कबीर ! मैंने गुरु-प्रेम रस पान कर लियाँ और पुनः पीनेकी प्यास इस प्रकार न रही जिस प्रकार कुम्हार का पक्का घड़ा फिर चाकपर नहीं चढ़ता ॥ ऐ कबीर ! उसी एकसे प्रेम कर

जो अन्त तक निर्वाहे जहाँ तक बने अनेकोंसे प्रीति मत जोड़, देखनेमें बुरा लगता है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु है मैं नाँहि ।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाँहि॥३८॥

स्वतः की अहंतामें गुरु विषयक प्रेम नहीं रहता, खुदी मिटानेसे खुद गुरु रहते हैं क्योंकि प्रेम मार्ग अत्यन्त बारीक है उसमें दोका गुजारा कहाँ ? ॥ ३८ ॥

अधिके सनेही माछरी, दूजा अलप सनेह ।
जबही जलते बीछुरै, तबही त्यागै देह॥३९॥
सौ जोजन साजन बसै, मानो हृदय मँझार ।
कपट सनेही आँगनै, जानो समुँदर पार॥४०॥

प्रेम रसकी प्यारी अधिक मछली है, उसकी अपेक्षा औरोंमें बहुत कम है। देखो जलसे वियोग होतेही देह त्याग देती है ॥ प्रेमी सैकड़ों योजनकी दूरीपर होते हुये भी जानो हृदय ही में है किन्तु कपटी मित्र तो संमुख होते भी समुद्र पार प्रतीत होता है ॥ ३९ ॥ ४० ॥

यह तत वह तत एक है, एक प्रान दुइ गात ।
अपने जियसे जानिये, मेरे जियकी बात॥४१॥

परस्पर प्रेमीके प्राणमें भेद नहीं होता, केवल शरीर दो है। प्रेमीका इस गूढ़ रहस्यको प्रेमी स्वयं दिलसे जानता है ॥४१॥

जो जागत सो सपन में,ज्यौं घट भीतर साँस ।
जो जन जाको भावता, सो जन ताके पास॥४२॥

जिस प्रकार जो श्वास जाग्रदवस्थामें रहता है वही स्वप्नमें

भी ।। इसी प्रकार जो जिसके प्रेम पात्र है वह सदा उसके पास ही है ॥ ४२ ॥

प्रीति ताहि सो कीजिये,(जो)आपसमाना होय।
कबहुक जो अवगुन पड़े, गुनही लहै समोय॥४३॥

अतः "समाने शोभते प्रीतिः" इस नीतिके अनुसार प्रीति उसीसे करना चाहिये जो अपने समान हृदयका सच्चा प्रेमी हो यदि कदाचित् अनुचित व्यवहार भी आन पड़े तो भी स्नेहोंमें उचित गुणही की संभावना हृदयमें रक्खे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

नाम रसायन प्रेम रस,पीवत अधिक रसाल ।
कबीर पीवन दुलभ है, माँगै शीश कलाल॥४४॥
यह रस महँगा सो पिवै, छाँड़ि जीवकी बान ।
माथा साटै जो मिलै, तौ भी सस्ता जान॥४५॥

यद्यपि नाम रसायनका प्रेमरस पीनेमें अधिक मधुर है तथापि ऐ कबीर ! उसे पीनेमें बड़ी कठिनाइयाँ हैं क्योंकि, कलाल (सद्गुरु) उसके बदले शिर माँगता है ॥ यह कीमती रस वही पीता है जो जीनेकी आशा छोड़ता है । यदि वह शिर अर्पे मिले तो भी सस्ता समझो ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

सबै रसायन हम किया, प्रेम समान न कोय ।
रंचक तन में संचरै, सब तन कंचन होय ॥४६॥
अमृत केरी मोटरी, राखी सतगुरु छोरि ।
आप सरीखा जो मिलै, ताहि पिलावै घोरि ॥४७॥

हमने सबही रसायनोंको यो देखा, किन्तु प्रेमरसके समान कोई नहीं । यदि यह रत्ती मात्र भी शरीरमें प्रवेश करे तो भी

सम्पूर्ण अंगको स्वर्ण बना देता है ॥ इस अमृत घूँटीको सद्गुरुने मोटरीसे खोलकर बाहर कर रक्खी है। किन्तु जो अपने समान मिलता है उसीको वह पिलाता है ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

अमृत पीवै ते जना, सतगुरु लागा कान।
वस्तु अगोचर मिलि गई, मन नहिं आवै आन ॥४८॥
साधू सीप समुद्र के, सतगुरु स्वाती बुंद।
तृषा गइ एक बुन्द से, क्या ले करो समुंद ॥४६॥

अमृत घूँटी वही पीता है जिसे सद्गुरु मिले हैं। इन्द्रियका अविषय वास्तविक वस्तु उसे मिल गई उसके मनमें अब दूसरा नहीं भाता ॥ सन्त सागरके सोप और सद्गुरु स्वाती नक्षत्रकी बूँद हैं। एकही बूँदसे तृषा (तृष्णा) मिट गई फिर समुद्रसे क्या लेना ? ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

मिलना जग में कठिन है, मिलि बिछुरौ जनि कोय।
बिछुरा साजन तिहि मिलै, जिहि माथै मनि होय ॥५०॥

संसारमें सद्गुरु मिलना कठिन है, मिलकर कोई मत बिछुड़ो। वियुक्त स्नेही पुनः उसीको मिलता है जिसके मस्तकमें आकर्षक मणि है ॥ ५० ॥

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय ॥५१॥
जब लगि मरने से डरै, तब लगि प्रेमी नाँहि।
बड़ी दूर है प्रेम घर, समझि लेहु मन माँहि ॥५२॥

वह प्रभु प्रसन्नताके लिये नेत्रोंको कोठरी बनाके आँखके ताराओंकी शैया बिछा दी और पलकोंके चिक पड़दा डालके

इस प्रकार प्रीतमको प्रसन्न कर लिया ॥ जब तक मरनेका भय है तब तक प्रेमी नहीं हो सकता, उससे प्रेम घर बहुत दूर है इस बातको मनमें भलीभाँति समझ लो ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

पिय का मारग कठिन है, जैसा खाँड़ा सोय।
नाचन निकसी बापुरी, घूँघट कैसा होय ॥५३॥
पिय का मारग सुगम है, तेरी चलन अबेढ़।
नाचि न जानै बापुरी, कहै आँगना टेढ़ ॥५४॥

प्रभु मिलनेका मार्ग ऐसा कठिन है जैसा तलवारकी धार ऐ बपुरी! नाचने चली फिर घूँघट (लाज) कैसा?॥ प्रीतमका मार्ग तो सीधा है किन्तु तेरा चलना ही बेढंगा है तू नाचने नहीं जानती व्यर्थमें आँगनको टेढ़ बतलाती है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

प्रीति बहुत संसार में, नाना विधि की सोय।
उत्तम प्रीति सो जानिये, सतगुरु से जो होय ॥५५॥
गुणवेता औ द्रव्य को, प्रीति करै सब कोय।
कबिर प्रीती(सो)जानिये, इनते न्यारी होय ॥५६॥

संसारमें प्रीति बहुत प्रकारकी है किन्तु उत्तम उसीको जानो जो सद्गुरुसे हे ॥ गुणवान, धनवान्से प्रीति सब कोई करता है। ऐ कबीर! प्रभु मिलनेकी प्रीति इससे अलग है ५५-५६

जो है जाका भावता, जब तब मिलिहैं आय।
तन मन ताको सौंपिये, (जो)कबहुँ न छाँड़ी जाय॥५७॥
जलमें बसै कमोदिनी, चन्दा बसै अकास।
जो है जाका भावता, सो ताही के पास ॥५८॥

जो जिसका प्रेमी है वह कभी न कभी उसे अवश्य आय

मिलना है। इसलिये तन मन उसीको सुपुर्द करना चाहिये जो साथ छोड़कर कभी न जाय। देखो, जल निवासिनी कुई कहाँ और आकाश वासी चन्द्र कहाँ? किन्तु जो जिसके आह्लाद जनक स्नेही है वह उसके पासही है ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

तन दिखलावै आपना, कछू न राखै गोय।
जैसी प्रीति कमोदिनी, ऐसी प्रीति जु होय ॥५९॥
सही हेत है तासु का, जाको सतगुरु टेक।
टेक निवाहै देह भरि, रहै शब्द मिलि एक ॥६०॥

चाहिये कि प्रेमीसे प्रेमी अपना हृदय खोलकर ऐसे दिखला दे और कुछ भी गुप्त न रक्खे। जैसे चन्द्रके प्रेमी कमलनी हृदयको विकाश कर दिखला देती है ॥ जिसे सद्गुरुका प्रण है उसीका सच्चा प्रेम है। जो सद्गुरके शब्दमें मिलकर एक रूपसे जीवन पर्यन्त प्रेम प्रणको निर्वाहता है ॥ ५९ ॥ ६० ॥

आगि आँचि सहना सुगम, सुगम खड़गकी धार।
नेह निवाहन एक रस, महा कठिन व्यौहार ॥६१॥
नेह निवाहै ही बनै, सोचै बनै न आन।
तन दे मन दे शीश दे, नेह न दीजै जान ॥६२॥

अग्निकी आँच और तलवारकी धार सहन करना, कोई मुश्किल नहीं है किन्तु स्नेह को एक रस निवाहना बहुत कठिन व्यवहार है ॥ प्रीति करके उसे ओर छोर निवाहनेहीमें कुशल हैं, कुल मर्यादा या और कुछ खयाल करना लज्जास्पद है। चाहे तन, मन, शिर भले जाय किन्तु स्नेहको मत जाने दो ॥६१-६२॥

प्रेम पिछोरी तान के, सुख मंदिर में सोय।
घर कबीर को पाय के, कहा मुक्ति को रोय ॥६३॥
प्रीति पुरानि न होत है, जो उत्तम से लाग।
सो बरसाँ जल में रहै, पथर न छोड़ै आग ॥६४॥

ऐ कबीर! प्रेमरूपी दुपट्टा तानके निज चित्स्वरूप घरको प्राप्तकर आनन्द महलमें सो रहो क्या मुक्तिके लिये रोते हो। जो श्रेष्ठसे प्रीति लगती है वह पुरानी नहीं होती, देख लो, सैकड़ों वर्ष जलमें रहने पर भी पत्थर अग्निको नहीं त्यागता॥

गहरी प्रीति सुजान की, बढ़त बढ़त बढ़ि जाय।
ओछी प्रीति अजान की, घटत घटत घटि जाय॥६५॥
कबीर सूरति मित्र की, दिन दिन चढ़ रहै चित्त।
तन ना मिलै तो क्या भया, मन तो मिलता नित्त॥६६॥

अपराह्नकी छाया सदृश श्रेष्ठ ज्ञानियोंकी प्रीति गहरी होती है जो दिनोंदिन बढ़तीही जाती है और पूर्वाह्नकी छाया मुआफिक अज्ञानियोंकी ओछी प्रीति है जो घटते घटते बिलकुल घट जाती है॥ ऐ कबीर! मित्रका ध्यान चित्तमें प्रति दिन लगा रहना चाहिये, शरीरसे नहीं भी मिले तो क्या? मन तो नित्यप्रति मिलता है॥ ६५॥ ६६॥

प्रीति जु तासों कीजिये, जाकी जात मजीठ।
प्रीति कुसुंब न कीजिये, भीड़ पड़े दे पीठ ॥६७॥
सजन सनेही बहुत हैं, सुखमें मिले अनेक।
बिपति पड़े दुख बाँटिये, सो लाखन में एक॥६८॥

प्रीति उसीसे करनी चाहिये जिसकी जाति मंजीठकी तरह है किन्तु कुसुंभ रंग वालासे प्रीति हर्गिज़ न करनी चाहिये वह वक्त पड़े पर काम कदापि न देगा ॥ यों तो सुखके सज्जन स्नेही संगी अनेकों हैं किन्तु विपति बँटानेवाले लाखोंमें कोई एक ही है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

बलिहारी उस फूल की, जामें दूनी बास ।
अपना तन मन सौंपके, भया पुराना घास॥६९॥
नेह निबाहन कठिन है, सबसे नीभत नाँहि ।
चढ़बो मोम तुरंग पर, चलबो पावक माँहि॥७०॥

उस फूलको धन्यवाद है जिसमें द्विगुण सुवास है और जो दूसरों की प्रसन्नता अर्थ अपना सर्वस्व सौंपके स्वयं पुरानी घास बन जाता है ॥ प्रेमका आदि अन्त निर्वाह करना ऐसे मुश्किल है जैसे मोमके घोड़े पर सवार हो अग्निमें चलना, यह सबसे नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥ ७० ॥

प्रेम प्रीति से जो मिले, ताको मिलिये धाय ।
कपट राखि के जो मिले, तासे मिले बलाय॥७१॥
प्रीतम प्रीति बढ़ाय के, दूर देश मति जाय ।
हम तुम एकै नगर बसैं,(जो) भीख माँगनित खाय७२

जो प्रेमसे मिले उससे दौड़कर प्रीति पूर्वक मिलो परन्तु कपटी मित्रको दूरसे त्यागो ॥ ऐ प्रीतम ! प्रीति बढ़ाकर दूर

१-एक वृक्ष विशेष, जिसकी लकड़ी से पक्का लाल रंग बनाते हैं ॥

२-कुसुम यह भी एक लाल रंगका पुष्प होता है, जिसमें कपड़े रँगे जाते हैं किन्तु रंग हलका होता है ॥

देश मत जावो। नित भीख माँगकर भले खावें किन्तु हम तुम एक ही नगर में रहें ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

पपिया तो पिव पिव करे, निशदिन प्रेम पियास।
पंछी विरुद न छाँड़ही, क्यों छाँड़े निज दास॥७३॥
आठ पहर चौसठ घड़ी, लागि रहे अनुराग।
हिरदे पलक न बीसरे, तब साँचा वैराग॥७४॥

प्रेमरस पिपासु पपीहा अहोरात्र पिव २ करता है, ऐ प्रेमीजन! पक्षी विरुद (बाना, टेक) नहीं छोड़ता तो निज दास क्यों छोड़ेंगे?॥ वही साँचा वैराग है जो अहोरात्र अनुरागमें लगा रहता है हृदयसे पल मात्र भी नहीं भूलता ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

जाके चित अनुराग है, ज्ञान मिले नर सोय।
बिन अनुराग न पावई, कोटि करै जो कोय॥७५॥
प्रेम पंथ में पग धरै, देत न शीश डराय।
सपने मोह व्यापे नहिं, ताको जन्म नशाय॥७६॥

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' इसके अनुसार अनुरागी नर को ज्ञान मिलता है। प्रेम बिना करोड़ों उपाय व्यर्थ है॥ प्रेममार्गमें पग रखके शीश देते हर्गिज़ न डरे। तो उसे स्वप्नमें भी मोह नहीं व्यापता और वह जन्म मृत्युसे मुक्त हो जाता है ॥७५॥७६॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित प्रेमको अङ्ग समाप्त ॥ १५ ॥

अथ विरहको अंग ॥ १६ ॥

रास्यूँ रूनी विरहिनी, ज्यूँ बच्चों को कुंज ।
कबीर अंतर परगट्यो, विरह अग्नि को पुंज ॥१॥

प्रभुमें रची पची विरहिनी उदासिनी होके हृदयमें ऐसे विरह अग्नि प्रगट की जैसे बच्चोंसे वियोगी क्रौंच (करांकुल) पक्षी ॥ १ ॥

अमर कुंज कुरलाइया, गरजि भरा सब ताल।
जिनते साहिब बीछुरा, तिनका कौन हवाल ॥२॥

ताल तलैया सब भर जाने पर वर्षा ऋतुमें करांकुल पक्षी आकाशमें चिल्लाते फिरते हैं। जिनके सद्गुरुसे वियोग है उनकी दशा क्या कहनी ? ॥ २ ॥

चकवी बिछुरी रैन की, आय मिली परभात ।
जो जन बिछुरे नामसों, दिवस मिले नहि रात ॥३॥
वासर सुख नहि रैनसुख, ना सुख सपना माँहि ।
जो नर बिछुरे राम सों, तिनको धूप न छाँहि ॥४॥

रात्रीके वियोगिनी चकवी प्रभात होते ही पुनः चकवासे आ मिलती है, किन्तु जो प्रभु नामसे विछुड़े हुए हैं वे तो न दिनमें मिलते न रात में ॥ जो जन रामसे विमुख हैं उन्हें न दिन-सुख न रात। यहाँ तक कि स्वप्नमें भी शान्ति नहीं, सर्वत्र सन्तप्त धूपी धूप ह दीखती है कहीं भी छाया नहीं ॥ ३ ॥ ४ ॥

बहुत दिनन की जोहती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुव मिलन को, मन नाँहीं विसराम ॥५॥
विरहिनि ऊभी-पंथ शिर, पंथी पूछै धाय।
एक शब्द कहो पीव का, कबहिं मिलेंगे आय ॥६॥

ऐ राम! मिलनेके लिये तेरी राह बहुत दिनों से देख रहा हूँ, तेरे दर्शनका जी तरस रहा है, मनमें शान्ति नहीं है॥ मार्ग में खड़ी हो वियोगिनी राहीसे दौड़ २ पूछती है कि प्रभु मिलने का एक शब्द भी तो सुनाओ, कब वो आकर मिलेंगे? ॥५॥६॥

बिरहिनि देय सँदेसरा, सुनो हमारे पीव।
जलबिन मछली क्योंजिये, पानी में का जीव ॥७॥
बिरहिनि देय सँदेसरा, सुनहु राम सुजान।
वेगि मिलो तुम आय के, नहि तो तजिहौं प्रान ॥८॥

वियोगिनी सन्देश (समाचार) देती है, ऐ प्राणनाथ! हमारी सुनो पानीका जीव मछली पानी बिना कैसे जीवेगी? ऐ राम सुजान! हमारी बात सुनो और शीघ्र आकर मिलो नहीं तो प्राण छोड़ दूँगी ॥ ७ ॥ ८ ॥

विरहिनि बिरह जलाइया, बैठी ढूँढ़ै छार।
मति को (य) कुइला ऊबरै, जारै दूजी बार ॥९॥
विरहिनि जलती देखिके, साँई आये धाय।
प्रेम बुँद सो छिरकि के, जलती लेय बुझाय॥१०॥

विरहिनी पतिका वियोग रूपी अग्नि जलाई और बैठकर इस चिन्तामें खाक ढूँढ़ रही है कि पुनः विरह अग्निको जलाने

को कोई कोयला भी वाको न रहे ॥ इस प्रकार जलती हुई विरहिनी को देखकर स्वामी दौड़कर आये और प्रेम बूँदका छींटा देकर जलने से बचा लिये ॥ ९ ॥ १० ॥

बिरहिनि थी तो क्यौं रही, जरी न पिवके साथ।
रहि रहि मूढ़ गहेलरी, अब क्यौं मीजै हाथ ॥११॥
बिरहिनि उठि उठि भुँइ परै, दरशन कारण राम।
लोहा माटी मिल गया, तब पारस किहि काम ॥१२॥

यदि बिरहिनी थी तो पतिके साथ सती क्यों न हो गई ऐ मूढ़ ! पगली !! अब क्यों रह २ के पश्चात्ताप करती है ॥ रामके दर्शन निमित्त विरहिनी उठ २ के भूमि पर पड़ती है ॥ किन्तु "मूये करहिं क्या सुधा तड़ागा" के अनुसार लोहा को जब मिट्टी खा गई तब पारस किस काम का ? समय चूकने पर कुछ नहीं होता ॥ ११ ॥ १२ ॥

मूये पीछे मति मिलो, कहैं कबीरा राम।
लोहा माटी मिल गया, तब पारस किहि काम ॥१३॥
बिरह जलन्ती मैं फिरूँ, मोहि बिरह का दूख।
छाँह न बैठूँ डरपती, मति जलि ऊठै रूख ॥१४॥

वियोगी कहता है, ऐ राम ! मूये पीछे मत मिलो लोहाको मिट्टी खाने पर पारस का स्पर्श बेकाम है ॥ विरह अग्निसे जलती हुई मैं फिरा करती हूँ मुझे विरहका दुःख है, इस भयसे छाया (आशा) में भी नहीं बैठती कि कहीं वृक्ष (प्रेम) न जल उठे ॥ १३ ॥ १४ ॥

बिरह तेज तन में तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीवमें, मौत ढूँढ़ि फिरि जाय ॥१५॥

बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दो नैन।
माँगै दरस मधूकरी, छके रहै दिन रैन ॥१६॥

बिरह ताप तनमें तप रहा है प्रत्यक्ष व्याकुल होता है। जीव पांवमें लगा है मौत भी शरीर शून्य देखकर पीछे लौट जाती॥ बिरह कमण्डल हाथमें लिये हुए दोनों नेत्र बैरागी बनके प्रभु दर्शन की भिक्षा माँगते हैं और उसीमें अहो रात्र मस्त हैं॥ १५॥ १६॥

बिरह बिथा बैराग की, कही न काहू जाय।
मूँगा सपना देखिया, समझिसमझि पछिताय॥१७॥
बिरह बड़ो बैरी भयो, हिरदा धरै न धीर।
सुरति सनेही ना मिलै, मिटै न मन की पीर ॥१८॥

बिरह, बैरागका दुख इस प्रकार किसीसे नहीं कहा जाता जिस प्रकार गूँगा स्वप्न देखता और समझ २ पछताता है॥ वियोगी का भारी बैरी बिरह है, हृदयमें धैर्य नहीं रहने देता। जब तक वृत्तिका प्रिय लक्ष्य नहीं मिलता तब तक मनका दुःख भी नहीं मिटता॥ १७॥ १८॥

बिरह प्रबल दल साजिके, घेरि लियो मोहि आय।
नहिं मारै छाड़ै नहीं, तलफितलफि जियजाय॥१९॥
बिरह कुल्हाड़ी तन बहै, घाव न बांधै रोह।
मरने का संशै नहीं, छूटि गया भ्रम मोह ॥२०॥

बिरहने अपना प्रबल दल साज के मुझे सब तरफ से आ घेरा वे न तो मारता है न छुटकारा देता है। उसीमें तड़फड़ाते मेरा जी जाता है॥ यद्यपि बिरह-टाँगी तन पर लग रही है

और घाव पुराने नहीं पाता। तथापि मुझे मरनेका संशय तो है नहीं क्योंकि भ्रान्ति और मोह छूट गया है ॥ १६ ॥ २० ॥

बिरह जलाई मैं जलूँ, जलती जलहर जाऊँ।
मो देखा जलहर जलै, सन्तो कहँ बुझाऊँ ॥२१॥

विरह-ज्वालासे मैं जल रही हूँ और शान्त्यर्थ जहाँ कहीं जिस जलाशयकी शरण लेता हूँ मुझे देख वह भी जलने लगता है, कहो ! सन्तो ! विरह अग्नि कहाँ बुझाऊँ ॥ २१ ॥

बिरहा पूत लुहार का, धुवै हमारी देह।
कुइला किया न छूटिहै, जब लग होय न खेह ॥२२॥
बिरहा पीव पठाइया, कही साधु परमोधि।
जा घट ताला बेलिया, ताको लावो सोधि ॥२३॥

विरह मानो लोहारका पुत्र है, हमारे शरीरको धौंक धौंक जलाया करता है। कोयला होने पर भी नहीं छोड़ता जब तक कि राख न हो जाय ॥ विरहको प्रभुने यह कहके भेजा है कि उस साधुको शोधकर बोधो और मेरे पास लावो जिसके हृदयमें मेरे वियोगकी बेचैनी है ॥ २२ ॥ २३ ॥

बिरहा आया दरद सों, कडुवा लागा काम।
काया लागी काल है, मीठा लागा राम ॥२४॥
बिरहा सेती मति अड़ै, रे मन मोर सुजान।
हाड़ मांस रग खात है, जीवत करै मसान ॥२५॥

जिसे विरह दुःख प्राप्त हुआ उसे सांसारिक कामना कडुआ लगने लगी। और काया काल रूप, केवल एक रामही मीठा लगा ॥ ऐ सुजान मेरे मनी राम ! विरहासे विरोध मतकर वह

तो हाड़, मांस, रग सबही खाता और जीते जी मशान बनाता है अर्थात् सांसारिक भाव छुड़ाकर प्रभुमय जीवन बनाता है॥

बिरही प्राणी बिरह की, पिंजर पीर न जाय।
एक पीर है प्रीति की, रही कलेजे छाय॥२६॥
बिरहा बिरहा मति कहो, बिरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न संचरे, सो घट जान मसान॥२७॥

बिरही प्राणीको शरीरसे विरह-दुख दूर नहीं होता, बस! एकही प्रेम पीर हृदयमें छाय रहती है॥ विरहको विरह मत कहो वह तो बड़ा बादशाह है। जिस हृदयमें विरहका प्रवेश नहीं वह मरघट समझो॥ २६॥ २७॥

बिरहा मोसों यौं कहै, गाढ़ा पकड़ो मोहि।
चरण कमल की मौज में, ले पहुँचावौ तोहि॥२८॥

विरह तो मुझसे ऐसा कहता है कि मुझको दृढ़कर पकड़ो तो तुझे प्रभुके चरणारविन्दके आनन्दमें लेकर पहुँचा दूँगा॥२८॥

कबीर सुन्दरि यौं कहै, सुनिये कन्त सुजान।
बेगि मिलो तुम आय के, नहिं तो तजिहौं प्रान॥२९॥

वियोगिनी दुलहिन यों कहती है कि ऐ ज्ञानवान् प्राणनाथ! सुनो! तुम शीघ्र आकर मिलो, नहीं तो प्राण त्याग दूँगी॥२९॥

कबीर हँसना दूर करु, रोने से करु चीत।
बिन रोये क्यौं पाइये, प्रेम पियारा मीत॥३०॥

ऐ कबीर! हँसी खेल दूरकर, प्रभुसे दुख रो और प्रेम कर। प्रेम प्यारा प्रभु मित्र बिना प्रेम रुदनके कैसे पायेगा॥ ३०॥

कबीर चिनगी बिरह की, मो तन पड़ी उड़ाय।
तन जरि धरती हू जरी, अंबर जरिया जाय ॥३१॥

ऐ कबीर! बिरहकी चिनगारी उड़कर जब मेरे तामसरूप तनपर पड़ी तब तन तामस जलकर तज्जन्य कुबुद्धिरूपी धरती भी जल गई और अहन्तारूप आकाश भी जल गया ॥ ३१ ॥

कबीर बैद बुलाइया, जो भावै सो लेय।
जिहिं जिहिं औषध हरि मिलै, सो सो औषध देय॥
कबीर बैद बुलाइया, पकरि क देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानसी, करक कलेजे माँहि॥

बिरह रोग निवृत्ति अर्थ जिज्ञासुने वैद्य (गुरु) को बुलाया और कहा जो चाहो सो लो और प्रभु मिलनेका जो जो औषध (उपदेश, मार्ग) है सो सो दो॥ यद्यपि यह बैद (गुरुवा) बाँह पकड़के नब्ज भो देखा अर्थात् उपदेश भी दिया तथापि शिष्यका हृदयका सन्ताप दूर नहीं हुआ क्योंकि वह वैद्य (संसारी गुरु) उसके दुखको नहीं जाना न जानता है। जो हृदय में बिरह कसक रहा है। यह तो सद्गुरु वैद्यका काम है।

जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या बेदन निरमई, भला करेगा सोय ॥३४॥
अन्देसो नहि भागसी, सन्देसो कहि आय।
कै हरि आया भाग सों, कै हरि पास गवाय ॥३५॥

ऐ वैद्य! तू अपने घरकी राह ले, यहाँ तेरा किया कुछ न होगा जिसने इस बिरह दरदको निर्माण किया है बस वही भला करेगा। यथा-'कासोद तेरा न काम यह तू अपनो राह

ले। दिलका पयाम उसके सिवा कौन ला सके॥" इत्यादि सन्देश कहनेसे चिन्ता नहीं जा सकती। हृदय विदारी विरह दुख तो तबही दूर होगा जब सौभाग्यसे प्रभु आ मिलेगा या प्रभुके पासही चला जाऊँ॥ ३४॥ ३५॥

आय न सकिहौं तोहि पै, सकूँ न तुझै बुलाय।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाय तपाय॥३६॥
या तन जारूँ मसि करूँ, धूँवा जाय सुरंग।
मति वह राम दया करै, वरसि बुझावै अंग॥३७॥

ऐ प्रभु! न मैं तेरे पास आ सकता न तुझे बुलाही सकता हूँ। मालूम होता है कि दर्शन विना विरह अग्निमें तपा तपाकर तू यौंही मेरा जी लेगा॥ भले वह राम अनुग्रह न करे। मैं इस शरीरहीको जलाकर काला कोयला करडालूँ और उसका धूँवा सीधा वहाँ तक चला जाय और बादल बनके वृष्टि द्वारा तनका तपन बुझा दे॥ ३६॥ ३७॥

या तन जारूँ मसि करूँ, लिखूँ राम को नाँव।
लेखनि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाँव॥३८॥
साँई सेवत जरि गई, मांस न रहिया देह।
साँई जब लग सेयही, या तन है है खेह॥३९॥

शरीरको जलाकर स्याही और हड्डीको कलम बनाके रामका नाम लिखकर उनके पास भेज दूँ, शायद इसीसे खुश हों॥ विरहिनी प्रभु चिन्तनमें जल गई, तनमें मांस नहीं रह गया। बेशक, स्वामीकी सेवामें शरीर भस्म हो जायगा॥ ३८॥ ३९॥

कै विरहिनि को मीच दे, (कै) आप आय दिखलाय।
आठ पहर का दाझना, मो पै सहा न जाय॥४०॥

तन मन जोबन जारिके, भसम किया सब देह।
उठी कबीरा बिरहिनि, अजहूँ ढूँढ़ै खेह ॥४१॥

ऐ प्रभु ! या तो विरहिनीको मृत्यु दे या स्वयं आकर दर्शन, क्योंकि, मुझसे आठ पहरको जलन सहन नहीं होती ॥ तन मनकी ज्वानी (उमंग) जलाकर शरीरको भी भस्म कर डाला, तिस पर भी विरह उठकर अभी विरहिनीकी खाक ढूँढ़ रहा है ॥ ४० ॥ ४१ ॥

हूँ जु बिरहकी लाकड़ी, समुझिसमुझिधुँधवाय।
छूटि परूँ जो बिरह सों, सघरी ही जलि जाय ॥४२॥
लकड़ी जलिकुइला भये, मो तन अजहूँ आग।
बिरह की ओदि लाकड़ी, सिलग सिलग उठि जाग ४३

मैं विरही प्रभुका वियोग-दुःख को समझ२कर ओदी लकड़ी की तरह अन्दरही अन्दर धुधुआय रहा हूँ। यदि विरह से छुटूँ तो सम्पूर्ण जलकर खाक हो जाऊँ ॥ लकड़ी जलकर तो कोयला हो गया किन्तु मेरे तनमें तो इस क्षण भी गिली लकड़ीकी तरह विरह अग्नि सिलग २ कर उठती रहती है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

निशदिन दाझै बिरहिनी, अंतर गति की लाय।
दास कबीरा क्यों बुझै, सतगुरु गये लगाय ॥४४॥
तन मन जोबन यों जला, बिरह अगिनि सों लागि।
मिरतक पीर न जानही, जानेगी वा आगि ॥४५॥

विरहिनी अन्दरकी विरह अग्निसे अहोरात्र जलती रहती है। ऐ कबीरा ! सद्गुरुकी लगाई हुई अग्नि दासको दर्शन बिना कैसे बुझे। विरह अग्निसे तन, मनकी तरंग योंही जल गई। मृतक दुःखको क्या जाने ? इसे तो अग्नि जानेगी॥४४॥४५

चोट सतावै विरह की, सब तन जरजर होय।
मारन हारा जानि है, कै जिस लागि सोय ॥४६॥
अँखियन तो झाँई परी, पंथ निहार निहार।
जिभ्या तो छाला पड़्या, नाम पुकार पुकार ॥४७॥

विरह चोट विरहिनीको ऐसा सताती है कि उसका शरीर जीर्ण हो जाता है। इस चोटको तो वही अनुभव करता है जिसने मारी और जिसको लगी॥ उसके बाट की प्रतीक्षा में आँखों में झाँई और नाम स्मरणसे जिह्वामें छाला पड़ गया ॥४६॥४७॥

नैनन तो झड़ि लाइया, रहट बहै निसुवास।
पपिहा ज्यों पिवपिव रटै, पिया मिलनकी आस ॥४८॥
सब रग ताँती रबाब तन, विरह बजावै नीत।
और न कोई सुनि सकै, कै साँई कै चीत ॥४९॥

प्रभु मिलनेकी आशामें तो निशिवासर रहटकी तरह नेत्रसे आँसुका प्रवाह चल रहा है। और जिह्वा पपीहाकी तरह पिव२ नाम रटन कर रही है॥ तनके अन्दरके सम्पूर्ण तन्तु (नसें) नित प्रति रबाब बाजा की तरह बज रहे हैं और विरह-बजा रहा है। इसे स्वामी और विरहिनीके अतिरिक्त दूसरा नहीं सुन सकता ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

या तनका दिवला करूँ, बाती मेलूँ जीव।
लोहू सींचूँ तेल ज्यौं, तब मुख देखूँ पीव ॥५०॥
अँखियाँ प्रेम कसाइयाँ, जिन जानौ दुखदाय।
नाम सनेही कारनै, रो रो रात बिताय ॥५१॥

प्रभुका मुख तबही देख सकता हूँ जब इस तनको दीपक

और जीवको बत्ती बनाके उसे तेलकी जगह रुधिरसे सींचूँ ॥
भावार्थ-सर्वस्व अर्पण किये विना प्रभु नहीं मिल सकता ॥
ऐ प्रेमीजन ! यदि प्रभु प्रेम प्रतीक्षामें आँखे कसा गई तो भले,
उसे दुखदाई मत समझो । प्रभु दर्शनके वास्ते राम स्नेही इसी
प्रकार रो रो (प्रभु-गुण गानमें) रात विताते हैं ॥ ५० ॥ ५१ ॥

हसुँ तो दुःख न वीसरूँ, रोऊँ बल घटि जाय ।
मनही माँहि बिसूरना, ज्यों घुन काठहि खाय॥५२॥
काठहि घून जो खाइया, खात न किनहु दीठ ।
छाल उखाड़ी देखिये, भीतर जमिया चीठ ॥५३॥

हँसने सेभी तो दुख नहीं भुलता, रोनेसे शक्ति क्षीण होती है इस हालतमें ऐसे मनही मन सुसकना है, जैसे घुन काष्ठको अन्दर ही अन्दर खाता है ॥ काष्ठ खाते घुनको बाहरसे कोई नहीं देखता किन्तु छिलका उखाड़कर देखिये तो अन्दर चूर्ण का ढेर लगा है ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

चीठर जमिया चूनका, बैरी बिरहा खद ।
बीछुरिया सो साजना, वेदन काहू लद ॥५४॥
हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय ।
हाँसी खेलाँ पिव मिले, (तो) कौनदुहागिनहोय॥५५॥

विरहिनोका जानी दुश्मन तो विरहा है जो भीतर ही भीतर सन्ताप देता है । प्रभु वियोगीका दुख प्रभु विना कौन ले सकता है.? कोई नहीं ॥ मौज, शौकसे स्वामीको किसीने भी नहीं पाया किसीने पाया भी तो रोकर यदि हँसी खेलसे प्रभु मिले तो विधवा कौन रहे ? अर्थात् वैधव्यका दुख कौन सहेगा ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

हाँसी खेलाँ पिय मिले, (तो)कौन सहे खुरसान।
काम क्रोध तृष्णा तजै, ताहि मिलै भगवान ॥५६॥
देखत देखत दिन गया, निशि भी देखत जाय।
विरहिनी पिय पावै नहीं, जियरा तलफत जाय ॥५७॥

मौज शौकसे प्रभु मिलता तो खुराफात कौन सहता? जो काम क्रोध, तृष्णाको तजता है उसीको प्रभु मिला व मिलता है॥ उसी की प्रतीक्षा में सारा दिन गया और रात भी चली जायगी। पति वियोगिनी पतिको पाती नहीं तड़फड़ाती हुई समय बिताती है ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

रोवत रोवत मैं फिरूँ, नैन गँवायो रोय।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जासों जीवन होय ॥५८॥
नैना अन्तर आव तू, निशदिन निरखूँ तोहि।
कब हरि दरशन देहुगे, सो दिन आवै मोहि ॥५९॥

प्रभु-चिन्तामें रोते फिरता हूँ इसी रोनेमें नयन भी गमा बैठा तिसपर भी वह बूटी (प्रभु) नहीं पाता जिससे कि जीवन हो ॥ ऐ प्रभु! तू नेत्र के भीतर आ जा, तुझे रात दिन देखता रहूँ। कब दर्शन दोगे, मुझे कब वह दिन प्राप्त होगा? ॥५८।५९॥

नैन हमारे बावरे, छिन छिन लोरै तुज्झ।
ना तुम मिलो न मैं सुखी, ऐसी वेदन मुज्झ ॥६०॥
रनयाँ राम छिपाइयाँ, रहु रहु संख मझूर।
देवल देवल बाहरी, दिवस न ऊगै सूर ॥६१॥

हमारे डिबाने [illegible] दर्शनको पल २ [illegible] रहा है। ऐ

भु ! न तुम मिलते हो न मैं सुखी होता हूँ, ऐसा दुख मुझे है। हे राम ! तुम तो रजयाँ संत मझूर अर्थात् इसी शरीर रूप जंगलमें हरदम छिपे रहते हो और मैं मन्दिर २ दौड़ा करता हूँ यहाँ कहाँसे मिले ? अतः तुम्हारे दर्शन रूप सूर्य विना दिनही में अन्धेरा है ॥ ६० ॥ ६१ ॥

फारि पटोरा धज करूँ, कामलियाँ पहराऊँ।
जिन जिन भेषै हरि मिलै, सो सो भेष बनाऊँ ॥६२॥
गलौं तुम्हारे नाम पर, ज्यौं पानी में लौन।
ऐसा बिरहा मेलि के, नित दुख पावै कौन ॥६३॥

कहो तो रेशम वस्त्रको फाड़कर धजो उड़ा दूँ और इस तनको काली कमली पहिरा दूँ। ऐ प्रभु ! जिस जिस वेषसे तुम मिलो वही वही वेष बनाऊँ ॥ पानीमें लवणकी तरह तेरे नाममें गलना होय तो मंजूर है किन्तु ऐसा विरह लगाके प्रति दिनका दुःख कौन सहे ? ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥६४॥
मो बिरहिनिका पिव मुआ, दाग न दीया जाय।
मांसहि गलिगलि भुइपरा, करँक रही लपटाय ॥६५॥

संसारी सब सुखी हैं, मौज शौक करते और अचिन्त निद्रा सोते हैं प्रभु सेवक विरही दुखी हैं, प्रभु दर्शनकी चाह में मोह निशामें जागते और गुणानुवाद रोते यानी गाते हैं॥ विरहिनीका मोहरूप पति मर गया किन्तु आशावश उसे जलाया नहीं जाता। शरीरका ममता मांस गलकर मिट्टी हो गया तो भी तृष्णारूपी हड्डी लिपट रही है ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

भली भई जो पिव मुआ, नित उठि करता रार।
छूटी गल की फाँसरी, सोऊँ पाँव पसार ॥६६॥
काक करंक ढँढोरिया, मुठि इक रहिया हाड़।
जिस पिंजर बिरहा बसै, माँस कहाँ रे राड़ ॥६७॥

अहो! बहुत अच्छा हुआ कि पति (चाह) मर गया, जिसके लिये प्रति दिन प्रपंच करना पड़ता था। अब गलेका बन्धन मिट गया, अतः बेफिक्र सोता हूँ॥ यद्यपि मुट्ठी भर हड्डी रह गई अर्थात् प्रारब्ध मात्र रह गया है तो भी कागा-कुबुद्धि या मांस भक्षी मृत्यु हड्डी टटोल रही है। ऐ चण्डाल! जिस शरीरमें विरह अग्नि लगी है उसमें मांस कहाँ?॥६६-६७॥

माँस गया पिंजर रह्या, तमकन लागे काग।
साहिब अजहुँ न आइया, मन्द हमारे भाग ॥६८॥

विरह व्यथासे शरीरका मांस गल गया मात्र अस्थि पंजर रह गया है मृत्युरूपी काग भी बुरी निगाहसे देखने लगा। अपने मन्द भाग्यकी गाथा कहाँ लग कहूँ अद्यावधि स्वामीका दर्शन दृष्टि पथ नहीं हुआ॥ ६८॥

काग करंक न चूथि रे, उड़ि रे परेरों जाय।
मैं दुख दाझो बिरह की, (तू) दाझा मासन खाय॥६६
रगत माँस सब भखि गया, नेक न किन्ही कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागो हाड़ चबान ॥७०॥

ऐ मृत्युरूप काग! अब तू उड़कर अलग हो जा हड्डीको मत चोंथ, मैं विरह अग्निकी जली हूँ तू जला मांस खाता भी नहीं। तात्पर्य-भोगार्थी मृत्युका भक्ष्य होता है॥ आशा एक और

ममता मांसको खानेमें विरहाने ज़रा भी मुलाहिज़ा न किया सब खा गया ॥ अब कूकर होके हड्डी चूसने लगा अर्थात् प्रारब्ध भोग भी शान्तिसे नहीं भोगने देता उसमें भी उपाधि करता है ॥ ६६ ॥ ७० ॥

पिय बिन जिय तरसत रहै, पल पल बिरह सताय।
रैन दिवस मोहि कल नहि, सिसकि सिसकि दम जाय॥
जो जन बिरही नाम के, तिनकी गति हैं येह।
देही से उद्यम करै, सुमिरन करै बिदेह ॥७२॥

प्रभु बिना जी तरस रहा है और बिरहा क्षण क्षण सता रहा है रात न दिन, कभी भी मुझे शान्ति नहीं, सुसक सुसक श्वास निकलता है ॥ जो रामके वियोगी हैं उनका यही हाल है कि विदेह स्वरूपका चिन्तनरूप उद्यम सदैव देहसे किया करते हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मैं तुमको ढूँढ़त फिरूँ, कहूँ न मिलिया राम।
हिरदा माँहि उठि मिलै, कुसल तुम्हारे काम ॥७३॥
अंक भरे भरि भेंटिया, मन में बाँधी धीर।
कहैं कबिर वह क्यों मिले, जब लग दोय शरीर ॥७४॥

ऐ राम! मैं तुझे ढूँढ़ता फिरा परन्तु तू कहीं भी नहीं मिला यदि मिला तो उठकर मनहीमें, धन्य है तू! और तेरा काम ॥ मनमें धैर्य धरके हृदयका पड़दा उठाकर खुदही मिला। कबीर गुरु कहते हैं जबतक दो देहकी दुविधा है तब तक वह कैसे मिले? हर्गिज नहीं ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

जीव बिलम्बा जीव सों, अलख लख्यो नहिं जाय।
साहिब मिले न भल बुझै, रही बुझाय बुझाय ॥७५॥

जीव विलम्बा जीव सों, पिय जो लिया मिलाय।
लेख समाना (अ)लेख में, अब कछु कहा न जाय७६॥

जीव अपने आपमें स्थिर हो गया, अब वह दूसरेको लखनेमें नहीं आता अतः अलखसा हो गया। स्वामीके मिलाप बिना विरह ज्वाला चाहे कोटि उपाय करो अन्य साधनसे कदापि नहीं बुझती॥ जब सद्गुरु स्वामीने रहस्य बतलाया तब स्व-स्वरूपमें जीव लीन हो गया। निज घर पहुँचने पर पन्थवार्ता समाप्त हो गई॥ ७५॥ ७६॥

सब को(य)विरहिनि पीयरी, तू विरहिनि क्यूँ लाल।
परचा पाया पीव का, यौं हम भई निहाल७७॥
अविनाशि की सेज का, कैसा है उनमान।
कहिवे को शोभा नहीं, देखे ही परमान॥७८॥

प्रश्न—विरहिनी सब पीली होती हैं, तू लाल क्यों है? उत्तर—प्रभुका परिचय होनेसे हम कृतकृत्य हो गई॥ प्रश्न—अविनाशी पुरुषकी शैयाका कैसा और क्या अन्दाज है? उत्तर—उसकी शोभाका अन्दाज कहनेमें नहीं आ सकता वह तो देखनेहीसे प्रमाणित होता है॥ ७७॥ ७८॥

अविनाशी की सेज पर, केलि करे आनन्द।
कहैं कबिर वा सेज पर, विलसत परमानन्द॥७९॥
तन मन जोबन जरिगया, विरह अगिनि घटलाग।
विरहिन जानै पीर को, क्या जानैगी आग॥८०॥

जो अविनाशी सेज पर लेटता वह अनुत्तम आनन्द क्रीड़ा रता है, कबीर गुरु कहते हैं उस सेजपर परम आनन्दका विलास

होता है ॥ हृदयमें विरह अग्नि लगी और उसीमें सर्वस्व स्वाहा हो गया। उस निधनताको विरहिनी जानती है, वा अग्नि अथवा अग्नि क्या जानेगी? ॥ ७९ ॥ ८० ॥

आग लगी आकाश में, झरि झरि परे अंगार।
कबीर जलि कंचन भया, काँच भया संसार ॥८१॥
तन मन जोवन जारि के, भसम किया सब देह।
बिरहिनि जरि बरि मरिगई, क्या तू ढूँढ़ै खेह ॥८२॥

हृदय आकाशमें विरह अग्नि लगी और काम क्रोधादिरूप आग जलकर झोला हो गिर पड़ा, प्रभु प्रेमी जलकर शुद्ध कंचन बन गया और संसारी कांच ही रह गया॥ विरह चिता पर तन, मन योवन जलाकर सारा शरीर भस्म कर दिया और विरहिनी मर गई, ऐ विरहा! अब तू क्या खाक ढूँढ़ता है? ॥८१॥८२॥

लकड़ी जली कुइला भई, कुइला जलि भइ राख।
मैं बिरहिनि ऐसी जली, कुइला भई न राख ॥८३॥
दीपक पावक आनिया, तेल भि आना संग।
तिनूँ मिलि के जोईया, उड़ि उड़ि परै पतंग ॥८४॥

लकड़ी जलकर कोयला और कोयला जलकर भस्म हुआ किन्तु मैं विरहिनी इस प्रकार जली कि न कोयला हुई न खाक॥ श्रद्धा दीपक, विरह अग्नि और साथहीमें स्नेह तेलको तुलाया इस प्रकार तीनोंको मिलाके ज्ञान दीपक चिताया बस! उसीमें आशा तृष्णादि सकल सलभ जलकर भस्म हो गये इस प्रकार मैं शुद्ध हो गई॥ ८३ ॥ ८४ ॥

हवस करे पिय मिलन की, औ सुख चाहै अंग।
पीड़ सहे बिनु पदमिनी, पूत न लेत उछंग ॥८५॥

चूड़ी पटकूँ पलँग से, चोली लाऊँ आगि।
जा कारण या तन धरा, ना सूती गल लागि ॥८६॥

जो प्रभु मिलनेकी इच्छा करता है और शरीरका सुख भी चाहता है, ये दो बातें इस प्रकार नहीं बन सकतीं जिस तरह प्रसव पीड़ा सहे बिना पद्मिनी (स्त्री) अपने गोदको पुत्रसे सुशोभित नहीं कर सकती। यदि प्रभुसे मिलाप नहीं तो नर तनका शृङ्गार सब अङ्गार है ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

पावक रूपी नाम है, सब घट रहा समाय।
चित चकमक चहुटै नहीं, धूँवा ह्वै ह्वै जाय ॥८७॥

अग्निरूप प्रभुका नाम प्रत्येक घटमें उपस्थित है किन्तु चित्तरूप चकमक उससे नहीं लगता अतः प्रकाश न होकर धूवाँही धूवाँ होकर रह जाता है ॥ ८७ ॥

राम वियोगी विकल तन, ताहि न चीन्है कोय।
तम्बोली का पान ज्यौं, दिन दिन पीला होय ॥८८॥

राम वियोगीका मन व्यग्र होता है उसे कोई नहीं पहिचानता। तम्बोलीके पानकी तरह उसका तन प्रति दिन पीला होता जाता है ॥ ८८ ॥

पील कँदौरी साइयाँ, कँवल कहै इस रोग।
छौने लंघन नित करूँ, राम पियारे जोग ॥८९॥

मैं स्वामीके वियोगमें कन्दूरीकी तरह पीली हो गई। ना समझ लोग इसे कमला रोग बतलाते हैं। प्रिय रमण रामके मिलनेके लिये प्रति दिन मैं पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मनके विषयोपभोगोंका त्यागरूप उपवास करता हूँ ॥ ८९ ॥

जिहि साँई का सोच है, सो तन फूलै नाँहि ।
जन कवीर सिमटा रहै, ज्यौं अजा सिंह पाँहि॥९०॥

स्वामी मिलनेकी जिसे चिन्ता है उसे सांसारिक भोगमें प्रसन्नता कहाँ ? ऐ कवीर ! प्रभु प्रेमीजन संसार भोगसे ऐसे संकुचित रहते हैं जैसे छेरी सिंह से ॥ ९० ॥

मेरे मन होरी जरै, सब को खेले फाग ।
खेत सु मिरगा खा गया, राजा माँगे भाग ॥९१॥

मेरे मनमें होलिका जल रही है अर्थात् मैं विरह अग्निमें जली जा रही हूँ । लोग सब फगुवा खेलते हैं । क्या आश्चर्य है ? खेतको तो मिरगा चर गया और राजाको करको लगी है ।

बिरहा बूरा जनि कहो, बिरहा है सुलतान ।
जा घट हरि बिरहा नहीं, सो घट सदा मसान ॥९२॥
जा तन में विरहा बसै, ता तन लोहु न माँस ।
इतना बहुत जु ऊबरा, हाड़ चाम अरु स्वास ॥९३॥

विरहाको बुरा मत कहो विरहा बड़ा बादशाह है । जिस घटमें प्रभुकी लगन नहीं वह घट सदा श्मशान है ॥ जिस घटमें प्रभुकी लगन है, उस तनमें रुधिर, मांस नहीं । यही बड़ी गनीमत समझो कि हाड़, चाम और प्राण हैं ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

पहिले अगनी विरह की, पीछे प्रेम पियास ।
कहैं कविर तब जानिये, राम मिलन की आस ॥९४॥

कबीर गुरु कहते हैं, राम मिलनेकी आशा उसीको सही समझो जिसके तनमें प्रथम विरह अग्नि लगी और पीछे मनमें प्रेम पियास ॥ ९४ ॥

इति श्रीपण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
विरह को अङ्ग समाप्त ॥ १६ ॥

अथ चितावनीको अङ्ग ॥१७॥

कबीर गर्व न कीजिये, काल गहे कर केश।
ना जानौ कित मारि हैं, क्या घर क्या परदेश॥१॥

ऐ कबीर! गुरुकी शरण ले। तन, धनादिका अभिमान मत कर मृत्युने तेरी चोटी पकड़ रक्खी है तुझे यह भी ख़बर नहीं है कि वह कहाँ, कब मार डालेगा, घर या परदेश में? "जीवन की जनि आसा राखो काल धरे है श्वासा" इत्यादि ॥ १ ॥

कबीर गर्व न कीजिये, इस जोवन की आस।
टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास॥२॥

इसी तरह युवावस्था भी क्षण विनाशी है इसकी भी आशा मत कर। प्रफुल्लित टेसूकी तरह दश दिनकी शोभा है॥ २॥

कबीर गर्व न कीजिये, ऊँचा देखि अवास।
काल परौं भुँइ लेटना, ऊपर जमसी घास॥३॥

ऊँचे महलके अभिमानमें मत भुलो, कल या परसों ही ज़मीन पर सोना होगा और ऊपर घास जमेगी॥ ३॥

कबीर गर्व न कीजिये, चाम लपेटे हाड़।
हय वर ऊपर छत्र तट, तो भी देवै गाड़॥४॥
कबीर गर्व न कीजिये, चाम लपेटी हाड़।
इक दिन तेरा छत्र शिर, देगा काल उखाड़॥५॥

ऐ कबीर! हड्डीके ठाट पर चामकी चमक देखकर तो

अभिमान मत ही कर। किन्तु यदि सब साजोंसे सजा हुआ हस्ति अरूढ़ छत्र छायामें है तो भी जमीनमें गाड़ देंगे ॥ काल बली है एकदिन अवश्य तेरे शिरसे छत्र अलग कर देगा ॥४।५॥

कबीर गर्व न कीजिये, देही देखि सुरंग।
बिछुरे पै मेला नहीं, ज्यों केचुली भुजंग ॥६॥

सुन्दर शरीर देखके उसके घमण्डमें मत भुलो, सर्पकी केंचुलीकी तरह वियोग होने पर फिर वह नहीं मिलेगा ॥ ६ ॥

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय ॥७॥

ऐ कबीर! ऊपर कहे हुये तन, धन, यौवनादिको चमक दमक दश दिनकी है। जो चाहे जैसा नौबत नगारा अपना बजा लो फिर तो ऐसी नौबत आयगी कि, यह शहर और गली देखना दुसवार होगा ॥ ७ ॥

कबीर थोड़ा जीवना, माँडै बहुत मँडान।
सबही ऊभा पंथ सिर, राव रंक सुलतान ॥८॥

ऐ कबीर! थोड़ा जीना है, क्यों अधिक ठाट बाटको उपाधि बढ़ाता है? देखता नहीं कि अमीर, ग़रीब और बादशाह सबही चला चलीके मार्ग पर खड़े हैं ॥ ८ ॥

कबीर देवल हाड़ का, माटी तना बँधान।
खरहरता पाया नहीं, देवल को सहिदान ॥९॥
कबीर देवल ढहि पड़ा, ईंट भई संघार।
कोइ चिजारा चूनिया, मिला न दूजी बार ॥१०॥

इस हड्डीके मन्दिरका बन्धान मिट्टीका है। खरभराने पर इसका निशान तक भी किसीने नहीं पाया॥ देवल गिर पड़ा,

ईंटे चूर २ हो गईं। इसे पुनः जोड़े ऐसा कोई कारिगर नहीं मिला ॥ ६ ॥ १० ॥

कबीर देवल ढहि पड़ा, ईंट रही सँवारि।
करी चिजारा प्रीतड़ी, (ज्यौं)ढहे न दूजी बारि ११॥

ऐ कबीर! मन्दिर गिरा तो गिरने दो ईंट (शुभ कमाई या स्वरूप) को सँभाल रक्खो और इसे बनाने वाले कारिगर (प्रभु) से ऐसी प्रीति करो कि फिर गिरनेका वक्त न आवे॥११॥

कबीर धूलि सकेलि के, पुड़ि जो बाँधी येह।
दिवस चार का पेखना, अन्त खेहकी खेह ॥१२॥

ऐ कबीर! धूली बटोरके शरीर रूपी पुड़ियाँ जो बाँधी है, वह चार दिनका दर्शन मात्रका है अन्तमें धूलीकी धूली है ॥१२॥

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरा लाल।
दिवस चार का पेखना, विनसि जायगा काल॥१३॥
कबीर सुपने रैन के, उघरी आये नैन।
जीव परा बहु लूट में, जागूँ(तो) लेन न देन ॥१४॥

शरीर रूप मन्दिर लाखके समान नश्वर है, (अथवा हीरा लाल जड़ित लाखोंके मन्दिर भी शीघ्र विनाश हो जाता है) इससे जो कुछ उपकार और परमार्थ होते हैं वेही हीरा, लाल उसमें जड़े हैं। नहीं तो आज या कल देखते २ चार दिनमें नष्ट हो जायगा॥ रात्रीके स्वप्न तुल्य इसका सब व्यवहार मिथ्या है, जीव व्यर्थ की लूटमें पड़ा है, नेत्र खोलकर देखे तो लेना देना कुछ नहीं॥

कबीर यह संसार है, जैसा सेंमल फूल।
दिन दस के व्यवहारमें, झूठे रंग न भूल ॥१५॥

कबीर धंधै घरि रहैं, बिन धंधै धुल नाँहि।
जो नर बिनठे मूलको, (ते) धंधै ध्यावै नाँहि ॥१६॥

यह संसार सेमरके फूल सा है, इसलिये इसके रंग, रास मिथ्या व्यवहारमें मत भूलो ॥ तन मनका व्यवहार सब माया का प्रपंच है उसीको पकड़ रहेहैं, उसे छोड़नेसे सब मिट जाता है। जो मनुष्य उसके मूल अविद्याको नाश करता है वह उसे ध्यानमें कभी नहीं लाता ॥ १५ ॥ १६ ॥

कबीर जो दिन आज है, सो दिन नांहीं काल।
चेति सकै तो चेति ले, मीच परी है ख्याल ॥१७॥

ऐ कबीर! आज (नर) का दिन कल (पशु आदि में) नहीं है यदि चेत सको तो चेत लो, होश करो मौत शिर पर है ॥ १७ ॥

कबीर या संसार है, घना मनुष मतिहीन।
रामनाम जाना नहीं, आये टापा दीन ॥१८॥

ऐ कबीर! इस संसारमें विवेक शून्य बहुतेरे मनुष्य हैं जो राम नामको जाने बिना भटक रहे हैं ॥ १८ ॥

कबीर यह तन जात है, सकै तो ठौर लगाव।
कै सेवा कर साध की, कै गुरु के गुन गाव ॥१९॥

व्यर्थमें यह सुर दुर्लभ तन जा रहा है बन सके तो स्थिति कर लो। संतनकी सेवा या सद्गुरुका गुण गान करो ॥ १९ ॥

कबीर खेत किसानका, मिरगन खाया झारि।
खेत बिचारा क्या करै, धनी करै नहि बारि ॥२०॥

किसानका सारा खेत मृगोंने उजाड़ डाला। खेत बेचारा

क्या करे जब कि मालिक मज़बूत बाड़ नहीं लगाता। भावार्थ-विवेक, बाड़ बिना अवश इन्द्रियाँ ज्ञानांकुर को नहीं बढ़ने देतीं ॥ २० ॥

कबीर अनहूआ हुआ, बहु रीता संसार।
पड़ा भुलावा गाफला, गया कुबुद्धि हार ॥२१॥

गुरु सत्संग विमुख ज्ञान शून्य अधिक संख्याके संसारमें ऐसे लोग हैं जो मायाकी अनहोनी घटनाको देखकर स्वयं विचार नहीं कर पाते, बेभान हो उसको भूल भुलइयामें पड़के कुबुद्धि वश अपने आपको खो बैठते हैं ॥ २१ ॥

कबीर वा दिन याद कर, पग ऊपर तल सीस।
मृतु मंडल में आय के, बिसरि गया जगदीस ॥२२॥

ऐ कबीर! उस दिनको होश कर जिस दिन पग ऊपर और शिर नीचा करना पड़ेगा। मौतके जगत्में आके जगत्-ईश ही को भूल गया है ॥ २२ ॥

कबीर बेड़ा जरजरा, कूड़ा खेवन हार।
हरुये हरुये तरि गये, बूड़े जिन सिर भार ॥२३॥

दश छिद्र वाली नौका (देह) है और मूर्ख खेवैया है। इस हालतमें वर्णादिका मर्याद-बोझ रहित हलके २ पार गये व जाते हैं और भार वाले बूड़े व बूड़ते हैं ॥ २३ ॥

कबीर पाँच पखेरुवा, राखै पोष लगाय।
एक जु आयो पारधी, लइ गय सबै उड़ाय ॥२४॥

ऐ कबीर! 'जीवनकी जनि आशा राखो काल धरे हैं श्वासा' जिन पंच प्राण पखेरूको आशा लगाय अन्न पानादिसे पोषण

करते हो एक दिन ऐसा व्याधा आयगा कि उन सबही को एक साथ ही उड़ा ले गया व ले जायगा ॥ २४ ॥

कबीर पैंडा दूर है, बीचि पड़ी है रात ।
ना जानौ क्या होयगा, ऊगँते परभात ॥ २५ ॥

चलनेका रास्ता बहुत दूर है बीच ही में रात हो गई । यह भी कहाँ ख़बर है, सवेरे क्या होगा ? 'न जाने जानकी नाथे सवारे. शू थवा दु छे' इत्यादि अतः कालका कार्य आज ही करो ॥ २५ ॥

कबीर यह तन वन भया, करम जु भया कुल्हार।
आप आप को काटि है, कहैं कबीर विचार ॥२६॥
कबीर सतगुरु सरन की, जो कोइ छाड़ै ओट ।
घनअहरन विचलोह ज्यौं, घनी सहै सिर चोट ॥२७॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं, इस शरीर रूप जंगल को कर्म रूपी कुल्हाड़ी स्वयं काट डालेगी । शीघ्र सद्‌गुरुकी शरण लो ॥ सद्‌गुरु की शरण छायाको जो कोई छोड़ता है वह घन और निहाईके मध्यमें लोहेकी तरह उसे जन्मादिकी घनी चोट सहनी पड़ती है ॥ २६ ॥ २७ ॥

कबीर नाव तो झांझरि, भरी बिराने भार ।
खेवट सों परिचै नहीं, क्यौंकर उतरै पार ॥२८॥

ऐ कबीर ! एक तो देह रूप नौका स्वयं जीर्ण २ हो गई है दूसरे त्रिविध ईषणा रूपी विराने भारसे लदी हुई है । तिसपर भी सद्‌गुरु खेवैयासे परिचय नहीं, कहो कैसे पार उतरेगा?॥२८॥

कबीर रसरी पाँव में, कह सोवै सुख चैन ।
साँस नगारा कूँच का, बाजत है दिन रैन ॥२९॥

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चला बजावन हार ॥३०॥

ऐ कबीर! पगमें बेड़ी पड़ी है क्या सुख, शान्तिसे सोता है? होशकर कूचका श्वासरूप नगारा रात दिन बज रहा है॥ ध्यान रख श्वासरूप तारोंके टूटने पर शरीररूप सितार फिर नहीं बजता। बजानेवाला चल दिया तो जंत्र क्या करे॥२९-३०॥

कबीर गाफिल क्या करै, आया काल नजीक।
कान पकरि के ले चले, ज्यौं अजियाहि खटीक॥३१॥
कबीर पानी हौज का, देखत गया बिलाय।
ऐसे ही जिव जायगा, काल जु पहुँचा आय॥३२॥

ऐ बेखबर! क्या उपाय करता है? मौत तो नज़दीक आगई। ऐसे कान पकड़कर ले चलेगा जैसे छेरीको चिकवा॥ जैसे सहस्र छिद्र वाला हौज़का पानी देखते देखते गायब हो जाता है वैसेही कालको आने पर जीवन, जोबन धनादि सब चले जायँगे॥ ३१॥ ३२॥

कबीर चितहि चमकिया, किया पयाना दूर।
कायथ कागज़ काढ़िया, दरगह लेखा पूर॥३३॥

सद्गुरु कृपासे जिसका चित्त चमका अर्थात् चित्स्वरूपमें स्थिति हो गई वह संसारसे अलग हो गया चित्रगुप्तने दफ्तर उघाड़ा और देखा तो दरबारका हिसाब पूरा पाया॥ ३३॥

कबीर केवल नाम कह, सुद्ध गरीबी चाल।
कूर बड़ाई बूड़सी, भारी परसी भाल॥३४॥

ऐ कबीर! रामका नाम ले और सन्तगुरुकी शुद्ध अधीनता

स्वीकार कर। जो मूर्ख मिथ्या बड़ाईमें पड़ेगा वह बूड़ेगा और भारी त्रिविध तापमें तपेगा ॥ ३४ ॥

कबीर पूँजी साह की, तू जिन करै खुवार।
खरी बिगुरचन होयगी, लेखा देती बार ॥३५॥
मरेंगे मरि जायँगे, कोय न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाहिंगे, छोड़ि बसन्ता गाम ॥३६॥

साहुकारको नरतनरूपी पूँजी व्यर्थमें तू मत विगाड़। हिसाब देते वक्त भारी उलझनमें पड़ेगा॥ इस उलझनमें पड़के कितने मरे और मारे जायँगे। उसका नाम तक भी न कोई लेता न लेगा। नरदेहरूपी सुन्दर वस्तीको छोड़कर वेही लोग स्वरूप ज्ञान शून्य पशु आदिका शरीररूप उजड़ वस्तीको बसाये और बसायेंगे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

लेखा देना सोहरा, जो दिल साँचा होय।
साँई के दरबार में, पला न पकड़े कोय ॥३७॥
कायथ कागज़ काढ़िया, लेखा वार न पार।
जबलग साँस शरीरमें, तब लग नाम सँभार ॥३८॥

जिसका हृदय और व्यवहार सच्चा है उसे हिसाब देना बायें हाथका खेल है, मालिकके दरबारमें उसका पला (धोतीकी खूँट) कोई नहीं पकड़ सकता॥ चित्रगुप्त ने दफ्तर खोला तो हिसाब वेहिसाब पाया इसलिये जब तक शरीर श्वासका सम्बन्ध है तब तक मालिकका नाम लो ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

जिनके नौबत बाजती, मैंगल बंधति बारि।
एकहि गुरु के नाम बिन, गये जनम सब हारि ॥३९॥

ढोल दमामा दुरबरी, सहनाई सँग भेरि।
औसर चले बजाय के, है कोय राखै फेरि ॥४०॥

जिनके द्वारे निशाने फहराते और डंका बजता था एवं भद्र दर्शनके लिये द्वारे हाथी बँधता था ऐसे मनुष्य भी एक सद्गुरु-ज्ञान बिना नर जन्म सब हार गये ॥ ऐसेही ढोल, नगारा, तासा तथा सहनाईके संगमें गुरदक इत्यादि बाजाओंको भी अपने अपने समयमें बजा (हुकमत कर) के चल धरे, क्या कोई है ऐसा जो उसे लौटा सके ? ॥ ३६ ॥ ४० ॥

एक दिन ऐसा होयगा, सब सों परै बिछोह।
राजा राना राव रँक, सावध क्यौं नहिं होय ॥४१॥

एक समय तो ऐसा आयगा कि स्वयंही सबसे वियोग होना पड़ेगा। फिर राजा महाराजा और अमीरगरीब सावधान क्यों नहीं होते ? 'अन्तहु तोहि तजेंगे पामर तू न तजै अबहीते। मन पछितैहो अवसर बीते ॥" इत्यादि ॥ ४१ ॥

ऊजड़ खेड़े टेकरी, घड़ि घड़ि गये कुम्हार।
रावन जैसा चलि गया, लंका को सरदार ॥४२॥
आज काल के बीच में, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास ॥४३॥

जंगल जोतनेवाला किसान और ऊँची जमीनको मिट्टी खोदकर नीची करनेवाला कुम्हार ये सब तो चलेही गये किन्तु लंका राजधानीका राजा रावण ऐसा भी नहीं रहने पाया, तो औरोंकी क्या कथा ? ॥ अरे ! एक दिन आगे पीछे सबही जंगलमें जमीन दोस्त होंगे और उनके ऊपर हल चलेगा और पशु घास चरेंगे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

हाड़ जरै ज्यौं लाकड़ी, केस जरै ज्यौं घास ।
सब जग जरता देखि करि, भये कबीर उदास ॥४४॥
पानी केरा बुद बुदा, इस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायँगे, ज्यौं तारा परभात ॥४५॥

अग्निमें डालनेसे लकड़ीकी तरह हड्डी और घासकी तरह केश जलते हैं इस प्रकार सब जगज्जीवोंको जलते देखकर मुमुक्षु माया प्रपंचसे वृत्ति प्रथमही हटा लेते ॥ क्योंकि पानीके बुलबुल्लेकी तरह इस मनुष्य (माया प्रपंच) की स्थिति है, देखते देखते ऐसे अदृश्य हो जाता जैसे प्रातःकालमें तारा ॥४४॥४५॥

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥४६॥
कै खाना कै सोवना, और न कोई चीत ।
सतगुरुशब्द बिसारिया, आदि अंत का मीत ॥४७॥

ऐ नर ! चेत, क्यों खाने सोनेमें रात दिन गमाता है, अरे ! नर जन्म अमूल्य रत्न, कौड़ी बदले जा रहा है, इसे रक्षा कर ॥ आदि अन्तका सहायक सद्‌गुरु ज्ञानको खाने सोनेमें मत भुला ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

निधड़क बैठा नाम बिनु, चेति न करै पुकार ।
यह तन जल का बुदबुदा, विनसत नाहीं बार ॥४८॥
यह औसर चेत्यो नहीं, पसु ज्यौं पाली देह ।
राम नाम जान्यो नहीं, अंत पड़े मुख खेह ॥४९॥

सद्‌गुरु-नाम बिना बेफिक्र बैठा है, होशकर गुरुको याद क्यों नहीं करता ? यह तन तनिक भरमें जल-बुद बुदकी तरह

नष्ट हो जायगा ॥ चेतनेका यही वक्त है सो न कर पशुवत् शरीर पालते हो, रामका नाम भी नहीं जानते ध्यान रक्खो, नरतन गये बाद बड़ा दुख उठाना पड़ेगा ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

आछे दिन पाछे गये, गुरु सों किया न हेत ।
अब पछितावा क्या करै, चिड़ियाँ चुगि गइ खेत ॥५०॥
आज कहै मैं काल भजूँ, काल कहै फिर काल ।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल ॥५१॥
काल करै सो आज कर, सबहि साज तुव साथ ।
काल काल तू क्या करै, काल काल के हाथ ॥५२॥

शुभ सत्संगका समय चला गया सद्गुरुसे प्रेम न किया । अब समय चुकने पर पछतानेसे क्या ? ॥ जो सद्गुरु सत्संग ज्ञानका शुभ अवसर था उसे आज काल करते २ गमा बैठे, ऐसे ही शेष भी चला जायगा ॥ इसलिये कल करनेका कार्य आज ही कर लो, सर्व साधन सम्पन्न नर तन तुम्हें प्राप्त है । काल २ क्यों करते हो ? कलका काम तो कालके हाथ है उसे अपना मत समझो ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब ।
पल में परलय होयगी, बहुरि करेगा कब्ब ॥५३॥
पाव पलककी सुधि नहीं, करै काल का साज ।
काल अचानक मारसी, ज्यौं तीतर को बाज ॥५४॥

कालका कार्य आज और आजका अभी करो तुम्हें खबर नहीं, क्षण मात्रमें कल्पान्त होगा, फिर कब क्या करोगे ॥ निमेषके चतुर्थांशकी तो खबर नहीं और कालका कौल करता

है। अरे! काल तो अकस्मात ऐसे मारेगा जैसे वटेर को बाज़ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

पाव पलक तो दूर है, मो पै कहा न जाय।
ना जानौ क्या होयगा, पल के चौथे भाय ॥५५॥

पाव पलक तो वहुत है, मुझसे तो यह भी नहीं कहा जाता कि पलके चौथे भागमें क्या होगा ॥ ५५ ॥

ऊँचा दीसै धौहरा, माँड़ी चीती पोल। -
एक गुरु के नाम विना, जम मारेंगे रोल ॥५६॥
ऊँचा मंदिर मेडियाँ, चूना कली ढुलाय।
एकहि गुरुके नाम विन, जदि तदि परलै जाय ॥५७॥

पाँलिस और चित्रकारियोंसे सुशोभित ऊँचा मीनार वत् नर तन श्रेष्ठ दीख रहा है किन्तु एक सद्गुरुके नाम विना यम हँसा, खेलाकर मार डालेगा ॥ होश करो एक गुरुके नाम विना दो मंजिला ऊँचा धवल धाम कदाचित् प्रलय होने वाला सव वे काम है ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

ऊँचा महल चुनाइया, सुवरन कली ढुलाय।
वे मन्दिर खाली पड़े, रहै मसानां जाय ॥५८॥

सोनहरी वेल वूटोंसे सजाकर ऊँचे महल क्यों न वनायें हों किन्तु अन्तमें वे मन्दिर खाली पड़ेंगे और सजाने वाले मरघट में जाकर रहेंगे ॥ ५८ ॥

सातों शब्द जु वाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, वैठन लागे काग ॥५९॥

कहा चुनावै मेड़ियाँ, चूना माटी लाय।
मीच सुनैगी पापिनी, दौरि कि लेगी आय ॥६०॥

जिन महलोंमें सा, रे, ग, म आदि सातों स्वर युत विविधि बाजे बजते और समय २ के राग गाये जाते थे वे भी खाली पड़ गये और ऊपर काग बैठने लगे ॥ अरे! पापिनी मृत्यु तो दौड़ कर तुम्हें ही चुन डालेगी। तुम क्या चूना मिट्टी लाकर महल चुनाते हो ॥ ५९ ॥ ६० ॥

कहा चुनावै मेड़िया, लंबी भींत उसारि।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तु पौने चारि ॥६१॥

ओसारादार लम्बी भीतका महल क्या चुनाते हो तेरा घर तो साढ़े तीनही हाथ है यदि बहुत बड़ा चाहिये तो पौने चार हाथ बनालो ॥ ६१ ॥

पाँच तत्त्व का पूतला, मानुस धरिया नाम।
दिना चार के कारनै, फिर फिर रोकै ठाम ॥६२॥

पंचभूत निर्मित पुतलाको चार दिनके वास्ते मनुष्य नाम धर लिया है और उसीमें वारम्वार उलझ पुलझ कर मुक्ति स्थानको भी रोक रक्खा है ॥ ६२ ॥

पाकी खेती देखि के, गरवै कहा किसान।
अजहूँ झोला बहुत है, घर आवै तब जान ॥६३॥

ऐ किसान! पकी हुई खेतीको देखकर क्या फूले न समाता है? अभी तो बहुत झंझट है घर आ जाय तब मनोरथ सिद्ध समझो ॥ भावार्थ केवल नरतनहीसे कृतार्थ नहीं हो सकता जब तक कि गुरु ज्ञान व स्वरुप स्थिति न हो ॥ ६३ ॥

हाड़ जले लकड़ी जले, जले जलावन हार।
कौतिक हारा भी जले, कासों करूँ पुकार ॥६४॥

हड्डी, लकड़ी तो जल ही गई किन्तु जलानेवाले और तमाशे गिर भी जल गये अब गोहार किससे करना ? ॥ ६४ ॥

घर रखवाला बाहिरा, चिड़ियाँ खाया खेत।
आधा परधा ऊबरै, चेति सकै तो चेत ॥६५॥

घर रक्षक गुरु-वाक्य विमुख बहिरा है, तृष्णारूपी चिड़िया खेत (आयुः) को खा गई, यदि चेत सको तो बचे खुचेमें चेत लो ॥ ६५ ॥

मौत बिसारी बावरी, अचरज कीया कौन।
तन माटी में मिलि गया, ज्यौं आटा में लौन ॥६६॥

शरीर तो मिट्टीमें ऐसे मिल गया जैसे आटेमें लवण। तिस पर भी दिवानी मौत विसारी है, न जाने यह आश्चर्य किसने किया ॥ ६६ ॥

जनमैं मरन विचारि के, कूरे काम निवारि।
जिन पंथा तोहि चालना, सोई पंथ सँवारि ॥६७॥

जन्म मरणको दुःसह दुख समझकर उसे निवृत्ति अर्थ दुष्ट काम क्रोधादिको दूर करो। उसी मार्गको पकड़ो जिस मार्गसे तुम्हें चलना है ॥ ६७ ॥

जिन गुरु की चोरी करी, गये नाम गुन भूल।
ते विधना बागल रचे, रहे अरध मुख झूल ॥६८॥

जिन कर्मोंने गुरुसे विमुख और राम-गुणको भुलाया उसीने अधोमुख झुलानेको गर्भ फन्दा भी रचा है ॥ ६८ ॥

राम नाम जाना नहीं, पाला सकल कुटुम्ब।
धन्धा ही में पचि मरा, बार भई नहिं बुम्ब ॥६९॥

कुटुम्बोंके पोषणमें रामनामको बिसार दिया और घर धन्धेमें ऐसे रचे पचे कि शुभ यश कीर्ति भी नहीं बना सके॥६९॥

राम नाम जाना नहीं, हूआ बहुत अकाज।
बूड़ोगे रे बापुरे, बड़े बड़ों की लाज ॥७०॥

नरतनमें जिसने राम नामको नहीं जाना उसे बड़ा विघ्न हुआ ऐ बावरा! लाज वश बड़े बड़ोंकी बड़ाईमें बूड़ मरोगे॥७०॥

राम नाम जाना नहीं, ता मुख आन धरंम।
कै मूसा कै कातरा, खाता गया जनंम ॥७१॥

सब घट रमिता रामको जिसने स्वरूप करके नहीं जाना उसके मुखमें दया धर्म विरुद्ध हिंसा धर्म रहा। अतः चूहा या टिड्डी खाते उसका नर जन्म योंही व्यर्थ गया ॥ ७१ ॥

राम नाम जाना नहीं, मेला मना विसार।
ते नर हाली बालदी, सदा पराये बार ॥७२॥

सद्गुरुकी शरणागत हो जिसने मनकी मलिनता दूर कर रमैया रामको नहीं जाना वह किसानका हल वहनेवाला बैल होकर सदा पराधीन रहेगा ॥ ७२ ॥

राम नाम जाना नहीं, बात बिनूठी भूल।
हरि सा हितू बिसारिया, अंत पड़ी मुख धूल ॥७३॥

स्वरूप रामको न जानकर भ्रम भूलमें पड़ गया और सारी बात बिगाड़ डाली। अतः अकारण अनुग्रही प्रभुको भुलानेसे अन्तमें दुखी हुआ ॥ ७३ ॥

राम नाम जाना नहीं, चूके अबकी घात।
माटी मिलन कुम्हार की, घनी सहेगा लात ॥७४॥

राम नामको जाने विना यह शुभ अवसर चुक गया, अब कुम्हारकी मिट्टी बन उसकी घनी लात मर्दन सहेगा ॥ ७४ ॥

माटी कहै कुम्हार को, क्या तू रौंदै मोहिं।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रौंदौंगी तोहिं ॥७५॥

मिट्टी भी कुम्हारको होशियार करती कि तू मुझे क्या कुँचलता है, एक दिन तुम्हारा भी ऐसा होगा कि मैं तुझे भली-भाँति कुचलूँगी ॥ ७५ ॥

लकड़ी कहै लुहार सों, तू मति जारै मोहिं।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं जारौंगी तोहिं ॥७६॥

लकड़ी लुहारसे कहती है तू मुझे मत जला! एक दिन ऐसा होगा कि मैं तुझे जलाऊँगी ॥ ७६ ॥

कहा किया हम आयके, कहा करेंगे जाय।
इत के भये न उत के, चाले मूल गँवाय ॥७७॥

संसारमें आके हम क्या किये और जाके क्या करेंगे लोक परलोक दोनों गमाके नरतन व्यर्थ में खो बैठे ॥ ७७ ॥

जग जहदा में राचिया, झूठे कुल की लाज।
तन छीजै कुल विनसिहै, रटै न नाम जहाज ॥७८॥

"वर्णाश्रम कुल पन्थमें, जाको है आवेश। ब्रह्मज्ञान हृदय महँ, करि न सकत प्रवेश" इत्यादि वचनके अनुसार मिथ्या वर्णाश्रम कुल पन्थके झगड़ेमें रचपच गये। सद्गुरु नाम जहाजकी शरण विनाही तन क्षीण व कुल विनाशहोगया॥७८॥

यह तन काचा कुम्भ है, लिया फिरै थे साथ।
टपका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथ ॥७६॥
यह तन काचा कुम्भ है, चोट चहुँदिस खाय।
एकहि गुरु के नाम बिन, जदि तदि परलै जाय॥८०॥

मोहवश जिसे साथ लिये फिरते थे उस कचा घड़ाको जरासी ठोकर लगी और फुट गया कुछ भी हाथ न आया॥ यह तन कचा घड़ा है और चारों ओरसे आधि व्याधिरूपी चोट भी खा रहा है। एक सद्गुरु-नाम बिना इसका कभी न कभी योंही अन्त हो जायगा॥ ७६॥ ८०॥

यह तन काचा कुंभ है, माँहि किया रहि वास।
कबीर नैन निहारिया, नहिं जीवन की आस ॥८१॥

जिस शरीरमें निवास किया है वह क्षण विनाशी कचा घड़ा है। मैंने विवेक दृष्टि फैलाकर देख लिया इसमें कुशल नहीं है ८१

दुनिया भांडा दुःख का, भरा मुहाँ मुँह मूख।
आदि अल्लह राम की, कुरलै कौनी कूख ॥८२॥

संसार दुखका पात्र है, उसमें लबेलब दुख भरा है। अतः आदि प्रभुके याद में कुरलै कौनी (अन्न विशेष) को अर्पण कर स्मरण करो॥ ८२॥

दुनिया के मैं कुछ नहीं, मेरे दुनिया कात।
साहिब दर देखै खड़ा, दुनिया दोज़ख जात॥८३॥

जैसे संसारके लिये मैं निरर्थक हूँ वैसे ही मेरे लिये संसार भी कात-कबीर यानी राङ्गातुल्य नाचीज़ है। क्योंकि, दर ही से मालिक खड़े देख रहे हैं, दुनियाँ जहन्नुममें जा रही है॥८३॥

दुनिया सेती दोसती, होय भजन में भंग।
एका एकी राम सों, कै साधुन के संग ॥८४॥

दुनियासे सम्बन्ध रखनेमें भजनमें भंग (विघ्न) होता है, प्रभु से प्रेम तो अकेले या सन्तोंके संगमें होता है ॥ ८४ ॥

दुनियां के धोखै मुआ, चला कुटुंब की कानि।
तव कुलकी क्या लाज है, जब ले धरा मसानि ॥८५॥

संसार परिवार सब धोखेकी टट्टी है उसकी आड़में चला यह मरा। होश करो तब कुलकी क्या लज्जा रहेगी जब श्मशान घाट पर ला धरेगा ॥ ८५ ॥

कुल खोये कुल ऊबरै, कुल राखै कुल जाय।
राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया विलाय॥८६॥

सांसारिक मिथ्या कुल खोने हीमें आत्म रूप कुलका उद्धार होता है और उसकी रक्षामें यह चला जाता है। कुल रहित आत्माराम कुलको मिलनेसे उसीमें कुल सब लय हो गये ॥८६॥

कुल करनी के कारनै, हंसा गया बिगोय।
तब कुल काको लाजि है, चारि पांव का होय ॥८७॥

मिथ्या कुल आचरणके कारण हंस स्वरूपसे वञ्चित रह गया। ऐ हंस! विचार कर उस वक्त कोन कुलकी लाज रहेगी जब चौपाया हो नंगे फिरेगा ॥ ८७ ॥

कुल करनी के कारनै, ढिग ही रहिगो राम।
तब कुल काको लाजिहै,(जब)जमकी धूमाधाम॥८८॥

"ढिग बूड़ा उतरा नहीं, याहि अन्देसा मोहि" इत्यादि ऐ हंस! मिथ्या कुलाचरणके कारण अति सन्निकट रामस्वरूपसे

विमुख रह गया। विचार कर, जब यमसे काम पड़ेगा तब कौन कुलकी लाज रहेगी ॥ ८८ ॥

कहत सुनत जग जात हैं, विषय न सूझै काल।
कहैं कबिर सुन प्रानिया, साहिब नाम सम्हाल॥८६॥

विषयी जगजीव सब विषय कथा कहते सुनते चले जा रहे हैं, उन्हें मृत्यु नहीं दीखती। कबीर गुरु कहते हैं, ऐ प्राणी! यदि मेरी सुन तो मालिकका नाम ले इसीमें कल्याण है ॥८६॥

काया मंजन क्या करै, कपड़ा धोयम धोय।
ऊजल होय न छूटसी, सुख निंदरि नहिं सोय॥६०॥

यदि हृदयका मैल नहीं गया तो काया, कपड़ा की सफाई व्यर्थ है। इस सफाईसे मृत्युसे नहीं छूट सकता अतः सुख निद्रा मत ले प्रभुको याद कर ॥ ६० ॥

ऊजल पहिने कापड़ा, पान सुपारी खाय।
कबीर गुरुकी भक्ति बिन, बाँधा जमपुर जाय ॥६१॥

श्वेत वस्त्र पहिरना और पान सुपारी खाना सब कुछ ठीक है, परन्तु सद्गुरुकी भक्ति बिना निर्बन्ध न होगा,यमपुर अवश्य जाना पड़ेगा ॥ ६१ ॥

मलमल खासा पहिरते, खाते नागर पान।
टेढ़ा होकर चालते, करते बहुत गुमान ॥६२॥
महलन माँहीं पौढ़ते, परिमल अंग लगाय।
ते सपने दीसे नहीं, देखत गये बिलाय ॥६३॥

जो खासा मलमल पहिरते और नागर पान खाते एवं अभिमान वश टेढ़े होकर चलते थे ॥ और सुगन्धि पदार्थोंसे अंग

चर्चित कर महलोंमें लेटते थे वे स्वप्नमें भी नज़र नहीं आते देखते ही विला गये ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

जंगल ढेरी राख की, उपरि उपरि हरियाय ।
ते भी होते मानवी, करते रंग रलियाय ॥९४॥

जिनके भस्मकी ढेरी जंगलमें लगी और ऊपर २ सब्जी हरिया रही है। वे भी तो मनुष्य ही थे जो बड़े रास रंग किया करते थे ॥ ९४ ॥

मेरा संगी कोय नहिं, सबै स्वारथी लोय ।
मन परतीति न ऊपजै, जिय विस्वास न होय ॥९५॥

मेरा परमार्थी संगी कोई नहीं, सब ही स्वार्थी लोग हैं। इसलिये प्रीति पूर्वक प्रतीति उत्पादक कोई विश्वासका पात्र नहीं होता ॥ ९५ ॥

थलि जो चरता मिरगला, बेधा इक जूँ सौंन ।
हम तो पंथी पंथ सिर, हरा चरेगा कौन ॥९६॥

उजड़ मैदानमें चरने वाले मृगाओं जब मृत्यु रूपी एक बाण से वेधे (मारे) जाते हैं, तो कहो भला हम रास्ता चलने वाले राही, हरा मैदान कोन चरेगा ? ॥ ९६ ॥

जिसको रहना उत घरा, सो क्यों तोड़ै मीत ।
जैसे पर घर पाहुना, रहै उठाये चीत ॥९७॥

जिसे उस घरमें रहना है वह उससे प्रीति क्यों जोड़ेगा ? वल्कि वह इस घरसे ऐसे मन मोड़े रहता है जैसे पराय घर से पाहुना ॥ ९७ ॥

इत पर घर उत है घरा, बनिजन आये हाट ।
करम करीना बेचि के, उठि करि चालो बाट ॥९८॥

इत-संसार, शरीर पर घर है और उत आत्म स्वरूप निज घर है संसार बाज़ार में सद्गुरु सौदा करने आये हैं। अब कर्म रूप मसालेको बेचके उठकर अपनी राह लो, विलम्ब मत करो ॥ ६८ ॥

ज्यों कोरी रेजा बुनै, नीरा आवै छोर।
ऐसा लेखा मीच का, दौरि सकै तो दौर ॥६६॥

जिस प्रकार जोलाहा कपड़ा बुनता है और उसकी छोर नज़दीक आती जाती है इसी प्रकार मौत भी कच्छप चालसे आ रही है, ऐ नर! दौड़ सके तो दौड़ चल ॥ ६६ ॥

कोठे ऊपर दौरना, सुख निंदरि नहि सोय।
पुंनै पाया देहरा, ओछी ठौर न खोय ॥१००॥

ऊपरी मंजिला पर दौड़ना है, क्या सुख सोवे मोह खोहमें बड़े पुण्य प्रभावसे नर देह रूप देवालय प्राप्त हुआ है कुमार्गमें मत गमा ॥ १०० ॥

मैं मेरी तू जनि करै, मेरी मूल विनासि।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की फाँसि ॥१०१॥

परिणामी वस्तु विषये 'मैं' 'मेरी' मत कर, यही नाशका हेतु है। 'मेरी' ही को पगकी बेड़ी और गलेकी फँसरी समझ

मैं मैं बड़ी बलाय है, सको तो निकसु भागि।
कबलग राखो रामजी, रुई लपेटी आगि ॥१०२॥

'मैं' 'मैं' यह भारी फन्दा है, यदि इसे तोड़ सके तो भाग निकल उस रुईको रक्षा प्रभु कहाँतक करेगा जो अग्नि से लपटी है ॥ १०२ ॥

मोर तोर की जेवरी, गल बंधा संसार।
दास कबिरा क्यों बँधै, जाके नाम अधार ॥१०३॥

मोर तोर रूपी रस्सीसे संसारियोंका गला बँधा हुआ है ऐ कबीर। वह दास क्यों बँधेगा जिसे सद्गुरु का नाम रक्षक है ॥ १०३ ॥

नान्हा कातौ चित्त दे, महँगे मोल बिकाय।
ग्राहक राजा राम है, और न नीरा जाय ॥१०४॥

चित्त एकाग्र करके अति सूक्ष्म सद्गुरु नाम रूपी सूत का तो, यह महँगे मूल्यसे बिकेगा, उसका ग्राहक सबका मालिक राम है और कोई तो उसके पास भी न जायगा ॥ १०४ ॥

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय।
को काहू का है नहीं, देखा ठोंकि बजाय ॥१०५॥

शरीर सरायमें मन पहरादार है मनोरथ रूप मुसाफ़िर डेरा डाला है। भलीभाँति ठोक बजाकर देख लिया कोई किसी का नहीं है ॥ १०५ ॥

राम कहंते खिझ मरै, कुष्ठ होय गलि जाय।
सूकर है करि औतरै, नाक बूड़ता खाय ॥१०६॥

जो राम कहनेसे खीजता और दुखी होता है वह गलित कुष्ठी हो मरकर शूकर योनिको प्राप्त होगा और नाक बूड़ा कर नरकको खायगा ॥ १०६ ॥

पुर पट्टन काया पुरी, पाँच-चोर दस द्वार।
जमराजा गढ़ भेलसी, सुमरि लेहु करतार ॥१०७॥

काया गढ़ शहरमें पंच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी चोर और दश

इत-संसार, शरीर पर घर है और उत आत्म स्वरूप निज घर है संसार बाज़ार में सद्गुरु सौदा करने आये हैं। अब कर्म रुप मसालेको बेचके उठकर अपनी राह लो, विलम्ब मत करो ॥ ९८ ॥

ज्यौं कोरी रेजा बुनै, नीरा आवै छोर।
ऐसा लेखा मीच का, दौरि सकै तो दौर ॥९९॥

जिस प्रकार जोलाहा कपड़ा बुनता है और उसकी छोर नजदीक आती जाती है इसी प्रकार मौत भी कच्छप चालसे आ रही है, ऐ नर! दौड़ सके तो दौड़ चल ॥ ९९ ॥

कोठे ऊपर दौरना, सुख निंदरि नहिं सोय।
पुंनै पाया देहरा, ओछी ठौर न खोय ॥१००॥

ऊपरी मंजिला पर दौड़ना है, क्या सुख सोवे मोह खोहमें बड़े पुण्य प्रभावसे नर देह रूप देवालय प्राप्त हुआ है कुमार्गमें मत गमा ॥ १०० ॥

मैं मेरी तू जनि करै, मेरी मूल विनासि।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की फाँसि ॥१०१॥

परिणामी वस्तु विषये 'मैं' 'मेरी' मत कर, यही नाशका हेतु है। 'मेरी' ही को पगकी बेड़ी और गलेकी फॅसरी समझ

मैं मैं बड़ी बलाय है, सको तो निकसु भागि।
कबलग राखो रामजी, रुई लपेटी आगि ॥१०२॥

'मैं' 'मैं' यह भारी फन्दा है, यदि इसे तोड़ सके तो भाग निकल उस रुईकी रक्षा प्रभु कहाँतक करेगा जो अग्नि से लपटी है ॥ १०२ ॥

मोर तोर की जेवरी, गल बंधा संसार।
दास कबिरा क्यौं बँधै, जाके नाम अधार ॥१०३॥

मोर तोर रूपी रस्सीसे संसारियोंका गला बँधा हुआ है वे कबीर! वह दास क्यों बँधेगा जिसे सद्गुरु का नाम रक्षक है ॥ १०३ ॥

नान्हा कातौ चित्त दे, महँगे मोल बिकाय।
ग्राहक राजा राम हैं, और न नीरा जाय ॥१०४॥

चित्त एकाग्र करके अति सूक्ष्म सद्गुरु नाम रूपी सूत का तो, यह महँगे मूल्यसे बिकेगा, उसका ग्राहक सबका मालिक राम है और कोई तो उसके पास भी न जायगा ॥ १०४ ॥

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय।
को काहू का है नहीं, देखा ठोंकि बजाय ॥१०५॥

शरीर सरायमें मन पहरादार है मनोरथ रूप मुसाफ़िर डेरा डाला है। भलीभाँति ठोक बजाकर देख लिया कोई किसी का नहीं है ॥ १०५ ॥

राम कहंते खिझ मरै, कुष्ठ होय गलि जाय।
सूकर है करि औतरै, नाक बूड़ता खाय ॥१०६॥

जो राम कहनेसे खीजता और दुखी होता है वह गलित कुष्टी हो मरकर शूकर योनिको प्राप्त होगा और नाक बूड़ा कर नरकको खायगा ॥ १०६ ॥

पुर पट्टन काया पुरी, पाँच-चोर दस द्वार।
जमराजा गढ़ भेलसी, सुमरि लेहु करतार ॥१०७॥

काया गढ़ शहरमें पंच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी चोर और दश

इन्द्रियाँ रूप दरवाजे खुले हैं। मृत्युराज गढ़ पर चढ़ाई करेगा अतएव प्रभुका नाम सुमर ले ॥ १०७ ॥

राज दुवारे बाँधिया, मूड़ी धुनै गयंद।
मनुष जनम कब पायहूँ, कब भजिहूँ गोविंद ॥१०८॥

राजद्वारे बँधा हुआ हस्ति मानो शिर धुन कर कह रहा है कि कब नर जन्म प्राप्त होगा और कब प्रभुको भजूँगा ॥१०८॥

आये हैं ते जायँगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंघासन चढ़िचले, (एक) बाँधे जात जँजीर१०९॥

आने वालेको जाना ज़रूर है चाहे राजा या रंक, फ़क़ीर ही क्यों न हो। किन्तु जानेमें गूढ रहस्य तो यह है कि एक सिंहासन बैठके और एक जंजीर पहिरके जाता है ॥ १०९ ॥

या मन गहि जो थिर रहै, गहिरी धूनी गाड़ि।
चलती बिरियाँ उठिचला, हस्ती घोड़ा छाँड़ि ॥११०॥

इस मनको पकड़के गहरी धुनी जमा दे और स्थिर हो रहे। प्राणान्तमें तो हाथी, घोड़ा सब ही को छोड़कर चल ही देना पड़ता है ॥ ११० ॥

तू मति जानै बावरे, मेरा है सब कोय।
पिंड प्रान सों बँधि रहा, सो नहि अपना होय॥१११॥

ऐ बावरे! तू किसीको भी अपना मत समझ। जिस प्राण से पिंड बन्धाया है वह भी तो अपना नहीं होता ॥ १११ ॥

दीन गँवायो दूनि सँग, दुनी न चाली साथ।
पाँच कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ ॥११२॥

जिन संसारियोंके संग अपना अमूल्य समय गमाया वे भी तो साथ नहीं चले। ऐ मूर्ख! तूने अपने हाथ पाँवमें कुल्हाड़ी मार लिया ॥ ११२ ॥

मैं भौंरा तुहि बरजिया, वन वन वास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेल सों, तड़प तड़प जिय देय ॥११३॥

ऐ मन भौंरा! मैंने मना किया कि इन्द्रियरूप वन २ को विषयरूप वासना मत ले, कहीं किसी विकट बेली (नारी) के पाले पड़ेगा तो तड़प २ जान गमायगा ॥ ११३ ॥

एक सीस का मानवा, करता बहुतक हीस।
लंकापति रावन गया, बीस भुजा दससीस ॥११४॥

एक शीशका मनुष्य विना विचारे मायिक पदार्थोंकी अधिक चाह करता है। यह नहीं देखता कि दश शीश और बीश भुजा वाला लंकेश्वर तो योंहि हाथ डोलाते चल धरा, मैं क्या ले सकता ॥ ११४ ॥

कालचक्र चक्की चलै, बहुत दिवस औ रात।
सगुन अगुन दोय पाटला, तामें जीव पिसात ॥११५॥
राम भजो तो अब भजो, बहोरि भजोगे कब्ब।
हरिया हरिया रूखड़े, इंधन होगये सब्ब ॥११६॥

निर्गुण सगुणरूपी दो पाटवाली कालचक्रकी चक्की बड़े वेगसे अहोरात्र घूम रही है उसीमें गुरु सत्संग विमुख जीव सब पिसा रहे हैं॥ अतः यदि उससे बचना चाहते हो तो सद्गुरुके शरणागत हो रामको अभी भजो फिर ऐसा अवसर नहीं मिलेगा, ध्यान रक्खो हरे वृक्ष भी सब जलावन होगये ॥

भय बिनु भाव न ऊपजै, भय बिनु होय न प्रीति।
जब हिरदे से भै गया, मिटी सकल रसरीति ॥११७॥
भय से भक्ति करै सबै, भय से पूजा होय।
भय पारस है जीव को, निरभय होय न कोय ॥११८॥

भय विना श्रद्धा, और प्रेम नहीं होता, हृदयमें भय न रहनेसे भजन, प्रेम और गुरू शिष्यकी मर्यादा नहीं रहती॥ भयहीसे भक्ति और पूजा सब करते हैं। लोहरूप जीवको स्वर्ण बनानेमें भय पारसरूप है, न तो कोई निर्भय है न निर्भयसे कुछ होता ही है ॥ ११७ ॥ ११८ ॥

डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार।
डरता रहै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार ॥११९॥
खलक मिला खाली हुआ, बहुत किया बकवाद।
बाँझ हिलावै पालना, तामें कौन सवाद ॥१२०॥

डरही सब कुछ है, डरसे उद्धार होता है और गाफिल गोता खाता है॥ निर्भय लोग मिलने पर सार विना खाली बकवाद करते हैं। कहो! यदि बन्ध्या पालना भी डोलावे तो भी उसमें उसे क्या स्वाद मिलेगा? ॥ ११९ ॥ १२० ॥

यह बिरियाँ तो फिरि नहिं, मन में देखु विचार।
आया लाभहिं कारनै, जनम जुआ मति हार ॥१२१

मनमें अच्छी तरह विचार देखो फिर यह अवसर नहीं मिलेगा। मुक्ति लाभके लिये ही नरजन्म है, इस दावको जीतो हारो मत ॥ १२१ ॥

बैल गढ़न्ता नर गढ़ा, चूका सींग रु पूँछ।
एकहि गुरु के नाम बिनु, धिक् दाढ़ी धिक मूँछ ॥१२२॥

विधाताने यद्यपि स्वरूप ज्ञानशून्य नरको सब साज पशुका बनाया तथापि सींग, पुच्छ भूल गया। सद्गुरु-नाम विना पुरुषका चिन्ह उस दाढ़ी, मुच्छको धिक्कार है ॥ १२२ ॥

यह मन फूला विषय बन, तहाँ न लावो चीत।
सागर क्यौं ना उड़ि चलो, सुनी बैन मन मीत ॥१२३॥
कहैं कबीर पुकारि के, चेतत नाहीं कोय।
अबकी बिरियाँ चेतिहै, सो साहिबका होय ॥१२४॥

ऐ मित्र! यह मन भँवरा विषयारण्य में फूला फिरता है वहाँ चित्त मत लाव किन्तु मेरी बात सुन, उड़कर सद्गुरु सिन्धुकी शरण क्यों न लेता॥ स्वयं कोई नहीं चेतता कबीर गुरु पुकार कर कहते हैं। इस वक्त जो चेतेगा वही प्रभुका प्यारा होगा ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

झूठा सब संसार है, कोउ न अपना मीत।
रामनाम को जानि ले, चलै सो भौजल जीत॥१२५॥
एकदिन ऐसा होयगा, कोय काहु का नाँहि।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाँहि ॥१२६॥

संसार और इसके सम्बन्धी सब झूठे हैं, अपना हित कर कोई भी नहीं। संसार सागरको वही तरेगा जो रामका यथार्थ नाम जान लेगा॥ एक दिन तो ऐसा आयगा कि, कोई न किसी का होगा। घरकी नारीको क्या कथा तनकी नाडी भी अलग हो जायगी ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

आठ पहर यौंही गया, माया मोह जंजाल।
रामनाम हिरदे नहीं, जीत लिया जमकाल ॥१२७॥

आठों पहर यौंही माया मोहकी उलझनमें चला गया। रामका नाम हृदय नहीं आया नर जन्मकी बाजी मृत्युने जीत ली ॥ १२७ ॥

मंदिर माँही झलकती, दीवा की सी ज्योति।
हंस बटाऊ चलिगया, काढ़ी घरकी छोति ॥१२८॥

चैतन्य देवकी ज्योति देह देवालयमें दीपककी तरह चमक रही थी। यही हंस मुसाफिर जब उड़ चला, तब लोग घरकी सूतक निकालने लगे ॥ १२८ ॥

बारी बारी आपने, चले पियारे मीत।
तेरी बारी जीयरा, नियरे आवै नीत ॥१२९॥
सेप नागके सहस फन, फन फन जिभ्या दोय।
नर के एकै जीभ है, रहै ताहि में सोय ॥१३०॥

लोग अपनी २ पारीसे पयान कर रहे हैं। ऐ प्रिय मित्र! तेरी भी पारी तो प्रति दिन नजदीक ही आ रही है ॥ प्रत्येक फनमें दो २ जिह्वा वाला शेषनाग भी दो हजार जिह्वाओंसे सचेत हो प्रभुका भजन करता है, क्या आश्चर्य! मात्र एक जिह्वा है तो भी नर जीव प्रभुसे विमुख हो गफलत में पड़ा है ॥

परदै रहती पदमिनी, करती कुलकी कान।
छड़ी जु पहुँची कालकी, छोड भई मैदान ॥१३१॥

जो कुलवन्ती कुलकानिके मारे पड़देमें रहती है कालके सोंटा पहुँचने पर वह भी पड़देसे अलग हो मैदान में आ जाती ॥ १३१ ॥

मछरी यह छोड़ी नहीं, धीमर तेरो काल।
जिहिजिहि डाबरघरकरो, तहँतहँ मेले जाल॥१३२॥

ऐ मछली ! तेरा काल धीमर है तू इस असार संसार रूप डावरको क्यों नहीं छोड़ती ? जहाँ २ (जिस २ योनिमें) तू जायगी वहाँ २ ही यह काल जाल डालेगा ॥ १३२ ॥

हे मतिहीनी माछरी, राखि न सकी शरीर।
सो सरवर सेवा नहीं, जाल काल नहिं कीर॥१३३॥

ऐ समझहीन मछली ! तूने शरीर रक्षाका हाल नहीं जाना क्योंकि उस गुरुचरण रूप सरोवर का सेवन नहीं किया जहाँ धीमर कालका जाल नहीं पहुँचता ॥ १३३ ॥

हे मतिहीनी माछरी, छीलर मांड़ी आलि।
डाबरियाँ छूटै नहीं, सकै तु समुँद सँभाल॥१३४॥
मछली फिरि फिरि बाहुरी, ताकि समुंदर तीर।
दरिया भीतर घर किया, कहा करेगा कीर॥१३५॥

ऐ विवेक शून्य मछली ! तूने जो तुच्छ जलाशय को विहार स्थान बनाया है, वह भी तेरे से नहीं छूटता, यदि छोड़ सके तो छोड़ और शीघ्र सद्गुरु समुद्र को शरण ले ॥ क्योंकि जिसने संसार छीलर से उलट कर सद्गुरु-शरण सागर के किनारा को ओर दृष्टि करी और स्वरूप सिन्धु में स्थिति कर ली है उसे धीमर भी क्या करेगा ? ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

सुमिरन का संसै रहा, पछितावा मन माँहि।
कहैं कबीरा राम रस, सघरा पीया नाँहि॥१३६॥
विषयवासना उरझिकर, जनम गँवाया बाद।
अब पछितावा क्या करै, निज करनी कर याद॥१३७॥

कबीर गुरु कहते हैं कि सुमिरन विषये जिसको भ्रम रहा उससे सम्पूर्ण आरामप्रद रामरस नहीं पान किया गया अतः मनमें पछतावा रह गया ॥ और विषय वासना की उलझन में पड़के नर जन्म व्यर्थ में गमा दिया । अब उसके लिये क्या पश्चाताप करते हो, अपने कर्त्तव्य को याद करो या पूर्वकृत कर्म को स्मरण कर पछताना फ़िज़ूल है, सुधार का मार्ग ढूँढ़ो ॥ १३६ ॥ १३७ ॥

एक बुन्द ते सब किया, नर नारी का नाम ।
सो तूँ अन्तर खोजि ले, सकल वियापक राम॥१३८॥

नर नारी के नाम रूप सबकी रचना एक बुन्द से हुई है, उसी सबके अन्तर निरन्तर रमने वाले राम को तूँ खोज ले ॥

एक बुन्द ते सब किया, यह देह का विस्तार ।
सो तू क्यों बीसारिया, अंधा मूढ़ गँवार ॥१३९॥
सब घट भीतर राम है, ऐसा आप सुजान ।
आप आप से बाँधिया, आपै भया अजान ॥१४०॥

जिसने एक बुन्द से सम्पूर्ण इस शरीर का विस्तार किया है। ऐ गँवार ! उसे मत बिसार ॥ प्रत्येक घट के अन्दर राम है ऐसा अपने आप को निश्चय कर, अपने अज्ञान से तू आप बन्धाया है ॥ १३९ ॥ १४० ॥

पाँच धातु का पिंजरा, सो तो अपना नाँहिं ।
अपना पिंजर तहँ बसे, अगम अगोचर माँहि॥१४१॥

जो पाँच तत्व का पिंजरा दीखता है वह अपना नहीं है, अपना पिंजर (स्वरूप) वहाँ है जहाँ बाह्य पंच इन्द्रियों की गम नहीं है ॥ १४१ ॥

सगा हमारा रामजी, सहुदर है पुनि राम।
और सगा सब सगमगा, कोइ न आवै काम ॥१४२॥
चले गये सो ना मिले, किसको पूछूँ बात।
मात पिता सुत बान्धवा, झूठा सब संघात ॥१४३॥

बस! हमारे सहायक सगा, सहोदर केवल एक राम ही हैं और सब राहबाट के बेकाम हैं॥ गये सो आके मिले नहीं बात किससे पूछी जाये माता पिता और पुत्र आदि का सम्बन्ध सब झूठा है॥ १४२॥ १४३॥

राम बिसारो बावरा, अचरज कीन्हीं येह।
धन जोवन चल जायगा, अंत होयगी खेह ॥१४४॥
मनुस जन्म तोकूँ दियो, भजिवे को हरिनाम।
कहैं कबिर चेत्यो नहीं, लागो औरहि काम ॥१४५॥

ऐ बावरे! धन, यौवन के अभिमान में तूने अपने राम को भुलाया यह बड़ा बुरा किया, यह सब तो योंही अन्त में खाक हो जायँगे॥ प्रभु-नाम भजने के लिये मनुष्य जन्म तुझे दिया गया था, किन्तु उसका चिन्तन छोड़ तू तो और ही काम में लग गया॥ १४४॥ १४५॥

कबीर केवल नाम की, जबलगि दीपक बाति।
तेल घटा बाती बूझी, तब सोवे दिन राति ॥१४६॥

ऐ कबीर! नरदेह रूपी दीपक में केवल प्रभु नाम की बाती जब तक जल रही है तबही तक उजाला है नहीं तो आयुरूपी तेल घटने पर बाती बूझ जायगी और दिन रात अन्धेरे (पशु-योनि) में सोना होगा॥ १४६॥

जो तू परा है फंद में, निकसेगा कब अंध ।
माया मद तोकूँ चढ़ा, मत भूले मति मंद ॥१४७॥

ऐ अन्ध ! तू माया फन्द से कब निकलेगा । ऐ मतिमन्द ! तुझे माया का मद चढ़ा है भूल मत होश कर ॥ १४७ ॥

कबीर काया पाहुनी, हंस बटाऊ माँहि ।
ना जानूँ कब जायगी, मोहि भरोसा नाँहि ॥१४८॥

हंस अतिथि के सत्कारार्थ काया पहुनई का स्थान है, यह भी मालूम नहीं इसका कब वियोग होगा क्योंकि इसे रहने का भरोसा मुझे बिलकुल नहीं है ॥ १४८ ॥

दरद न लेवै जात को, मुआ न राखे कोय ।
सगा उसीको कीजिये, (जो) नेह निबाहू होय ॥१४९॥

न दुःख जाने वाला का कोई लेता है न मुर्दे को कोई रखता है । इस लिये उसी से नेह जोड़ो जो अन्त तक निबाहै ॥१४९॥

जिन घर नौबत बाजती, होत छतीसों राग ।
सो घर भी खाली पड़े, बैठन लागे काग ॥१५०॥
क्या करिये क्या जोड़िये, थोड़े जीवन काज ।
छाँडि छाँडि सब जात हैं, देह गेह धन राज ॥१५१॥

जिस दरबार (देह) में नौबत बाजती थीं और छै राग छतीसों रागिनी होती थीं वे घर भी खाली पड़ गये और कौवे बैठने लगे ॥ अतः थोड़े जीवनके वास्ते क्या करना ? क्या जोड़ना ? सब ही तो देह, गेह, धन राज आदि छोड़ २ जा रहे हैं ॥ १५० ॥ १५१ ॥

जागो लोको मत सुवो; ना करु निंदसे प्यार।
जैसा सपना रैन का, ऐसा यह संसार ॥१५२॥

ऐ लोगों! जागो नींदसे प्यार कर सोवो मत, यह संसार रैनका स्वप्ना सा है विचार दृष्टि से देख लो ॥ १५२ ॥

सब कोई मरि जात है, काल कालकी फाँस।
राम नाम पुकारता, कोइक उबरा दाँस ॥१५३॥

'आज नहीं काल करेंगे' इस कालकी फाँसीमें सब कोई मरे जाते हैं। इस फाँससे तो कोई एक दास ही राम नामको पुकारसे उबरता है ॥ १५३ ॥

एक बुंद के कारनै, रोता सब संसार।
अनेक बुंद खाली गये, तिनका नहीं विचार ॥१५४॥

अज्ञानी लोग एक बुन्दके रचित इस शरीरके मोहमें पड़के रोता फिरता है। अनेकों बुन्द व्यर्थ गये उसका कुछ भी विचार नहीं करता ॥ १५४ ॥

मरूँ मरूँ सबको(इ) कहै, मेरी मरै बलाय।
मरना था सो मरि चुका, अब को मरनै जाय ॥१५५॥

'मरूँगा मर जाऊँगा' ऐसा सब कोई कहता है किन्तु मेरी बलाय मरे। मरने वाला तो मरी चुका अब उसके पीछे कौन मरने जाय ॥ १५५ ॥

मन मूआ माया मुई, संशय मुआ शरीर।
अविनाशी जो ना मरे, तो क्यों मरे कबीर ॥१५६॥

मन, माया मर गयी, शरीरका संशय भी जाता रहा अविनाशी पुरुष तो मरता ही नहीं फिर कबीर मरनेसे क्यों डरे ?॥

नर नारायन रूप है, तू मति जानै देह।
जो समझे तो समझ ले, खलक पलकमें खेह ॥१५७॥

ऐ नर! तू साक्षात् परमेश्वर रूप है, अपने को देह मत समझ। होश कर जो तुझे जानना है तो जानदार सद्गुरु की शरण ले और समझ, संसारको आशा मत कर पल भरमें खाक होने वाला है ॥ १५७ ॥

अर्ध कपाले झूलता, सो दिन करले याद।
जठरा सेती राखिया, नाँहि पुरुष कर याद॥१५८॥

उस दिनको याद कर जिस दिन माताकी जठर ज्वाला में ऊर्ध्व मुख झूलता था होशकर उससे रक्षा करने वालेको व्यर्थ मत समझ ॥ १५८ ॥

आहिरन की चोरी करै, करै सूइ का दान।
ऊँचा चढ़ि कर देखता, कोतिक दूर विमान ॥१५६॥

कहो! नेहायकी चोरी कहाँ? और कहाँ सुईका दान? फिर भी बड़े हौसला से ऊँचा चढ़के देखता है स्वर्गका विमान कितनी दूरी पर है ॥ १५६ ॥

आँखि न देखे बावरा, शब्द सुनै नहि कान।
सिरके केस उजल भये, अबहूँ निपट अजान ॥१६०॥
क्यौं खोवै नरतन वृथा, परि विषयन के साथ।
पाँव कुल्हाड़ी मारही, मूरख अपने हाथ ॥१६१॥

दिवाना संसार, शरीरको स्थिति न स्वयं आँखसे देखता है न कानसे गुरु मुख शब्द ही सुनता है, यहाँ तक कि शिरके

बाल श्वेत हो गये तो भी अभी तक निरा मूर्ख ही है॥ ऐ मूर्ख! क्यों विषयोंके साथ नरतन व्यर्थमें खोता है? नादान अपने हाथ अपना गला घोंटता है ॥ १६० ॥ १६१ ॥

चेत सबेरे बावरे, फिर पाछे पछताय।
तुझको जाना दूर है, कहैं कबीर जगाय ॥१६२॥
मूरख शब्द न मानई, धर्म न सुनै विचार।
सत्य शब्द नहिं खोजई, जावै जम के द्वार ॥१६३॥

ऐ दिवाने! नर देहमें शीघ्र चेत ले नहीं तो पीछे पछतायगा। तुझे दूर जाना है, कबीर गुरु जगा कर कह रहे हैं ॥ तो भी मूर्ख धर्म, विचारका शब्द न सुनता न मानता है। सार शब्द न खोजकर मृत्युके मुखमें जाता है ॥ १६२ ॥ १६३ ॥

राजपाट धन पायकर, क्यौं करता अभिमान।
पाड़ोसी की जो दशा, भइ सो अपनी जान ॥१६४॥

क्षण भंगुर राजपाट धन पाके गर्व क्यों करता है? पड़ोसी की दशा नहीं देखता? वैसीही अपनी क्यों न समझता? ॥१६४॥

यह नर गर्व भुलाइया, देखी माया झौल।
कहैं कबिर अब चेतहू, सुमिरि पाछलो कौल ॥१६५॥

सद्गुरु शरण बिना यह नर जीव मिथ्या माया मदमें पड़के निज स्वरूपको भूल गया इसीलिये मायाकी झँझट इसे देखनी पड़ी। कबीर गुरु कहते हैं अपनी पूर्व प्रतिज्ञाको यादकर अबहू चेतो ॥ 'अजहुँ लेऊँ छुड़ाय कालसे जो करे सुरति सँवारी' इत्यादि बीजक ॥ १६५ ॥

समुझाये समझे नहीं, धरे बहुत अभिमान।
गुरुका शब्द उछेद के, कहत सकल हम जान॥१६६॥

समझाने पर भी नहीं समझना, गुरुके शब्दको तिरस्कार कर सकल ज्ञाताका अभिमान करता है॥ १६६॥

ज्ञानी होय सो मानही, बूझै शब्द हमार।
कहँ कबिर सो बाँचिहै, और सकल जम धार॥१६७॥

जो तत्त्वज्ञानी होंगे वेही हमारे सार शब्दको समझे और मानेंगे। कबीर गुरु कहते हैं, वही मृत्युसे भी बचेंगे और सब मृत्यु-मुखमें जायेंगे॥ १६७॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित चितावनी को अंग समाप्त॥ १७॥

अथ उपदेशको अंग ॥१८॥

जीव दया चित्त राखि के, साखी कहैं कबीर।
भौसागर के जीव को, आनि लगावै तीर ॥१॥
अन्तर याहि विचारिया, साखी कहो कबीर।
भौसागर में जीव है, सुनि के लागे तीर ॥२॥

जीव दया अर्थात् उस सर्व श्रेष्ठ अहिंसा धर्मको हृदयमें धारण कर कबीर गुरु साक्षी स्वरूपका उपदेश दिये व देते हैं जो भवसिन्धुके जीवोंको अवश्य किनारे लगा दिया व देता है॥ अन्तः सुख प्रत्यक् चेतनाधिगमके लियेही यह मनमें सोचा और साखी कही कि जिसके श्रवणसे भवसागरके जीव सब पार हो जायँ ॥ १ ॥ २ ॥

काल काल तत्काल है, बुरा न करिये कोय।
अनबोवै लुनता नहीं, बोवै लुनता होय ॥ ३ ॥
काल काम तत्काल है, बुरा न कीजै कोय।
भले भलाई पै लहै, बुरे बुराई होय ॥ ४ ॥

मृत्यु हरवक्त उपस्थित है, कोई अनिष्ट मत करो विना बीज डाले कोई भी नहीं काटता जो बोता वही काटता है॥ ध्यान रक्खो भले कर्तव्यका फल भलाई (सुख) और बुरेकी बुराई होती है ॥ ३ ॥ ४ ॥

जो तोको काँटा बुवै, ताको बो तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूल ॥५॥

यद्यपि कोई तेरा अहित करे तो भी उसके लिये तुम सदा हितही करो इस बात पर ध्यान रक्खो, परिणाममें यह तुम्हारे लिये हितकर होगा और उसे अनिष्ट ॥ ५ ॥

दुरबल को न सताइये, जाकी मोटी हाय ।
बिना जीव की साँस से, लोह भसम है जाय ॥६॥
कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय ।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुःख होय ॥७॥

उस दुखीको हर्गिज़ न सतावो जो दुःखोंके कारण दीर्घ श्वास ले रहा है। ध्यान रक्खो ! निर्जीव भाथीकी फूंकसे लोहा भस्म हो जाता है ॥ भले अपने ठगावो किन्तु किसी छल, बहानेसे दूसरोंको कदापि न ठगो अपने ठगानेसे सुख और दूसरोंके ठगनेसे सन्ताप उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

या दुनिया में आय के, छाँड़ि देय तू ऐंठ ।
लेना है सो लेय ले, ऊठि जात है पैंठ ॥८॥
खाय पकाय लुटाय ले, यह मनुवा मिजमान।
लेना है सो लेय ले, यही गोय मैदान ॥९॥

नर तन पाके तू कल्याणकारी विचारकर, धन कुलादिकी मिथ्या अकड़ छोड़ दे। सत्संग बाज़ार उठी जाती है लेने योग्य सौदा शीघ्र ले ले ॥ नर तनमें मन मिजमानको खा खिलाके सत्कार कर ले, कौन जाने ! सत्संग मैदानमें यह नर तन गेंद फिर हाथ आय या नहीं, अतः लेने योग्य शीघ्र ले ॥ ८ ॥ ९ ॥

खाय पकाय लुटाय के, करि ले अपना काम ।
चलती बिरिया रे नरा, संग न चलै छदाम ॥१०॥

लेना होय सो जल्द ले, कही सुनी मति मान।
कहीसुनी जुगजुग चली, आवा गवन बँधान ॥११॥

ऐ नर ! धन है तो खाओ खिलाओ, भूँखे नंगेको तृप्त करो यही अपने धनका उपयोग है ध्यान रक्खो चलते समय संगमें टुकड़ा भी नहीं जानेका ॥ जन्म मरण मिटनेका ही कार्य करो कही सुनी किसीकी मत मानो, यह युगोंयुगकी कथा है इससे आवागमन नहीं छुटता ॥ १० ॥ ११ ॥

सत ही में सत बाँटई, रोटी में ते टूक।
कहैं कबिर ता दास को, कबहु न आवै चूक ॥१२॥
देह धरे का गुन यही, देह देह कुछु देह।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देह सुदेह ॥१३॥

यथा शक्ति जो सत्तु या आटामेंसे सत्तू व आटा और रोटीमेंसे टुकड़ाको विभाग कर अतिथि सत्कार करता है। कबीर गुरु कहते हैं यह सेवक कभी न भूल खाता ॥ भूँखे नंगेको कुछ देना, यह नरतन धारीका शुभगुण है। क्योंकि वर्त्तमानका यह सुन्दर शरीर बार बार नहीं मिलता ॥ १२ ॥ १३ ॥

कहैं कबीर पुकारि कै, दो बातें लिखि लेय।
कै साहिब की बंदगी, भूखों को कछु देय ॥१४॥
कहैं कबीरा देय तूँ, जब लग तेरी देह।
देह खेह है जायगी, (फिर) कौन कहेगा देह ॥१५॥
देह खेह है जायगी, (फिर) कौन कहेगा देह।
निश्चय कर उपकार ही, जीवन का फल येह ॥१६॥

कबीर गुरु पुकार कर कहते हैं, मालिकका नाम और

भूखोंको कुछ दान, इन दो बातोंको शिला लेख मान ॥ जब तक तेरा शरीर साबित है तब तक कुछ दे और नाम ले, देह खेह होने पर फिर कोई न देनेको कहेगा ? ॥ अतः जीवन पर्यन्त उपकार कर यही जीवनका निश्चय फल है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

हाड़ बड़ा हरि भजन करि, द्रव्य बड़ा कछु देह ।
अकल बड़ी उपकार करि, जीवन का फल येह ॥१७॥
गाँठि होय सो हाथ कर, हाथ होय सो देह ।
आगे हाट न बानिया, लेना है सो लेह ॥१८॥

तन, मन दुरुस्त है तो प्रभुका नाम ले और धन बहुत है तो भूखोंको दान दे। एवं श्रेष्ठ ज्ञानसे अज्ञानियोंको उपकार कर यही नरजीवनका उत्तम फल है ॥ गाँठीका हाथमें ले और हाथका दे दे। इससे आगे न बाजार है न बनिया। यह लेना है सो ले ले ॥ १७ ॥ १८ ॥

यहाँ विसाहन करि चलो, आगे विसमी बाट ।
स्वर्ग विसाहन ना मिले, ना बनिया ना हाट ॥१९॥

सोदा (ज्ञान) यहीं (सत्सग) से खरीद कर चलो, आगे विकट मार्ग है। स्वर्गमें खरीदनेको नहीं मिलता क्योंकि वहाँ बनियाँ, दुकान नहीं है ॥ १९ ॥

धर्म किये धन ना घटे, नदी न घट्टै नीर ।
अपनी आँखौं देख लो, यौं कथि कहैं कबीर ॥२०॥

कबीर गुरु कहते हैं, प्रवाही नदीके जलके समान धर्म कार्यमें धन खर्चनेसे कभी नहीं घटता, न विश्वास होय तो करके अपनी आँखोंसे देख लो ॥ २० ॥

कबीर यह तन जात है, सको तो राखु बहोर।
खाली हाथों वह गये, जिनके लाख करोर ।।२१॥

ऐ कबीर! यह तन धन व्यर्थमें जा रहा है। यदि शक्ति है तो उपकारार्थ लौटाओ और धर्ममें लगावो। वे लक्ष और करोड़ पति भी छूछे हाथे गये जिनके लाख, करोड़का अभिमान था ॥२१॥

स्वामी है संग्रह करै, दूजे दिन का नीर।
तरै न तारै औरं को, यों कथि कहैं कबीर ॥२२॥

आश्रितोंको दुखी कर दूसरे दिनका जल संग्रह भी जो स्वामी होके करता है। कबीर गुरु कहते हैं वह न स्वयं संसृतिको तरता न औरोंको तार सकता है। अथवा विरक्तोंके लिये आत्म चिन्तनके अतिरिक्त जल संग्रहको भी मोक्षमें बाधक बतलाते हैं ॥ २२ ॥

या दुनिया दो रोज की, मत कर यासें हेत।
गुरु चरनन चित लाइये, जो पूरन सुख देत ॥२३॥

यह दुनियां दो दिनकी है इसमें आसक्ति मत बढ़ाओ पूर्ण सुखकारी गुरु चरण है उसीमें चित्त लगाओ ॥ २२ ॥

हस्ती चढ़िये ज्ञान का, सहज दुलीचा डार।
स्वान रूप संसार है, भुंकन दे झक मार ॥२४॥
कबीर काहे को डरै, सिर पर सिरजन हार।
हस्ती चढ़ि डरिये नहीं, कूकर भुसै हजार ॥२५॥

सहजावस्थारूपी कालीन डालकर ज्ञान हस्ती पर आरूढ़

१—"दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्त्व दर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥" इत्यादि

हो जावो और श्वानरूप संसारको झक मारकर भूँकने दो ऐ कबीर! क्यों डरते हो? मालिक रक्षक हैं। ज्ञानहस्ती अरुढ़ होके छिपो मत भले हज़ारों कुत्ते भूँके, भूँकने दो ॥२४॥२५॥

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपुहि सीतल होय ॥२६॥
जग में बैरी कोय नहिं, जो मन सीतल होय।
या आपा को डारि दे, दया करै सब कोय ॥२७॥

ऐसा निरभिमान, स्व, पर शान्तिप्रद वचन बोलो। जिससे मनका अभिमान दूर हो जाय॥ मन शान्त होने पर संसारमें बैरी कोई नहीं रहता। अकड़ छोड़ दो सबहो दयाकरेंगे २६-२७

कहते को कहि जान दे, गुरु की सिख तूँ लेय।
साकट जन औ स्वानको, फेर जवाब न देय ॥२८॥

बुरा भला कहनेवालेको कहने दे तूँ गुरुकी शिक्षा ग्रहण कर। निगुरा और कुत्तेको उलट जवाब देना अच्छा नहीं है २८

कबीर तहाँ न जाइये, जहँ जो कुल को हेत।
साधुपनो जानै नहीं, नाम बाप को लेत ॥२९॥
कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ सिद्ध को गाँव।
स्वामी कहै न बैठना, फिर फिर पूछै नाँव ॥३०॥

कुल सम्बन्धी स्थान पर मत जावो। पूर्व सम्बन्धके कारण वे सन्तका रहस्य नहीं जानते केवल बापका नाम लेते हैं॥ और सिद्धोंके यहाँ भी यही दशा है स्वामी, सत्कार बिना नाम पूछा करेंगे॥ २९॥ ३०॥

अर्थात्—विषयका त्याग, तत्त्व दर्शन और सहजावस्था यानी स्वरूप निष्ठा सद्गुरुकी कृपा बिना दुष्प्राप्य है।

इष्ट मिले अरु मन मिले, मिले सकल रस रीत।
कहैं कबिर तहँ जाइये, यह संतन की प्रीत ॥३१॥

जहाँ इष्ट और मन एवं भजनका रस्म रिवाज सब मिले वहाँ सत्संगके लिये अवश्य जाना चाहिये यही सन्तोंकी प्रीति है।३१।

कबीर संगी साधु का, दल आया भरपूर।
इंद्रिन को तब बाँधिया, या तन कीया धूर ॥३२॥

ऐ कबीर! सन्तोंके साथी विवेक, वैराग्य, शम दम आदि हैं इन्हींसे काम क्रोधादि फौजोंके आने पर इन्द्रियोंको दमन कर शरीरको धूरमें मिलाते हैं ॥ ३२ ॥

आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक।
कहैं कबिर नहिंउलटिये, वही एक की एक ॥३३॥
गारी मोटा ज्ञान, जो रंचक उरमें जरै।
कोटि सँवारै काम, बैरि उलटि पाँयन परै ॥३४॥
कोटि सँवारै काम, बैरि उलटि पाँयन परै।
गारी सों क्या हानि, हिरदै जु यह ज्ञान धरै ॥३५॥

प्रथम कोई गाली एक ही देता है किन्तु प्रत्युत्तरसे वही एक अनेक हो जाते हैं कबीर गुरु कहते हैं जवाब मत दो एक की एक ही रहेगी॥ समझो तो गारी भारी ज्ञान है यदि किञ्चित भी हृदयमें शमन हो तो वह अनेकों कार्यको सिद्ध करता और शत्रु तो उसके चरणोंका दास बनजाता है॥ यदि गारिसे हानि लाभकी ऐसी समझ हृदयमें हो तो गारीसे हानि ही क्या है॥

गारी ही से ऊपजै, कलह कष्ट औ मीच।
हारि चलै सो सन्त है, लागि मरै सो नीच ॥३६॥

हरिजन तो हारा भला, जीतन दे संसार।
हारा तो हरि सों मिले, जीता जम के द्वार ॥३७॥

गाली ही कलह, क्लेश और मृत्युका कारण है। इससे हार कर अलग होता वही सन्त और मर मिटने वाला अधम है॥ हरिजन हारे ही भले हैं संसारको जीतने दो। हारे हरि सों मिलते और विजयी यमके द्वार जाते हैं॥ ३६ ॥ ३७ ॥

जैसा घट तैसा मता, घट घट और सुभाव।
जा घट हार न जीत है, ता घट ब्रह्म समाव ॥३८॥

'सत्त्वानुरूपा' इत्यादि वचन के अनुसार अन्तःकरण के समान ही ज्ञान होता है। वह अनेक होनेसे सुभाव (समझ प्रकृति) भी अनेक है। हार, जीत रहित अन्तःकरणमें निर्दोष ब्रह्म ज्ञानका प्रवेश होता है॥ ३८ ॥

जैसा भोजन खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय ॥३९॥

"अहार शुद्धो सत्त्व शुद्धि" इत्यादि प्रमाणसे अहारके अनुसार ही अन्तःकरण होता है। और पानी (संगति) के अनुरूप ही बानी अर्थात् ज्ञान कथन होता है॥ ३९ ॥

१—"सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"॥ अ० १७ श्लो० ३

अर्थ—हे भारत! सभी मनुष्य की श्रद्धा, उनके अन्त करण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धा मय है इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।

कथा कीरतन कालि विषे, भौ सागर की नाव।
कहैं कबिर जन तरन को, नाँही और उपाव ॥४०॥
कथा कीरतन करन की, जाके निसदिन रीत।
कहैं कबिर वा दास सों, निश्चै कीजै प्रीत ॥४१॥

इस कलह युक्त युगमें कथा कीर्त्तन ही संसार सागर की भारी नौका है। कबीर गुरु कहते हैं पार जानेका और कोई उपाय नहीं है॥ अहो रात्र जिसका यही उद्यम है। उससे अवश्य प्रीति करनी चाहिये॥ ४० ॥ ४१ ॥

कथा कीरतन छाँड़ि कै, करै जु और उपाव।
कहैं कबिर ता साध के, पास कोइ मति जाव ॥४२॥
कथा कीरतन रात दिन, जाके उद्यम येह।
कहैं कबिर ता साधु के, चरन कमलकी खेह ॥४३॥

प्रभु गुणानुवाद छोड़कर और यत्न करने वालेके पास हर्गिज़ न जावो॥ कबीर गुरु कहते हैं उनके क़दमकी खाक बनो जिनके प्रभु नामको अहोरात्र लगन है॥ ४२ ॥ ४३ ॥

कथा करो करतार की, निसदिन साँझ सकार।
काम कथा को परिहरो, कहैं कबीर विचार ॥४४॥
काम कथा सुनिये नहीं, सुनि कै उपजै काम।
कहैं कबीर विचार के, विसरि जात है नाम ॥४५॥

रात दिन सांझ सवेरे कर्त्ता पुरुषकी कथा करो कामकी कथा छोड़ दो कबीर गुरु विचार कर कहते हैं॥ कामकी कथा सुनो भी नहीं सुननेसे काम उत्पन्न होता है और नाम विसर जाता है॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कथा करो करतार की, सुनो कथा करतार।
आन कथा सुनिये नहीं, कहैं कबीर विचार ॥४६॥
आन कथा अंतर परै, ब्रह्म जीव में सोय।
कहैं कबिर यह दोष बड़, सुनि लीजै सब कोय ॥४७॥

सर्जनहारकी ही कथा कहो और सुनो औरकी कथा कदापि न सुनो क्योंकि और की कथा ब्रह्म,जीवकी एकतामें भेद करेगा, अतः कबीर गुरु कहते हैं यह भारी दोष है सब कोई सुन लो।

कथा कीरतन कालि विषे, तरबे को उपकार।
सुनै सुनावै प्रेम सों, यह उपदेस हमार ॥४८॥
कथा कीरतन सुननको, जो कोय करै सनेह।
कहैं कबिर ता दास की, मुक्ति में नाहिं संदेह ॥४९॥

कथा, कीर्त्तन कलियुगमें संसार तरनेकी नाव और एक दूसरेका भारी उपकार है। अतः प्रेमसे सुनो और सुनाओ कबीर गुरु कहते हैं यही हमारा उपदेश है॥ जो कोई इससे प्रेम करता है उसके मोक्षमें कोई संशय नहीं रहता है ॥४८॥४९॥

बहते को बहि जान दे, मत पकड़ावौ ठौर।
समझाया समझै नहीं, देय धका दो और ॥५०॥
बहते को मत बहन दो, कर गहि ऐंचहु ठौर।
कह्यो सुन्यो मानै नहीं, शब्द कहो दुइ और ॥५१॥

असधिकारियोंको मत सुनाओ। और अधिकारी है किन्तु समझाने पर प्रथम नहीं समझा तो दोबारा और समझावो॥ अनअधिकारीको भी कुमार्गमें मत जाने दो यथा शक्ति अधिकारी बनाकर ठेकाने लावो। यदि कहने पर सुनके नहीं माने तो भी सद् शिक्षा और परखनेके लिये दोबारा और जोर देकर कहो।

बंदे तूँ कर बंदगी, तो पावै दीदार।
औसर मानुस जनम का, बहुरि न बारंबार ॥५२॥

ऐ वन्दे! तू साहिबकी वन्दगी कर तो दर्शन पावेगा। ध्यान रख, नर जन्मका शुभ अवसर फिर नहीं मिलेगा ॥ ५२ ॥

बार बार तो सों कहा, सुनरे मनवा नीच।
बनजारे का बैल ज्युं, पैंडा माहीं मीच ॥५३॥

ऐ मन अधम! तू सुन तुझे बहुत बार समझाया यदि नीच गति नहीं छोड़ा तो बनजारेके बैलकी तरह बीच मार्गमें मृत्यु होगी ॥ ५३ ॥

बनजारे को बैल ज्युँ, टांड़ो उतर्यो आय।
एकन के दूना भया, (एक)चाला मूल गँवाय ॥५४॥
मन राजा नायक भया, टाँड़ा लादा जाय।
है है है है है रही, पूँजी गई बिलाय ॥५५॥

जैसे व्यापारियोंके बैलोंका दल (गिरोह) आके उतरता है, तो किसीको एकका दूना लाभ होता और किसीको मूलही गायब हो जाता है ॥ इसी प्रकार इन्द्रियोंका स्वामी मन व्यापारी बना है। सर्व विषयका व्यापार (भोग) कर रहा है। किन्तु जिसमें लाभका है है २ हो रहा है उसीमें मोक्ष लाभकी पूँजी नरतन चला गया व जा रहा है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

बनजारे के बैल ज्युँ, भरमि फिर्यो चहुँ देस।
खाँड़ लादि भुस खात है, बिन सतगुरु उपदेस ॥५६॥

जिस प्रकार शक्कर लदे हुये और भुस खाते बनजारेका बैल चारों दिशामें फिरा करता है इसी प्रकार सद्गुरु उपदेश बिना

साँईरूप चिदानन्दसे वञ्चित नरजीव तुच्छ विषय भोगरूप भुसके कारण चारों खानिमें भ्रमण किया करता है ॥ ५६ ॥

जीवत कोय समुझै नहिं, मुवा न कह संदेस ।
तन मन से परिचय नहीं, ताको क्या उपदेस ॥५७॥

गुरु सत्संग विमुख अपने आपको कोई समझता नहीं और मुर्दा सन्देशा कहता नहीं। "यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्" इत्यादि तन मनसे बेसुधको उपदेशही क्या करना ? ॥ ५७ ॥

जो कोय समुझै सैन में, तासे कहिये बैन ।
सैन बैन समुझै नहीं, तासों कछू न कैन ॥५८॥

इशारा समझनेवालेके प्रति सदुपदेश सार्थक है। सैन बैन समझ हीनको कुछ मत कहो, अनअधिकारीके प्रति उपदेश व्यर्थ है ॥ ५८ ॥

जिहि जिवरी ते जग बँधा, तूँ जनि बँधै कबीर ।
जासी आटा लौन ज्यौं, सोन समान शरीर ॥५९॥

हे कबीर ! जिस भ्रम रज्जुसे संसार बँधा है इससे तूँ मत बँधाय। नहीं तो ऐसा अमूल्य स्वर्णमय नरतन विना लवणके आटाकी तरह स्वाद रहित व्यर्थमें चला जायगा ॥ ५९ ॥

जिन गुरु जैसा जानिया, तिनको तैसा लाभ ।
ओसे प्यास न भागसी, जबलगि धसै न आभ ॥६०॥

जिसने जैसा गुरुकी शरण लियी तिसे तैसा ज्ञानका लाभ हुआ। ध्यान रहे सच्चा जल पिये बिना ओससे प्यास नहीं जाती ॥

जिन ढूँढ़ा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि ।
जो बौरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठि ॥६१॥

गोताखोरको मोति अवश्य मिला व मिलता है जो दिवाना डूबनेके डरसे किनारे बैठ रहा उसे क्या मिलेगा ? ॥ ६१ ॥

चतुराई क्या कीजिये, जो नहिं सब्द समाय।
कोटिक गुन सूवा पढ़ै, अन्त बिलाई खाय ॥६२॥

जो सद्गुरुके सदुपदेशरूप शब्द हृदय नहीं समाता तो चतुराई क्या कामकी ? करोड़ों गुणका सार भूत रामनाम तोता पढ़ा परन्तु विलाई (मृत्यु) के पकड़ने पर आखीर टें टें ही बोला अर्थात् अपने चित्स्वरूप को नहीं संभाला ॥ ६२ ॥

(अल)मस्त फिरै क्या होत है, सुरति शब्द में पोय।
चतुराई नहीं छूटसी, सुरति शब्द में पोय॥६३॥

सार शब्दरूपी सुईमें वृत्तिरूपी डोरा पिरोय विना अलमस्त फिरना किसी कामका नहीं। तवतक व्यवहारिक चतुराई वृत्ति नहीं छुटेगी जवतक कि सत्स्वरूपमें वृत्तिकी लगन न लगेगी ॥६३॥

पढ़ना गुनना चातुरी, यह तो वात सहल।
काम दहन मन वस करन, गगन चढ़न मुसकल ॥६४॥

पढ़ गुनकर हरफन मौलाही क्यों न बन जाओ यह होना सरल है। मुश्किल तो विना आधार आकाश चढ़नेके समान कामांकुरको जलाना और मन वशमें करना है ॥ ६४ ॥

पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये, लिखि लिखि भये जु ईंट।
कबीर अन्तर प्रेम का, लागी नेक न छींट ॥६५॥

ऐ कबीर ! यदि अन्तःकरणमें प्रेम लगनकी ज़रा छींट तक भी नहीं लगी तो पढ़, लिखकर मानों ईंट, पत्थर हो गये ॥६५॥

नाम भजो मन वसि करो, यही वात है तंत।
काहे को पढ़ि पचि मरो, कोटिन ज्ञान गिरंथ॥६६॥

गुरु-नामको सुमिरो और मनको वशमें करो, वस! यही वात सार तत्व है। गुरु-नाम रहित करोड़ों ज्ञान ग्रन्थको क्यों पढ़कर पच पच मरते हो॥ ६६॥

करता था तो क्यौं रहा, अब करि क्यौं पछिताय।
बोवै पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय॥६७॥

अशुभ कार्य करता था तो सन्तोंके हटकने पर क्यों करता ही रहा, अब करके क्यों पछताता है, बबूल-बीज बोनेवाला आम फल कैसे पा सकता? ॥ ६७॥

मैं कथि कहि कहि कहि गये, ब्रह्मा विस्नु महेस।
राम नाम तत सार है, सब काहू उपदेस॥६८॥
जिनमें जितनी बुद्धि हैं, तितनो देत बताय।
वाको बुरा न मानिये, और कहाँ ते लाय॥६९॥

मैं कथन कर कहा और त्रिदेव भी कह गये, सबका यही उपदेश है कि सार तत्व रामनाम है॥ जिसमें जितनी समझ है तितनी बतलाय देता है। उसे बुरा मत मानो वह और लायेही कहाँसे? ॥ ६८॥ ६९॥

राम नाम सुमिरन करै, सतगुरु पद निज ध्यान।
आतम पूजा जिव दया, लहे सो मुक्ति अमान॥७०॥

जो राम नामका सुमिरन और सद्गुरु-पदको सेवा तथा निज स्वरूपका ध्यान एवं प्राणीमात्र पर दयारूप आत्म पूजा करता है वह अवश्य निर्बन्ध मोक्ष पद पाता है॥ ७०॥

चातुर को चिंता घनी, नहिं मूरख को लाज।
सर अवसर जानै नहीं, पेट भरन सूँ काज ॥७१॥

चतुर पुरुषोंको अनेक चिन्ता होती है और मूर्खको कोई लाज नहीं, मौका गैर मौका समझताही नहीं पेट पूरनसे मतलब है। ज्ञान अधिकारी कहाँ है ॥ ७१ ॥

कंचन को कछु ना लगे, आग न कीड़ा खाय।
बुरा भला होय बैस्नव, कदी न नरके जाय ॥७२॥

जैसे सोनाको कोई विकार नहीं लगता, न आग जलाती न कीड़ा खाता है तैसेही नीच ऊँच कोई भी गुरुमुखी होय वह नरकमें नहीं जाता शुभ कर्म का फल अवश्य पाता ॥ ७२ ॥

माँगन को भल बोलनो, चोरन को भल चूप।
माली को भल बरसनो, धोबी को भल धूप ॥७३॥

भिक्षुकको बोलनेसे, चोरोंको चूपसे, मालीको वर्षासे और धोबी को धूपसे कार्य सरता है ॥ ७३ ॥

तीन ताप में ताप है, तिनका अनँत उपाय।
ताप आतम महाबली, संत विना नाहि जाय ॥७४॥

दुःखोंमें दैहिक आदि तीन दुःखोंको निवृत्तिके लिये मणि, मंत्र, औषधि आदि अनेकों उपाय हैं किन्तु महाबली जो आतम-ताप अर्थात् चित्स्वरूप विषयक भ्रान्ति है वह सन्तगुरुके सत्संग विना कदापि नहीं जाती ॥ ७४ ॥

छिप हीरा की कोठरी, बार बार मत खोल।
मिले हिरा का जौहरी, तब हीरा का मोल ॥७५॥

जहाँ न जाको गुन लहै, तहाँ न ताको ठांव ।
धोवी बसके क्या करे, दीगंबर के गांव ॥७६॥

स्वरूप ज्ञान रूप हीराको अन्तःकरण रूपी कोठरीको अनधिकारीके पास बार २ मत खोलो, क्योंकि बिना जौहरी (अधिकारी) के उसकी क़ीमत न होगी ॥ जहाँ जिसके गुणको चाह नहीं है, वहाँ उसे ठौर ऐसे नहीं मिलती जैसे दिगम्बरके ग्राम में धोवी को ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

अति हठ मत कर बावरे, हठसे बात न होय ।
ज्यूँ ज्यूँ भींजे कामरी, त्यूँ त्यूँ भारी होय ॥७७॥

ऐ बावरे ! अति दुराग्रही मत बन इससे कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा सत्पुरुष की बात भी मान। ज्यों २ कम्मल भींजता है त्यों त्यों भारी होता जाता है फिर कामका नहीं रहता ॥ ७७ ॥

सबसे हिलिये सबसे मिलिये, सबका लीजे नाम।
हाँजी हाँजी सबसे कहिये, बसिये अपने ठाम॥७८॥
वाद विवादां मति करे, करु नित अपना काम ।
गुरु चरनों चितलाय के, भज ले केवल राम ॥७९॥

मिलने वालेके अनुसार सबसे मिलो किसीका दिल मत दुखाओ। हाँजीमें हाँजी सबको मिलाओ किन्तु अपनी स्थिति कदापि न भुलाओ ॥ किसीसे व्यर्थ विवाद मत करो, अपने प्रयोजनसे मतलब रखो। गुरु चरणोंमें चित्त लगाके केवल चित्स्वरूप रामका चिन्तन करो ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

बालू जैसी करकरी, ऊजल जैसी धूप ।
ऐसी मीठी कछु नहीं, जैसी मीठी चूप ॥८०॥

वालू जैसी खुरदी और धूप जैसा प्रकाश एवं मौन ऐसा मधुर पदार्थ कोई भी नहीं है ॥ ८० ॥

रितु बसंत याचक भया, हरखि दिया द्रुम पात ।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात ॥८१॥

वसन्त ऋतुने जब याचना करी तो बड़ी प्रसन्नतासे द्रुम, लताओंने सम्पूर्ण पात दे दिया। इसीसे पुनः नव पल्लवोंसे सुसज्जित हुई, दिया व्यर्थ कदापि नहीं जाता ॥ ८१ ॥

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम ।
दोनो हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥८२॥

नावमें जल और घरमें द्रव्य अधिक हो जायँ तो सयानों को उचित है कि उसे दोनों हाथे उलच (दानकर) डालें ॥८२॥

काम क्रोध तृष्णा तजै, तजै मान अपमान ।
सद्गुरु दाया जाहि पर, जम सिर मरदे मान ॥८३॥

जो काम क्रोध तृष्णा और मान अपमानको त्यागता है और जिसपर सद्गुरुकी दया होती है वह यमराजका भी मान मर्दन करता है ॥ ८३ ॥

काया सों कारज करे, सकल काजकी रीत ।
कर्म भर्म सब मेट के, राम नाम सों प्रीत ॥८४॥

कायासे सकल कार्य करो और मनसे सर्व भर्म कर्म मिटा दो केवल राम नामसे प्रेम करो यही कामका नेम रखो ॥ ८४ ॥

गुरुमुख शब्द प्रतीतिकर, हर्ष सोक बिसराय ।
दया छमा सत सील गहि, अमरलोकको जाय॥८५॥

गुरु मुख शब्द पर विश्वास कर के मनका धर्म हर्ष, शोकको भुला दो और दया, क्षमा, सत् शील ग्रहण कर अमर धामको चल चलो ॥ ८५ ॥

खाख लपेटे जो रहैं, उन्हें नीच मति लेख ।
के मन भावहीं, ज्यौं कीकीमें रेख ॥८६॥

धूली धूसरको भी अपवित्र मत समझो प्रभुके मनके वे ऐसे प्रेमी हैं जैसे आँखके काले चिह्न अर्थात् आँखकी पुतली जैसे पलकोंसे हमेशा रक्षा की जाती है ऐसे प्रभु उनकी रक्षा करते हैं ॥ ८६ ॥

मानअभिमान न कीजिये, कहैं कबीर पुकार ।
जो सिर साधू ना नमै, सो सिर काटि उतार ॥८७॥

प्रतिष्ठाका गर्व मत करो कबीर गुरु कहते हैं जो शिर सन्तोंके चरणोंमें न झुके उसे काट कर नीचे फेंक दो ॥ ८७ ॥

गुरु को पूजै गुरु मुखी, बाना पूजै साध ।
षट दरसन जो पूजहीं, ताका मता अगाध ॥८८॥

गुरुमुखी गुरुकी पूजा करले और सन्तों वेषकी किन्तु जो षड्दर्शन समुदायको पूजते हैं उनका मत अथाह है ॥ ८८ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित उपदेश को अंग समाप्त ॥ १८ ॥

अथ शब्दको अंग ॥१६॥

कबीर शब्द शरीर में, बिन गुन बाजै ताँत।
बाहर भीतर रमि रहा, ताते छूटी भ्रांत ॥१॥

ऐ कबीर! चित्स्वरूप शब्दरूपसे शरीरमें बिना डोरीके आवाज़ कर रहा है और बिना पग बाहर, भीतर रम रहा है। ऐसा ज्ञान होतेही भ्रान्ति मिट जाती ॥ १ ॥

सब्द सब्द बहु अन्तरा, सार सब्द चित देह।
जा सब्दै साहिब मिलै, सोइ सब्द गहि लेह ॥२॥

मारन, उच्चाटनादि रूपसे शब्दोंका बहुत भेद है। सत्स्वरूप बोधक शब्दमें चित्त लगाओ। जिससे साहिब मिलते उसे सार शब्द कहते है ॥ २ ॥

सब्द सब्द बहु अन्तरा, सब्द सार का सीर।
सब्द सब्द का खोजना, सब्द सब्द का पीर ॥३॥

यद्यपि शब्दों में परस्पर बहुत भेद है तथापि सार शब्द सबके शिर मोर है। शब्दसे शब्दकी खोज होती है और शब्दही शब्दका गुरु है ॥ ३ ॥

सब्द बराबर धन नहीं, जो कोय जानै बोल।
हीरा तो दामों मिलै, सब्दहि मोल न तोल ॥४॥

शब्दके समान कोई सम्पत्ति नहीं यदि कोई बोलना जाने। हीराकी तो कीमत होती है किन्तु शब्द अमूल्य और अतुल्य है।

सब्द कहै सो कीजिये, बहुतक गुरू लबार।
अपने अपने लोभ को, ठौर ठौर बटपार ॥५॥

यथार्थ शब्दके अनुसार कार्य करो, वंचक-गुरु बड़े प्रपंची हैं। निज स्वार्थ सिद्धिके लिये लोभवश ठाम ठाम बटमारी करते हैं॥ ५॥

सब्द न करै मुलाहिजा, सब्द फिरै चहुँ धार।
आपा पर जब चीन्हिया, तब गुरु सिष व्यवहार॥६॥

शब्द किसीके मुँह देखी नहीं करता चहुँधारा फिरता है अपना, परायाका परिचय होने पर गुरु शिष्यका व्यवहार योग्य होता है॥ ६॥

सब्द दुराया ना दुरै, कहूँ जु ढोल बजाय।
जो जन होवै जौहरी, लैहैं सीस चढ़ाय॥७॥

यथार्थ शब्द छिपानेसे नहीं छिपता, मैं डंका बजाके कहता हूँ जो कोई शब्द पारखी होंगे वे मस्तक चढ़ावेंगे॥ ७॥

सब्द पाय सुरति राखहिं, सो पहुँचै दरबार।
कहैं कबिर तहाँ देखिये, बैठा पुरुष हमार॥८॥

जो सार शब्द प्राप्त कर वृत्ति स्थिर करते हैं वेही साहेबके दरबारमें पहुँचते हैं। कबीर गुरु कहते हैं वेही हमारे स्थिर दर्शनीय पुरुषका दर्शन भी करते हैं॥ ८॥

सब्द उपदेस जु मैं कहूँ, जु कोय मानै संत।
कहैं कबीर बिचारि कै, ताहि मिलावौं कंत॥९॥

यही शब्दका उपदेश मैं करता हूँ यदि कोई सन्त माने तो उसे मैं उसके स्वामीसे मिला सकता हूँ॥ ९॥

सब्द भेद तब जानिये, रहै सब्द के माँहि ।
सब्दै सब्द परगट भया, दूजा दीखै नाँहि ॥१०॥

जब यथार्थ शब्दके विचारमें रहेगा तबही उसकी मर्म जानेगा । शब्दसेही शब्दका भेद खुलता है, दूसरेसे नहीं दीखता॥

सब्द खोजि मन बस करै, सहज जोग है येह ।
सत्त सब्द निज सार है, यह तो झूठी देह ॥११॥

शब्द खोजीको चाहिये कि मन वशमें करै, इसीका नाम सहज योग है । सत्स्वरूप बोधक सार शब्द है और यह शरीर तो मिथ्या है ॥ ११ ॥

सब्द गुरु का सब्द है, काया का गुरु काय ।
भक्ति करै नित सब्द की, सतगुरु यौं समझाय ॥१२॥

शब्दका भेद बतानेवाला गुरु शब्दही है और शरीरका गुरु शरीर है । इसलिये शब्दकी भक्ति (खोज) सदा करे ऐसा सद्गुरु समझाकर कहते हैं ॥ १२ ॥

सब्द सब्द सब कोय कहै, सब्द का करो बिचार ।
एक सब्द सीतल करै, एक सब्द दे जार ॥१३॥

शब्द शब्द सब कोई कहता है किन्तु शब्दका विचार करो शब्दमेंही शीतलता और उष्णता है ॥ १३ ॥

एक सब्द सुख खानि है, एक सब्द दुख रासि ।
एक सब्द बन्धन कटै, एक सब्द गल फाँसि ॥१४॥

शब्दही से सुख, दुख, मोक्ष और बन्धन होता है ॥१४॥

खोजी हुआ सब्द का, धन्य सन्त जन सोय।
कहैं कबिर गहि सब्द को, कबहु न जाय बिगोय॥१५॥

जो यथार्थ शब्दका तलाशी हुआ व है वही सन्त धन्य है। कबीर गुरु कहते हैं शब्दको ग्रहण करनेवाला निज पदसे कभी नहीं विचलता॥ १५॥

दारू तो सब को(य) करै, वह सुभाव की नाँहि।
जो दारू सतगुरु दई, वही सब्द के माँहि॥१६॥

यद्यपि शब्दोपदेशरूपी दवाई सब कोई करते हैं तथापि यह स्वभाव परिवर्तनकी नहीं होती जो शब्द औषधि सद्गुरु उसी शब्दमें दिये और देते हैं॥ १६॥

मता हमरा मंत्र है, हम सा है सो लेह।
सब्द हमारा कल्पतरु, जो चाहै सो देह॥१७॥

मत (रहस्य) ही हमारा मन्त्र है, वह हमारे सा होय वही ले सकता है। और हमारा शब्द कल्पवृक्ष है इच्छानुसार फल देता है॥ १७॥

सोइ सब्द निज सार है, जो गुरु दिया बताय।
बलिहारी वा गुरुन की, सीष बिगोय न जाय॥१८॥

वही शब्द निज तत्त्व है जो सद्गुरुने बतलाया। उसी गुरुकी बलिहारी है जिसका उपदेश या शिष्य व्यर्थ नहीं जाता है॥ १८॥

वह तो मोती जानियो, पुहै पोत के साथ।
यह तो मोती सब्द का, बेधि रहा सब गात॥१९॥

उसे केवल मोती समझो जो कण्ठमें पहिरनेकी कण्ठीके

साथ गूँथा जाता है और यह शब्दका मोती तो सम्पूर्ण शरीरको बेध रहा है ॥ १६ ॥

सीखै सुनै विचारि ले, ताहि सब्द सुख देय।
बिना समझै सब्द गहै, कछू न लाहा लेय ॥२०॥

सार शब्द भी उसीको सुख देता है जो विचार पूर्वक श्रवण, मनन करता है। बिना समझ ग्रहण करनेसे लाभ कुछ भी नहीं ले सकता ॥ २० ॥

यही बड़ाई सब्द की, जैसे चुम्बक भाय।
बिना सब्द नहिं ऊबरै, केता करै उपाय ॥२१॥

शब्दकी बड़ी प्रशंसा यही है कि माया प्रपंचसे जीवको लोह चुम्बककी तरह खैंच लेता है। चाहे कितने उपाय करो बिना सार शब्द उद्धार नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

सही टेक है तासु की, जाको सतगुरु टेक।
टेक निबाहैं देह भरि, रहै सब्द मिलि एक ॥२२॥

जिसे एक सद्गुरुका प्रण है उसीकी सत्प्रतिज्ञा है। देह भावसे शरीर पात पर्यन्त गुरु शिष्यको मर्यादा पालन और स्वरूपसे एक रूप प्रणको निवाहता है ॥ २२ ॥

काल फिरै सिर ऊपरै, जीवहिं नजरि न आय।
कहैं कबिर गुरु सब्द गहि, जमसे जीव बचाय ॥२३॥

काल मस्तक पर मड़रा रहा है अबोध जीवकी दृष्टिमें नहीं आता। कबीर गुरु कहते हैं सार शब्द ग्रहण कर मृत्युसे जीवको बचाओ ॥ २३ ॥

ऐसा मारा सब्द का, मुआ न दीसै कोय।
कहैं कायिर सो ऊपरै, धड़ पर सीस न होय॥२४॥

गुरुकी शब्द मार ऐसी है कि उससे मरा हुआको और कोई नहीं देखता। और निरभिमानीको उस मारसे उद्धार हो गया और हो जाता है॥ २४॥

सन्त सन्तोषी सर्वदा, सब्दहि भेद विचार।
सतगुरु के परताप ते, सहज सील मत सार॥२५॥

शब्द रहस्यका विचारी सन्त सदा सन्तोषी होते हैं। सद्गुरु कृपासे सहजा अवस्था और श्रेष्ठशीलमत उन्हें प्राप्त है॥

सारा बहुत पुकारिया, पीर पुकारै और।
लागी चोट जो सब्द की, रहा कबीरा ठौर॥२६॥

यद्यपि कल्याणार्थ सार शब्द बहुत कुछ कहा गया है तथापि कुसंगी औरहीको पुकार कर रहा है। जिसे शब्दको चोट लगी वह अचल स्वरूपमें निश्चल हो गया॥ २६॥

लागी लागी क्या करै, लागत रही लगार।
लागी तबही जानिये, निकसी जाय दुसार॥२७॥

लागी लागी क्या करते हो? अभी तो लगातार लगही रही है। सार शब्द की चोट लगी तबही समझो जब दुसार (दुष्ट तत्त्व) निकल आये॥ २७॥

बिन सर और कमान बिन, मारा है जु कसीस।
बाहर घाव न दीसई, बेधा नख सिख सीस॥२८॥

बिना सर, कमानके सद्गुरुने जो शब्दबाण खींचकर मारा

है यद्यपि उसका घाव बाहर नहीं दीखता तथापि वह सारा शरीरमें वेध गया है ॥ २८ ॥

मैं कलि का कोटवाल हूँ, लेहू सब्द हमार ।
जो या सब्दहि मानिहैं, सो उतरै भौ पार ॥२९॥

मैं कलियुगका इन्सपेक्टर हूँ हमारी शब्द पुकारको ग्रहण करो जो शब्द मानेगा वह संसार सागरके अवश्य पार होगा॥

सबको सुख दे सब्द का, अपनी अपनी ठौर ।
जा घट में साहिब बसै, ताहि न चीन्है और ॥३०॥

शब्दका रहस्य सबहीको अपनी अपनी जगह सुखदाई है जिस घटमें मालिकका निवास है उसे कुसंगी नहीं पहिचानता॥

सीतल सब्द उचारिये, अहं आनिये नाँहि ।
तेरा प्रीतम तुझहि में, दुसमन भी तुझ माँहि ॥३१॥

अहंकार रहित शान्तिप्रद वचन बोलो, तेरा प्रीतम व दुश्मन तुझही में है ॥ ३१ ॥

हरिजन सोई जानिये, जिह्वा कहै न मार ।
आठ पहर चितवत रहै, गुरुका ज्ञान विचार ॥३२॥

उसीको हरिजन समझो जिसकी वाणीमें मार शब्द नहीं है और सदा गुरुज्ञान विचारमें वृत्ति लगी रहती है ॥ ३२ ॥

टीला टीली ढाहि के, फोरि करै मैदान ।
समझ सफा करता चलै, सोइ सब्द निरबान ॥३३॥

वर्णाश्रमका अहंकार रूपी ऊँचा नीचाको सर कर समता रूप मैदान कर दो और अन्तःकरण समझ रूप झाड़ूसे सफा करते रहे । वही निर्बन्ध शब्द है ॥ ३३ ॥

कुबुधि कमानी चढ़ि रहै, कुटिल वचन के तीर।
भरि भरि मारै कान में, सालै सकल सरीर ॥३४॥

अहंकारी लोग जो कुबुद्धि रूपी कमान पर कटु वचन रूप बाण चढ़ाके कानमें मारते हैं वह सम्पूर्ण शरीरको छेदन करता है ॥ ३४ ॥

कुटिल वचन सब तें बुरा, जारि करै सब छार।
साधु वचन जल रूप है, बरसै अमृत धार ॥३५॥

सबसे बुरा कटु वचन है, सबको दग्ध कर भस्म कर देता है सन्तोंका शान्ति प्रद वचन जल रूप है, शान्ति अर्थ अमृत धारा बरसती है ॥ ३५ ॥

कर गड़न दुरजन वचन, रहे सन्तजन टारि।
विजुली परै समुद्र में, कहा सकैगी जारि ॥३६॥

चुभने वाला आराकी तरह दुर्जनोंके कटु वचनोंको शान्तिसे सन्तजन टाले रहते हैं। सागरमें विजुली पड़के भी क्या जलायगी अर्थात् कुछ नहीं ॥ ३६ ॥

कुटिल वचन नहिं बोलिये, सितल बैन ले चीन्हि।
गंगाजल सीतल भया, परवत फोड़ा तीन्हि ॥३७॥

कटु वचन हर्गिज़ न बोलो सदा शीतल वचन बोलो। देखो शीतल गंगा जलकी महिमा! शीतल होनेही से पाषाणको फोड़ निकला ॥ ३७ ॥

सीतलता तब जानिये, समता रहै समाय।
विष छाड़ै निरविष रहै, सब दिन दूखा जाय ॥३८

सर्वत्र समता भावका नाम ही शीतल है। विष रहते हुये भी उसे छोड़ कर निर्विष रहे, भले सब दिन दुखाया जाये॥३८॥

खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराय।
कुटिल वचन साधू सहै, औ'से सहा न जाय॥३९॥

दुर्जनोंके उत्पात तो पृथ्वी, जंगल और सन्त ही सब सहन करते हैं दूसरेसे नहीं सहा जा सकता ॥ ३९ ॥

जिह्वा में अमृत बसै, जो कोय जानै बोल।
विष बासुकि का ऊतरै, जिह्वा तनै हिलोल॥४०॥

जिह्वामें अमृत रहता है, यदि कोई उसे वचनों से उपयोग करना जाने तो ज़हरी सर्पका विष भी उतर सकता है यानी गारुड़ी जीभसे सर्पका विष चूस लेता है ॥ ४० ॥

जिह्वा सक्कर दूध जिभ, जिह्वा प्यारी जागि।
जिह्वा साजन रलि मिले, जिह्वा लावै आगि॥४१॥

शक्कर और दूध तथा जोतो, जागती प्रियतमा भी जिह्वा ही

१—कहते हैं कि पूर्व संस्कारसे कोई सर्प सन्तोंकी शरणमें आ गया। सन्तोंने उस शान्तिके लिये निर्विष रहनेका उपदेश दिया। शान्ति धारण करने के कारण वह यद्यपि प्रतिदिन मनुष्योंसे दुखाया जाता था तथापि विष प्रयोगका सामर्थ्य होते हुए भी सन्तोंके उपदेशानुसार निर्विष (बिना किसीके काटे) ही पड़ा रहता था।

२—जिह्वाकी अच्छी, बुरी होनेमें एक दृष्टान्त है। एक बादशाह था, वह बहुतही दुष्ट था। अपने सब नौकरोंको गाली बकता रहता था। नौकर सब उससे बहुत दुखी थे। एक दिन उस बादशाहने दरबार किया और कहा कि सब लोग जो चीज सबमें बुरी हो उसे यहाँ पर लाओ। कोई खून लाया, कोई विष्ठा, और कोई और कुछ लाया। उनमेंसे एक नौकरने एक मुर्दे

है वही (जिह्वा) प्रीतमसे प्रेम पूर्वक मिलाती और द्वेष अग्नि पैदा कर सताती भी है ॥ ४१ ॥

सहज तराजू आनि कै, सब रस देखा तोल।
सब रस माँहीं जीभ रस, जु कोय जानै बोल॥४२॥

स्वभाव तराजू लाके सब रसोंको तौला तो सब रसोंमें जिह्वा रसका वजन अधिक प्रतीत हुआ, यदि कोई बोलने का उपयोग जाने ॥ ४२ ॥

मुख आवै सोई कहै, बोलै नहीं विचार।
हते पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार॥४३॥

जो बिना विचारे मन माना बोलता है वह मानो जिह्वामें तलवार बाँधकर दूसरेकी आत्म हत्या करता है ॥ ४३ ॥

आदमीकी जीभ काटकर लायी, और उसे बादशाहके सामने रख दियी। बादशाहने सब चीजोंको देखी और उस जीभको देखकर उस जीभ लाने वाले से कहा कि और चीज तो सब खराब चीज है लेकिन जीभका क्या खराब है ? तू इसे क्यों लाया है ? उसने कहा कि 'बादशाह सलामत ! यह जीभही सबसे बुरी चीज है, जब यह हजारों मनुष्योंको बुरा कहती है तो हजारोंका चित्त दुखाती है।' कुछ दिनों बाद फिर बादशाहने दरबार किया और कहा आज ऐसी चीज लाओ जो सबसे अच्छी चीज है। कोई कुछ लाया तो कोई कुछ लाया, लेकिन वह आदमी फिर एक मुर्देकी जीभ काटकर ले आया, और यहाँ पर उसे लाकर रख दिया। बादशाहने आकर सब चीजोंको देखी, जीभको देखकर उस लाने वालसे बोला कि 'तू जब इस जीभको बुरी चीजमें ला चुका है तो अब इसे क्यों लाया है ? वह बोला हुजूर ! इस जीभसे बढ़ कर और कोई अच्छी चीज भी नहीं है। देखिये यह हजारों मनुष्योंसे अच्छी अच्छी बोली बोलकर हजारोंको मित्र बना देती है। प्रभुका नाम जपकर उद्धार भी कर देती है ॥

बोलै बोल बिचारि के, बैठे ठौर सँभारि।
कहैं कबिर ता दास को, कबहु न आवै हारि॥४४॥

जो समय विचार कर बोली बोलता और स्थान सँभार कर बैठता है गुरु कबीर कहते हैं उस दासकी हार कभी न होती।

रैन तिमिर नासत भयो, जबही भानु उगाय।
सार सब्द के जानते, करम भरम मिटिजाय॥४५॥

जिस प्रकार सूर्य उदयसे अन्धकार दूर हो जाता है इसी प्रकार सार शब्दके बोधसे भ्रम कर्म सब मिट जाते हैं ॥ ४५ ॥

जंत्र मंत्र सब झूठ है, मति भरमो जग कोय।
सार सब्द जानै बिना, कागा हंस न होय ॥४६॥

जंत्र मंत्र सब झूठे जगत्प्रपञ्च हैं इसमें कोई मत भूलो। सार शब्दके बोध बिना कागसे हंस नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

सार सब्द निज जानिके, जिन कीन्ही परतीति।
काग कुमत तजि हंस है, चले सु भौजल जीति॥४७॥

स्वरूप बोधक सार शब्दको जानकर जिसने विश्वास किया वह काग कुबुद्धिको त्यागकर हंस मार्गसे संसार सिन्धु को तर चला ॥ ४७ ॥

सार सब्द जानै बिना, जिव परलै में जाय।
काया माया थिर नहीं, सब्द लेहु अरथाय ॥४८॥

सार शब्दके ज्ञान बिना नर जीव प्रलय प्रवाहसे नहीं बचता काया और माया दोनों क्षणभंगुर हैं शब्द द्वारा यथार्थ अर्थ समझ लो ॥ ४८ ॥

सार सब्दको खोजिये, सोइ सब्द सुख रूप।
अन समभ तो कुछ नहीं, वह तो दुखका रूप॥४६॥
सारहि सब्द विचारिये, सोइ सब्द सुख देय।
अन समभा सब्दै कहै, कछू न लाहा लेय॥५०॥

सार शब्दको खोजो वही सुखरूप है। सार शब्दकी समझ बिना अन्य सब दुख रूप हैं॥ सार शब्दका ही विचार करो वही शब्द सुख देता है। जो बिना समझके शब्द कहता है वह उससे लाभ कुछ नहीं लेता॥ ४६॥ ५०॥

कर्म फंद जग फंदिया, जप तप पूजा ध्यान।
जाहि सब्द ते मुक्ति होय, सो न परा पहिचान॥५१॥

कर्म फाँसमें सब फँसे और जप, तप, पूजा ध्यानमें लगे हैं जिस शब्दसे मुक्ति होती है वह तो पहिचानमें आया ही नहीं।

सतजुग त्रेता द्वापरा, यह कलजुग अनुमान।
सार सब्द एक साँच है, और झूठ सब ज्ञान॥५२॥

सतयुगादि चार युगोंकी चौकड़ी कल्पना मात्र है साँचा वो एक सार शब्द है उसके ज्ञान बिना सब मिथ्या प्रपंच है॥

पृथिवी अपहु तेज नहीं, नहीं वायु आकास।
अलल पच्छितहां ह्वैरहै, सत्त सब्द परकास॥५३॥

पृथ्वी आदि तत्त्वोंके आधार बिना अलल पक्षीवत् सत्य शब्दका प्रकाश (चैतन्य मात्र) निराधार ही रहता है॥ ५३॥

ज्ञानी करहु विचार, सतगुरु हीं सें पाइये।
सत्त सब्द निज सार, और सबै विस्तार है॥५४॥

ऐ ज्ञानी लोगों! विचार करो स्वस्वरूप बोधक सार शब्द सतगुरुसे ही प्राप्त होता है। और सब मायाका विस्तार है॥५४॥

जग में बहु परपंच, तामें जीव भुलान सब ।
नहि पावै कोय संच, सार सब्द जानै विना ॥५५॥

संसारमें मत भेदोंका प्रपंच बहुत है शब्दके यथार्थ ज्ञान विना यद्यपि शान्ति नहीं मिलती तो भी जीव सब उसीमें भूले पड़े हैं ॥ ५५ ॥

सब्द हमारा आदि का, हमसें बली न कोय ।
आगा पीछा सो करै, जो बल हीना होय ॥५६॥

प्रथम स्वरूपका बोधक हमारे शब्दसे बली कोई नहीं उस शब्दके ग्रहणमें वही आगा पीछा करता जो बलहीन है ॥ ५६ ॥

घर घर हम सबसें कहा, सब्द न सुनै हमार ।
ते भवसागर बूड़हीं, लख चौरासी धार ॥५७॥

हमने घरों घर पुकार २ सबसे कह दिया जो सार शब्दको नहीं सुनेगा वह चौरासी लद संसार प्रवाहमें अवश्य बूड़ेगा ॥

सब्द सम्हारे बोलिये, सब्द के हाथ न पाँव ।
एक सब्द औषध करै, एक सब्द करै घाव ॥५८॥

शब्द सँभालकर बोलो यद्यपि शब्दको हाथ, पग नहीं है तथापि सुख और दुख देनेमें शब्द शक्तिमान है ॥ ५८ ॥

एक सब्दसों प्यार है, एक सब्द कुप्यार ।
एक सब्द सब दुशमना, एक सब्द सब यार ॥५९॥

एक शब्द ऐसा है कि उससे सब लोग रुचि और एकसे अरुचि करते हैं। ध्यान रक्खो शब्द ही सबसे दुश्मनी और यारी कराता है ॥ ५९ ॥

सब्द जु ऐसा बोलिये, तनका आपा खोय ।
औरन को सीतल करै, आपनको सुख होय ॥६०॥

शब्द इस प्रकार बोलो कि शरीरका अभिमान दूर हो जाये तथा औरोंको शान्ति कर अपनेको भी सुखी करे ॥ ६० ॥

जिहि सब्दे दुख ना लगे, सोई सब्द उचार।
तपतमिटी सीतल भया, सोइ सब्द ततसार ॥६१॥

जिससे किसीको भी दुख न हो उसी शब्दको उच्चारण करो। मनका सन्ताप दूरकर शान्ति करने वाला ही सार शब्द कहलाता है ॥ ६१ ॥

कागा काको धन हरै, कोयल काको देत।
मीठा सब्द सुनाय के, जग अपनो करि लेत ॥६२॥

देखो ! न तो कागा किसीका धन लेता है न कोयल किसी को कुछ देती है। केवल मीठे वचन सुनाकर ही संसार को अपना लेती है ॥ ६२ ॥

जिभ्या जिन बसमें करी, तिन वस कियो जहान।
नहि तो औगुन ऊपजे, कहि सब संत सुजान ॥६३॥

जिसने जिह्वाको वशमें कर ली मानो वह संसारको वशमें कर लिया। नहीं तो अवश मन अवश्य अवगुण पैदा करता है, यही सब विवेकी सन्तोंका कथन है ॥ ६३ ॥

सब्द गहै सो मरद है, मेहरी सब संसार।
पढ़ि पंडित रांडिया भये, बिन भेटे भरतार ॥६४॥

जो शब्दको ग्रहण कर अमलमें लाता है वही मर्द है नहीं तो और सब संसार मेहरी है। प्रीतम पतिके दर्शन बिना केवल शास्त्र पढ़के पण्डित राँड बने हैं ॥ ६४ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित शब्द को अंग समाप्त ॥ १८ ॥

—:o:—

अथ विश्वासको अंग ॥२०॥

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु हैं संग ।
कोटि काल झक झोलहीं, तऊ न हो मन भंग ॥१॥

गुरु उपदेश पर जिसके मनमें दृढ़ विश्वास है तो गुरु सदा उसके संग हैं। करोड़ों काल विघ्न करते हैं तो भी उसके मन-रंगमें भंग नहीं होता ॥ १ ॥

राम नाम की लौ लगी, जग से दूर रहाय ।
मोहि भरोसा नाम का, बंदा नरक न जाय ॥२॥

जिसे राम नामसे लगन लगी और जो संसार झंझटसे अलग रहता है। मेरे रामको पूर्ण विश्वास है कि वह बन्दा नरकमें कदापि न जाता ॥ २ ॥

राम नाम से मन मिला, जम से परा दुराय ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरक न जाय ॥३॥

जिसका मन राम नामसे मिला वह मृत्युसे बहुत दूर हो गया। मुझे इष्ट देवका पूर्ण विश्वास है कि बन्दा नरकमें नहीं जाता ॥ ३ ॥

रचनहार को चीन्हि ले, खाने को क्या रोय ।
मन मन्दिर में पैठि के, तान पिछोरी सोय ॥४॥

सर्जनहारको परख ले क्यों भोजनकी चिन्ता करता है। मन मन्दिरमें घुसकर बेग़म चादर तान दे और अचिन्त निद्रा सो जा ॥ ४ ॥

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँडा घड़िया मुख दिया, सोही पूरन जोग ॥५॥

भूँखा भूँखा करके लोगोंको क्यों सुनाता है अरे! विश्वास कर जिसने पात्र बनाके मुख बनाया वही पूर्ण करने योग्य है॥५॥

सिरजन हारे सिरजिया, आटा पानी लौन।
देनेहारा देत है, मेटनहारा कौन ॥६॥

प्रारब्ध पर विश्वास कर, जब कर्त्ताने आटा, पानी लवण तैयार कर दिया और देनेवाला देता है तो फिर मिटानेवाला कौन है ॥ ६ ॥

साँई इतना दीजिये, जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥७॥

स्वामिन्! इतनाही दीजिये जितनासे मेरा तथा कुटुम्बका पोषण हो और आये सन्त भूँखे न जायँ ॥ ७ ॥

हरिजन गाँठि न बाँधहीं, उदर समाना लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जो माँगैं सो देय ॥८॥

हरिजन संग्रह नहीं करते; क्षुधा निवृत्ति मात्र ग्रहण करते हैं क्योंकि मनोवांछित पूरा करनेके लिये हर घक हरि उनके आगे पीछे तैयार रहते हैं ॥ ८ ॥

कबीर चिन्ता क्या करे, चिन्ता सों क्या होय।
चिन्ता तो हरि ही करे, चिन्ता करो न कोय ॥९॥

ऐ कबीर! तू चिन्ता क्या करता है! चिन्तासे क्या होगा तेरी चिन्ता तो हरि करता है अतः तू और चिन्ता मत कर, किन्तुः—

चिन्तामनि चित में बसै, सोई चित में आनि।
बिना प्रभु चिन्ता करै, यह मूरख की बानि ॥१०॥

जिस चिन्तामणिका निवास तेरे चित्तमें है उसीको चित्तमें ला चिन्तामनि प्रभुको चिन्तन छोड़कर जो अन्यकी चिन्ता करता है यह तो मूर्खोंकी आदत है ॥ १० ॥

चिन्ता छोड़ि अचिन्त रह, देनहार समरत्थ।
पसू पखेरू जन्तु जिव, तिनके गाँठि न हथ्थ॥११॥

चिन्ता छोड़कर अचिन्त रह, देनहार प्रभु समर्थ है। छोटे बड़े पशु, पक्षी जीव जन्तुओंको देख ले, न कुछ उनके हाथमें है न गाँठमें फिर भी भूखे नहीं रहते ॥ ११ ॥

अण्डा पालै काछुई, बिन थन राखै पोख।
यों करता सबकी करै, पालै तीनौं लोक ॥१२॥

जिस प्रकार काछुपी बिना स्तन पानके अण्डाको पालती पोषती है इसी प्रकार तीनों लोकोंको कर्त्ता पालन करता है ॥

पौ फाटी पगरा भया, जागे जीवा जून।
सब काहू को देत है, चोंच समाना चून ॥१३॥

प्रातःकाल प्रकाश होतेही जीव जन्तु जाग उठे और शोर मचाने लगे। कर्त्ता सबको उदर पूर्ति अन्न देता है ॥ १३ ॥

खोजि पकरि विश्वास गहु, धनी मिलेंगे आय।
अजिया गज मस्तक चढ़ी, निरभय कोंपल खाय॥१४॥

मार्ग पकड़के विश्वास रक्खो, मालिक अवश्य मिलेंगे

देखो ! बकरी सिंहके चरण प्रतापसे हाथीके मस्तक पर चढ़के निर्भय नयी पत्तियाँ खाने लगी ॥ १४ ॥

पांडर पिंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास ।
एक नाम सींचा अमी, फल लागा विश्वास ॥१५॥

शरीररूप कुन्द पुष्प है, मन भँवरा है । उपमा रहित अर्थ (धन) शुभ वासना है। एक नामके सींच (जप)नेसे विश्वास रूप अमृत फल लगा व लगता है ॥ १५ ॥

पद गावै लौलीन है, कटै न संसै फाँस ।
सबै पछोरै थोथरा, एक बिना विश्वास ॥१६॥

तल्लीन होके पदको गानेहीसे संशय फाँसी नहीं कटती जबतक कि विश्वास नहीं है । एक विश्वास विना गायन कथन सब केवल तूस पिछोरना है ॥ १६ ॥

गाया जिन पाया नहीं, अनगाये ते दूर ।
जिन गाया विश्वास गहि, ताके सदा हजूर ॥१७॥

१—एक बकरी का बच्चा जो अपने परिवारोंके गरोहसे अलग हो गया था। भयकर जगलमें वह अपने परिवारोंको खोज रहा था न मिलनेसे उसे बड़ी चिन्ता हुई । सोचने लगा, क्या करना ? किधर जाना, इस घोर जगलमें किसकी शरण लेनी। इतनेमें उसे एक सिंहका पग चिन्ह मिल गया । उसीकी शरणमें अपनी रक्षाका विश्वास कर लिया और बैठ गया । इसी अवसरमें एक मद-मस्त हस्ती आया और कहने लगा तू कोन ? यहाँ क्या करता है ? उसने जवाब दिया मैं बकरीका बच्चा हूँ । इस जगलके राजाके पगचिन्हकी रखवारी करता हूँ ताकि राजाके पग पर और कोई पग न रक्खे । हाथीने बड़ेका शरणागत सोच उसे कन्धे पर बिठा लिया । बकरीका बच्चा उस दिनसे निर्भय हो ऊँचे स्थानसे सुन्दर नवीन पत्तियाँ खाने लगा । यह विश्वास-का फल है ।

केवल गानेवाले मालिकको नहीं पाया और जो गाता नहीं उससे कोसों दूर हैं। सदा हजूर तो उसीको हैं जिसने विश्वास पकड़ कर रोया ॥ १७ ॥

गावन ही में रोवना, रोवन ही में राग।
एक वनहिं में घर करै, एक घरही बैराग ॥१८॥

क्या अजब तमाशा है! गानेमें रोना और रोनेमें राग। एक जंगलमें जाके प्रपंचका घर बनाता और एक घरहीमें वैराग करता है ॥ १८ ॥

घट में जोति अनूप है, रिजक मौत जिव साथ।
कहा सार हैं मनुस का, कलम धनी के हाथ ॥१९॥

अन्तःकरणमें अनुपम आत्म ज्योति है और जीवन, मरण जीवके साथ है। मनुष्य वेचारेका क्या अख्तियार जब कि क़लम मालिकके हाथ है ॥ १९ ॥

साँई दीया सहज में, सोई रिजक हलाल।
हैवाँ सबै हराम है, तजि संसै जिव साल ॥२०॥

जो स्वामीने स्वाभाविक जीवन (रोज़ो) दिया वही पाक है और सब हैवानी व हरामी जीवनको संशय शूल देनेवाली है उसे त्याग दो ॥ २० ॥

सब ते भली मधूकरी, भाँति भाँति का नाज।
दावा कीसी का नहीं, बिना बिलायत राज ॥२१॥

जीवन निर्वाहके लिये मधुकर-वृत्ति सबसे उत्तम है उसमें तरह तरहका अन्न होता है और दावा किसीका नहीं यह बिना करका राज्य है ॥ २१ ॥

जाके दिल में हरि बसै, सो जन कलपै काहि।
एकै लहरि समुद्र की, दुख दारिद्र बहि जाहि ॥२२॥

जिसके हृदयमें प्रभुका निवास और विश्वास है उसे क्या दुख है। सागरकी एकही लहर (प्रभुकी मौज़) से उसके दरिद्र दुख बह जाता ॥ २२ ॥

आगे पीछे हरि खड़ा, आप सहारे भार।
जन को दुःखी क्यों करै, समरथ सिरजनहार ॥२३॥

आगे पीछे खड़े होकर मालिक स्वयं भार सँभालता है। सर्जनहार समर्थ है अपने सेवकको दुःखी कैसे कर सकता?।

भक्त भरोसे राम के, निधड़क ऊँची दीठ।
तिनकूँ करम न लागई, राम ठकोरी पीठ ॥२४॥

सेवक मालिकके भरोसे वेफिक्र ऊँची निगाह रखता है। क्योंकि सर्व कर्म प्रभु समर्पण करनेसे उसे कर्म बन्धन नहीं होता और उसकी पीठपर रामका सदा शुभ आशीर्वाद रहता है।

सौदा कीजै राम सों, भरिये गून हलाय।
जो कबहूँ टाँड़ा लुटै, पूँजी बिलै न जाय ॥२५॥

लेन देन मालिकसे करो और गोन हिला हिलाकर माल भरो यदि कदाचित् बैलोंकी कतार लूट भी जाय तो भी पूँजी नहीं जायगी ॥ २५ ॥

राखनहारा राम है, जाय जंगल में बैठ।
हरि कोपै नहिं ऊबरै, सात पताले पैठ ॥२६॥

राम रक्षक है चाहे जंगलमें जाके बैठो, कोई हर्ज नहीं।

किन्तु उसके कोपसे उद्धार नहीं चाहे सात पातालमें क्यों न घुस जावो ॥ २६ ॥

डोरी लागी भय मिटा, मन पाया बिसराम।
चित्त चहूँटा राम सौं, याही केवल धाम ॥२७॥

मालिकसे लगन लगने पर भय नहीं रहता, मन भी शान्त हो जाता है। चित्त वृत्ति राममें चिपक गई बस! यही कैवल्य धाम है ॥ २६ ॥

करम करीमा लिखि रहा, अब कछु लिखा न होय।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर पटकै कोय ॥२८॥
करम करीमा लिखि रहा, नर शिर भाग अभाग।
जो कबहूँ चिन्ता करै, तऊ न आगै आग ॥२६॥

जो कुछ प्रारब्ध बन गया है वही बस है, चाहे कोई लाख शिर मारे उसमेंसे न मासा भर घट सकता न तिल भर बढ़ हो सकता। उसकी चिन्ता करो या न करो यह शुभाशुभ-भोग आगे आगे उपस्थित रहेगा ॥ २८ ॥ २६ ॥

जो साँचा बिसवास है, तौ दुख क्यौं ना जाय।
कहैं कबीर बिचारि के, तन मन देहि जराय ॥३०॥

जो सत संकल्प है तो दुःख अवश्य जायगा कबीर गुरु विचार कर कहते हैं सतकी वेदी पर तन, मनको हवन करदो॥

बिस्वासी है गुरु भजै, लोहा कंचन होय।
नाम भजै अनुराग ते, हरष शोक नहिं दोय ॥३१॥

गुरुको पारसरूप विश्वास करके शरण ले तो लोहरूप जीव

अवश्य स्वर्ग हो जाय। और प्रेम पूर्वक नाम जपसे संसारिक हर्ष, शोक भी नहीं रहता ॥ ३१ ॥

काहे को तलफत फिरै, काहै पावै दूख।
पहिले रिजक बनाय के, पीछे दीनो भूख ॥३२॥

क्यों विलाप करके दुखी होता है, तेरा मालिक तो प्रथम जीविका बनाया और पीछे भूख बनाया है ॥ ३२ ॥

अब तूँ काहे को डरै, सिर पर हरि का हाथ।
हस्ती चढ़कर डोलिये, कूकर भुसे जु लाख ॥३३॥

अब तूँ क्यों डरता है? तेरे मस्तक पर मालिकका पंजा है। ज्ञान हस्ती पर अरूढ़ होके विचरो, लाखों कूकरोंको भूँकने दो ॥ ३३ ॥

राम किया सोई हुआ, राम करै सो होय।
राम करै सो होयगा, काहे कल्पौ कोय ॥३४॥

राम किया सो हुआ विश्वास रक्खो जो वह करता है वही होता है और जो करेगा सोई होगा क्यों कोई अन्यथा कल्पना करता है? ॥ ३४ ॥

ऐसा कौन अभागिया, जो विस्वासै और।
राम बिना पग धरन कूँ, कहो कहाँ है ठौर ॥३५॥

ऐसा कौन अभागा है जो अन्यका विश्वास करता है। अरे! राम बिना तो कहीं पग रखनेकी भी जगह नहीं है ॥३५॥

किये बिना माँगे बिना, जान बिना सब आय।
काहे को मन कल्पिये, सहजे रहा समाय ॥३६॥

मुरदे को भी देत है, कपड़ा पानी आग।
जीवत नर चिंता करै, ताका बड़ा अभाग ॥३७॥

विना किये विना माँगे और विना जाने स्वभाविक सब घटमें रमा हुआ राम है। क्यों मनमें और कल्पना करता है? विश्वास रख और देख। कपड़ा, पानी और अग्नि वह मुर्देको भी देता है फिर जीवित नर जो चिन्ता करता है इससे बढ़कर और क्या अभाग्य है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

पीछे चाहै चाकरी, पहिले महिना देय।
ता साहिब सिर सौंपते, क्यूँ कसकाता देह ॥३८॥

पहिले मुशाहरा देकर पीछे नौकरी लेता है ऐसे दयालु साहिबको शिर सौंपते क्यों मन हिचकिचाता है? ॥ ३८ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
विश्वासको अङ्ग समाप्त ॥ २० ॥

अथ सतीको अङ्ग ॥ २१ ॥
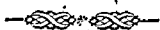
अब तो ऐसी है परी, मन अति निरमल कीन्ह।
मरने का भय छाँड़िके, हाथ सिंधोरा लीन्ह ॥१॥

अब तो सतीको ऐसी बनि आई कि मरनेका भय छोड़कर मनको अत्यन्त स्वच्छ करना पड़ा और उसने सर्व शृङ्गार का साज सिन्दुरदान हाथमें ले ही लिया ॥ १ ॥

ढोल दमामा बाजिया, शब्द सुना सब कोय।
जो सर देखी सति भगै, दोउ कुल हाँसी होय ॥२॥

ढोल और नगारे बजने लगे, सब कोई शब्द सुना यदि चिता देखकर कहीं सती भाग चली तो सासुर पीहर या लोक परलोक दोनों कुलमें हँसी होती ॥ २ ॥

सती जरनको नीकसी, चित धरि एक बिबेक।
तन मन सौंपा पीव को, अंतर रही न रेख ॥३॥

जब सती जलनेको निकली तब मनमें एक ही विचार धारणकर स्वामीको तन मन अर्पण कर दिया, अन्तर भेद नहीं रहने दिया ॥ ३ ॥

सती सूर तन ताड़या, तन मन कीया घान।
नाम जपत चिंता मिटी, निकसा तनसें प्रान ॥४॥

सती और शूर तन मनको घानी बनाके. पेर डाला। नाम स्मरणसे चिन्ता मिट गई, बस! तनसे प्राण निकल गया ॥४॥

सती बिचारी सत किया, काँटों सेज बिछाय।
सूती ले पिय संग में, चहुँदिसि आग लगाय ॥५॥

सती बिचारीने काँटोंकी शैया बिछाके सत किया और चारों ओरसे अग्नि लगाके स्वामीको संगमें लेकर सो गई ॥५॥

सती पुकारै सर चढ़ी, सुनरे मीत मसान।
लोग बटाऊ सब गये, हम तुम रहे निदान ॥६॥

सती चिता ऊपर चढ़के पुकारती है कि ऐ मेरे दोस्त! मशान! सुन, राही सब चले गये आखीर हम तुम रहे हैं ॥६॥

सती डिगै तो नीच घर, सूर डिगै तो कूर।
साधु डिगै तो सिखरते, गिरि भय चकनाचूर ॥७॥

सतसे पतित सती नीच योनिको प्राप्त होती है और शूर कूर होता है किन्तु साधुको तो कहीं ठिकाना भी नहीं लगता है ॥ ७ ॥

सती न पीसै पीसना, जो पीसै सो राँड़।
साधू भीख न माँगई, जो माँगै सो भाँड़ ॥८॥

सती पीसना पीसनेके लिये शरीरको नहीं रखती यह काम राँड़का है। एवं ऐंचा तानीका भीख भाँड़का है साधुका नहीं।

ऐसी भाँति जो सति है, सो निज मुक्ति परमान।
मुक्ति देत संसार को, सोइ सती तू जान ॥९॥

इस प्रकार जो सती है वह निज मुक्तिमें स्वयं प्रमाण भूत है एवं संसारको भी मुक्त करती है उसीको तू सती समझ ॥९॥

साध सती औ सूरमा, इनका मता अगाध।
आसा छाँड़ै देह की, तिनमें अधिका साध ॥१०॥

सन्त, सती और सूरमा इनका मन अथाह है। ये शरीरकी आशा प्रथम ही छोड़ देते हैं तिनमें श्रेष्ठ सन्त हैं ॥ १० ॥

साध सती औ सूरमा, ज्ञानी औ गजदंत।
ते निकसै नहि बाहुरै, जो जुग जाहि अनंत ॥११॥
साध सती औ सूरमा, कबहुँ न फेरै पीठ।
तीनों निकसी बाहुरै, तिनका मुख नहि दीठ॥१२॥

सन्त, सती, सूरमा, ज्ञानी और हाथीका दाँत ये बाहर निकलके पुनः भीतर नहीं होते चाहे असंख्यों युग बीत जाँय। ये कभी पीठ नहीं दिखाते कदाचित साधु सती शूर निकलकर पीछे पग दें तो उनका मुख मत देखो ॥ ११ ॥ १२ ॥

साध सती औ सूरमा, इन पटतर कोय नाँहि।
अगम पंथ को पग धरै, गिरि तो कहाँ समाहि ॥१३॥

साधु, सती और सूरमा इनके समान और कोई नहीं है ये ही अगम (विकट) मार्गपर पग रखते हैं यदि ये गिरेंगे तो इनकी कहाँ स्थिति होगी ? कहीं भी नहीं ॥ १३ ॥

कबीर सतियाँ कुसतियाँ, जरै मरे की लार।
सतियाँ सोई जानिये, जरै सँभारि सँभारि ॥१४॥

ऐ कबीर ! यह कुसती है जो मरेके संग जलती है सती तो उत्तम वह है जो जीवित पतिके संग आज्ञा सँभाल २ कर जलती है ॥ १४ ॥

सत तो तासों कीजिये, जहँवा मन पतियाय।
ठाम ठाम के सत्त सों, कुल कलंक चढ़ि जाय ॥१५॥

जहाँ मन प्रतीत करै वहाँ ही उसीसे सत करो। जगह २ व जगहमें सत करनेसे कुलमें कलङ्क लगता है ॥ १५ ॥

सतिया सोई असतिया, जलती है इक बार ।
नित जलना है संत कूँ, नाम पुकार पुकार ॥१६॥

वह असती है जो मरे पतिके संग एकही वक्त जलती है। मालिकके नाम पुकार २ कर सन्तको प्रतिदिन जलना होता है।

सतिया का सुख देखना, जले पीव के संग।
आपै आग लगात है, तऊ न मोड़ै अंग ॥१७॥

अहो! सतीका सुख देखो, स्वयं अग्नि लगाके पतिके संग जलनेमें भी जरा अगको संकोच नहीं करती ॥ १७ ॥

सती बिचारी सत किया, ले अपना वे भेष।
एक एक जब है मिली, अंतर रही न रेख ॥ १८॥

सतीने सत्यको विचार किया और अपना वेषको अपना लिया। पतिके संग एक रूप होकर मिल गई अन्तर दो आकार नहीं रहने दिया ॥ १८ ॥

सती चमाकै अगनि सूँ, सूरा सीस डुलाय।
साधु जु चूकै टेकसों, तीन लोक अथड़ाय॥१९॥

कदाचित् सती अग्निको देखकर अङ्ग चमकावे और युद्ध में शूरा शिर फिरावे एवं सन्त नित्य नियमसे चुकें तो ये तीनों तीनों लोकमें स्थिति विना डामाडोल होंगे ॥ १९ ॥

ये तीनों उलटे बुरे, साधु सती औ सूर।
जगमें हाँसी होयगी, मुखपर रहै न नूर ॥२०॥

साधु, सती और शूरको अपने सतसे विमुख होना बहुत बुरा है। क्योंकि ऐसा होने पर संसारमें हंसी होती और चेहरे पर रोनक भी नहीं रहता ॥ २० ॥

इति श्री सती को अङ्ग समाप्त ॥ २१ ॥

अथ पतिव्रताको अंग ॥२२॥

पतियरता के एक है, व्यभिचारिन के दोय ।
पतियरता व्यभिचारिनी, कहु क्यों मेला होय ॥१॥

पतिव्रताको एकही पति है और व्यभिचारिनको दो है तो कहो भला दोनोंका मेला कैसे हो सकता है ? हर्गिज़ नहीं ॥१॥

पतियरता को सुख घना, जाके पति है एक ।
मन मैली व्यभिचारिनी, ताके खसम अनेक ॥२॥

जिसे एकही पतिदेव है ऐसी शुद्ध हृदय पतिव्रताको सुख अथाह है और मन मैली कुलटाको अनेकों खसम हैं अतः सुख नहीं ॥ २ ॥

पतियरता मैली भली, काली कुचल कुरूप ।
पतियरता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप ॥३॥

काली कुरूप और फटे, मैले वस्त्रवाली क्यों न हो पतिव्रता ही पतिको अच्छी लगती है। उसके रूप पर करोड़ों सुरूप निछावर है ॥ ३ ॥

पतियरता मैली भली, गले काँच की पोत ।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यौं सूरज की जोत ॥४॥

पतिव्रता मैली कुचैली और उसके गलेमें काँचहीकी कण्ठमाला क्यों न हो ? किन्तु सब सखियोंमें वह सूर्य तेजकी तरह चमकती है ॥ ४ ॥

पतिवरता पति को भजै, पति भजि धर विस्वास ।
आन दिसा चितवै नहीं, सदा पीव की आस ॥५॥
पतिवरता पति को भजै, और न आन सुहाय ।
सिंघ बच्चा जो लँघना, तो भी घास न खाय ॥६॥

पति देवता पतिको सेवती है और भोग, मोक्षके लिये पतिमें ही पूर्ण विश्वास रखती है और तरफ देखती भी नहीं सदा पतिकी आशा करती है ॥ और दूसरे उसे अच्छा नहीं लगता जैसे सिंहके बच्चाको कई लँघन होने पर भी वह घास नहीं खाता ॥ ५ ॥ ६ ॥

पतिवरता तब जानिये, रती न खण्डै नैन ।
अन्तर सो सूची रहै, बोलै मीठा बैन ॥७॥

पतिव्रता तबही समझो जब कि उसका नेत्र पतिसे अन्यत्र रती भर भी न डिगे, एवं अन्दरसे पवित्र और मधुर वचन बोले ॥ ७ ॥

पतिबरता ऐसी रहै, जैसे चोली पान ।
जब सुख देखै पीव का, चित्त न आवै आन ॥८॥

पतिव्रता स्त्री चोली पानको तरह होती है, स्वामीके चित्तरंजनके वास्ते अपना अंग अर्पण किये रहती है, स्वामीके सुखमें किसी प्रकार बाधक नहीं होती ॥ ८ ॥

१—चोली या चौलीपानका अर्थ लाजवन्ती घासको भी कहते हैं। जैसे लाजवन्ती घास दूसरेके स्पर्शसे संकुचित होती है ऐसे पतिव्रता अन्य पुरुष से। और चोलीपानका अर्थ लोग पानदान या पानबट्टा भी करते हैं। कोई चोले-पान अर्थ करते हैं।

पतिवरता व्यभिचारिनी, इक मंदिर में वास।
वह रंग राती पीव के, घर घर फिरै उदास॥९॥

पतिव्रता और कुलटा यदि एकही महलमें निवास करे तो भी पतिव्रता निज पतिके प्रेम रंगमें रंगी रहती है और कुलटा घरोंघर उदास फिरती है॥ ९॥

पतिवरता के एक तू, और न दूजा कोय।
आठ पहर निरखत रहै, सोइ सुहागिन होय॥१०॥

हे स्वामिन्! पतिव्रताको तुमही एक हो और दूसरा कोई नहीं। वही सौभाग्यवती है जो आठों पहर पति-मुख निरखती है॥ १०॥

पतिवरता तो पिव भजै, पिया पिया रट लाय।
जीवत जस है जगत में, अन्त परम पद पाय॥११॥

जो पति देवता पतिको सेवती और उसीका नाम रटती है। उसको जीते जी जगतमें कीर्ति और अन्तमें मुक्ति होती है॥११॥

नैना अंतर आव तूँ, नैन झाँपि तुहि लेंव।
ना मैं देखौं और को, ना तुहि देखन देंव॥१२॥

ऐ स्वामिन्! तू मेरे नेनमें समा जा और मैं तुझे पलकोंसे झाँप लूँ। न मैं औरोंको देखूँ न तुझे देखने दूँ॥ १२॥

कबीर सीप समुद्र की, रटै पियास पियास।
और बुंद को ना गहे, स्वाति बुँद की आस॥१३॥

ऐ कबीर! समुद्रकी सीपको देख, स्वाती बुन्दकी आशामें अन्य बुन्दको नहीं ग्रहण करती, तृषा विवश हो उसी को रटती है॥ १३॥

कबीर सीप समुद्र की, खारा जल नहिं लेय।
पानी पीवै स्वाति का, सोभा सागर देय ॥१४॥

समुद्रकी सीप खारा जलको नहीं पीती जब पीती तब स्वातीका और मोतियोंसे सागरको शोभा बढ़ाती है ॥ १४ ॥

कबीर भेरै बैठि के, सबसों कहूँ पुकारि।
धरा धरै सो धरकुटी, अधर धरै सो नारि ॥१५॥

ऐ कबीर! मैं भेरै (जहाज़) बैठके सबसे पुकारकर कहे देता हूँ जो अकृत्रिमको छोड़कर धरा कृत्रिमको धरै यानी पूजेगी वह धरकुटी यानी व्यभिचारिणी होगी और अधर नाम अकृत्रिमको धरै-पूजेगी वही नारी पतिव्रता है व होगी ॥ १५ ॥

धरिया कूँ धीजू नहीं, गहूँ अधर की बाँहि।
धरिया अधर पिछानिया, कछू धरावहि नाँहि ॥१६॥

कृत्रिमको पूजने वाली पर विश्वास नहीं करता अकृत्रिम सेवीको चाहता हूँ। जब धरिया अधरको पिछान लेती तब कुछ नहीं धराती ॥ १६ ॥

नाम न रटा तो क्या हुआ, जो, अंतर है हेत।
पतिवरता पिव को भजै, मुखसे नाम न लेत ॥१७॥

नाम रटनेसे कोई मतलब नहीं, यदि अन्दरमें प्रेम है। पति सेवी पतिव्रता पतिका नाम मुखसे कभी नहीं लेती ॥ १७ ॥

सुरति समानी नाम में, नाम किया परकास।
पतिवरता पिवको मिली, पलक न छाँड़ै पास ॥१८॥

वृत्ति नाममें समा गई और नाम प्रकाश कर दिया, पति-व्रता पतिको मिल गई पल मात्र भी संग नहीं छोड़ती ॥ १८ ॥

साँई मोर सुलच्छना, मैं पतिवरता नारि।
देहु दीदार दया करो, मेरे निज भरतार ॥१६॥

ऐ मेरे शुभ लक्षण स्वामी ! मैं पतिव्रता नारी हूँ। ऐ मेरे पोषक ! दया करो और दर्शन दो ॥ १६ ॥

प्रीत थड़ी है तुझसें, बहु गुनियाला कंत।
जो हँसि बोलूँ और से, नील रँगाऊँ दंत ॥२०॥

बस ! तेरेमें प्रेम लगा है ऐ बहु गुणवन्त कन्त ! यदि तुमको छोड़ मैं औरसे हँसकर बोलूँ भी तो नीलसे दाँत काला करलूँ।

साँई मेरा एक तूँ, और न दूजा कोय।
दूजा साँई क्या करूँ, तुझ सम और न कोय ॥२१॥
साँई मेरा एक तूँ, और न दूजा कोय।
दूजा साँई जो करूँ, जो कुल दूजा होय ॥२२॥

ऐ स्वामिन् ! मेरा तू एकही है और दूसरा कोई भी नहीं। दूसरा क्या और कहाँ से करूँ तेरे समान कोई है ही नहीं॥ दूसरा तो तबही करूँ जब कुल दूसरा होवे ॥ २१ ॥ २२ ॥

मो चित पलहु न बीसरूँ, तुम परदेसहि जाय।
यह अँग और न भेलसी, जब तब तुम मिलि आय॥२३॥

मैं अपने चित्त से पलमात्र भी नहीं बिसार सकती तुम भले परदेश जावो यह अंग और से संग नहीं करेगा जब करे तो तेरेही से ॥ २३ ॥

कबीर रेख सींदूर अरु, काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाय ॥२४॥

शिर में सिन्दुर और आँख में काजल तक भी नहीं दिया जाता क्योंकि नयनों में तो प्रीतम रम रहा है दूसरे का अवकाश कहाँ ॥ २४ ॥

आठ पहर चौसठ घड़ी, मेरे और न कोय।
नैना माँहीं तूँ बसै, नींद ठौर नहिं होय ॥२५॥

अहोरात्र सिवा तेरे मुझे और कोई नहीं। नेत्रों में भी तुँ ही निवास करता है नींद की भी जगह नहीं ॥ २५ ॥

बार बार क्या आखिये, मेरे मन की सोय।
कलि तो ऊखल होयगी, साँई और न होय ॥२६॥

अपने मन की राम कहानी बार २ मैं क्या कहूँ तूँ सब जानता है,कलियुग भले पलटकर और हो जाये परन्तु स्वामी और नहीं होगा न मैं ही और हो सकता ॥ २६ ॥

जो यह एक न जानिया, बहु जाने क्या होय।
एकै ते सब होत है, सब ते एक न होय ॥२७॥
जो यह एकै जानिया, तो जानो सब जान।
जो यह एक न जानिया, सबही जान अजान ॥२८॥

जो एकही मालिक नहीं जाना तो बहुत ज्ञानसे भी क्या ? एक मालिकसे सब होता है किन्तु सबसे एक कदापि नहीं ॥ यदि एकको पहिचान लिया तो मानो सबको जान लिया। और यदि उससे अपरिचित है तो कुछ नहीं जाना ॥ २७ ॥ २८ ॥

सब आये उस एक में, डार पात फल फूल।
अब कहो पाछे क्या रहा, गहि पकड़ा जब मूल ॥२९॥

उस एक मूल पुरुषमें शाखा, पत्र, फूल, फलसबही आगये। कहो ! जब मूलको पकड़ लिया फिर बाकी क्या रही ॥ २९ ॥

एकै साधे सब सधै, सब साधै सब जाय।
माली सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥३०॥

एक की सिद्धिसे सब सिद्ध हो जाता है। सबकी साधना निरर्थक है। माली मूलको को सींचता है उसीसे फल फूल प्रफुल्लित होता है ॥ ३० ॥

जो मन लागै एक सों, तो निरुवारा जाय।
तूरा दो मुख बाजता, घना तमाचा खाय ॥३१॥

जब मन एकसे प्रीति करता है तब झट फैसला हो जाता है। दुविधा दुखका घर है। देखो, दो मुखसे बोलनेवाला मृदंग, ढोल आदि अनेकों थप्पड़ खाता है ॥ ३१ ॥

एक नाम को जानि कर, दूजा दिया बहाय।
जप तप तीरथ व्रत नहीं, सतगुरु चरण समाय॥३२॥

अन्तर्यामी एक रामको जानकर दुतियाको दूर कर दे और जप तप आदि जंजालको छोड़कर केवल सद्गुरुके चरणोंमें लग जाये ॥ ३२ ॥

मैं अबला पिव पिव करूँ, निरगुन मेरा पीव।
सुन्न सनेही राम बिन, और न देखूँ जीव ॥३३॥

मैं बलहीनी अपने स्वामीका नाम उच्चारण करती हूँ, वह निर्गुण है। सदाका प्रेमी रामके विना कल्याणार्थ जीवके लिये और कोई उपाय नहीं देखती है ॥ ३३ ॥

मैं सेवक समरत्थ का, कबहु न होय अकाज।
पतिबरता नंगी रहै, वाही पति को लाज ॥३४॥

मैं शक्तिमान् स्वामीका सेवक हूँ मेरा अकाज हर्गिज़ न

होगा यदि पतिव्रता नंगी रहेगी तो भी उसकी लाज स्वामी ही को है ॥ ३४ ॥

मैं सेवक समरत्थ का, कोइ पुरयला भाग।
सूती जागी सुंदरी, साँई दिया सुहाग ॥३५॥

मैं समर्थका सेवक हूँ मेरा कोई संचित शुभकर्म था कि सोयेसे जाग गई और स्वामी सुहाग दे सुन्दरी बना लिया।३५।

सुंदरि तो साँई भजै, तजै खलक की आस।
ताहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छाड़ै पास ॥३६॥

जो सुन्दरी संसारकी आशा छोड़कर स्वामी को सेवती है उसका साथ स्वामी पलमात्र भी कभी नहीं छोड़ता ॥ ३६ ॥

चढ़ी अखाड़े सुन्दरी, माँड़ा पीव से खेल।
दीपक जोया ज्ञान का, काम जलै ज्यों तेल ॥३७॥

सुन्दरी अखाड़े चढ़ि आई और स्वामीसे धर्म युद्ध करने लगी। ज्ञानका दीपक जला दिया उसमें कामनाएँ सब तेलकी तरह जलने लगीं ॥ ३७ ॥

सूरा के तो सिर नहीं, दाता के धन नाँहि।
पतिबरता के तन नहीं, सुरति बसै पिव माँहि ॥३८॥

न तो शूराके शिर है न दाताके धन एवं न पतिव्रताके तन है क्योंकि इन तीनोंकी वृत्ति स्वामीमें लगी है ॥ ३८ ॥

भोरे भूली खसम को, कबहुँ न किया विचार।
सतगुरु आनि बताइया, पूरबला भरतार ॥३९॥

भूलमें स्वामीको भूल गई उनका चिन्तन कभी नहीं किया सद्गुरुने दया की और आके उस पूर्व प्रभु स्वामीको बतला दिया ॥ ३९ ॥

घर परमेश्वर पाहुना, सुनो सनेही दास।
षटरस भोजन भक्ति करि, कबहूँ न छाड़ै पास ॥४०॥

ऐ प्रेमी भक्तो! सुनो, तुम्हारे घर परमेश्वर पाहुना हैं यदि उनको सत्कार करना चाहते हो तो प्रेम भक्ति रूपी षड्स भोजन करके जेमाओ, कभी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ेंगे ॥ ४० ॥

एक जानि एकै समझ, एकै के गुन गाय।
एक निरख एकै परख, एकै सों चितलाय ॥४१॥

उसी एकको जानो, समझो और उसी एकका गुण गाओ। इसी तरह एक ही को देखो, परखो और उसी एकमें चित्तको लगाओ ॥ ४१ ॥

ऊँची जाति पपीहरा, पिये न नीचा नीर।
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर ॥४२॥

कुलीन चातक कूप, तलावादिका नीचा नीर नहीं पीता। स्वाती जलके लिये इन्द्रसे ही याँचना करता है और नहीं तो शरीर पर कष्ट बरदास्त करता है ॥ ४२ ॥

पड़ा पपीहा सुरसरी, लागा बधिकका बान।
मुख मूँदे सुरति गगन में, निकसि गये यूँ प्रान ॥४३॥

बधिकके बाण लगनेसे पपीहा गंगामें गिर पड़ा तो भी जल पिये बिना मुख मूँदकर ध्यान आकाशमें लगा दिया, और इसी तरह प्राण छूट गया ॥ ४३ ॥

पपिहा पन को ना तजैं, तजैं तो तन बेकाज।
तन छाड़ैं तो कुछ नहीं, पन छाड़ैं है लाज ॥४४॥

पपीहा प्रण नहीं छोड़ता यदि छोड़े तो शरीर व्यर्थ है क्योंकि नाशमान शरीरके छूटनेसे कोई हर्ज नहीं और प्रण छूटनेसे इज्जत जाती है ॥ ४४ ॥

पपिहाका पन देख करि, धीरज रहै न रंच ।
मरते दम जलमें पड़ा, तऊ न बोरी चंच ॥४५॥

पपीहाका प्रण देखकर ज़रा भी धैर्य नहीं रहता। देखो, मरते वक्त जलमें गिरा तो भी चोंच तक भी जलमें नहीं भिजाया।

चातक सुतहि पढ़ावई, आन नीर मति लेय ।
मम कुल याही रीत है, स्वाति बुंद चित देय ॥४६॥

चातक अपने पुत्रको यही पाठ पढ़ाता है कि और जलका स्पर्श भी मत करो। मेरे कुलकी यही रीति है, स्वाती बूँदमें चित्त लगाओ ॥ ४६ ॥

चातक सुतहि पढ़ावई, सुनो बात यह तात ।
आन नीर नहि पीवना, यह सपूत की बात ॥४७॥
चातक चितहि चुभिगई, सुत सपूत की बात ।
आन नीर परसौं नहीं, सुनो तात यह बात ॥४८॥

चातक पुत्रको पढ़ाता है कि ऐ तात! यह बात सुन, स्वाती बूँदके सिवा और जल मत पीना यही सपूतकी बात (प्रण) है ॥ बस! पिताकी बात सपूत पुत्रके हृदयमें चुभ गई और प्रण कर कह दिया। पिताजी! सुनिये प्राण जाय तो जाय और जलका स्पर्श भी नहीं करूँगा ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

दोज़ख हमहि अंगिजिया, या दुख नाहीं मुझ्झ।
मेरे भिस्त न चाहिये, वाँछि पियारे तुझ्झ॥४९॥

हमें नरक स्वीकार है, मुझे यह दुख दुख नहीं। मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये ऐ प्रीतम प्यारे! मुझे तो केवल तुम्हारी ही चाह है ॥ ४९ ॥

इति श्री पतिव्रता को अङ्ग समाप्त ॥ २२ ॥

अथ व्यभिचारिनको अंग ॥२३॥

कबीर कलियुग आय के, कीया बहुत जमीत।
जिन दिल बाँधा एक से, ते सुख सोय निचिंत ॥१॥

ऐ कबीर! जिसने कलियुगमें आके बहुतोंसे मित्रता की वह बड़ा ही बेचैन हुआ और जिसने एकसे दिल मिलाया वह सुख नींद सोया तथा सोता है ॥ १ ॥

गुरु मरजाद न भक्ति पन, नहिं पिव का अधिकार।
कहैं कबिर बिभिचारिनी, नित्त नया भरतार ॥२॥
बिभिचारिनि बिभिचारमें, आठ पहर हुशियार।
कहैं कबिर पतिवरत बिन, क्यौं रीझै भरतार ॥३॥

कबीर गुरु कहते हैं कुलटा स्त्री पर गुरुकी मर्यादा और भक्तिका प्रण एवं स्वामीका अधिकार भी नहीं रहता क्योंकि वह नित् नूतन पति चाहती है ॥ और व्यभिचारमें हर वक्त हुशियार रहती है, कहो! पति सेवा बिना उसका पति कैसे प्रसन्न होगा? ॥ २ ॥ ३ ॥

बिभिचारिनि के बस नहीं, अपनो तन मन दोय।
कहैं कबिर पतिवरत बिन, नारी गई बिगोय ॥४॥
नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोय।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यौं होय॥५॥

व्यभिचारिनके तन मन अपने वशमें नहीं रहता, कबीर गुरु कहते हैं, पतिव्रत धर्म बिना नारी नष्ट हो गई ॥ क्योंकि

स्त्री कहलाती है अपने स्वामीकी ओर सो रहती दूसरेके संग यानी प्रेम करती है औरोंके संगमें। सदा उपपतिका ध्यान मनमें रखती है तो कहो! उसका स्वामी खुश होय तो कैसे?

सेज बिछावै सुन्दरी, अन्तर परदा होय।
तन सौंपै मन दे नहीं, सदा दुहागिन सोय ॥६॥

जो सुन्दरी अन्दरमें कपट रखके स्वामीके लिये शैया बिछाती यानी शरीरको अर्पण करती और मन नहीं मिलाती वह सदा पतिसे विमुख रहती है ॥ ६ ॥

कबीर मन दीया नहीं, तन कर डाला ज़ेर।
अन्तरजामी लखि गया, बात कहन का फेर ॥७॥

ऐ कबीर! जिसने मनसे प्रेम न करके केवल शरीरको ही अधीन किया उसके अन्तर्भावको स्वामी समझ लेता सिर्फ बातें कहनेका फेर रहता है ॥ ७ ॥

मुख से नाम रटा करैं, निस दिन साधुन संग।
कहु धौं कौन कुफेर तें, नाहीं लागत रंग ॥८॥
कबीर पंथ निहारताँ, आनि पड़ी है साँझ।
जन जन को मन राखताँ, वेस्या रहि गइ बाँझ ॥९॥

रात दिन सन्तोंके संगमें रहके मुखसे हरे! राम! रटन करने पर भी राम रंग नहीं लगता इसमें कहो क्या कुफेर है?॥ सुनो, कारण यह है कि वेश्या सब जनोंके मनकी करने से बन्ध्या रह गई और मार्ग (सुत, स्वामीका) देखते ही सन्ध्या पड़ गई ॥ ८ ॥ ९ ॥

रात जगावै राँड़िया, गावै विषया गीत।
**मारैं लाँदा लापसी, गुरू न आवै, चीत ॥१

एक पर्व होता है जिसमें रात भर स्त्रियाँ जागती और विषय उत्पादक गीत गाती हैं। रामको चित्तमें नहीं लाती पारण (व्रत समाप्ति) के दिन उत्तम लौंदा, लापसी खाती है॥

कबीर जो कोइ सुन्दरी, जानि करै विभिचार।
ताहि न कबहूँ आदरै, परम पुरुष भरतार॥११॥

जो स्त्री जान बूझकर अनाचार करती है उसको परम पुरुष पतिदेव कभी भी आदर नहीं करता॥ ११॥

राम नाम को छाँड़ि कर, करै और की आस।
कहैं कबिर ता नारि को, होय नरक में बास॥१२॥

जो हृदय निवासी रामको छोड़कर अन्य कल्पित राम रहीमकी आशा करती है उस नारीको नरक में निवास होता है॥१२॥

नौ सत साजे सुन्दरी, तन मन रही सँजोय।
पिय के मन मानै नहीं, पिउँव किये क्या होय॥१३॥

जिससे स्वामीका मन राजी नहीं है उस सोलह श्रृङ्गारोंसे शरीरको सुशोभित करना मानो पतिको अपमान करना है॥१३॥

सौ बरसाँ भक्ति करै, एक दिन पूजै आन।
सो अपराधी आतमा, पड़ै चौरासी खान॥१४॥

सौ वर्ष सद्गुरुकी भक्ति करै और एक दिन उनके विरुद्ध करै तो उस अपराधसे उसको चौरासी भोग होता है॥१४॥

राम नाम को छाँड़ि कै, करै आन को जाप।
ताके मुँहड़े दीजिये, नौसादर को बाप॥१५॥
राम नाम को छाँड़ि कै, करै और को जाप।
बेस्या केरा पूत ज्यौं, कहै कौन को बाप॥१६॥

जो राम नामको छोड़कर और देवोंकी आराधना करता है उसके मुँहमें मैला देना चाहिये ॥ क्योंकि जो निज स्वामीको छोड़कर औरोंको भजता है वह वेश्याके पुत्रकी तरह निराधार होता है। वह बड़ा अपराधी है उसको कहीं शरण नहीं मिलती॥

राम नाम को छाँडि कै, राखै करवा चौथि।
सो तो ह्वैगी सूकरी, तिन्हैं राम सों कौथि॥१७॥

जो स्त्री राम चिन्तन रूप व्रत छोड़कर करवाचौथ नामक व्रत करती है उसे रामका क़सम है कि वह अवश्य मर कर शूकरी होगी ॥ १७ ॥

राम नाम को छाँडि कै, राति जगावन जाय।
साँपिनि ह्वै करि औतरै, अपना जाया खाय॥१८॥

जो स्त्री उत्तम रामनाम जपको छोड़कर रात्री जगाने यानी रतजगा व्रत विशेष करने जाती है वह सर्प होके पुत्रघातिनी होती है,॥ १८ ॥

आन भजै सो आँधरा, राम भजै सो साध।
तत्त भजै सो वैस्नवा, तिनका मता अगाध॥१९॥

जो अपने स्वरूपको छोड़कर दूसरेको भजता है वह अन्धा है। और जो अन्तर्यामी रामको भजता है वह साधु है और वेही वैष्णव हैं जो सार तत्वको भजते हैं उनका सिद्धान्त अगम है ॥ १९ ॥

करै सुहाली लापसी, जाय आन की जाति।
ज्वारा हँसै मलकता, आई मेरी घाति॥२०॥

जो सुहारा और लपसी बनाके दूसरेकी जाति (जमात) में खानेको जाती है वह जातिसे भ्रष्ट हो जाती और उस पर खुश होकर जार पुरुष अपना दाव आया देखकर हँसता है॥२०॥

कामी तरि क्रोधी तरे, लोभी तरे अनन्त ।
आन उपासी कृतघनी, तरे न गुरू कहन्त ॥२१॥

सद्‌गुरु कहते हैं कि, कामी, क्रोधी और लोभी भले अनेकों तर जायँ किन्तु यह कृतघ्नी कदापि न तरेगा जो इष्ट विरोधी उपासक है ॥ २१ ॥

काज कनागत कारटा, आनदेव को खाय ।
कहँ कबिर समुझै नहीं, बाँधा जमपुर जाय ॥२२॥

जो मृतक कर्म (श्राद्ध) कराने व उसका भोज खानेवाला और पाप कर्म कराने वाला एवं अन्य देवका अर्पण खानेवाला है यह नासमझ मुरक चढ़ा हुआ नरकमें जाता है ॥ २२ ॥

देवि देव मानै सबै, अलख न मानै कोय ।
जा अलेखका सब किया, तासों बेमुख होय ॥२३॥

देवी देव आदि दृश्यको सब कोई मानते किन्तु जो स्वयं अदृश्य और सबका द्रष्टा (दृशि मात्र) है उससे विमुख हैं २३

पन छूटै छूटा फिरै, ते नर भूत खबीस ।
भूतन पिंडा राख का, पड़ा पटकि के सीस ॥२४॥

जो मनुष्य अपनी प्रतिज्ञासे भ्रष्ट हो स्वेच्छाचारी हो जाता है वह मुर्दाखोर है, इसलिये भस्मका पिंडारूप भूतने उसको पछार कर शीश पर सवार होता है ॥ २४ ॥

माइ मसानि सिढि सितला, भैरू भूत हनुमंत ।
साहिब सों न्यारा रहै, जो इनको पूजन्त ॥२५॥

सद्‌गुरु विमुख नरही माई मशानी आदि देवियोंको और भूत, भैरव आदि देवोंको पूजते हैं ॥ २५ ॥

इति श्री व्यभिचारिनको अङ्ग समाप्त ॥ २३ ॥

अथ सूरमाको अङ्ग ॥ २४ ॥

कबीर सोई सूरमा, मन सों माँड़े जूझ।
पाँचौं इन्द्री पकड़ि के, दूरि करै सब दूझ ॥१॥

ऐ कबीर! शूरमा वही है जो मनके साथ युद्ध करता है। और पाँचों इन्द्रियोंको वश करके सन्तापको दूर भगाता है॥१॥

कबीर सोई सूरमा, (जिन) पाँचौं राखी चूर।
जिनके पाँचौं मोकली, तिनसों साहिब दूर ॥२॥

वही वीर है जो भिन्न २ स्वादी पाँचोंको चूरकर निज वश में रखता है। और जिनके पाँचों इच्छाचारी हैं उनसे साहिब कोशों दूर हैं ॥ २ ॥

कबीर सोई सूरमा, जाके पाँचौं हाथ।
जाके पाँचौं वस नहीं, तो हरि सँग न साथ ॥३॥

ऐ कबीर! वे ही शूर हैं जिनके हाथमें पाँचोंकी बागडोर है और जिनके ये पाँचों वशमें नहीं हैं उनके प्रभु साथी न हैं न होते हैं ॥ ३ ॥

कबीर रन में आय के, पीछे रहै न सूर।
साँई के सनमुख रहै, जूझै सदा हजूर ॥४॥

रण क्षेत्रमें आके वीर पुरुष पीछे नहीं रहते सदा स्वामीके संमुख रहते और कामादि शत्रुओंसे युद्ध करते हैं ॥ ४ ॥

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतन चढ़ि असवार।
ज्ञान खड़ग ले कालसिर, भली मचाई मार ॥५॥

ऐ कबीर ! प्रेम रूपी घोड़ा पर जो गुरु उपदेशमें चैतन्य हैं वही पुरुष सवार होता है और ज्ञान तलवार लेकर कालके साथ भली भाँति युद्ध करता है ॥ ५ ॥

कबीर तुरी पलानिया, चाबुक लीन्हा हाथ।
दिवस थका साँई मिले, पीछे पड़ि है रात ॥६॥

ऐ कबीर ! लगाम, जीन और कोड़ा हाथमें लेकर जो दिन भरके युद्धसे थके हुए हैं वेही स्वामी से मिलते हैं, पीछे तो रात पड़ेगी ॥ ६ ॥

कबीर हीरा बनजिया, महँगे मोल अपार।
हाड़ गली माटी मिला, सिर साटैं बेवहार ॥७॥

ऐ कबीर ! गुरु रूप हीरा खरीदना बहुत मुश्किल है वह इतना महँगा है कि उसकी कीमत बहुत बेश कीमत है शिरके बदले वह मिलता है और हाड़ गलाकर माटीमें मिलाना पड़ता है यानी शरीर, शीरका अभिमान छोड़ना पड़ता है ॥ ७ ॥

कबीर तोड़ा मान गढ़, मारे पाँच गनीम।
सीस नँवाया धनी को, साधी बड़ी मुहीम ॥८॥

ऐ कबीर ! जिसने मान (अभिमान) गढ़को तोड़ा उसने ही पाँचो भारी शत्रुओंको मारा और भारी आक्रमण को साधकर स्वामीको शीश भुकाया। अर्थात् प्रभुसे मिला ॥ ८ ॥

नाम कुल्हाड़ी कुबुधिवन, काटि किया मैदान।
कबीर जीते मान गढ़, मारे पाँचौ खान ॥९॥
कबीर तोड़ा मान गढ़, लूटी पाँचौ खानि।
ज्ञान कुल्हाड़ी करम बन, काटि किया मैदान ॥१०॥

शुद्ध सत्संगी ज्ञान रूपी कुल्हाड़ीसे कुबुद्धि व कुकर्म रूप जंगलको काटकर साफ चोगान बना देते और पाँचों इन्द्रियों को मारकर अभिमान गढ़ को जीत लेते हैं ॥ ६ ॥ १० ॥

गगन दमामा बाजिया, पड़त निशानै चोट ।
कायर भागैं कछु नहीं, सूरा भागै खोट ॥११॥
गगन दमामा बाजिया, पड़त निसानै घाव ।
खेत पुकारैं सूरमा, अब लड़ने का दाव ॥१२॥

जुझाऊ बाजा बजनेसे गगन गूँज उठा, शूरमा लोग निज निज लक्ष्यको बेधने लगे, क्योंकि भीरुको तो भागना ही था किन्तु उसमें शूरोंकी बड़ी हानि है ॥ इसलिये स्वयं लक्ष्यको बेधते हुये औरोंको भी युद्ध क्षेत्रमें ललकारने लगे कि यही युद्ध का मौका है ॥ ११ ॥ १२ ॥

गगन दमामा बाजिया, हनहनिया के कान ।
सूरा घरैं बधावनाँ, कायर तजैं पिरान ॥१३॥
सूरा सोइ सराहिये, लड़ै धनी के हेत ।
पुरजा पुरजा है पड़े, तऊ न छाड़ै खेत ॥१४॥

ऐसा युद्धका नगारा बजा कि कायरोंके कान बहरे हो गये, शूरोंके घरोंमें महोत्सव और भीरु मरने लगे ॥ प्रशंसाके पात्र वही शूर है जो निःस्वार्थ, मालिकके वास्ते लड़ता है। चाहे टुकड़ा २ हो जाय किन्तु संग्राम भूमिसे मुँह नहीं मोड़ता ॥

सूरा सोइ सराहिये, अंग न पहिरै लोह ।
जूझै सब बंद खोलिकै, छाड़ै तन का मोह ॥१५॥
सूरा जूझै गिरद सों, इक दिस सूर न होय ।
याँ जूझै बिन बाहरा, भला न कहसी कोय ॥१६॥

बिना कवचका लड़ने वाला ही वीर है, जो जीनेकी आशा छोड़कर सर्वांङ्ग खुले हुए लड़ता है। और एक ओरसे नहीं बल्कि चारों ओरसे लड़ता है, ऐसे युद्ध किये बिना वधिर है उसे भला कोई नहीं कहता ॥ १५ ॥ १६ ॥

सूरा सीस उतारिया, छाँड़ी तन की आस।
आगे सें गुरु हरपिया, आवत देखा दास ॥१७॥

शूर तो प्रथम ही धड़से शिर उतार कर शरीरकी आशा छोड़ देता है। ऐसे माया प्रपंच (इन्द्रिय गण) से लड़ने वाला गुरु-भक्त (ज्ञान-वीर) को आगे देखते ही मालिक खुश हो जाता है ॥ १७ ॥

सूरा के मैदान में, कायर फंदा आय।
ना भाजै ना लड़ि सकै, मन ही मन पछिताय॥१८॥
सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।
सूरा सों सूरा मिलै, तब पूरा संग्राम ॥१९॥

शूरोंकी संग्राम भूमिमें यदि कायर कदाचित् आ भी जाय तो भी क्या ? वह मन ही मन बड़ा पश्चाताप करता है क्योंकि न तो वह लड़ सकता न वहाँसे भाग ही सकता है। इसलिये शूरोंके मैदानमें शूरों ही का पूरा संग्राम होता है कायर वहाँ बेकाम है ॥ १८ ॥ १९ ॥

सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।
कायर भाजै पीठ दै, सूर करै संग्राम ॥२०॥
सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।
तीर तुपक बरछी बहै, बिगसि जायगा चाम ॥२१॥

शूरोंके मैदानमें कायरका कोई काम नहीं है क्योंकि वह पीछे भागता और शूर संग्राम करता है। बात सच्ची यह है कि चामके प्रेमीका वहाँ काम नहीं सरेगा? वहाँ तो तीर, वन्दूक और भालायें चलते हैं जिनसे चमड़ो ही खैंच ली जाती है ॥ २० ॥ २१ ॥

तीर तुपक सों जो लड़ै, सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करै, सूर कहावै सोय ॥२२॥
तीर तुपक सों जो लड़ैं, सो तो सूरा नाँहि।
सूरा सोइ सराहिये, बाँटि बाँटि धन खाँहि ॥२३॥

केवल तीर, वन्दूकसे लड़नेवाले, वीर नहीं कहलाते वल्कि माया प्रपंचसे रहित आत्म-भक्ति परायण शूर कहलाते हैं। और जो इन्द्रियगण शत्रु-संग्रामसें उपार्जित आत्मज्ञान धनको वितरित कर स्व और परको तृप्त (सन्तुष्ट) करते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥

सूरा सनमुख वाहता, कोइ न बाँधै धीर।
पर दल मोरन रन अटल, ऐसा दास कबीर ॥२४॥
सूरा नाम धराय करि, अब क्यौं डरपै वीर।
मँडि रहना मैदान में, सनमुख सहना तीर ॥२५॥

युद्धक्षेत्रमें शूरोंके सामने गुरु सत्संग विमुख भीरु कोई भी धैर्य नहीं धरता, संग्राममें निश्चल हो शत्रु-सेनाको हटाना ऐसा तो कोई गुरु-भक्ति परायण काया-वीर जिज्ञासुओंका काम है। ऐ वीर! शूरोंके परवाना उठाके अब क्यों डरता है? अच्छा तो तव होता कि संग्राम भूमिमें डटे रहता और मुँहा मुँह तीर खाता ॥ २४ ॥ २५ ॥

सूरा लड़ै कमन्द है, धड़ सों सीस उतारि।
कहैं कबिर मारा मुआ, कहैं जु मारिहि मारि ॥२६॥
सूरा तो साँचे मतै, सहै जु सनमुख धार।
कायर अनी चुभाय के, पीछे झखै अपार ॥२७॥

शूरा तो धड़से शिर उतार रुण्ड होके लड़ता है और मरके भी मार मार कहता है। क्योंकि शूराका सिद्धान्त सच्चा है, जो सामने धार करता और सहता है, यह कादरोंका काम है कि पीछेसे भालाकी नोक चुभोना और वेहद्द झखना ॥२६॥२७॥

सूरा थोड़ा ही भला, सत का रोपै पग्ग।
घना मिला किहि काम का, सावन का सा बग्ग ॥२८॥
सूर चला संग्राम को, कबहुँ न देवें पीठ।
आगे चलि पाछे फिरे, ताको मुख नहिं दीठ ॥२९॥

सत्सिद्धान्त पर ठहरनेवाला शूरा थोड़ाही भला है, ज्ञान-घटाकी हवा लगतेही उड़ जानेवाले श्रावणकी बग-पंक्तियोंसे क्या मतलब ?॥ रणभूमिमें आके शूरा पीछा कभी न देखता, आगे चलके पीछे देखनेवालेका मुँह कभी मत देखो ॥२८॥२९॥

सूर सनाह न पहिरई, जब रन बाजा तूर।
माथा काटै धड़ लड़ै, तब जानीजै सूर ॥३०॥
सूर सनाह न पहिरई, मरता नहीं डराय।
कायर भाजें पीठ दे, सूर मुँहामुँह खाय ॥३१॥

रणक्षेत्रमें रणसिंहा बज जाने पर वीर बक्तर पहिननेका वक्त नहीं लेता, वीर तब समझना जब रुण्ड मुण्ड होके लड़े ॥ क्योंकि वह मरनेसे डरताही नहीं, फिर बक्तर क्यों पहिने ?

पीछे भागना भीरुओंका काम है वह तो तीरोंका कचर सन्मुख खाता खिलाता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

सूर न सेरी ताकई, नेजा घालै घाव।
सब दल पाछा मोड़िके, माँभी सेती चाव ॥३२॥
सूरे सार सँवाहिया, पहरा सहज सँजोग।
ज्ञान गयंदहि चढ़ि चला, खेत परन का जोग ॥३३॥

शूर पीछे रास्ता नहीं खोजता, भालाका वार सामने चलाता है, सेनाओंको पीछे हटाके फिर भी युद्ध करनेको उत्साह रखता है ॥ शूरा केवल धीरज, धर्मको सँभालता है, स्वाभाविक संयोगवश यही बक्तर वह पहिनता है अर्थात् धर्मको रक्षामें अपनी रक्षा समझता है, समय आने पर ज्ञान हस्ती आरूढ़ होके चलता है॥

खेत न छाँड़ै सूरमा, जूझै दो· दल माँहि।
आसा जीवन मरन की, मन में राखै नाँहि ॥३४॥
अब तो जूझै ही बनै, मुड़ि चालै घर दूर।
सिर साहिब को सौंपते, सोच न कीजै शूर ॥३५॥

दो दलके बीचमें पड़ा हुआ भी वीर पुरुष संग्राम भूमिको नहीं छोड़ता वल्कि मनसे जीवन, मरणको आशा छोड़के दोनों दलोंसे खूब लड़ता है। वह समझता है अब लड़नेहीसे घर पहुँचना है पीछे भागनेमें घर दूर पड़ जायगा, क्योंकि शूरमाको उचित है कि शिर मालिकको सौंप दे सोच हर्गिज़ न करै३४-३५

भागै भला न होयगा, मुँह मोड़ै घर दूर।
साँई आगे सीस दे, सोच न कीजै सूर ॥३६॥
भागै भला न होयगा, कछु सूरातन सार।
भरंम बकतर दूर करि, सुमिरन खेल सँभार ॥३७॥

शूरोंको इन्द्रिय संग्राममें भागनेमें भलाई हर्गिज़ न होगी एवं कामादि शत्रुओंको पीठ देनेमें घर (आत्मदेश स्थिति) दूर पड़ जायगा इसीलिये स्वामीको शीश समर्पण कर शूराओंको कदापि न सोचना चाहिये॥ भागनेमें भलाई नहीं है ऐसा समझ कर यदि यत्किञ्चित् भी शूराओंके शरीरमें .सार तत्व यानी धर्म्मकी आन है तो भ्रम चक्करको त्याग आत्मचिन्तन रूप भालाको सँभालना चाहिये॥ ३६ ॥ ३७॥

भागै भला न होयगा, मुड़ि चाल्यै घर दूर।
खड्ग उपाड़ै ना डरै, सो साँचा है सूर ॥३८॥
जाय पूछो उस घायलाँ, दिवस पीर निसि जागि।
वाहनहारा जानि है, कै जानै जिस लागि॥३९॥

भागनेमें बुराई और मुँह मोड़नेमें घर दूर होता है इस बड़ी हानिको समझकर जो शत्रुओंसे लड़नेको निडर हो युद्धका परवाना उठाके खड्ग बाँधता है वही सच्चा शूर है॥ उन घायलोंसे पूछ देखो जो ज्ञान खड्गके घावसे दिन रात जागते बीताते हैं। मारने और चोट खानेवालेके सिवा उनके दर्दको दूसरा नहीं जान सकता ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

घायल तो घूमत फिरै, राखा रहै न ओट।
जतन करै जीवै नहीं, लगी मरम की चोट ॥४०॥
साध सती औ सूरमा, राखा रहै न ओट।
सीस कटावै धड़ लड़ै, सुन जो पावै चोट ॥४१॥

जिसका शिर ज्ञान खड्गसे कट गया है वह रुण्ड पड़दामें रखनेसे नहीं रहता, घूमा करता है, यत्नोंसे भी वह पुनः संसारके लिये जीवित नहीं होता क्योंकि उसके मर्म स्थानमें

ज्ञानतीर बींध गया है। सन्त, सती और शूरमा ये किसीके रखनेसे आड़में नहीं रहते इन्हें तो जुझाऊ बाजाकी चोट सुनने की देरी है ये तो शिर कटाके धड़सेही लड़ते हैं॥ ४० ॥ ४१ ॥

ओटा लिया न ऊगरै, सुनरे मनुवा बूझ।
निकसि रहो मैदान में, कर पाँचौं से जूझ ॥४२॥
घायल की गति और है, औरन की गति और।
प्रेम बान हिरदै लगा, रहा कबीरा ठौर ॥४३॥

ऐ मन! कामादि शत्रुओं के युद्धमें मुख मोड़नेसे उद्धार कदापि न होगा इस बातको भली भाँति बूझकर समझ ले और मैदानमें आकर पाँचों इन्द्रियोंसे युद्ध कर। प्रेम बाणके घायलों की गति (रहस्य) औरोंसे विलक्षण होती है जिसके हृदयमें प्रेम बाण बिंध गया बस! वह ठिकाने ठहर जाता है॥४२॥४३॥

चित चेतन ताजी करै, लौ की करै लगाम।
सब्द गुरू का ताजना, पहुँचै संत सुठाम ॥४४॥
सिर राखै सिर जात है, सिर काटै सिर सोय।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा होय॥४५॥

चित्तवृत्तिको घोड़ी बनाके ध्यानको लगाम लगावे इसी प्रकार स्वरूप बोधक गुरुके सार शब्द रूप ताजना यानी कोड़ा बनाके सन्त ही निज देशको पहुँचते हैं। सांसारिक प्रतिष्ठामें मनुष्य परमार्थको खो बैठता है, इसे तो त्यागमें परमार्थ सिद्ध होता है जैसे दीपककी बत्ती (शिखा) को काटने ही से प्रकाश होता है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

धड़ से सीस उतारिके, डारि देय ज्यौं ढेल।
कोइ सूर को सोहसी, घर जाने का खेल ॥४६॥

शरीरको इन्द्रिय संग्रामसे भागनेमें भलाई हर्गिज़ न होगी एवं कामादि शत्रुओंको पीठ देनेमें घर (आत्मदेश स्थिति) दूर पड़ जायगा इसीलिये स्वामीको शीश समर्पण कर शत्रुओंको कदापि न सोचना चाहिये॥ भागनेमें भलाई नहीं है ऐसा समझ कर यदि यत्किंचित् भी शत्रुओंके शरीरमें ,सार तत्त्व यानी धर्म्मकी आन है तो भ्रम वक्तरको त्याग आत्मचिन्तन रूप भालाको सँभालना चाहिये ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

भागै भला न होयगा, मुड़ि चाल्यै घर दूर।
खड्ग उपाड़े ना डरै, सो साँचा है सूर ॥३८॥
जाय पूछो उस घायलाँ, दिवस पीर निसि जागि।
वाहनहारा जानि है, कै जानै जिस लागि ॥३९॥

भागनेमें बुराई और मुँह मोड़नेमें घर दूर होता है इस बड़ी हानिको समझकर जो शत्रुओंसे लड़नेको निडर हो युद्धका परवाना उठाके खड्ग बाँधता है वही सच्चा शूर है॥ उन घायलोंसे पूछ देखो जो ज्ञान खड्गके घावसे दिन रात जागते बीताते हैं। मारने और चोट खानेवालेके सिवा उनके दर्दको दूसरा नहीं जान सकता ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

घायल तो घूमत फिरै, राखा रहै न ओट।
जतन करै जीवै नहीं, लगी मरम की चोट ॥४०॥
साध सती औ सूरमा, राखा रहै न ओट।
सीस कटावै धड़ लड़ै, सुन जो पावै चोट ॥४१॥

जिसका शिर ज्ञान खड्गसे कट गया है वह खण्ड पड़दामें रखनेसे नहीं रहता, घूमा करता है, यत्नोंसे भी वह पुनः संसारके लिये जीवित नहीं होता क्योंकि उसके मर्म स्थानमें

ज्ञानतीर बाँध गया है। सन्त, सती और शूरमा ये किसीके रखनेसे आड़में नहीं रहते इन्हें तो जुभाऊ बाजाको चोट सुनने की देरी है ये तो शिर कटाके धड़सेही लड़ते हैं॥ ४० ॥ ४१ ॥

ओटा लिया न ऊगरै, सुनरे मनुवा बूझ।
निकसि रहो मैदान में, कर पाँचौं से जूझ ॥४२॥
घायल की गति और है, औरन की गति और।
प्रेम बान हिरदै लगा, रहा कबीरा ठौर ॥४३॥

ऐ मन! कामादि शत्रुओं के युद्धमें मुख मोड़नेसे उद्धार कदापि न होगा इस बातको भली भाँति बूझकर समझ ले और मैदानमें आकर पाँचों इन्द्रियोंसे युद्ध कर। प्रेम बाणके घायलों की गति (रहस्य) औरोंसे विलक्षण होती है जिसके हृदयमें प्रेम बाण बिंध गया बस! वह ठिकाने ठहर जाता है॥४२॥४३॥

चित चेतन ताजी करै, लौ की करै लगाम।
सब्द गुरू का ताजना, पहुँचै संत सुठाम ॥४४॥
सिर राखै सिर जात है, सिर काटै सिर सोय।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा होय॥४५॥

चित्तवृत्तिको घोड़ी बनाके ध्यानको लगाम लगावे इसी प्रकार स्वरूप बोधक गुरुके सार शब्द रूप ताजना यानी कोड़ा बनाके सन्त ही निज देशको पहुँचते हैं। सांसारिक प्रतिष्ठामें मनुष्य परमार्थको खो बैठता है, इसे तो त्यागमें परमार्थ सिद्ध होता है जैसे दीपककी बत्ती (शिखा) को काटने ही से प्रकाश होता है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

धड़ से सीस उतारिके, डारि देय ज्यौं ढेल।
कोइ सूर को सोहसी, घर जाने का खेल ॥४६॥

लड़ने को सब ही चले, सस्तर बाँधि अनेक।
साहिब आगे आपने, जूझेगा कोय एक ॥४७॥

सांसारिक मिथ्या अभिमान रूप शिरको धड़से उतारकर ढेलाके माफ़िक डाल देना, यही निज घर जानेका कौतुक है लेकिन यह विनोद किसी शूरको शोभता है। यों तो युद्धके अनेकों हथियार (साधु पद में कोपीन, कमण्डलु आदि) बाँधके युद्ध के लिये बहुतेरे चले और जाते हैं किन्तु अपने मालिकके सामने कोई एक ही युद्ध किया और करेगा॥ ४६ ॥४७॥

जूझेंगे तब कहेंगे, अब कुछ कहा न जाय।
भीड़ पड़े मन मसखरा, लड़ै किधौं भागि जाय॥४८॥
मेरे संसय कोय नहीं, गुरु सो लागा हेत।
काम क्रोध सों जूझना, चौड़े माँड़ा खेत॥४९॥

जब तक कामादि शत्रुओंसे युद्ध नहीं हुआ तब तक साधु, असाधु कुछ कहा नहीं जाता, जब वेषके अनुसार कार्य करेंगे तब कुछ कहा जायगा। यों तो काम क्रोधादि शत्रुओंसे युद्ध करनेमें गुरु-भक्ति परायण भक्तोंको कोई संशय ही नहीं होता वे तो चौड़े मैदानमें युद्धके लिये सदा सन्नद्ध ही रहते हैं किन्तु मन मसखरों पर विश्वास नहीं होता॥ ४८ ॥ ४९ ॥

जब लग धड़ पर सीस है, सूर कहावै कोय।
माथा टूटै धड़ लड़ै, कमँद कहावै सोय॥५०॥
रन हि धसा सो ऊबरा, आगे गिरह निवास।
घरै बधावा बाजिया, और न दूजी आस॥५१॥

जब तक धड़ पर शीश है, कोई भी शूर कहला सकता है किन्तु बिना शिर रुण्ड हो लड़कर कमन्द कहलाना मुश्किल है।

रणमें प्रवेश कर जो इस प्रकार लड़ा उसीका उद्धार हुआ और आगे परमार्थ रूप घरमें अन्य आशाओंसे रहित हो बड़ी बधाई के साथ निवास किया व करता है ॥ ५० ॥ ५१ ॥

साँई सेंति न पाइये, बातन मिलै न कोय।
कबीर सौदा नाम का, सिरबिन कबहुँ न होय॥५२॥
जेता तारा रैन का, येता बैरी मुझ्झ।
धड़ सूली सिर कँगुरे, तउ न बिसारूँ तुझ्झ॥५३॥

सेत मेतमें मालिकको न किसीने पाया न कोई पा सकता है। ध्यान रहे, शिर दिये विना यह सौदा कभी नहीं बनता। गुरुसे लगन ऐसी लगनी चाहिये कि चाहे शत्रु ताराओंकी तरह असंख्य क्यों न हो और धड़ शूली व शिर शिखर पर हो तौ भी ऐ मालिक! तुझे नहीं बिसारूँगा ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ऐसी मार कबीर की, मुआ न दीसै कोय।
कहैं कबिर सो ऊबरै, धड़ पर सीस न होय॥५४॥
सीतलता संजोय ले, सूर चढ़ै संग्राम।
अबकी भाजन सरत है, सिर साहिबके काम॥५५॥

ज्ञान पडूगका घाव ऐसा है कि उसे कोई अज्ञानी नहीं देख सकता, गुरु कबीर कहते है कि उसीका निस्तार होता है जिसके धड़ पर शिर (मिथ्या अभिमान) नहीं है। शूर शान्ति को धारणकर रण भूमिमें पग देता है। और यह कहता है कि अबकी वेर शिर मालिकके वास्ते समर्पण है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

जोग सुँ तो जौहर भला, घड़ी एक का काम।
आठ पहर का जूझना, बिन खाँड़ै संग्राम॥५६॥

पँजअसमाना जब लिया, तब रन धसिया सूर।
दिल सौंपा सिर ऊबरा, मुजरा धनी हजूर ॥५७॥

जोगसे जौहर (सती होना) इस वास्ते अच्छा है कि जौहर होना घड़ी भरका काम है और योगमें इन्द्रिय गण शत्रु तथा मन मायासे विना हथियार आठों पहर युद्ध करना पड़ता है। इसी कारण प्रथम वीर पुरुष पाँच ज्ञान इन्द्रिय रूप शस्त्र को साधके पीछे रणभूमिमें प्रवेश करते हैं। तहाँ मन मालिकको सुपुर्द कर अपने आपको बचाते और स्वामीके हुजूरमें शिर झुकाते हैं ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

कड़ी है धारा राम की, काचा टिकै न कोय।
सिर सौंपै सीधा लड़ै, सूरा कहिये सोय ॥५८॥
बाँकी तेग कबीर की, अनी पड़ै दो टूक।
मार मीर महाबली, ऐसी मूठ अचूक ॥५९॥

राम नदीकी धारा कठिन है, "नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः" इत्यादि वचनके अनुसार यहाँ असिद्ध कोई पाँव नहीं टिका सकता वहाँ तो शराओंका काम है जो शिरका बलिदान कर सीधे लड़ै। कबीर गुरुकी तलवार (ज्ञान रहस्य) बड़ी तिरछी है अनी (नोक) मात्र लगतेही दो खण्ड हो जाते, ऐसी उनकी मूठ (निशाना) अचूक है कि महा पराक्रमी ही उनको मार की मीर यानी सीमा पर डटते हैं ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

बाँका गढ़ बाँका मता, बाँकी गढ़ की पोल।
काछ कबीरा नीकसा, जम सिर घाली रोल ॥६०॥
रकत बहै लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
अविनासी की फौजमें, गूंजै दास कबीर ॥६१॥

मालिकका किला, मत और उसके दरबारकी राह सबही टेढ़ा है, कोई परम जिज्ञासु कमर कसके निकल कर यम शिर मर्दन करता और दरबारमें पहुँचता है। जब हथियारोंकी वृष्टि और खूनकी नदी बहती है तब जंजीर जैसा कठिन प्रश्न हल होता है और जिज्ञासु अखण्डात्मकी फौजमें विहार करते हैं ॥

सार बहै लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
जम ऊपर साटै करी, चढ़िया दास कबीर ॥६२॥
ज्यों ज्यों गुरुगुन साँभलौ, त्यों त्यों लागै तीर।
साँटी साँटी झरि पड़ी, भलका रहा सरीर ॥६३॥

जिज्ञासु जब गुरु सत्संगमें कठिन प्रश्नको हल कर लेते तब यम शिरको भी मर्दन कर देते और मालिकके धाम पर पहुँच जाते हैं। ज्यों ज्यों गुरुका उपदेश श्रवण होता है त्यों त्यों मानो तीर चुभता है। हाड़ चाम सब गिर गये शरीरमें भालाही भाला रह गया अर्थात् गुरु गुणके सिवा और कुछ न रहा ॥६२॥६३॥

चौपड़ माँड़ी चौहटै, अरध उरध बाजार।
सतगुरु सेती खेलताँ, कबहु न आवै हार ॥६४॥
जो हारौं तो सेव गुरु, जो जीतौं तो दाव।
राम नाम सों खेलताँ, सिर जावै तो जाव ॥६५॥

पिंड ब्रह्माण्डकी हाटमें चित्त चौराहे पर ज्ञानका पासा डाला है, तहाँ सद्गुरुके साथ खेलनेमें हार हर्गिज़ नहीं सदा जीतही होती है। क्योंकि जो कदाचित् हार भी जाऊँ तो गुरुकी सेवा करूँ और ज्ञान दाव जीतूँ तो कृतकृत्य हूँ, राम नामके युद्धमें शिर कटे तो भले कोई हर्ज नहीं ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

खोजी को डर बहुत है, पल पल पड़ै विजोग।
मन राखत जो तन गिरै, सो तन साहिब जोग ॥६६॥
भाव भालका सुरतिसर, धरि धीरज कर तान।
मन की मूठ जहाँ मुँड़ी, चोट तहाँ ही जान ॥६७॥

मालिकके खोजीको अनेकों भय रहते हैं, क्षण क्षणमें उससे मन माया वियोग करती रहती है, तो भी मालिकसे मिलनेकी टेकमें जो शरीर छूटता है वही स्वामीके योग्य होता है अर्थात् आत्म अनुसंधानमें शरीर पात होना मुमुक्षुका लक्ष्य है। स्वरूप लक्ष्यको वेधनेके लिये भावरूप धनुष पर सुरतिके बाणको धैर्य रूपी गुनको ताने रहै फिर मनकी मूठ जहाँ मुँड़ेगी वहें चोट जान अर्थात् वहें लक्ष्य विंध जायगा ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

धुजा फरूकै सुन्न में, बाजै अनहद तूर।
तकिया है मैदान में, पहुँचेगा कोय सूर ॥६८॥
कहै दरवारी बातरी, क्यों पावै वह धाम।
सीस उतारै संचरै, नाहि और को काम ॥६९॥

फिर गगनमें झण्डा फहराता है और अनाहत शब्दकी तुर्ही वजती है, युद्ध भूमिमेंही एकान्त स्थान है कोई शूरमा वहाँ पहुँचता है। वहाँके स्वामी कहते हैं वह धाम बातोंसे नहीं पा सकता जो धड़से शिर उतारता है वही वहाँ प्रवेश करता है औरोंका काम नहीं ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

लालच लोभ न मोह मद, एकल भला अनीह।
हरिजन ऐसा चाहिये, जैसा बन का सिंह ॥७०॥

रन रोही अति ही हुआ, साजन मिला हजूर ।
सूरा सूरा ठाहरा, भाजि गई भकभूर ॥७१॥

मायिक पदार्थ विषे लालच, लोभ बढ़ाके उसका मोह और गर्व करना भला हर्गिज़ नहीं, हरिजनको तो ऐसे अकेला स्वतन्त्र और निष्प्रेही रहना चाहिये जैसे वनका सिंह। कामादि शत्रुओंसे जब अत्यन्त लड़ाई चढ़ाई हुई तब प्रेमी प्रभु मिले तहाँ वीरही ठहरे भीरु सब भग गये ॥ ७० ॥ ७१ ॥

सब ही साथी कलतरो, धीर न बँधे कोय ।
भागा पीछै बाहुरै, ठाठ गुसाँई सोय ॥७२॥
खाँडा तिसको बाहिये, फिरि खाँड़े को देय ।
कायर को क्या बाहिये, दाँतौं तिनका लेय ॥७३॥

जब मौका आया तब सबही साथके तमाशे गिर बन गये किसीको धैर्य न रहा, भागकर पीछे आने पर वह केवल स्वामी का ठाठ यानी दृश्यमात्र होता है। तलवारका वार उसीपर करो जो लौटती वार दे, ऐसे कादरों पर वार व्यर्थ है जो स्वयं पशु बन रहे हैं ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

कोनै परा न छूटिहै, सुन रे जीव अबूझ ।
कबीर मँड़ मैदान में, करि इन्द्रियन सों जूझ ॥७४॥
इक मरिबो इक मारिबो, येही विषमा सिद्धि ।
ना वे कायर मरेंगे, चावे तरकस बिद्धि ॥७५॥

'ऐ अज्ञानी ! सुन, किसी प्रकार छुटकारा नहीं पायगा। कबीर गुरु कहते हैं इन्द्रियोंसे युद्ध करके ज्ञान मैदानमें निर्भय स्थिर रह। मार देना या मर मिटना यही तो विषम सिद्धि है,

वे कायर क्या मरेंगे, जो तरकस वेध मात्रसेही मर चुके हैं। भावार्थः—ज्ञानका काण्ड कृपाणकी धार है यहाँ शूराका काम है, कूरा का नहीं, वह क्या करेगा ? ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

कायर का घर फूस का, भभकी चहुँ पलीत।
सूरा के कछु डर नहीं, गज गीरी की भीत ॥७६॥
कायर बहुत पमावई, अधिक न बोलै सूर।
सार खलक कै जानिये, किहि के मुँहडै नूर ॥७७॥

कायरोंकी स्थिति फूँसकी झोपड़ी माफिक है जो कि चिनगारी लगतेही चारों ओरसे भभक उठती है लेकिन उस शूराको इसका कुछ भी भय नहीं जिसकी दीवार हाथीके चढ़नेसे भी नहीं टूटती, भाव है कि शूरा साधनको दृढ़ता है, निर्भय रहता है और साधनहीन कायरहर हालतमें डरता है॥ कायर अधिक प्रलापी होता है और वीर मतलबसे ज्यादा कदापि न बोलता, संसारियोंका स्वभाव लोहेकी तरह जानो जब तक अग्निमें है तभी तक लाल नहीं तो कालाका काला ॥

कायर सेरी ताकवै, सूरा माँडै पाँव।
सीस जीव दोऊ दिया, पीठ न आया घाव ॥७८॥
कायर भागा पीठ दे, सूर रहा रन माँहि।
पटा लखाया गुरू पै, खरा खजीना खाँहि ॥७९॥

साधन संग्राम भूमिमें चढ़के भी कायर भागनेका रास्ता ताकता है और शूर दृढ़ पाँव अड़ाके शिर, प्राण दोनों प्रभुको अर्पण कर देता किन्तु पीठ पर घाव नहीं आने देता॥ साधन संग्रामसे कायर पीछे भागता है और वीर अड़ा रहता है तथा

गुरुसे खरी कमाईके खोराक का पट्टा (टीका) लिखाया व लिखवा लेता है ॥ ७८ ॥ ७६ ॥

भागि कहाँ को जाइये, भय भारी घर दूर ।
वहुरि कवीरा खेत रहु, दल आया भरपूर ॥८०॥
भागे भली न होयगी, कहाँ धरोगे पाँव ।
सिर सौंपी सीधे लड़ौ, काहे करौ कुदाव ॥८१॥

ऐ पामर प्राणियो ! गुरुसे भागकर कहाँ जावोगे भागनेसे घर दूर और भय भारी होगा, कामादि शत्रुका दल आया तो आने दो लौटकर खेतमें डटे रहो । भागनेमें न भलाई है न स्थिति मालिकको शिर सौंपके निर्भय लड़ो कुदाव मत करो ॥

सति जो डरपै अगिन ते, सूरा सरहि डराय ।
हरिजन भागै भक्ति सों, देस दुनी ते जाय ॥८२॥
मानुस खोजत मैं फिरा, मानुस बड़ा सुकाल ।
जाको देखत दिल थिरे, ताका पड़ा दुकाल ॥८३॥

यहाँ समझ और विचारको ज़रूरत है, देखो यदि सती अग्निसे शूरा वाणसे भय खाय और हरिजन भक्तिसे भागें तो इन्हें ठौर कहाँ है, इस हालतमें ये उभयतो भ्रष्ट हैं ॥ इसलिये जैसे दिल मिलावो मनुष्यको मैं चाहता हूँ उसका बड़ा अभाव है यों तो मनुष्य बहुत हैं ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

सूर चढ़े संग्राम कूँ, पीछे पाँव न देह ।
साहिब लाजै भाजताँ, दृष्टि पड़ा तोहि देह ॥८४॥
सूर चढ़े संग्राम कूँ, पाँव न पीछा देह ।
सिर के साटै जूझहीं, अगम ठौर कूँ लेह ॥८५॥

शूर संग्रामको चढ़के पाँव पीछे कदापि नहीं देते वे भागनेमें अपनी और मालिककी लज्जा समझते हैं। मालिक तो दृष्टि मात्रसे रक्षा करतेही हैं, फिर वे पीछे क्यों हटें वे तो शिरके बलसे लड़ते और अविचल धामको पाते हैं ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

सूरा सोई जानिये, पाँव न पीछे पेल।
आगे चलि पीछा फिरै, ताका मुख नहिं देख ॥८६॥
देखा देखी सुर चढ़ै, मर्म न जानै कोय।
साँई कारन सीस दे, सूरा जानौ सोय ॥८७॥
सिर साँटे का खेल है, सो सूरन का काम।
पहिले मरना आग में, पीछे कहना राम ॥८८॥

जो पाँव तक पीछे नहीं देखता उसीको शूर जानो और जो आगे चलके पीछे मुड़ता है उसका मुँह हर्गिज न देखो। रहस्य समझे बिना बहुतेरे शूरामें नाम लिखाते और साधन संग्राममें चढ़ते हैं परन्तु जो मालिकके वास्ते शिर समर्पण करता है उसीको शूरा जानो ॥ शिरके बल लड़ना शूरोंका काम है, यहाँ पहिलेही साधन अग्निमें जलना होता है। राम कहना पीछे होता है अर्थात् शम दमादि पहिले साधो पीछे रामराम जपो ॥

हरि का गुन अति कठिन है, ऊँचा बहुत अकत्थ।
सिर काटी पग तर धरै, तब जा पहुँचे हत्थ ॥८९॥
ऊँचा तरवर गगन फल, पँखी मूआ झूर।
बहुत सयाने पचि गये, फल लागा पै दूर ॥९०॥

प्रभुका गुण अति दुर्लभ एवं अगाध और अकथनीय है, तब शिर उतारके पग तर धरै तब हाथ वहाँ पहुँचता है ॥ गगनरुपी वृक्षमें परमार्थरूप फल लगा है किन्तु सांसारिक

विषय फल भोगी मन पक्षी तो उससे सूखाही मर गया, गुरु-सत्संग विमुखताके कारण बड़े बड़े सयाने अति दुर्लभ फल कहके मर मिटे प्राप्त नहीं किये ॥ ८९ ॥ ९० ॥

दूर भया तो क्या भया, सिर दे नियरा होय ।
जब लग सिर सौंपे नहीं, चाख सकै नहिं कोय ॥९१॥
दूर भया तो क्या भया, सतगुरु मेला होय ।
सिर सौंपे उन चरण में, कारज सिद्धी होय ॥९२॥

दूर होनेमें तो कोई हर्ज नहीं, शिर समर्पणसे नज़दीक हो सकता है किन्तु इसके विना कोई चाख भी नहीं सकता है ॥ सद्गुरुसे मिलकर उनके चरणोंमें शीश समर्पण किये बाद कोई कार्य असिद्ध नहीं रहता सर्व सुलभ हो जाता है ॥९१॥९२॥

कबीर साँचा सूरमा, कबू न पहिरे लोह ।
जीवन के बंध खोल के, छांड़ै तन का मोह ॥९३॥
कठिनाई कछु है नहीं, जो सिर बदले लेह ।
राम नाम नहि छाँड़िये, जो सिर करवत देह ॥९४॥

ऐ कबीर ! सत्य सन्ध वीर पुरुष शरीर रक्षा निमित्त बक्तर कदापि नहीं पहिनते किन्तु मालिक के वास्ते शरीर का मोह त्यागकर सर्वाङ्ग खुले लड़ते हैं ॥ उन्हें कोई मुश्किल नहीं, यदि शिरके बदले भी प्रभु मिल जाय । चाहे शिर पर आरा क्यों न चले वे रामका नाम हर्गिज़ नहीं छोड़ सकते ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

मारग कठिन कबीर का, धरि न सकै पग कोय ।
आय चले कोइ सूरमा, जा धड़ सीस न होय ॥९५॥
रन जँग बाजा बाजिया, सूरा आये धाय ।
पूरा सो तो लड़त है, कायर भागै जाय ॥९६॥

यह बिकट मार्ग पूर्ण जिज्ञासुओंका है इसपर दूसरा कोई पाँव भी नहीं दे सकता, जिसके धड़ पर शीश नहीं है वैसा कोई शूरा आ चढ़ता है। ज्योंही जुझाऊ बाजा संग्राम भूमिमें बजा त्योंही शूरा दौड़ि आये। और जो पूरा है वह तो लड़ता है और भीरु भागे जाता है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

रग पग टोपी सब कसी, रन कूँ चलै बजाय।
फिरफिर भवनचितावई, याना बिरद लजाय ॥६७॥
कायर का काचा मता, घड़ी पलक मन और।
आगा पीछा है रहै, जागि मिलै नहि ठौर॥६८॥

यों तो सब ही सब अंगमें युद्धका पोशाक पहिन लिये और रण सिंहा बजाके रणको चल पड़े किन्तु जो बार बार घरकी ओर देखता है वह वेषके यशको शर्मिन्दा करता है॥ कायरों की अदृढ़ प्रतिज्ञा होती है, उनका दिल क्षण २ में और का और हुआ करता है इस वास्ते उन्हें कोई यशस्वी ठौर नहीं मिलतो।

कायर कचरी बैठि के, मूछाँ मरड़ै मरड़।
सूरा तब ही जानिये, निकसे सरड़ै सरड़ ॥६६॥
सूरा कायर दुइ भला, एक जीव इक प्रान।
सूर मचावै मामला, कायर देवै जान ॥१००॥

कायर घर बैठे केवल मूँछे मरड़ते और प्रलाप करते हैं, शूरा तो तबही कहा जा सकता है जब कि घरसे निकल कर एकदम रणभूमिमें उतर पड़े। शूरा और क्रूरा ये दोनों इस प्रकार भले हैं कि रण पाके दोनों ही जान देते हैं, भेद इतनाही रहता है कि एक शूरोंके साथ युद्ध करके और एक युद्धको देखते ही कृष्ण और शुक्ल पक्षके सदृश यश अपयशके भागी होते हैं॥ ६६ ॥ १०० ॥

सूरा सबहि निकसिया, बाना पहिरि अनेक ।
साहिब के सुख कारनै, मूआ कोई एक ॥१०१॥
साधू सब ही सूरमा, अपनी अपनी ठौर ।
जिन ये पाँचौ चूरिया, सो माथे का मौर ॥१०२॥

शूर कहलानेके लिये अनेकों हथियार बाँधके सबही निकले किन्तु मालिकके हितके वास्ते कोई एक ही प्राण अर्पण किया व करता है। यद्यपि अपने २ स्थान पर साधु सबही बड़े हैं, तथापि सबमें श्रेष्ठ वे ही हैं जो पंच इन्द्रिय रूप शत्रुओंको वश में किये व करते हैं ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

सूरा सो सनमुख लड़ै, देखि धनी की प्रीति ।
जीता जानै जगत कूँ, जक्त न जानै रीति ॥१०३॥
कबीर चढ़ै सिकार को, हाथै लाल कमान ।
मूरख नर सो रहि गये, मारे संत सुजान ॥१०४॥

वही शूरा है जो मालिकके सुख देखकर संमुख लड़ता है। जीत, हारमें पड़ा हुआ जगज्जीव इस भावको नहीं समझता। परमार्थ रूप लक्ष्य बेधनेके वास्ते जिज्ञासु जन ध्यान धनुष ज्ञान बाण हाथमें लैके चढ़ चले किन्तु मूर्ख नर सोचते ही रह गये, सन्त लक्ष्य बेध लिये ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

कायर काम न आवई, ये सूर का खेत ।
हाथ पाँव बिन जूझना, काया सीस समेत ॥१०५॥
जो मूआ गुरु हेत सूँ, ताकूँ बूम न वार ।
साधू साहिब ह्वै रहा, माय रही सिर मार ॥१०६॥

शूरोंके मैदानमें कायरोंका कार्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि

यहाँ बिना हथियारके धड़, शिर सहित युद्ध करना होता है ॥ जो सन्त गुरूपदेशके वास्ते शिर समर्पण किये उनका कुछ भी हानि नहीं हुई, बल्कि वे प्रभु रूप बन गये और माया झख मारके रह गई ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

जो मूआ हरि हेत में, कोई न बूझै सार ।
हरिजन हरि सा ह्वै रहा, माया रही सिर मार ॥१०७॥
सिर साटै का खेल है, छाँड़ि देय सब बान ।
सिर साटै साहिबमिलै, तोहु हानि मति जान॥१०८॥

अज्ञानी कोई इस सार रहस्यको न किसीसे बूझता न स्वयं समझता है, इसे तो जो प्रभुको शिर सौंपा वही प्रभु रूप होके जाना और माया झख मारके इलाहिदा रह गई॥ ऐ जिज्ञासुओं! यह शिर बदले शूरमाओंकी बाज़ी है, इसलिये फद्दई आदत सब छोड़ दे, अरे! शिर बदले भी मालिक मिलै तौ भी नुकसान मत समझो ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

धीरा ह्वै धमका सहै, ज्यौं अहरनका घाव।
सिर के साटै जब लड़ै, कबहूँ काज न खाव॥१०९॥
धनुक बानकी चोट है, पानी का परसंग ।
जिनकूँ लागी होयसी, तिनकूँ औरहि रंग ॥११०॥

धैर्य पूर्वक गुरु दरबारमें पड़ा रहे और निहाईकी तरह गुरु-शासनकी चोट खाया करे' सबसे सेवक धर्म कठोरा"ऐसा जानके जब शिर बलसे लड़े तब वह अपने कार्यमें धोखा कभी न खा सकता है। गुरु-शासन रूप धनुष बाणका निशाना मानो जल पर निशानेके समान है, यह निशाना जिन्हें लगा व लगता है, उनका और ही रंग हुआ व होता है ॥ १०९ ॥ ११० ॥

रन रहै सूरा भये, सूर भये जो सूर।
सूरा पूरा रहि गये, भागि गये सब कूर ॥१११॥
सूरा खांड़ा जो गहै, जब रन बाजै तूर।
सीस पड़ै तो धड़ लड़ै, तब तू साँचा सूर ॥११२॥

जो रणमें स्थिर रहे वेही शूर भये जो शूर हैं वेही शूर होते हैं, पूरे शूर रह गये और अधूरे कूर सब भग गये। जो वास्तविक शूर हैं वे रण सिंहा बजाते ही हथियार पकड़ते हैं, जिनके शिर कटनेपर भी धड़ लड़ै उसीको सच्चा शूर समझना।

सबै कहावै लस्करी, सब लस्कर कूँ जांय।
सेल धमक्का जो सहै, खरा मुसारा खाय ॥११३॥
जूझै ते नर भागिया, लिया पीठ पर घाव।
जागीरी सब ऊतरी, धनी न कहसी आव॥११४॥
जूझै ते नर जूझिया, लिया सीस पर घाव।
जागीरी दूनी भई, दिया सीस पर पाव ॥११५॥

सब ही लश्करी कहलाते और/ लश्करमें दाखिल होते हैं किन्तु जो तलवारका वार सहारता है वही सच्ची तनख्वाह खाता है। और जो युद्ध होते ही भागकर पीठ पर घाव लेता है, उसकी वर्षाशन जागीरी सब छिन जाती और मालिक मुख से आनेको भी नहीं कहता। और जो लड़वइयासे लड़के शीश परघाव खाता है उसकी जागीरी (मुआफ़ी) दूनी हो जाती और वह सबमें सरदार भी होता है ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

कोइ मारै तिर तोप सूँ, होत दुवादस घाव।
कबीर मारै सब्द सूँ, तल मूड़ी पर पाव ॥११६॥

मनतरकस तन तोपसी, सुरति पलीता लाय।
करो भड़ाका नामका, कालकुबुध उड़िजाय॥११७॥

किसीके तीर तोपकी मारसे वार पार घाव होता है और यहाँ कबीर गुरुकी शब्द मार ही से नखसे शिखा पर्यन्त छिद जाता है। मनका भाथा और शरीरका तोप एवं ध्यानकी वत्ती जलाके प्रभु नामका भड़ाका फोड़ो जिससे कुबुद्धि रूपी काल उड़ जाय॥ ११६॥ ११७॥

सूर लड़ै गुरु दाव से, इक दिस जूझन होय।
जूझै बीना सूरमा, भला न कहसी कोय॥११८॥
सूरा तो बहुतक मिले, घायल मिला न कोय।
घायल कूँ घायल मिले, राम भक्ति दृढ़ होय॥११९॥

जो शूरमा है वह गुरुके दावसे लड़ता है, एक तरफी युद्ध होता है क्योंकि विना युद्धके अच्छा वीर कौन कहेगा? यों तो नाम मात्रका शूरा बहुतेरे मिले व मिलते, हैं और घायल कोई नहीं, परन्तु राम भक्तिमें दृढ़ता और मज़ा तो तब ही आता है जब घायलको घायल मिलता है॥ ११८॥ ११९॥

बाहिर घाव दिसै नहीं, पड़ा कलेजे घाव।
वाकूँ औषध का करै, घायल जीवै नांहि॥१२०॥
बान तीरछा भेदिया, लागा भल का सार।
भरम बकतर भेदिकर, निकसि गया भौ पार॥१२१॥

शब्द भालाका घाव बाहर नहीं दीखता वह तो हृदयमें शालता है, उसका इलाज कोई क्या करेगा वह ऐसा घायल है कि संसारके लिये नहीं जो सकता। उसका हृदय ऐसा बाँका

बाण और लोहेकी बर्छी से छिदा है कि भ्रम रूपी कवचको भेद कर वार पार निकल गया है अतः वह संसार से अलग हो गया ॥ १२० ॥ १२१ ॥

लागा भलका नामका, रही गया उर माँहि ।
लागा ताकूँ सालसी, औरों कूँ गम नाँहि ॥१२२॥

प्रभु-ज्ञानको बर्छी लगी और हृदयमें रह गई, वह जिसे लगी उसीको करकती है औरोंको इसकी गति नहीं ॥ १२२ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
शूरमाको अङ्ग समाप्त ॥ २४ ॥

अथ स्वारथको अंग ॥२५॥

स्वारथ का सबको सगा, सारा ही जग जान।
बिन स्वारथ आदर करै, सो नर चतुर सुजान॥१॥
निज स्वारथ के कारनै, सेव करै संसार।
बिन स्वारथ भक्ति करै, सो भावै करतार॥२॥

सारे संसार अपने मतलबके सम्बन्धी हैं अर्थात् जगज्जीव सब मतलबी है, पर बिना स्वार्थ जो प्रेम करता है वह मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञानी कहलाता है॥ यों तो सारे संसार अपने मतलब पूर्ति सेवा करता है परन्तु प्रभुको वही सुहाता है जो बिना स्वार्थ भक्ति करता है॥ १॥ २॥

स्वारथ कूँ स्वारथ मिले, पड़ि पड़ि लूँबा लूँब।
निस्प्रेही निरधार को, कोय न राखै भूँब॥३॥
माया कूँ माया मिले, कर कर लम्बे हाथ।
निस्प्रेही निरधार को, गाहक दीनानाथ॥४॥

मतलबीसे मतलबी खूब झुक झुकके मिलते हैं और निराधार निस्प्रेहीको तो कोई बचनसे भी सत्कार नहीं करता। माया धारियोंसे मायाधारी हाथ फैला फैला कर मिलते हैं और निस्प्रेही निराधारको तो केवल अनाथोंके नाथही प्रेमी हैं। ३-४

माया कूँ माया मिले, लम्बी करके पाँख।
निरगुन को चीन्हैं नहीं, फूटी चारों आँख॥५॥

संसारी से प्रीतड़ी, सरै न एकौ काम।
दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम॥ ६ ॥

मायावियोंसे मायावी दूरहीसे अंकवार फैला फैलाकर भेंटते हैं, इन्हें त्रिगुण माया रहित आत्म तत्वका ज्ञान नहीं है ये विवेक चक्षु रहित चौपट हैं। माया धारियोंसे प्रेम करनेमें कार्य एक भी सिद्ध नहीं होता, दो चित्तमें व्यवहार परमार्थ दोनोंका सत्यानाश होता है॥ अतः परम प्रयोजन कार्य सिद्धिके लिये एकको पकड़ना चाहिये ॥ ५ ॥ ६ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
स्वारथको अङ्ग ॥ २५ ॥

अथ परमारथको अंग ॥२६॥
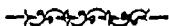
परमारथ पाको रतन, कबहुँ न दीजे पीठ।
स्वारथ सेंभल फूल है, कली अपूठी पीठ ॥ १ ॥
मरूँ पर माँगूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने, मोहि न आवै लाज ॥ २ ॥

जिससे संसारका कल्याण हो ऐसे पर उपकारको पक्का रत्न समझो इससे विमुख हर्गिज़ न हो और जिससे फ़क़ अपनाही मतलब सिद्ध हो उसे देखने मात्र सुन्दर गन्ध रहित सेमरके पुष्प जानो जिसकी कली उल्टी अपनी तरफको खिलती है ॥ अपने शरीर निर्वाहके लिये याँचनेसे मुझे मरनाही अच्छा प्रतीत होता है किन्तु परोपकारार्थ मुझे लज्जा नहीं आती ॥१-२॥

प्रीत रीत सब अर्थ की, परमारथ की नाँहि।
कहैं कबिर परमारथी, बिरलाको(य)कलि माँहि॥३॥
सुख के संगी स्वारथी, दुख में रहते दूर।
कहैं कबिर परमारथी, दुख सुख सदा हजूर ॥४॥

सांसारिक प्रीतिकी प्रथा सब स्वार्थ व द्रव्य की है परमार्थ की नहीं, कबीर गुरु कहते हैं कलियुगमें परमार्थी बहुत कम हैं। सुखका साथी सदा स्वार्थी होता है जो दुःख आतेही दूर हो जाता है, परमार्थी जीव हर हालतमें हाज़िर रहता है ॥ ३॥४॥

जो कोप करे सो स्वारथी, अरस परस गुन देत।
बिन किये करै सो सुरमा, परमारथ के हेत ॥५॥

आप स्वारथी मेदिनी, भक्ति स्वारथी दास।
कबीर जन परमार्थी, डारी तन की आस॥६॥

जो परस्पर अन्योऽन्य उपकारी है वह स्वार्थी है परमार्थी वह है जो बिना किये कुछ परमार्थ करता है उसीको शूरमा भी कहते हैं। जैसे पृथिवी स्वार्थवश अपनी ओर सबको खैंचती है तैसे भक्तिके स्वार्थी सेवक अपनी ओर सबको झुकाते हैं किन्तु परमार्थी वे हैं जिसने अपने तनकी भी आशा छोड़ दी है ॥ ५ ॥ ६ ॥

स्वारथ सूका लाकड़ा, छाँह विहूना सूल।
पीपल परमारथ भजो, सुख सागर को मूल॥७॥
धन रहै न जोवन रहै, रहै न गाँव न ठाँव।
कबीर जग में जस रहै, करदे किसिका काम॥८॥

संसारमें स्वार्थ छाँह रहित सूखे लकड़ेके सदृश कण्टक मात्र है, सदा बहार छायादार पीपल वृक्षके समान परोपकार-की शरण जो स्व, पर आनन्द सिन्धुका कारण है। धन धाम और यौवन गाम ये सब नाशमान हैं, कबीर गुरु कहते हैं संसारमें एक स्थिर यशही है जो किसीका कार्य परमार्थ रूपसे सिद्ध कर दो ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
परमारथको अङ्ग ॥ २६ ॥

अथ विपर्ययको अङ्ग॥ २७॥

साँझ पड़ी दिन ढलगया, बाघन घेरी गाय।
गाय विचारी ना मरे, बाघ न भूखा जाय॥१॥

यद्यपि जीवन रूप सूर्यके अस्त होने (वृद्धावस्था आने) पर मानो आयुः रुपी दिन पूर्ण सा हो गया, और इस हालत में काल रूप सिंहने आत्मा रूप गौको मारनेको मुस्तैद हो गया तौ भी आत्मा रूप गौ अविनाशी होनेसे नहीं मरती और प्राण वियोग रूप खोराकसे काल रूप सिंह भी भूखा नहीं रहता। यही आश्चर्य है कि इस आश्चर्य लीलाका पात्र अज्ञानी लोग सदासे बने हैं॥ १॥

पापी को दोजख नहीं, धरमी दोजख जाय।
यह परमारथ बूझि के, मति कोय धरम कराय॥२॥
पाँच पचीसों मारिया, पापी कहिये सोय।
या परमारथ बूझि के, पाप करैं सब कोय॥३॥

पापी नरकमें नहीं जाता और धर्मी नरकमें जाता है, इसका मतलब किसी विवेकी सन्तोंसे जानकर धर्मके बदले पाप ही सबको करना चाहिये। परन्तु पाप है क्या! सुनिये। पंच ज्ञानेन्द्रिय और पचीस प्रकृतियोंको विषयोंकी ओरसे मारने (वश करने) वालेको पाप तथा कर्त्ता को पापी कहते हैं यही इसका उत्तम अर्थ है, इस उलट मासी अर्थको समझकर इस प्रकारका पाप कर्म सबको करना उचित है॥ २॥ ३॥

आपा मेटै हरि मिलै, हरि मेटै सब जाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कोई नहिं पतियाय ॥४॥

यद्यपि नश्वर देह, गेहादिमें जो अहन्ता, ममता रूप आपा है उसे त्यागनेसे प्रभु मिलते हैं और अविद्या-अन्धकार हारी हरि (गुरु) से विमुख होने पर कुछ भी नहीं रह जाता, तथापि इस अजब प्रेम कहानी पर कोई प्रतीत नहीं करता ॥४॥

घर जारैं घर ऊबरैं, घर राखै घर जाय।
एक अचंभा देखिया, मुआ कालको खाय ॥५॥

ज्ञान साधनमें उपाधी रूप मायावी घरको जलाने (अर्थात् छोड़ने) से आत्म स्थिति रूप घरका उद्धार होता है। और उसकी रक्षामें आत्मज्ञान स्थितिकी रक्षा नहीं होती। यह एक विचित्र आश्चर्य देखा गया है कि, मिथ्या वर्णाश्रमकी अहन्ता ममता रूप जीवनसे मुर्दा मन मृत्युको भी मार डालता है ॥५॥

तिल समान तो गाय है, बछुड़ा नौ नौ हाथ।
मटकी भरि भरि दुहिलिया, पूँछ अठारह हाथ ॥६॥

गायत्री रूपी गाय तो अति सूक्ष्म तिलके सदृश है किन्तु अर्थ विस्तारक शब्द सिद्धिके लिये उसके व्याकरण रूप बछड़े नौ २ हाथके लम्बे हैं। जिससे अर्थ रूप दूध, काव्य कोषादिरूप मटकोंमें यथेष्ट दूहा गया है, और उसकी पूँछ पूजाके लिये अठारह पुराण रूपमें आज भी प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

झाल उठी झोली जली, खपरा फूटम फूट।
जोगी था सो रमि गया, आसन रही भभूत ॥७॥

विवेकी सन्तोंके मनोविकार रूप झोली सब ज्ञान अग्निदीपक रूप झालके प्रदीप्त होते ही भस्म हो जाते। और प्रारब्ध भोग

के क्षय होनेसे अब देह रूप खपरा भी छिन्न भिन्न हो अपने २ तत्वोंमें मिल जाते हैं। और जाग्रत जीव रूप जोगी जो था वह चित्स्वरूपमें विश्राम करने लगा। अब तो केवल उनका ज्ञान रहस्य रूप भभूत ही संसारी जीवोंके जन्मादि रोग दूर करनेके लिये संसार रूप आसन पर शेष है ॥ ७ ॥

आग जु लागी नीर में, कादौं जरिया झार।
उत्तर दिसिका पंडिता, रहा विचार विचार ॥८॥

अन्तःकरण रूप नीरमें ज्ञान पलीता लगते ही संचित कर्म रूप कीचड़ सब क्षार हो गये। अनन्तर ज्ञानी पुरुष षड्विकार रूपी देहरहित विदेह मुक्त हो गये। किन्तु उत्तरायण सूर्यकी उपासना करने वाले पण्डित लोग तो उसीके विचार ही में रह गये ॥ ८ ॥

धौं लागी सायर जले, पंखी बैठे आय।
दाधि देह न पालि है, सतगुरु गये लगाय ॥९॥

मुमुक्षुके हृदय-सागरमें ज्ञानाग्निके लग जानेसे मन पखेरु जो प्राण पिण्डके संयोगमें आ बैठा था वह जल मरा। जिसको सद्गुरुने यह ज्ञानाग्नि लगा दी वह अपने जले शरीरको प्रारब्ध भोगसे अधिक संसारिक भोगोंसे पोषण हर्गिज़ नहीं करता॥९॥

जल दाझा चीखल जला, बिरहा लागी आग।
तिनका बपुरा ऊबरा, गल पूला के लाग ॥१०॥

जब हृदय रूप जलमें ज्ञान विरह रूप अग्नि लगी तब मनो-विकार रूप चीखल (कीचड़) सब भस्म हो गये। इस हालत में केवल गलपूला अर्थात् सद्गुरुकी शरणमें आ जानेसे तिनका रूप जीव बेचारेका उद्धार हो गया ॥ १० ॥

आहेरी धौं लाइया, मिरग पुकारैं रोय।
जा वनमें की लाकड़ी, दाझन है वन सोय ॥११॥

आहेरी अर्थात् सद्गुरुने जिज्ञासुओंके हृदय रूपी जंगलमें ऐसी ज्ञानाग्नि लगाई कि इन्द्रिय रूप मृगने अपनी रक्षा निमित्त रो रोकर गोहार करने लगों तो भी न बच सकीं बल्कि उक्त जंगलको विकाररूपी लकड़ी सहित वह संसार रूप जंगल भी जल गया ॥ ११ ॥

पानी माहीं परजली, हुई अपरबल आग।
वहती सरिता रह गई, मच्छ रहै जल त्यागि ॥१२॥

जिज्ञासुके हृदय रूपी पानीमें सद्गुरुका उपदेश रूप ज्ञानाग्नि ऐसी अपरिमित प्रदीप्त हुई कि हद वेहद दोऊ पद जल गये और विषयादिमें वहती हुई सरिता रूपी वृत्ति भी एक दम रुक गई। तदनन्तर मन रूप मच्छ भी विषय रूप जलको त्यागकर सत्संग सागरका रस पान करने लगा ॥ १२ ॥

नदिया जलि कोइला भई, समुंदर लागी आग।
मच्छी विरछा चढ़ि गई, ऊठ कबीरा जागि ॥१३॥

सद्गुरुका ज्ञान रूप अग्नि मुमुक्षुके हृदय सागरमें ऐसी प्रज्वलित हुई कि सांसारिक जीवनकी आशा रूपी नदी जलकर खाक हो गई। और उसकी वृत्ति रूप मच्छी सचेत होकर अखण्डात्म रूप वृक्ष पर चढ़ गई ॥ १३ ॥

पंछी उड़ानी गगन को, पिंड रहा परदेस।
पानी पीया चोंच विन, भूलि गया वह देस ॥१४॥

जब अन्तःकरण की वृत्ति रूपी पक्षी पिण्ड को छोड़कर

ब्रह्माण्ड (चेतन स्वरूप) को चढ़ी तब पिण्ड मानो परदेश हो गया और वहाँ बाह्य इन्द्रिय रूप चोंच बिना ही एकान्त स्थिति रूप रसामृतका ऐसा पान किया कि उसको पिण्ड देश बिल्कुल भूल ही गया ॥ १४ ॥

आकासे औंधा कुवा, पाताले पनिहार ।
जल हंसा कोय पीवई, विरला आदि विचार ॥१५॥

ब्रह्माण्डमें एक नीचे मुखका कूप है जिससे सदा अमृत झरता है । उस अमृत जलको भरने वाली कुण्डली शक्ति रूपी पनिहारी पाताले नाम नाभी स्थान में रहती है, और उस अमृत रसको पी लेती है । अनभिज्ञ इससे सदा विमुख रहता है, कोई विरले गुरुमुखी हंस अखण्ड आदि स्वरूपके विचार से उस अमृत रसका पान करते हैं ॥ १५ ॥

सिव सक्ति मुखको जुवैं, पच्छिम दिसि उठे धूर ।
जलमें सिंघ जो घर करै, मछरी चढ़ै खजूर ॥१६॥

सत्संगियों के मन रूप शिव और मनसा रूपी शक्ति तब मुखको जुवैं अर्थात् लय (अन्तर्मुख) को प्राप्त होती है, जब पच्छिम दिशि उठे धूर नाम पृष्ठ भाग (मेरु दण्ड) में नाभीसे उठके प्राणोंका प्रवेश होता है या आत्मकी ओर ध्यान होता है । और जीव रूप सिंह तब ही जलमें यानी सद्गुरु ज्ञान रूप रसामृत कुण्डमें घर (स्थिति) करता है जब कि इसकी वृत्ति रूपी मछली खजूर सदृश ऊँचा सद्गुरुके देशमें पहुँच जाती है।

जिहि सर घड़ा न बूड़ता, मैंगल मैलि मालि न्हाय।
देवल बूड़ा कलस सों, पँछि पियासा जाय ॥१७।

सद्गुरुके सत्संग बिना प्रथम जिस स्वरूपानन्द सिन्धुमें

मन रूप घड़ा तनिक भी प्रवेश नहीं करता था अब सद्गुरुकी कृपासे वही मन हस्तीको तरह ऐसा विलासाशक्त हुआ अर्थात् ऐसी डुबकी लगाई कि उससे निकलना मुश्किल हो गया। और देह या संसार रूप देवल भी कलस भर जलसे ही सम्पूर्ण सराबोर हो गया, परन्तु विषय लम्पट मन रूप पक्षी तो पियासा ही रह गया वह आनन्द का लाभ कुछ भी न लिया ॥ १७ ॥

चोर भरोसैं साहु के, लाया वस्तु चोराय।
पहिले बाँधो साहु को, चोर आप बँधि जाय॥१८॥

मनरूप चोर शरीररूप साहुकी सहायतासे दूसरेकी वस्तु चोरा लाता है अर्थात् शरीरकेहीं सहारे मन भला बुरा कर्म करता है इस वास्ते प्रथम शरीररूप साहुकोही निग्रह करना चाहिये। फिर तो मनरूप चोर आपही पकड़में आ जायगा।

चोर भरोसै साहु के, वस्तु पराई लेय।
जब लग साह न बाँधई, चोर वस्तु नहिं देय॥१९॥

शरीर साहुके उपभोगके वास्तेही मनरूप चोर मायिक पदार्थका संग्रह करता है। अतएव जब तक शरीरको कब्ज़ामें न किया जायगा तब तक मन चोरीसे मुख नहीं मोड़ेगा ॥१९॥

भँवरा बारी परिहरी, मेवा बिलँवा जाय।
बावन चन्दन घर किया, भूलि गया बनराय ॥२०॥

सद्गुरु सत्संगसे मन भ्रमरने अब तुच्छ विषय बागका विहारको छोड़कर मेवारूप अखण्ड स्वरूपानन्दमें स्थिर हो गया। और बावन नाम सब तरफसे वृत्ति संकुचित व सूक्ष्म करके शीतल चन्दनके समान शान्त चित्स्वरूपहीमें निवास स्थान बना लिया और संसार महा बनको बिसार दिया ॥२०॥

एक दोस्त हमहू किया, जिहि गल लाल कबाय।
सब जग धोबी धोय मरे, तो भी रंग न जाय॥२१॥

हमने एक ऐसा सुहृद मित्र बनाया जिसके कण्ठमें अखण्ड मित्रताकी लाली भलक रही है। उसको मिटानेके लिये जगज्जीव सब धोबी बने और बहुतेरे कोशिश किये तो भी उसका स्नेह रंग नहीं गया। अर्थात् निग्रह मन जब चित्स्वरूपसे प्रीति कर स्थिर हो जाता है तब वह किसी तरह भी अलग नहीं होता, चाहे कोई कुछ करे ॥ २१ ॥

बगुली नीर बिटारिया, सायर चढ़ा कलंक।
और पखेरु पीबिइया, हंस न बोरै चंच॥२२॥

यद्यपि पामर जीवोंकी वकवृत्तिने निर्मल चेतन ज्ञानरूप नीरको बिगाड़ दिया इसी कारण साधनरूप सब रत्नोंके खानकी तरह नरदेह रूप सागर भी कलंकित हो गया तथापि वक वृत्ति वाला विषयी पामर भले तुच्छ विषय रसको पान करें परन्तु जो नीर क्षीरके निर्णय करनेवाले सन्त हंस हैं ये तो उसमें कदापि न वृत्तिरूप चंचुको डुबोवेंगे ॥ २२ ॥

जल में अँन जो ना चुरै, घृतमें पाक न होय।
कहैं कबिरया साखि को, अर्थ करै सब कोय॥२३॥

मायारूप जलमें अविकारी आत्म रूप अन्न विकृति भावको प्राप्त हर्गिज़ न होता तथा मायाके गुणरूप घृतमें भी किसी प्रकारका विकार नहीं होता। कबीर गुरु कहते हैं कि इस साखीका अर्थ सरल है सब कोई कर सकते हैं ॥ २३ ॥

तीन गुनन की बादरी, ज्यों तरुवर की छाँहि।
बाहर रहै सो ऊबरै, भींजै मन्दिर माँहि॥२४॥

त्रिगुणात्मक मायारूपी बदलीकी छाया देखे स्थिर नहीं रहती है जैसे वृक्षोंमें बड़ा वृक्ष ताड़की छाया। जो इस मायाकी छायासे अलग रहते हैं वे तो मायारूपी वृष्टिसे बच जाते और जो अन्दर रहते हैं वे अवश्य भीजते हैं। पहले २३ वीं साखीमें यह कह आये हैं कि माया और मायाके गुणोंसे जीवात्मा विकार भावको प्राप्त नहीं होता अब इससे विकारी ठहराते हैं ऐसा प्रतीत होता है तहाँ भाव यह है कि यद्यपि चिदात्मा अविकारी अखण्ड है तथापि मायाके संग आसक्त होने और अखण्ड स्वरूपको विस्मृत होनेसे निर्भय नहीं रहता यथा:—

"जीव सोई जो जुग२ जीवे। उतपति परलय माहीं।
देह धरे भुगुते चौरासी। निर्भय कतहुँ नाहीं "॥२४॥

ऐसी ब्याई सो तुई, बेस्या सों रहि पेट।
सगो ससुर पाँयन पर्यो, भइ सतगुरु सों भेट॥२५॥

सुमतिरूपी ब्याही स्त्रीका सो तुई नाम गर्भ चू जानेसे ज्ञानरूप सन्तानका नाश हो जाता है और कुमतिरूपी वेश्याके गर्भ टिकनेसे अनेक अनर्थोका कारण अज्ञानरूप पुत्र उत्पन्न होता है; परन्तु जब सद्गुरुसे मिलाप होता है तब अहंकाररूप श्वशुर और अज्ञानरूप पुत्र दोनोंही चरणोंमें आ. गिरते हैं। अतः सद्गुरु सत्संग अवश्य कर्त्तव्य है ॥ २५ ॥

सूम सदा ही उद्धरै, दाता जाय नरक।
कहैं कबिर यह साखि सुनि, मति कोय जाव नरक॥२६

वीर्य संचय करनेवाले वशी पुरुष सन्तोंको संसारसे उद्धार होता है और अनिग्रही दाता कामी पुरुषको वीर्य दानसे नरक होता है। कबीर गुरु कहते हैं इस साखीको सुनकर दृढ़ सूम बनो दाता मत कोई बनो ॥ २६ ॥

दाता नरक सूम वैकुंठे, मच्छर अजर जरै।
कबीर साखी कठिन है, हिरदे रसै तब अर्थ करै॥२७॥

जो वीर्यका दाता कामी पुरुष है वह नरक यानी अधोगतिको जाता है और सूम अर्थात् वीर्यका संरक्षक ब्रह्मचारी सन्त वैकुण्ठ ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है जब कि वह मच्छर अजर नाम नहीं जलनेवाला कुढ़न स्वभावको जला देता है। कबीर गुरु कहते हैं यह साखी कठिन है जब इसका अर्थ हृदयमें प्रवेश होता है तबही वह अर्थ करता है अर्थात् मत्सरताको जलाकर ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठासे अलभ्य गतिको प्राप्त होता है॥

वैसन्दर जाड़े मरै, पानी मरै पियास।
भोजन तो भूखा मरै, पाथर मरै हगास॥२८॥

कामनारूप वैसन्दर (अग्नि) का दमन क्षमा रूप जाड़से और तृष्णारूपी पियासका शमन निर्मल ज्ञानरूप पानीसे होता है। एवं इन्द्रिय भोगरूप भोजनकी उपरामता स्वरूप ज्ञानकी जिज्ञासारूप भूखसे और जड़ बुद्धिवाले अन समझोंका निग्रह ताड़नरूप हगाससे होता है ॥ २८ ॥

नलिनी सायर घर किया, दौं लागी बहु तन्न।
जल ही माँहीं जलि मुई, पूरब जन्म लखन्न॥२९॥

जैसे चन्द्रविकाशी नलिनी सूर्य तापसे प्रसन्न नहीं होती तैसेही जीवात्माको शरीररूप सायरमें घर-नाम आसक्ति होनेसे शरीर जन्य त्रिविधि तापरूप दौं (दावाग्नि) से संतपित होना पड़ता है। यद्यपि वह अग्नि शरीररूप जलसे उत्पन्न हो शरीरके साथही नाशको प्राप्त होती है तथापि सद्गुरु सत्संग विना इस रहस्यको अज्ञानी लोग नहीं लखते इस वास्ते पूर्व जन्मके

संस्कारसे बारम्बार ऊँच नीच सकाम कर्मसे शरीर निर्माण किया करते हैं, वासना बीजको ज्ञानसे नष्ट नहीं करते ॥ २६ ॥

रैनि पुरै वासर घटै, बन अँधियारा होय।
लागि रहा फूला फला, पथ नहिं काटा कोय॥३०॥

अज्ञान अन्धकारमें बाल कुमार अवस्यारूपी रात्रि पूरी हो गई एवं ज्ञान योग्य युवावस्था रूप वासर (दिन) भी खतम हो चला, इन्द्रिय ज्ञानके अयोग्य होनेसे अन्धकार मय अव पुनः वृद्धावस्था आगई "तीनों पन ऐसेही गमायो आयुष सव अपनी" इत्यादि मूर्ख लोग स्त्री पुत्रादिके मिथ्या अभिमानमें आसक्त होके मोक्ष धामका मार्ग कुछ भी तै नहींकर सके॥३०॥

उलटा ज्ञान विचार के, देखो अपना देस।
हरदी चून मिलाय के, रहै न दूजी लेस॥३१॥

जिज्ञासुओ! बाह्य वृत्तिको अन्तर्मुख करके ज्ञान दृष्टिसे विवेक द्वारा स्वात्म देशको देखो और चित्स्वरूपमें वृत्ति ऐसे एकमेक चिन्मय कर दो कि दूसरा भाव न रहने पावे जैसे हरदी चूनाके मिलने से पृथक् रंग प्रतीत नहीं होता॥ ३१ ॥

कबीर उलटा ज्ञान का, कैसे करूँ विचार।
अस्थिर बैठा पंथ कटै, चला चली नहिं पार॥३२॥

ऐ कबीर! इस संसारसे विपरीत ज्ञानका विचार बड़ा विचित्र है, वर्णन कैसे किया जाय? देखो! जो प्रपंच मार्गसे उपराम होकर आत्मचिन्तनमें स्थिर हो बैठते हैं सो तो चौरासीके चौमुखे रस्तेको तैय कर जाते हैं और जो उस पर चलते यानी आसक्त होते हैं वे पार कदापि नहीं पाते ॥ ३२ ॥

सायर माँहीं सर गया, मच्छी खाया सोय।
सो मच्छी तरुवर चढ़ी, बूझै विरला कोय॥३३॥

जिन जिज्ञासुओंके हृदयरूप सागरमें सद्गुरुका शब्दरूप सर (बाण) प्रवेश कर गया उसकी वृत्तिरूपी मच्छी तो उसे पकड़ ली और उसी शब्दके सहारे सर्वोन्नत आत्मवृक्ष पर चढ़ गई। किन्तु इस रहस्यको कोई विरलाही सत्संगी समझता है॥

हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी, बासक पीठि पलान।
चाँद सुरज दुइ पायड़ा, चढ़सी सन्त सुजान॥३४॥

आत्मपथगामी सन्त संसार मार्गको इस प्रकार ते करते हैं; हर-तमोगुणके घोड़ा बनाके ब्रह्मारूप रजोगुणकी कड़ीसे बासक नाम सर्पिणी कुण्डलनीके पीठ पर पलान डालके कसते यानी बशमें करते हैं फिर चाँद सूरजके पायड़ा (रिकाब) बनाके यानी साधके सुषुमणामें वृत्ति द्वारा चढ़ जाते हैं॥३४॥

घटी बढ़ी जानै नहीं, मन में राखै जीत।
गाड़र लड़ै गयन्द सों, देखो उलटी रीत॥३५॥

जिन जिज्ञासुओंको सद्गुरु सत्संगसे स्वरूपका पूर्ण बोध हो जाता है वे शरीरका निर्वाह प्रारब्ध भोग पर छोड़ देते। कम, अधिक जीनेकी तृष्णा नहीं बढ़ाते अथवा उसकी घटी बढ़ी अर्थात् उत्तम मध्यमादि भोगमें आसक्त न होकर सदा मन पर विजय पानेका विचार किया करते हैं। इसी प्रकार शरीर-संयमसे मनपर भी विजय पा लेते हैं। देखिये यही उलटी रीति है जो देह रूप भेड़ मदमस्त मन रूप हस्तीसे लड़ती है अर्थात् शरीर संयमसे मनको निग्रह करना मानो हस्तीसे भेड़का लड़ना है। अथवा गरीबी रूपी गाड़र गर्व रूप गयन्दसे लड़ती है यही उलटी रीति है॥ ३५॥

कूकर बहु बहु जुरि मुआ, सलसै चढ़ी सियार।
रोवत आवै गदहरा, बोधत आय बिलार॥३६॥

कामादिक कुत्तोंका समूह ज्ञानी पुरुषोंको ज्ञानाग्निसे भस्म हो जाते और संशय रूप सियार भी जीते जी सलमें नाम चिता पर चढ़ जाता है। अनन्तर गर्व रूप गदहाको रोते देखकर वाद रूप बिलार उसे प्रबोध करता है। भावार्थः—ज्ञानके प्रतापसे ज्ञानीको सब सहायक बन जाते हैं ॥ ३६ ॥

मा मारी धी घर करै, गौ सो बच्छा खाय ।
ब्राह्मन मारै मद पिये, तो अमरापुर जाय ॥३७॥

जो जिज्ञासु ममता रूपी माताको मारके आत्म निश्चायकी बुद्धि रूपी लड़कीको हृदय रूप घरकी घरणी बनाता है। एवं स्वात्म ज्ञान रूप गोके विवेक रूप बछड़ेको सदा खाता है और वाद रूप ब्राह्मणको मारके सद्‌गुरुके सार सिद्धान्त रूप मदिराको पीता है वह निःसन्देह अमर धामको चला जाता है॥ ३७ ॥

माता मूये एक फल, पिता मुये फल चार ।
भाई मूये हानि है, कहैं कबीर विचार ॥३८॥

ममता रूप माताके मरनेसे निर्ममता-निर्भयता रूप एक श्रेष्ठ फल पाता है। और अहंकार या पित्त[1] रूप पिताके मरनेसे अर्थ, धर्म, काम्य और मोक्ष रूप चारों फलकी सिद्धि होती है; किन्तु भाव रूप भाईके मरनेसे सद्‌गतिमें हानि होती है अतः भाव रूप भाईकी रक्षा करना; यह कबीर गुरु अच्छी तरह विचार कर कहते हैं ॥ ३८ ॥

अचर चरै चर परिहरै, मरै न चारै जाय ।
बारह मास विलोघना, घूमै एकै भाय ॥३९॥

---

[1] १—पित्त हृदयको जलाया करता है मोक्षका साधन जो विवेक आदि ज्ञान है उसे नहीं होने देता "क्रोध पित्त नित छाती जारा" इसलिये पित्त रूप पिताका मरना अर्थात् फलके वास्ते आवश्यक है।

चर नाम विषयादिमें चंचल वृत्तियोंको परिहरे नाम निग्रह करे और अचर नाम निश्चल आत्म स्वरूपमें चरै यानी लगावे तथा विषयोंकी ओरसे मरी हुई वृत्ति पुनः विषयमें चारै न जाय अर्थात् प्रवृत्त न होय। इस प्रकार बारह मास विलोयना यानी सदा साधना करै और वृत्तिको एक आत्म भावही में फिराया करै ॥ ३९ ॥

ऊनै आई बादरी, बरसन लगा अंगार।
ऊठि कबीरा धाह दै, दाझत है संसार ॥४०॥

जब माया रूपी बादरी अज्ञानियोंके अन्तःकरणमें ओरम आई व आती है तब त्रिविध ताप रूप अंगार बरसने (सताने) लगा व लगता है अतः ऐ कबीरा! जिस अंगार वृष्टिसे संसार जल रहा है उससे तू उठकर धाह दै अर्थात् भाग चल ॥ ४० ॥

बेटि को भाटी ले गई, बेटाको (ले गइ) भंगार।
माताको लोइ ले गइ, कबीर सिरजन हार ॥४१॥

विकार बुराई रूपी बेटीको भलाई रूपी भाटी लील गई। और विवाद रूप बेटाको भजन रूप भंगार लय कर दिया एवं ममता रूपी माताको प्रभुमें लगन रूपी लोई और जीव रूप कबीरको मालिकने निज स्वरूपमें मिला दिया ॥ ४१ ॥

अब तो ऐसी ह्वै पड़ी, ना तुम्बरी ना बेलि।
जारन आनी लाकड़ी, ऊठी कोंपल मेलि ॥४२॥

सद्गुरु कृपासे अब तो ऐसी बनि आई कि न माया रूपी बेलि रही न तृष्णा रूपी तितलौकी। दोनोंके दोनों सत्यानाश। जो कि तीनों लोक तो तीनों लोक, पर ज्ञानीको भी बाँध रक्खी थी यथाः—

"बेलि एक त्रिभुवन लपटानो। बाँधेते छूटे नहिं ज्ञानी" इत्यादि फिर तो जारज नाम चित वृत्ति निरोध रूप योगाग्नि शरीर रूप लकड़ीमें लगाते ही ज्ञानकी कोंपल निकल आई॥४२॥

बिन पाँवन का पंथ है, मंझ सहर अस्थान।
विकट घाट औघट घना, पहुँचे संत सुजान ॥४३॥

मंझ शहर स्थान नाम चित्स्वरूपका मुख्य निवासस्थल हृदय कमल है तहाँ विना पाँवका पंथ है यानी फलकी आसक्ति विना केवल सद्गुरुकी सेवासे ही जाया जाता है। उस औघट घाट यानी दुर्लभ देशकी यही विकट कठिनता है। इसी कारण कोई विरले ही सन्त वहाँ तक पहुँचते हैं ॥ ४३ ॥

ऊँचा चढ़ि असमानको, मेरु उलंघे ऊड़ि।
पसु पंछी जिव जन्तु सब, रहा मेरु में गूड़ि ॥४४॥

पारख जिज्ञासुओंको चाहिये कि "उथले रहहु परहु जनि गहिरे"। सद्गुरुके इस उपदेशके अनुसार अभ्यास वैराग्य द्वारा मेरु दण्डको पार कर ऊँचा असमान नाम असंग और सबसे उन्नत निर्मल चित्स्वरूपमें ही वृत्तिको चढ़ावै क्योंकि मेरु यानी मूलाधार चक्रसे लेकर सहस्रदल कमल तक मन प्रपंची निरंजनका निवास है जहाँ "गाड़े जाय न उमगे काहुँ" इस वचनके अनुसार राग द्वेषमें पशु पक्षी जीव जन्तु सब गड़े जा रहे हैं; बाहर नहीं होते ॥ ४४ ॥

धरति समानी अधर में, अधर धरा के माँहि।
अधर धरा जब देखिया, दीसै दूसर नांहि ॥४५॥

धरती नाम अन्तःकरणकी वृत्ति जब अधर नाम निरालंब चित्स्वरूप में लीन हो गई फिर "रही लटापटि जुटि तेहि माहीं।

होहिं अटल तब कतहुँ न जाहीं" । इस वचनके अनुसार अधर; धराके परस्पर एकमेक होनेसे अर्थात् अधरने धराको एवं धराने अधरको भली भाँति देख लिया तब मायिक दृश्यके अभाव होनेसे द्रष्टाकी स्थिति स्वरूपमें हो गई । इस अवस्था को योगदर्शनमें ऐसा कहा है "तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इत्यादि । अब दूसरा कुछ नहीं दीखता ॥ ४५ ॥

या देखा वा देखिया, वा देखा या थीर ।
यह वह दो एकै भया, सतगुरु मिलै कबीर ॥४६॥

"अपनी कहे मेरी सुने, सुनि मिलि एकै होय" सद्गुरुके इस उपदेशके अनुसार मुमुक्षुओं को या नाम अन्तःकरण को वृत्ति जब प्रभुकी ओर झुकी और प्रभुने इसको अपनाया तब या देखा या थीर अर्थात् फिर क्या ! प्रभुके दर्शन होतही स्थिर हो गई । ओर यह, वह द्वैत मिटकर एक स्वरूप हो गया । परन्तु ऐसी स्थिति कबीर को तबही होती है जब सद्गुरु मिलते हैं ॥ ४६ ॥

पुहुप बास ते पातला, सूक्ष्म जाको रंग ।
कबीर तासें मिलि रहा, कबहु न छाड़ै संग ॥४७॥

जो स्वयं पुष्पकी महकसे भी महीन है और जिसका आकार इतना सूक्ष्म है कि सर्वसाधारण यथा तथ्या पहिचान भी नहीं सकता । ऐसे दुर्निग्रह मनसे यह जीव मिला जुला रहता है उसका साथ कभी नहीं छोड़ता ॥ ४७ ॥

पहिले मा का खसम भया, पिछै भया है पूत ।
अंतरगत की समुझि के, छोड़ि चले अवधूत ॥४८॥
खसम उलटि बेटा भया, माता मिहरी होय ।
मूरख मन समुझै नहीं, बड़ा अचंभा मोय ॥४९॥

"भग भोगीके पुरुष कहाया। भो बालक भग द्वारे आया।" स्त्री समागमके समय प्रथम पुरुष अपनी माका पति बनता है और उत्पतिके पीछे वही उसका पुत्र बन जाता है। इसी विचित्र सम्बन्धको अभ्यन्तर ज्ञानकी समझसे ज्ञानी पुरुष तो स्त्री-संग छोड़कर विरागी असंग हो जाते हैं। यद्यपि इस बारीक बातको अज्ञानी लोग अपने मनमें नहीं समझते कि पुत्रोत्पत्तिके समय खसम ही उलटकर अपनी जोरूका लड़का बन जाता है और मेहरारूको ही मा कहने लगता है। और वही माता फिर भोग के समय उसकी मिहरी बनी है; तथापि मुझ समझदारोंको तो यह बड़ा आश्चर्य लगता है ॥ ४८ ॥ ४६ ॥ —

पानी में की माछली, चढ़ि सो परवत गई।
अग्नी पीया पुष्ट भई, जल पीया मर गई ॥५०॥

संसार धारामें रहने वाली संसारियोंकी वृत्ति रूपी एक अजब मछली है, जो कि मायिक भोग रूप अग्निको ही पीकर ताज़ी तवानी बनी हुई है। परन्तु सद्गुरुकी कृपासे जब वही अभ्यास, वैराग्य द्वारा निजात्म रूप शैल शिखर पर चढ़ गई तब वहाँ निर्मल ज्ञान रूप जलके पान करते ही बेतरह मर गई, संसारके लिये पुनः जीवित न हुई ॥ ५० ॥

कफ काया चित चकमका, झाली बारम्बार।
तीन बार धूँवा उठे, चौथे पड़े अँगार ॥५१॥

अभ्यासियोंको चाहिये कि काया रूपी कफ[1] यानी कपड़ेमें बारंबार चित चकमक (चित्त वृत्ति) को झाड़ा (लगाया) करें। सम्भव है कि ऐसे बार बार वृत्तिके निरोधसे प्रकाश

[1]—कमीज़की आस्तीनके अग्र भागका नाम है जहाँ बटन लगायेजाते हैं। यहाँ पर कपड़ेसे मतलब है।

रोधक त्रिगुण माया रूप धूँयाका अभाव हो जाने पर चतुर्थ ज्ञानाग्निके प्रगट होनेसे आत्म साक्षात् हो जायगा। यथाः—

"तनसे मनको खैंच कर, निर्विकल्प निष्काम।
करै आतमा माहि लय, तब दर्शे उर राम" ॥५१॥

गुरु दाझ्या चेला जल्या, विरहा लागी आग।
तिनका बपुरा ऊबरा, गल पूरी के लाग ॥५२॥

ज्ञान विरह की अग्नि लगने से ज्ञानियों को एकात्म रूप समान दृष्टि हो जाती है और गुरु, शिष्य अर्थात् गुरुता तथा लघुता भाव मिट जाता है। ऐसे सन्तगुरु के शरणागत होनेसे तिनकाके सदृश तुच्छ जो अज्ञानी लोग हैं उनका भी उद्धार हो जाता है ॥ ५२ ॥

बहनी से बेटी भई, बेटी से भइ नार।
नारी से माता भई, मनसा लहर पसार ॥५३॥

प्रथम अन्तःकरणकी वृत्ति रूपी बहिनीसे विकार वासना रूप बेटीका पैदायश हुआ और उसी बेटीसे भोग इच्छा रूप नारीका अवतार हुआ फिर उस नारी से यानी उसके साथ प्रवृत्ति होनेसे ममता रूपी माताकी उत्पत्ति हुई, इस प्रकार मनोरथकी तरंगोंका विस्तार हुआ और होता है ॥ ५३ ॥

चार चरन नौ पंख है, दो मस्तक है ताहि।
इक मुख सीप सँवारही, इक मुख भोजनखाहि॥५४॥

इस शरीर रूप पिञड़ेमें एक ऐसा प्राण पखेरू है जिसके चलनेके लिये मन आदि चतुष्टय अन्तःकरण रूप चार चरण हैं और शुभाशुभ कर्म रूप दोनों पांखोंसे विहरने (उड़ने)के लिये मुख नासिका आदि नव द्वार हैं यथाः—

"नवद्वारे का पिंजड़ा, तामें पंछी पौन।
रहिबे को अचरज है, जात अचम्भो कौन" ॥ योजक

इसी प्रकार प्रवृत्ति निवृत्ति रूप उसे दो शिर हैं, जिनमेंसे एक निवृत्ति मुखसे तो कल्याणहित ज्ञानरूप सोपका संचय करता है और दूसरे प्रवृत्ति मुखसे सांसारिक भोगोंको भोगता है ॥ ५४ ॥

माता का सिर मूँड़िये, पिता कुँ दीजै मार।
बन्धु मारि डारै कुआ, पंडित करो विचार ॥५५॥

ऐ पण्डितो! यदि मोक्ष चाहिये तो प्रथम असंग शस्त्रसे ममतारूपी माताका शिर छेदन करो और ज्ञान खड्गसे अहंकार रूप पिताको मार डालो; इसी तरह विषय-भोग सहायक इन्द्रियोंको भी अभ्यास, वैरागसे मारकर संसार कूपमें फेंक दो फिर निर्विघ्न चिदात्मका चिन्तन रूप पिचार करो, जिससे कल्याण हो ॥ ५५ ॥

कबीर कोठी काठ की, चहुँ दिस लागी लार।
माहीं पड़े सो ऊबरे, दाझै देखन हार ॥५६॥

ऐ कबीर! यह कायारूपी कोठी कर्मरूप काठसे बनी है; इसे अनित्य समझ कर ज्ञानी पुरुष इसमें चारों ओरसे ज्ञानकी अग्नि लगाके जलाया करते हैं जैसे कबीर गुरुका कथन है यथा-

"काया मध्ये धुनि धकावै, रमिता राम रमै।
कर्म काठ कोयला करि डारै, जगते न्यारा ह्वै" ॥ इत्यादि

इस प्रकार जो जगतसे अलग होकर ज्ञानाग्निमें पड़ता है सो तो काया कोठीके कैदसे बच जाता है और जो देख देख ललचता है वह बार बार जलता है अर्थात् माताके गर्भाशय रूप कोठीकी जठराग्निमें तपता है ॥ ५६ ॥

है। और उनका स्वरूप अपनी महिमामें स्थिर हो जाता है। इसीको असंग विदेह मुक्ति कहते हैं ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

हम जाये ते भी मुआ, हम भी चालनहार।
हमरे पीछे पूँगरा, तिन भी बाँधा भार ॥६३॥
साथी हमरे चलि गये, हम भी चालनहार।
कागद में बाकी रही, ताते लागी वार ॥६४॥

संसार चला चलीका मेला है; जो आया है वह अवश्य जायगा। देखिये इस बातको सब कोई समझ रहे हैं कि हमारेसे जो उत्पन्न हुआ वह भी मर गया और हम भी चलनेकी तैयारीमें हैं। और हमारे पीछे पौत्र आदि भी कमर कसके तैयार हैं। यद्यपि हमारे साथी सब चल धरे और हम भी तैयारीमेंही थे। लेकिन पास मिलनेकी देरीसे कुछ देरी हो गई। भाव यह है कि;—"आया है सो जायगा, राजा रंक वजीर। कोइ सिंहासन चढ़ि चले, कोइ बाँधे जंजीर" ॥ इति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित विपर्ययको अङ्ग परि समाप्त ॥ २७ ॥

अथ रसको अङ्ग ॥ २८ ॥

कबीर हरि रस जिन पिया, अंतरगत लौ लाय ।
रोम रोम में रमि रहे, और अमल क्या खाय ॥१॥
कबीर हरि रस भरिपिया, कोय न पीवै नीर ।
भाग बड़ा सो पीवसी, भरि भरि पिवै कबीर॥२॥

ऐ कबीर ! जिसने एकबार भी चिदानन्द रसका अन्तर्मुख वृत्तिसे लौ लगाके पानकर लिया। बस उसके प्रत्यंगमें ऐसी आनन्द मस्ती छा गई कि उसे और अमलकी चाहें मिट गई। क्योंकि जो नित्य तृप्त आत्मरसका पान कर लेता है उसे और नीर नहीं भाता है। इस रसका पान भाग्यशाली जिज्ञासु करते हैं ॥ १ ॥ २ ॥

कबीर हरि रस बटत है, सरवन दोना ओड़ि ।
राम चरन काँठा गहो, मति कबहू घौ छोड़ि ॥३॥
कबीर हरिरस जिनपिया, माँगै सीस कलाल ।
दिल ओछा जिव दूबला, बहुत बिगूचे माल ॥४॥

ऐ कबीर ! सद्गुरु सत्संगमें हरि-रस बँटता है यदि चाहिये तो सावधानीके साथ कान रूप पात्र (प्याला) से थाम लो। और "राम चरण चित्त अन्त उदासी" के अनुसार, राम चरण की समीपता ऐसे दृढ़ पकड़ो कि कभी किसी हालतमें भी न छुटे। परन्तु इसकी कीमत पहिले समझ लो ? हरि रस पान करने वालेसे कलाल शिर दक्षिणा माँगता है। यदि इसमें किसी

दव लागी दरियाव में, नदिया कुइला होय।
मच्छी परवत चढ़ि गई, बूझै बिरला कोय ॥५७॥

सत्संगियोंके हृदयसागरमें सद्गुरुकी ज्ञानाग्निके लगतेही आशारूपी नदी जलकर कोयला हो गई। और उनकी निरोध वृत्तिरूपी मछली सर्वोच्च आत्मरूप शैल शिखर पर चढ़के विहार करने लगी। परन्तु इस गूढ़ तत्त्वको तो कोई विरले पुरुष बूझकर समझते हैं ॥ ५७ ॥

दव लागी दरियाव में, उठी अपरबल आग।
सलिता बहती रहि गई, मीन दिया जल त्याग ॥५८॥

सत्संगियोंके हृदयसागरमें ज्ञानरूप दावाग्निके लगतेही उसकी विकराल ज्वाला सब तरफ फैल गई। बस उनकी वासनारूपी सरिताका प्रवाह भी बन्द हो गया और उनकी वृत्तिरूपी मत्स्य भी संसार सागरका विहार त्याग दी। और आत्मारांममें रमने लगीं। यथाः—

"बिरहा आया दरद सो, कड़ुवा लागा काम।
काया लागी काल है, मीठा लागा राम" ॥ इत्यादि ॥५८॥

कीड़ी चली जु सासरे, नौ मन काजल लाय।
हस्ती लीन्हा गोद में, ऊँट लपेटे जाय ॥५९॥

सद्गुरु सत्संगके प्रभावसे संसारी लोगोंको वृत्तिरूपी कीड़ी (चिंटी) जब संसार पीहरको त्यागकर सद्गुरूपदिष्ट धामरूप सासुरेको चली तब उसने अपने विवेकरूप नयनमें नौधा भक्तिरूपी काजल लगा लिया। और मांगलिक वस्तु यव, तिलादिक स्थानापन्न गोद (अँचल) में मनरूप हाथीको भर लिया यानी मनको वशमें कर लिया एवं अहंकाररूप ऊँटको

मारकर पतिका सोभाग्य चिह्न कर कंगन बनाके पहिन लिया। मालिकसे मनोवृत्तिको मिलानेका यही एक अचल तरीका है ॥

रपट भैंस पीपल चढ़ी, पड़ि भाँगे दो ऊँट।
गदहे दीनी आँचकी, भये भैंस दो टूट ॥६०॥

संसारियोंकी भोग वृत्तिरूपी भैंस एकदम रपट मार कर और क्षण भंगुर संसाररूप पीपल वृक्ष पर चढ़ गई और दो ऊँट नाम रजोगुण, सतोगुण जन्य कटु, मिष्ट दो फलको तोड़ ले आई परन्तु तमोगुण रूप गदहेने ऐसी औचक लात मारी कि राजस, सात्विक भोग वृत्तिरूप भैंस दो टुकड़े हो गई अर्थात् दोनो वृत्तियाँ क्रिया शून्य हो मोहको प्राप्त हो गई और किं-कर्त्तव्य विमूढ़ बन गई 'पूरो किनहु न भोगिया, इसका यही वियोग' इत्यादि ॥ ६० ॥

भेरे लगि सायर तरी, तरी नेह बिन नीर।
प्रीतम कूँ प्यारी मिली, यों कहि दास कबीर ॥६१॥
तत्त समाना तत्त में, अनहद समाना जाप।
ब्रह्म समाना ब्रह्म में, आप समाना आप ॥६२॥

विवेकियोंकी विवेक वृत्ति असंग चिदात्म चिन्तनरूपी नौकेमें बैठके संसार सिन्धुको तर गई क्योंकि स्नेहरूप पानीके विनाही यह संसार सागर है, इसी कारण मुमुक्षु असंग वृत्तिसे पार जाते हैं और प्रीतम प्यारी वृत्तिको प्रभुसे मिला देते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि इस प्रकार विवेकी पुरुषोंकी वृत्ति आत्ममें लय होने पर अर्थात् मुक्त होने पर उनके मायिक भौतिक शरीरको तत्त्व प्रकृति आदि आप आपमें मिल जाती

तरह कमी होगी तो माल सब बरबाद हो जायगा यानी दिलमें और तरहकी भावना होनेसे आत्म रस पानका आनन्द नहीं आ सकता ॥ ३ ॥ ४ ॥

हरि रस महँगा जन पिये, देवै सीस कलाल।
घट ओछा दिन दूबला, बंछैगा बहु काल ॥५॥
हरिरस पीया जानिये, उतरै नाँहि खुमारि।
मतवाला घूमत फिरै, नहि तो तनकी सारि॥६॥

बहु मूल्य आत्मरसका पान तो शिरके बदले हरिजन ही पीते हैं। और जिसका हृदय छिछोरा व तुच्छ है, उसे काल मनमाना दुःख देगा। उसीको जानो कि हरिरस पिया है जिसको नशेकी मस्ती नहीं उतरती। और मस्त हो ऐसा गश्त लगाया करता है कि उसे शरीरकी भी सुधि नहीं रहती॥५॥६॥

हरिरस महँगा पीजिये, छाँड़ि जीवकी बानि।
सिरके साटै हरि मिले, तबलग सुहँगा जानि॥७॥
सिर दीये जो पाइये, देन न कीजै कानि।
सिरके साटै हरि मिले, तबलग सुहँगाजानि ॥८॥

ऐ हरिजनो! मनकी बुरी आदत छोड़कर बहुमूल्य हरि रसका अवश्य पान करो। शिरके बदले जो प्रभु मिले तो भी सस्ता समझो। यदि शिर अर्पणसे प्रभु मिले तो आना कानी मत करो। माल सस्ता है ऐसा समझ कर शिर दे डालो ॥ ७ ॥ ८ ॥

पिया पियाला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, दूजा रस क्या प्याय ॥९॥

प्रेम पियाला भरि पिया, जरा न किया जतंन ।
आवै छकि तब जानिये, रंका घड़ा रतंन ॥१०॥

हरिजनोंने प्रेमरसका प्याला ऐसे अन्दर ठूँस ठूँसकर भरा कि रोम २ में प्रवेश कर गया फिर दूसरे रसकी ज़रूरत ही न रही। प्रेम रसका पान खूब ही किया; यहाँ तक कि शरीर की भी सुधि न रही। हृदयमें ऐसी पूर्ण तृप्ति होनी चाहिये कि मानो जन्मका दरिद्र रत्न पूर्ण घड़ा पा गया ॥ ६ ॥ १० ॥

थोरे ही से छाकिया, भाँड़ा पीया धोय ।
फूलपियाला जिन पिया, रहैं कलालाँ सोय ॥११॥
राता माता नाम का, पीया प्रेम अघाय ।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति वलाय ॥१२॥

जो जिज्ञासु अन्तःकरण पानको शुद्ध करके प्रेमरसका पान किया वह थोड़े ही में मस्त हो गया और जिन्हें पूर्ण तृप्ति हो गई वस ! उनके लिये सद्गुरु रूप कलालों भी शान्त चित्त हो रहे। जो प्रभु नामका अनुरागी है वही प्रेमरसका पान कर पूर्ण तृप्त होता है। और वह फस्त दर्शनका ही दिवाना है, मुक्ति नहीं चाहता ॥ ११ ॥ १२ ॥

राता माता नाम का, मदका माता नाँहि ।
मदका माता जो फिरै, सो मतवाला काहि ॥१३॥
मतवाला घूमत फिरै, रोम रोम रस पूर ।
छाँड़ै आस सरीर की, देखै राम हजूर ॥१४॥

प्रेमीजन प्रभु नामके दिवाने होते हैं, मद्यके नहीं। और जो मद्यकी मस्तीमें फिरता है वह मतवाला नहीं उन्मत्त है। जिसे प्रेमरस प्रत्यगमें पूर्ण हो गया है; वह मतवाला प्रभुको संमुख

दर्शनकर ऐसा घूमता फिरता है कि उसे शरीरकी भी सुधि नहीं है ॥ १३ ॥ १४ ॥

महमंता अविगत रता, आसा अकल अजीत।
नाम अमल माते रहें, जीवन मुक्त अतीत ॥१५॥
महमंता नहि त्रिन चरै, साले चित्त सनेह।
बारिज बँधा कलालके, डारि रहा सिर खेह ॥१६॥

आशा और अकलसे अजीत ऐसे अविचल आत्मस्वरूपमें जिसकी वृत्ति लीन है वह मतवाला प्रभु नामके नशेसे मस्त रहता है; वही जीवन्मुक्त फकीर है। उसके अन्तःकरणमें प्रभुकी लगन ऐसी लगी है कि वह मस्ताना त्रिण नहीं चर सकता अर्थात् वह प्रभुके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, प्रभु रसपानके लिये सद्गुरु कलालकी शरणमें खाक छान रहा है ॥

आठ गाँठि कोपीन के, साधु न मानै संक।
नाम अमल माता रहै, गिनै इन्द्र को रंक ॥१७॥
दावै दाझन होत है, निरदावै निहसंक।
जो जन निरदावै रहै, कहै इन्द्र को रंक ॥१८॥

प्रभु अनुरक्त विरक्त सन्तोंके कोपीनमें आठ गाँठ क्यों न पड़ी हो तो भी उसकी परवा नहीं करते। और राम अमलमें ऐसे मस्त रहते कि अपने सामने इन्द्रको भी दरिद्र गिनते हैं। क्योंकि मायिक अधिकारमें अनेकों चिन्ता जलन होती है और इस अधिकारसे जो रहित है वह सदा निर्भय रहता है अतः अधिकारमें चिन्तित इन्द्रको भी दरिद्र कहता है ॥ १७ ॥ १८ ॥

इति श्रीरसको अङ्ग समाप्त ॥ २८ ॥

अथ मनको अंग ॥२६॥

कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाय।
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाय ॥१॥
कबीर यह मन मसखरा, कहूँ तो मानै रोस।
जा मारग साहिब मिले, तहाँ न चालै कोस ॥२॥

ऐ कबीर! मन एक है चाहे तू उसे सद्गुरु-भक्तिमें लगा चाहे विषय कमा। यह मन ऐसा मन मौजी है कि इसे सच्ची कहूँ तो दुःखी हो जाता है। जिस रास्ते मालिक मिलते हैं देखो! वहाँ तनिक भी नहीं चलना चाहता है ॥ १ ॥ २ ॥

कबीर मन परबत भया, अब मैं पाया जान।
टाँकी लागी प्रेम की, निकसी कंचन खान ॥३॥
कबीर मन गाफिल भया, सुमिरन लागे नाँहि।
घनी सहेगा सासना, जम की दरगह माँहि ॥४॥

ऐ जिज्ञासुओ! मैं भली भाँति जान गया हूँ कि मन मोम नहीं किन्तु महान् पाषाण है। जब इसमें प्रेमकी टाँकी लगती है तबही स्वर्णकी खान निकलती है यानी आत्म परायण होता है। विमुख होनेसे तो मालिकको याद तक भी नहीं करता। इसी कारण यमके दरबारमें अनेकों दण्ड सहा और सहेगा ॥

कबीर यह मन लालची, समझै नहीं गँवार।
भजन करन को आलसी, खाने को तैयार ॥५॥

कबीर मनहि गयंद है, आंकुस दे दे राखु।
विष की वेली परिहरो, अमृत का फल चाखु ॥६॥

हे कबीर! यह मन लोभी और मूर्ख है, यों हित अहित नहीं समझता। आत्मचिन्तनमें तो सुस्ती और विषय गटकने-को तैयार रहता है। इस वास्ते मतवाला मन गयन्दको विचार रूप अंकुश देके वशमें करो जिससे विषयरूपी विष लताको छोड़कर आत्मचिन्तनरूप अमृत फल चाखे ॥ ५ ॥ ६ ॥

कबीर मन मरकट भया, नेक न कहुँ ठहराय।
राम नाम बाँधे बिना, जित भावै तित जाय ॥७॥
कबीर सेरी साँकरी, चंचल मनुवा चोर।
गुन गावै लौलीन है, कछु इक मन में और ॥८॥

"स्वर्ग पताल जाय इक पलमें कपि सम अति निर्भीत।
गण गन्धर्व असुर सुर किन्नर सबको लीन्हों जीत"॥ इत्यादि

इस मन बन्दरको कोई प्रतीत मत करो यह राम नामकी डोरीमें बाँधे बिना क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता; जहाँ तहाँ भटकता फिरता है। प्रेमका मार्ग बहुत संकीर्ण है और यह मन बड़ा चपल चोर है। तल्लीन हो प्रभु गुण गाते हुये भी मनमें कुछका कुछ विचार कर बैठता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

कबीर बैरी सबल है, एक जीव रिपु पाँच।
अपने अपने स्वाद को, बहुत नचावै नाच ॥९॥
कबीर वह मन कित गया, जो मन होता काल।
डुँगर बूड़ा मेंह ज्यौं, गया निवाँना चाल ॥१०

हे कबीर! हुशियार रह एक जीवके पीछे पंचेन्द्रिय रूप महान बलिष्ट शत्रु हैं। जो कि अपने अपने विषयके लिये तुझे

अनेकों नाच (नृत्य) नचाया करते हैं। देखो ! यह मन कहाँ गया जो सद्गुरुके ज्ञानोपदेश कालमें प्रेम सागरमें ऐसे डूबा था जैसे वर्षा कालमें बड़ा पर्वत घर्षासे डूबा प्रतीत होता है और जब पानी नीचे तलाव आदिमें चला आता है तब फिर ज्योंका त्यों हो जाता है ऐसीही मनकी दशा है ॥ ६ ॥ १० ॥

कबीर मनका माँहिला, अवला बहै असोस।
देखत ही दह में परै, देय किसी को दोस ॥११॥
कबीर लहरि समुद्र की, केती आवै जाँहि।
बलिहारी वा दास की, उलटि समावै माँहि ॥१२॥

ऐ कबीर ! मनको वृत्तिरूपी माँहिला ऐसा असोस नाम निर्भय है कि सदा अवला यानी उलटी चलती है। इसी वजह प्रत्यक्षही खड्ढेमें पड़ती है। कहो ! अब दोष देती किसका ?। सिन्धुकी तरंगके सदृश मनोवृत्तियाँ अनेकों आती जाती रहती है। धन्य है वह साधक जो उसे उलट कर आत्मस्वरूपमें लय करता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

कबीर यह गत अटपटी, चटपट लखी न जाय।
जो मनकी खटपट मिटै, अधर भये ठहराय ॥१३॥
अघट भया खटपट मिटै, एक निरन्तर होय।
कहैं कबिर तब जानिये, अन्तर पट नहिं दोय ॥१४॥

ऐ कबीर ! यह ज्ञान स्थिति बड़ी अटपटी है एकाएक नहीं होती। जब मनकी खटपट मिट जाती यानी मन वशमें हो जाता है तब निरालम्ब स्वरूप स्थिति होती है। मनकी खटपट मिटनेसे वृत्ति पड़दा विना अघट (अचल) स्वरूपमें एक हो जाती है। पड़दा न रहनेहीका नाम एक स्थिति है ॥१३॥१४॥

मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधु कोय एक ॥१५॥
मन के मते न चालिये, छाँड़ि जीव की बानि।
कतवारी के सूत ज्यौं, उलटि अपूठा आनि ॥१६॥

मनके अनेकों रास्ते हैं उसके पीछे मत चलो। ऐसे कोई विरले सन्त हैं जो मनको वशमें रखते हैं। मनके पीछे मत जाओ बल्कि उसकी बुरी आदतको ऐसे छुड़ाओ। जैसे सूत कातनेवाली सूतको उलटा लाकर पीउर्नामें लपेट देती है। इस प्रकार अन्तर्मुख कर आत्मामें लगाओ ॥ १५ ॥ १६ ॥

मन पाँचों के बस पड़ा, मन के बस नहिं पाँच।
जित देखूँ तित दौं लगी, जित भागूँ तित आँच॥१७॥
मन के मारे बन गये, बन तजि बस्ती माँहि।
कहैं कबिर क्या कीजिये, यह मन ठहरै नाँहि ॥१८॥

मनके वशमें पंचेन्द्रिय नहीं है बल्कि मनही उसके अधीन होरहा है। यही कारण है कि सब तरफ विषय ज्वाला प्रज्वलित है, कहीं शरण नहीं। इसके मारे जंगलमें गये वहाँ भी यही दशा फिर गाँवमें लौट आना पड़ा। कबीर गुरु कहते हैं क्या किया जाय? विचार अंकुश विना मन स्थिर नहीं होता १७-१८

मन मुरीद संसार है, गुरु मुरीद कोय साध।
जो मानै गुरु बचन को, ताका मता अगाध ॥१९॥
मन को मारूँ पटकि के, टूक टूक है जाय।
विष की क्यारी बोयके, लुनता क्यौं पछिताय ॥२०॥

सारे संसार मनके दास हैं गुरुके विरले कोई सन्त शिष्य

हैं। जो गुरूपदेशको मानते हैं उनका सिद्धान्त अगम्य है। मनको पछाड़के ऐसी मार मारूँ कि इसे होश हवास न रह जाय। विषको वारी लगाके अब फल खाते क्यों कलपता है। 'जस कियउ तस पायऊ हो रमैया राम' इत्यादि ॥ १९ ॥ २० ॥

मन ही को परमोधिये, मन ही को उपदेस।
जो यह मन को बसि करै, सीप होय सब देस ॥२१॥
मन गोरख मन गोविंद, मन ही औघड़ सोय।
जो मन राखै जतन करि, आपै करता होय ॥२२॥

मनहीको शिष्य बनाके उपदेश दो। ध्यान रक्खो, जो इस मनको मूड़ लेता है उसका सारे मण्डल चेला बन जाता है। कभी गोरख कभी गोविन्द और कभी औघड़ भी समय समय पर मनही बना करता है। जो मनको वशमें करता है वह स्वयं सबका कर्त्ता होता है ॥ २१ ॥ २१ ॥

मन मोटा मन पातरा, मन पानी मन लाय।
मन के जैसी ऊपजै, तैसी ही है जाय ॥२३॥
मन दाता मन लालची, मन राजा मन रंक।
जो यह मन गुरु सो मिलै, तो गुरु मिले निसंक ॥२४॥

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः"

स्थूल, सूक्ष्म और शीतल तथा अग्नि स्वरूप ये सब कुछ अपनी भावनाके अनुसार मनही हुआ करता है। दानी लोभी, अमीर, गरीब होना यह मनका स्वभाव है। जो यह मन कहीं सद्गुरु मिलनेका संकल्प करले तो निःसन्देह सद्गुरु भी मिल जायँगे ॥ २३ ॥ २४ ॥

मन के बहुतक रंग हैं, छिन छिन बदले सोय।
एक रंग में जो रहे, ऐसा विरला कोय ॥२५॥
मनुवाँ तो पंछी भया, उड़ि के चला अकास।
ऊपर ही ते गिरि पड़ा, मन माया के पास ॥२६॥

यह मन बहुरूपिया है, क्षण २ में वेष बदला करता है। विरले कोई हैं जो एक स्थिति पर इसे रखते और रहते हैं। यही मन कभी पक्षी स्वरूप धारण कर खूब ऊँचा गगन मण्डलमें चढ़ जाता है। और कभी वहाँसे गिरकर मायामें लिपट जाता है ॥ २५ ॥ २६ ॥

मन पंछी तब लगि उड़ै, विषय वासना माँहि।
ज्ञान बाज की झपट में, जब लगि आवै नाँहि ॥२७॥
मन कुंजर मदमन्त था, फिरता गहिर गँभीर।
दुहरी तिहरी चौहरी, परि गई प्रेम जँजीर ॥२८॥

मन पक्षी विषय बागमें तबही तक उड़ता फिरता है जब तक कि ज्ञान बाजकी झपटमें नहीं आता। मदमस्त हस्तीके समान मन कुंजर तब तक घोर जंगलमें फिरा करता है जब तक कि दुहरी, तिहरी और चौहरी प्रेम बन्धनमें नहीं फँसता॥

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
कहैं कबिर गुरु पाइये, मन ही के परतीत ॥२९॥
मन नहिं छाड़ै विषयरस, विषय न मन को छाड़ि।
इनका यही सुभाव है, पूरी लागी आड़ि ॥३०॥

मनके हारमें हार और जीतमें जीत है। कबीर गुरु कहते हैं मनमें दृढ़ विश्वास रखो सद्‌गुरु अवश्य मिलेंगे। मन और विषयका परस्पर स्वभाविक सम्बन्ध है; एक दूसरेसे अलग होना नहीं चाहता। यह उनकी पूरी टेक है ॥ २९ ॥ ३० ॥

मन से मन मिलता नहीं, तन को करता भंग।
मन अब भया जु कामरी, चढ़ै न दूजा रंग ॥३१॥
मन दीजै मन पाइये, मन बिन मान न होय।
मन उनमुन ता अँड़ ज्यौं, अलल अकासा जोय॥३२॥

जब तक मन अपने आपमें नहीं मिलता तबतक देहेन्द्रिय को खण्डित किया करता है। और जब स्वरूपमें मिलकर एक रंग काली कामरीकी तरह हो जाता है फिर उसका रंग किसी हालतमें भंग नहीं होता। ध्यान रहे, अपना मन अर्पण किये बिना दूसरेके मनसे मान नहीं मिल सकता। देखो, जैसे अनल पक्षीका अण्डा जगतसे मनको उदासीन कर आकाश ही की ओर देखता है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मन जो गया तो जान दे, दृढ़ करि राख सरीर।
बिना चढ़ाय कमान के, कैसे लागे तीर ॥३३॥
मनवा तो फूला फिरै, कहै जो करूँ धरम।
कोटि करम सिर पर चढ़े, चेति न देखै मरम ॥३४॥

मन विषयमें चला गया तो जाने दो शरीरको दृढ़ स्थिर रखो। कमानको खेंचे बिना तीर कैसे लगेगा? कदापि नहीं। मन मस्ताना है मस्तीमें कहता फिरता है कि धर्म करूँ। और इस रहस्यको मनमें चेतकर नहीं देखता कि करोड़ों कर्मोंके बोझसे दबा जाता है। उसीको उतारना मुश्किल हो रहा है।

मन नहि मारा मन करि सका न पाँच प्रहारि।
सील साँच सरधा नहीं, अजहूँ इन्द्रि उघारि ॥३५॥
मन की घाली हूँ गई, मन की घाली जाउँ।
संग जो परी कुसंग के, हाटै हाट बिकाउँ ॥३६॥

तबतक मनको मनसे मारकर पंच विषयोंको नहीं जीत सकता, जब तक कि शील स्वभाव और सच्ची श्रद्धा नहीं है, इसी कारण अभी भी इन्द्रियाँ अवश हैं। मनके बहकानेसे इन्द्रियाँ जहाँ तहाँ विषयोंमें दौड़ा करती हैं। जो नर कुसंगमें पड़ता है वह अवश्य चौरासी द्वारका भिखारी बनता है॥३५॥३६॥

मन चलताँ तन भी चलै, ताते मन को घेर।
तन मन दोऊ वसि करै, होय राइ सूँ मेर ॥३७॥
मना मनोरथ छाँड़ि दे, तेरा किया न होय।
पानी में घी नीकसै, रूखा खाय न कोय ॥३८॥

मनकी चंचलतासे तन भी चलायमान हो जाता है; इस लिये तनमें मनको रोकना ज़रूरी है। तन और मन दोनोंको वशमें कर लें तब ही सर्वोच्च मेरु समान चिदात्म देशको पहुँच सकता है। मनको समझा दो कि ऐ मन! मनोरथ (बहुसंकल्प) को त्याग दे इससे तेरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यदि पानी से घी निकलता तो सूखा कौन खाता। भावार्थः—बिना कर्त्तव्य, मनोराज्यसे कुछ नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

मनुवाँ तो अंतर बसा, बहुतक झीना होय।
अमरलोक सुचि पाइया, कबहुँ न न्यारा होय ॥३९॥
मन निरमल गुरुनामसों, कै साधन के भाय।
कोइला दूनी कालिमा, सौ मन साबुन लाय ॥४०॥

जब मनोवृत्ति विषयोंसे उनमुन हो अन्तर्मुख होती है। तब अति सूक्ष्म होके उस पवित्र अमर धामको पहुँच जाती जहाँसे फिर कभी नहीं लौटती। 'जहाँ जाय फिर हंस न आवे भवसागरकी धारा। सन्तों! सो निज देश हमारा' इत्यादि।

सद्‌गुरु ज्ञान और विवेकादि साधनके अतिरिक्त और कोई उपाय मन शुद्धिके लिये नहीं है। जैसे कोयलामें जितने साबुन लगाओ उतनी ही कालिमा चढ़ती जायगी। तैसे सकाम कर्मादि को जानो ॥ ३९ ॥ ४० ॥

मन जानै सब बात, जानि बूझि औगुन करै।
काहे की कुसलात, ले दीपक कूँये परै ॥४१॥

मन सबका साक्षी है, उसके समक्षमें जो जान बूझ कर बुराई करता है। तो कहो भला! उसे भलाई कैसे होगी? जब कि ज्ञानरूप दीपक करमें लेके कूपमें पड़ता है ॥ ४१ ॥

महमंता मन मारि ले, घट ही माँहीं घेर।
जब ही चालै पीठ दे, आंकुस दे दे फेर ॥४२॥
मनमनसा को मारिले, घट ही माँहीं घेर।
जब ही चालै पीठ दे, आंकुस दे दे फेर ॥४३॥

तन ही में मस्ताना मनको चौतरफसे घेर कर वश करो। ज्योंही आत्म विमुख होय त्योंही विचार अंकुश देके संमुख करो। इसी प्रकार मन और मनोरथको भी बाहर मत होने दो उन्हें भी तनहीमें विचाररूप अंकुशसे दमन करो॥४२॥४३॥

मन मनसाको मारिकरि, नन्हा करि ले पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी, पदुमा झलकै सीस ॥४४॥
मनमनसा जब जायगी, तब आवैगी और।
जबही निहचल होयगा, तब पावैगा ठौर ॥४५॥

जब मन और मनोरथको मारकर अति सूक्ष्म कर लिया जायगा। तबही सुन्दरी (वृत्ति) सुख पायगी और उसके चेहरे पर

सौभाग्यका नूर झलकेगा। क्योंकि मन, मनसा जब दूर होयगी तब ही मनमें और प्रेम भक्ति आयगी। और जब मन स्थिर होयगा तब निज ठहर भूमिका पायगा ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

यह मन फटकि पछोरिले, सब आपा मिटि जाय।
पिंगुला है पिवपिव करै, ताको काल न खाय ॥४६॥
यह मनको बिसमिल करूँ, दीठा करूँ अदीठ।
जो सिर राखूँ आपना, पर सिर जलौं अँगीठ ॥४७॥

इस मनको फटक पछोर कर ऐसा शुद्ध करो कि किसी प्रकारकी अहन्ता ममता न रह जाय। जो विषय वासना रूप पगसे रहित पंगुल हो प्रभुको पुकार करता है। उसे काल कदापि नहीं खाता है। इस मनको मूड़कर मायासे भी विमुख कर दूँ। यदि ऐसा न कर अपना शिर ऊँचा रक्खूँगा तो दूसरे को जलती हुई अंगेठीमें अवश्य जलना होगा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

यह मनतो मिरगा भया, खेत बिराना खाय।
सूला करि करि सेकसी, धनी पहूँचै आय ॥४८॥
यह मन तो मैला भया, यामें बहुत बिकार।
या मन कैसे धोइये, सन्तों करो बिचार ॥४९॥

अपना विवेकादि नष्ट करके यह मनरूप मृगा अब बिराना विषयादि खेतको खाता है। मोहके कारण यह नहीं समझता कि जब मालिक आय पहुँचेगा तब लोहेके कांटे पर चढ़ाके मांसकी तरह भूँजेगा। हे सन्तों! इस बातको विचार कीजिये कि मनका विकाररूप मैल कैसे और किससे धो आयगा ॥

यह मन मेवासी भया, बसि करि सकै न कोय।
सनकादिकरिसि सारिखे, तिनके गया बिगोय ॥५०॥

यह मन पीकारै पड़ा, गया स्वाद के साथ।
गटका खाया बरजतां, अब क्यों आवै हाथ॥५१॥

यह मन ऐसा डाकू है कि इसे कोई पकड़ भी नहीं पाता देखो! जन्मका विरागी सनकादिक ऐसे ऋषियोंको भी चक्कर खिलाया है। विषय विकारमें प्रवृत्त मन विषय स्वादके संग भागा फिरता है। जब कि रोकते हुये भी विषयरूप गटका (मिठाई) गटकता रहा तो वशमें फिर कैसे होवे ॥५०॥५१॥

यह मन साधू ले मिलो, नहिं तो लेगा जान।
मनमुनसिफ को पूछि ले, नीकी है तो मान॥५२॥
यह मन नीचा मूल है, नीचा करम सुहाय।
अमृत छाड़ै मान करि, विषहि प्रीत करि खाय॥५३॥

ऐ मनमतियो! इस मनको लेकर साधुसे मिलो नहीं तो यह तेरी जान ले लेगा। इस बातको मन इन्साफीसे पूछ देखो और सच्ची है तो मान लो। क्योंकि यह मन स्वभावसेही नीचा है इसी कारण नीच कर्मको पसन्द करता है। और सत्कारसे प्राप्त अमृतको त्यागकर विषयरूप विषको प्रेमसे खाता है॥

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौड़।
सहजै हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर॥५४॥
दौड़त दौड़त दौड़िया, जेती मन की दौर।
दौड़ि थके मन थिर भया, वस्तु ठौर की ठौर॥५५॥

समुद्रकी तरंगके समानही मनका वेग भी है। जो कहीं मन ठिकाने आ जाय तो आत्मरूप हीरा बिना परिश्रमही मिल जाय। जहाँ तक मनकी दौड़ है, वस्तुको खोजमें दौड़ता है।

और थक कर जब स्थिर होता है तब आत्मरूपी वस्तु ठौरही मिल जाती है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

खैचूँ तो आवै नहीं, जो छाडूँ तो जाय।
कबीर मन को पूछरे, प्रान टटोवा खाय ॥५६॥
पहिले यह मन काग था, करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुनि चुनि खात॥५७॥

सद्गुरु सत्संग डोरी बिना यों रोकनेसे तो मन रुकता नहीं और छोड़नेसे विषयमें दौड़ जाता है। इसी तरह मनके पीछे जीवका प्राण चक्कर खाया करता है। यही मन प्रथम अनिग्रह होनेसे कागकी तरह कुचेष्टासे जीवोंको घात करता था। अब सद्गुरु शरणमें आके हंस होनेसे विवेक द्वारा निर्मल ज्ञानरूप मोतीको ग्रहण करता है ॥ ५५ ॥ ५७ ॥

अपने उरझै उरझिया, दीखै सब संसार।
अपने सुरझै सुरझिया, यह गुरु ज्ञान विचार ॥५८॥
चंचल मनुवाँ चेतरे, सोवै कह अनजान।
जम घर जब ले जायगा, पड़ा रहेगा म्यान ॥५९॥

यह प्रत्यक्षमें दीख रहा है कि सारे संसार अपने बन्धनोंमें आप बँधाये हैं। और अपने उपायसे आप छुटेंगे भी। दूसरेसे कदापि नहीं यह विवेक ज्ञान सद्गुरुका है। इसलिये ऐ चंचल मन! शीघ्र चेत; क्यों अचेत हो अचिन्त निद्रा ले रहा है। अरे! जब तुझे मृत्यु पकड़ ले जायगी तब यह म्यान (शरीर) योंही पड़ा रह जायगा ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

चिन्ता चित्त बिसारिये, फिर बुझिये नहिं आन।
इन्द्री पसारा मेटिये, सहज मिलै भगवान ॥६०॥

तन माहीं जो मन धरै, मन धरि ऊजल होय।
साहिब सों सनमुख रहै, तो अमरापुर जोय ॥६१॥

सांसारिक चिन्ताको बिलकुल भुला दो इसके विषय किसी से कुछ भी मत पूछो। केवल इन्द्रियोंको विषयोंसे समेट लो बस! प्रभु अवश्य मिल जायँगे। जो तनमें मनको वश करता है तो मन भी शुद्ध हो जाता है। और जो सदा सद्गुरु को शरणमें रहता है सो अमर धामको भी पहुँच जाता है ॥६०॥६१॥

पय पानी की प्रीतड़ी, पड़ा जु कपटी लौन।
खंड खंड न्यारे भये, ताहि मिलावै कौन ॥६२॥
कबहुँक मन गगनहि चढ़ै, कबहूँ गिरै पताल।
कबहुँक मन उनमुनि लगै, कबहूँ जावै चाल ॥६३॥

यद्यपि दूध और जलके परस्पर बड़ा प्रेम है तथापि उसमें निमक पड़नेसे छिन्न भिन्न हो जाता है फिर उसे कोई नहीं मिला सकता है। इसी प्रकार मन और मालिकके अखण्ड प्रेम को लौन रूपी कुटनी मायाने खण्डित कर दिया है। अब उसे कौन मिलावे? "धरती फाटे मेघ जल, कपड़ा फाटे डोर। तन फाटे की औषधि, मन फाटे नहिं ठौर" इत्यादि। कभी तो मन खूब ऊँचा स्वर्गमें पहुँच जाता और कभी ऐसा अधोमुख गिरता है कि रसातलको पहुँच जाता है। और कभी जगतसे उदास हो ध्यान मग्न होता है और कभी विषयमें भी दौड़ जाता है ऐसा विचित्र मन है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

कोटि करम कर पलक में, या मन विषया स्वाद।
सतगुरु शब्द न मानहीं, जनम गँवाया बाद ॥६४॥

कागद केरी नावरी, पानी केरी गंग।
कहँ कबिर कैसे तिरै, पाँच कुसंगी संग ॥६५॥

यह मन ऐसा शैतान है कि विषय चाटमें पड़के अनेकों अयोग्य कर्म पल भरमें कर बैठता है। और कल्याणकारी सद्गुरु शब्दकी ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देता व्यर्थमें नरजन्म गमाया व गमाता है। मन रूपी कागजको नौका पर बैठके मायारूपी गंगा प्रवाहमें पड़ा है खेने वालाका ठिकाना नहीं तिसपर भी पंच विषय रूपी कुसंगीको बैठा रखा है, कबीर गुरु कहते हैं कि कहो भला यह कैसे पार होगा ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

इन पाँचौं से बंधिया, फिर फिर धरै शरीर।
जो यह पाँचौ बसि करै, सोई लागै तीर ॥६६॥
निहचिन्त है करिगुरुभजै, मन में राखै साँच।
इन पाँचौं को बसि करै, ताहि न आवै आँच ॥६७॥

इन्हीं पंच विषय रूप कुसंगोंके वशमें होकर बारंबार शरीर को धारण करता है। जो इन पांचोंको जीतेगा वही संसार सिन्धुके तीर लगेगा। संसार-चिन्ताको त्यागकर एक ही सद्गुरुका चिन्तन करै तथा हृदयमें सत्यको धारण करे। और जो पचेन्द्रियोंको वश करता है उसे मायाका सन्ताप कहीं भी नहीं होता ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

पाँचौं वैरी जीव के, दलै इनै इक चित्त।
एक देखै एक ध्यावही, औगुन बहुत अमित्त ॥६८॥
पाँच सहाई जीव के, जो गुरु पूरा होय।
कोय ध्यान कोय नामरत, काज न बिगड़ै सोय ॥६९॥

विषय प्रवृत्त पांचों इन्द्रियाँ जीवके शत्रु हैं इन्हें एक मन को प्रथम वश करके फिर दमन करै। क्योंकि एक तो रूपमें आसक्त होना है और एक विषयको ध्यान करता है इसीप्रकार इनके अवगुणको कोई हिसाब नहीं है। परन्तु जब पूरे सद्गुरु मिल जाते हैं और मन वशमें हो जाता है तब वेही पाँचो जीवके मददगार बन जाते हैं। मन प्रभुके ध्यानमें और चित्त नाम चिन्तनमें मग्न होके नरजीवके मोक्ष कार्यको सम्पादन कर देते हैं ॥ ६८ ॥ ६६ ॥

इन्द्री पोषत चाह सूँ, मन में संका नाँहि।
भाव भक्ति को यों कहै, निहकरमा के माँहि ॥७०॥
काटी कूटी माछरी, छींके धरी चहोरि।
कोय इक औगुन मन बसा, दह में परी बहोरि ॥७१॥

विषयासक्त नरजीव सब निर्भय होकर बड़ी चावके साथ इन्द्रियोंको पुष्ट करते हैं। और सद्गुरु-प्रेम, भक्तिके विषये ऐसे बोलते हैं कि यह काम निकम्मेका है। भाइयो! इस मनका विश्वास मत करो यह तो ज़रासामें उस मुई मछलीके समान विषयरूप दरियामें फिरसे एक दम कूद पड़ता है जो कि काट, कूट और मसाले लगाकर सिकहर पर धरी थी ॥ ७० ॥ ७१ ॥

काया कजरी बन अहै, मन कुंजर महमन्त।
अंकुस ज्ञान रतन है, फेरैं साधू सन्त ॥७२॥
काया देवल मन धजा, विषय लहर फहराय।
मन चलते देवल चले, ताका सरवस जाय ॥७३॥

इस कायारूप केलेके वनमें विहार करनेवाला मनरूप मस्ताना हस्ती है। इसे कोई साधु सन्तही ज्ञानरूप अंकुशसे

फिराते हैं। देह देवालयके ऊपर मनरूप पताका विषय लहर (पवन) में फड़फड़ा रहा है। जिसके देह देवालय मनके चलने पर उसके पीछे चलता है तो उसका सर्वस्व सत्यानाश हो जाता है ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

काया कसो कमान ज्यौं, पाँच तत्त्व कर बान।
मारो तो मन मिरगला, नहिं तो मिथ्या जान ॥७४॥
बिना सीख का मिरग है, चहुँ दिस चरने जाय।
बाँधि लाओ गुरु ज्ञान सूँ, राखो तत्त्व लगाय ॥७५॥

कमानकी तरह कायाको कसो और पाँच तत्त्वको बाण बना लो। फिर मनरूप मिरगाको मारो, वश करो और नहीं तो शिकारी पनेका मिथ्या अभिमानको जाने दो। मनरूप मिरगा यद्यपि चारों ओर विषयमें विचरा करता है तो भी उसे शिर न होनेसे सब कोई नहीं पहिचानते। इसे तो कोई विरले गुरुज्ञानी गुरु-ज्ञान डोरीसे बाँध लाते और आत्मतत्त्वमें लगा रखते हैं ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

अपने अपने चोर को, सब कोय डारै मार।
मेरा चोर मुझको मिलै, सरबस डारूँ वार ॥७६॥

अपने अपने चोरोंको सब कोई मारे डारते हैं। लेकिन कहीं मेरा मनरूप चोर मुझे हाथ लग जाय तब तो मैं उसे सर्वस्व ही निछावर कर दूँ अर्थात् उसे मैं पिंजड़ेमें बन्द कर दूँ॥

तन तुरंग असवार मन, करम पियादा साथ।
तृष्णा चली सिकार को, विषय बान लिये हाथ ॥७७॥
जहाँ बाज बासा करै, पंछी रहै न और।
जा घट प्रेम परगट भया, नहीं करम को ठौर ॥७८॥

शरीररूप घोड़े पर मनरूप असवार कर्मरूप सिपाहीको साथमें लेके बैठा है। और तृष्णारूपी शिकारी विषयरूपी बाजको हाथमें लेकर शिकार करनेको चली है। जहाँ पर विषयरूप बाज पक्षी निवास करता है वहाँ इतर निरोध, निर्विषय मनरूप पक्षी नहीं रहने पाता। और जिस हृदयमें प्रभु विषयक लगन लगी है वहाँ कर्मको जगह नहीं है ॥७७-७८॥

कहत सुनत सब दिन गये, उरझि न सुरझा मन्न।
कहैं कबिर चेता नहीं, अजहूँ पहला दिन्न ॥७६॥

इसी प्रकार कहते सुनतेमें नर जन्मके शुभ दिन सब चले गये मन विषय उलझनसे सुलझने के प्रत्युत और उलझता ही गया। कबीर गुरु कहते हैं ऐ नरजीव! क्यों नहीं चेतता? अभी भी नरजन्मका पहला शुभ दिन है ॥ ७६ ॥

पंडित मूल विनासिया, कह क्यों विग्रह कीज।
ज्यौं जल में प्रतिबिंब है, सकल राम जानीज ॥८०॥

पोथाधारी पण्डितोंने ही ज्ञान रहस्यका मूल जड़से उखाड़ कर फेंक दिया है; अब यह कहके उनसे व्यर्थका विग्रह (युद्ध) कोई क्यों करते हो। जैसे जलमें प्रतिविम्ब है वैसेही सब घट रामको समझ लो ॥ ८० ॥

सो मन सोनो सो विषय, त्रिभुवन पति कहु कस।
कहैं कबिर बैदा नरा, सकल परा जल रस ॥८१॥

कबीर गुरु कहते हैं ऐ बैदा नर! अज्ञानी लोग! इस मनका चरित तुमसे किस तरह कहा जाय? अरे! यह तो तीनों भुवनका स्वामी और सान सिल्लीके समान आकर्षक है। जैसे जलमें सम्पूर्ण रस भरे हैं वैसेही मनमें भी सर्व विषय भरे पड़े हैं ॥ ८१ ॥

अकथ कथा या मनहि की, कहैं कबिर समुझाय।
जो याको समझा परै, ताको काल न खाय ॥८२॥
समुद्र लहरि जो थोरिया, मन लहरै घनियाय।
केती आय समाय है, केति जाय बिसराय ॥८३॥

कबीर गुरु समझाकर कहते हैं कि इस मनकी कथा अकथनीया है। जो इसे अच्छी तरह समझ लेता है उसे काल भी नहीं खाता है। समुद्रकी तरंगसे मनकी तरंग अधिक है। इसकी कोई संख्या नहीं है न जाने कितनी आईं और विला गईं ऐसे कितनी भूल भी गईं कौन गिने ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

यह तो गति है अटपटी, सटपट लखै न कोय।
जो मन की खटपट मिटै, चटपट दरसन होय ॥८४॥
चंचल मन निश्चल करै, फिर फिर नाम लगाय।
तन मन दोऊ बसि करै, ताका कछु नहिं जाय ॥८५॥

इस ज्ञानको समुझ लेना बहुत मुश्किल है एक दम कोई नहीं समझता। जब मनकी चंचलता मिट जाती है तब सहजे ही शीघ्र दर्शन (ज्ञान) हो जाता है। अभ्यासीको उचित है कि चपल मनको हठ पूर्वक पुनः पुनः प्रभु नाममें लगाके निश्चल करे। क्योंकि जिसके तन और मन दोनों वशमें हो जाते हैं उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं होता ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

मेरा मन मकरन्द था, करता बहुत बिगार।
सूधा है मारग चला, हरि आगे हम लार ॥८६॥
सुर नर मुनि सबको ठगैं, मनहि लिया औतार।
जो कोई याते बचे, तीन लोक ते न्यार ॥८७॥

प्रथम मेरा मनरूप हस्ती अवश होनेसे बहुत कुछ भजनमें विघ्न किया करता था। अब वशमें होनेसे प्रभु प्राप्तिका रास्ता पकड़ लिया तो मैं भी प्रभुके साथ हो लिया। किसोको नहीं छोड़ता सुर, नर, मुनि आदि सबहीको ठगा व ठगता है; मन हीके वश होके तो सब बार बार जन्म लेते हैं। जो कोई इससे बचता है वह तीनों भुवनसे अलग (आत्मनिष्ठ) रहता है॥

कुंभै बाँधा जाल रहै, जल बिनु कुंभ न होय।
ज्ञानै बाँधा मन रहै, मन बिनु ज्ञान न होय ॥८८॥

ज्ञान ओर मनका परस्पर ऐसा सम्बन्ध है जैसे जल और मृत्तिका का। देखिये जब मिट्टीका घड़ा बनता है तब उसमें जल-बधाता (रहता) है ओर जब जल मिट्टीमें पड़ता है तब बन्धा नेसे कुंभ बनता है। इसी प्रकार मन शैतानको ज्ञानसे बाँधा जाता है तब मनमें ज्ञान होता है॥ ८८॥

धरती फाटै मेघ मिलै, कपड़ा फाटै डौर।
तन फाटै को औषधि, मन फाटै नहिं ठौर ॥८९॥
मेरे मन में परि गई, ऐसी एक दरार।
फाटाफटिक पषान ज्यूँ, मिलै न दूजी बार ॥९०॥

फटी हुई जमीन वर्षा-जलसे मिल जाती है, और कपड़ा फटने पर डोरेसे। इसी प्रकार शरीरका घाव औषधिसे पूर जाता है परन्तु मनको मन या आत्मासे फटने (विमुख होने) पर कहीं भी स्थिति नहीं होती। क्योंकि मन फटनेसे एक ऐसी दरार हो जाती है कि वह दूसरी बार ऐसे नहीं मिलती जैसे पाषाणका चट्टान॥ ८९॥ ९०॥

मन फाटे यायक बुरे, मिटै सगाई साक।
जैसे दूध तिवास को, उलटि हुआ जो आक ॥६१॥

· जिससे मन फट जाता है उससे सारे मुहब्बती सम्बन्ध मिट जाते हैं। और तो और उसके वचन तो ऐसे कड़वे लगते हैं जैसे फटे हुये तिवासो दूध। तिवास नाम है थूहरका; कहते हैं कि थूहरका दूध फटने पर आक के समान कड़ुवा हो जाता है ॥ ६१ ॥

चंदन भाँगा गुन करै, जैसे चोली पान।
दुइ जो भाँगा ना मिले, इक मोती इक मान ॥६२॥
मोती भाँग्यो बेधताँ, मन भाँग्यो कूबोल।
बहुतसयाना पचिगया, परि गई गाँठी गोल ॥६३॥

चन्दनके लकड़े टूटे हुए भी ऐसे गुणदायक होते हैं जैसे चोली पान। परन्तु मोती और मन ये दोनों भंग होने पर नहीं मिलते। बेधनेसे मोती और कटुक बचनसे मन भग्न हो जाता है। यद्यपि इन्हें बड़े बड़े सयाने जोड़ने चले तो भी गोल गाँठ बीच में खटकतीही रही ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

बात बनाई जग ठग्यो, मन परमोधा नाँहि।
कहैं कबिर मन लै गया, लख चौरासी माँहि ॥६४॥

जो रोचक भयानक बातोंको बना २ संसारको ठगा और निज मनका प्रबोध नहीं किया। कबीर गुरु कहते हैं उसका अनिग्रह मन उसे ही खुद चौरासीमें ले गया व ले जायगा ॥

मनुवा तूँ क्यौं बावरा, तेरी सुध क्यौं खोय।
मौतआय सिरपर खड़ी, ढलते बेरे न होय ॥६५॥

ऐ मन दिवाने ! अपनी सुधि तू आप क्यों गमाता है। होश कर, मौत आके जब शिर पर सवार होगी तब तेरी शान उतरते देरी न लगेगी ॥ ६५ ॥

मन अपना समुझाय ले, आया गाफ़िल होय।
बिन समुझे उठि जायगा, फोकट फेरा तोय ॥६६॥

अपने मनको अच्छी तरह समझाले, ऐ नरजीव ! यदि नर देहमें आके भी ग़फ़लत (भूल) करेगा। और समझे बिना इसे छोड़ चल धरेगा तो ध्यान रखो व्यर्थमें तू चौरासी चक्कर खायगा ॥ ६६ ॥

मनुवाँ तो पंखी भया, जहाँ तहाँ उड़ि जाय।
जहँ जैसी संगति करै, तहँ तैसा फल खाय ॥६७॥

यह मन पक्षी समझे बिना जहाँ तहाँ विषयोंमें उड़ा करता है। संग कुसंगके अनुसार कटु मिष्ट फल भी भोगा करता है॥

मन पंखी बिन पंख का, लख जोजन उड़िजाय।
मन भावे ताको मिले, घट में आन समाय ॥६८॥

बिना पंखका यह मन रूप पक्षी ऐसा वेग वाला है कि क्षण भरमें लाखों योजनकी खबर लेता है। और जो चाहे सो मिलके फिर घटमें आ घुसता है ॥ ६८ ॥

सात समुद्रकी एक लहर, मन की लहर अनेक।
कोइएक हरिजन ऊबरा, डूबी नाव अनेक ॥६९॥

सातों सागरोंमें एक ही प्रकारकी तरंगे उठती हैं परन्तु इस एक लहरी मनकी तरंगे अनेक हैं। इसकी तरंगमें अनेकों नाव डूब गई विरला कोई एक हरिजनका उद्धार हुआ व होता है ॥

मन सब पर असवार है, पैंडा करै अनंत।
मनही पर असवार रहै, कोइक विरला संत॥१००॥

यह मन पिशाच सबके ऊपर सवार है और अपने आने जाने का यह अनेकों मार्ग बना लेता है। इसके ऊपर तो कोई एक विरला सन्त सवारी (वशमें) करता है ॥ १०० ॥

कबीर मन मिरतक भया, दुर्लभ भया शरीर।
पीछे लागा हरि फिरै, यूँ कहि दास कबीर॥१०१॥

कबीर गुरु ऐसे कहते हैं कि जब यह मन मृतक दशा धारण कर शरीरको भी अभाव कर देता है। तब उसके पीछे रक्षा निमित्त हरि स्वयं फिरा करते हैं ॥ १०१ ॥

मन जाले तो चलन दे, फिर फिर नाम लगाय।
मन चलते तन थंभ है, ताका कछू न जाय॥१०२॥

मन जाय तो जाने दो तनको सँभाल रक्खो; और मनको वारम्बार फिराके गुरु ज्ञानमें लगाया करो। क्योंकि मन चलते हुये भी जिसका तन स्थिर है उसको कुछ बिगाड़ नहीं होता ॥

यह मन अटक्यो बावरो, राख्यो घट में घेर।
मन ममतामें गलि चले, अंकुस दै दै फेर॥१०३॥

यह दिवाना मन कदाचित विषयमें जाके अटक जाय तो उसे घेर कर तनमें ऐसे रक्खो कि निकलने ही न पावे। और जो मोह ममतामें अरुझाय तो विचार रूप अंकुश दे देके सुरझाया करो ॥ १०३ ॥

मन मारी मैदा करूँ, तन की काढूँ खाल।
जिभ्या का टुकड़ा करूँ, हरि बिन काढ़ै ख्याल॥१०४॥

यदि मन आत्मचिन्तनके सिवा और कुछ संकल्प करे तो उसे ऐसी मार मारो कि मैदा हो जाय; और तनकी खाल खींच कर भूस भर दो। और प्रभु-चर्चाके अतिरिक्त जिह्वा कोई और बात चलावे तो बस! उसे एक दम दो टुकड़ा कर दो देर मत लगाओ॥ १०४॥

तनका वैरी कोइ नहीं, जो मन सीतल होय।
तूँ आपा को डारि दे, दया करे सब कोय॥१०५॥

शरीरका शत्रु कोई भी नहीं है, यदि मन कहीं शान्त हो। इसका मज़ा तो नखसे शिखा पर्यन्त अभिमानको छोड़कर देख लो एक दो नहीं सारे संसार दया करने लग जायेंगे॥ १०५॥

मन राजा मन रंक है, मन कायर मन सूर।
शून्य शिखरपर मन रहै, मस्तक पावै नूर॥१०६॥

धनी, गरीब और कादर, वीर होना तो मनिरामके लिये बॉये हाथका खेल हे। अभ्यासियोंका मन तो सर्वोच्च निरालम्ब आत्म देशको पहुँच जाता और वहाँसे बिजुलीके समान चेहरे पर अपना प्रकाश फेंकता है॥ १०६॥

तेरि जोतिमें मन धरा, मन धरि होहु पतंग।
आपा खोवे हरि मिले, तुझ लागा रहे रंग॥१०७॥

अपने मनको पकड़कर अपनी आत्म ज्योति का पतंग बना दो। और मिथ्या अभिमानको छोड़ देने पर प्रभु जरूर मिल जायेंगे फिर तुझ पर प्रभुका अमिट रंग चढ़ जायगा॥ १०७॥

यह मन हरि चरणे चला, माया मोह से छूट।
बेहद माहीं घर किया, काल रहा शिर कूट॥१०८॥

माया मोहसे छूटकर यह मन सर्व अज्ञान हारी गुरु रूप हरि की शरणमें चला। और जब वहाँ सद्गुरु कृपासे अखण्डात्म स्वरूपमें स्थिर हो गया तब काल स्वयं शिर कूट २ कर रह गया कुछ भी न चला ॥ १०८ ॥

मिरतक को धीजौं नहीं, मेरा मन बीवै।
बाजैं बाव विकार की, मूवा भी जीवै ॥१०९॥

मरे हुए मनको भी मेरा मन विश्वास नहीं करता कि मर गया है बल्कि उससे भी डरता है। क्योंकि विषय विकार रूप वायुके लगते ही यह मुर्दा भी जी उठता है। भाइयों! ऐसे मन से सदा हुशियार रहो ॥ १०९ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित मनको अङ्ग समाप्त ॥ २९ ॥
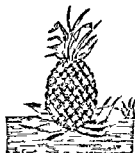
अथ मायाको अंग ॥२०॥

कबीर माया मोहिनी, माँगी मिलै न हाथ।
मना उतारी जूठ करु, लागी डोलै साथ ॥१॥

ऐ कबीर! यह कनक और कामिनीरूप माया बड़ी मोहिनी है; यों तो सबको मोहती फिरती है और चाहे तो हाथ नहीं आती। और उच्छिष्ट समझकर मनसे अभाव कर दो तो पीछे लगती है। 'माँगे तो भागे त्यागे तो आगे' यह सूक्ति ठीक है ॥

कबीर माया पापिनी, फँद लै बैठी हाट।
सब जग तो फंदै पड़ा, गया कबीरा काट ॥२॥

यह माया बड़ी हरामखोरी है; फन्दाओंके मानों बाजार लगा बैठी है। गुरु सत्संग विमुख जग जीव सब उसके फन्देमें पड़े व पड़ रहे हैं। कोई एक सत्संगी जीव उसे काटकर निकला व निकलता है ॥ २ ॥

कबीर माया पापिनी, लोभ भुलाया लोग।
पूरी किनहु न भोगिया, इसका यही बिजोग॥३॥
कबीर माया पापिनी, हरि सों करै हराम।
मुख कडियाली कुबुधि की, कहन न देई राम ॥४॥

ऐ कबीर! इस पापिनी मायासे हुशियार रहो; इसकी लालचने सब लोगोंको आत्मपथसे गिराया है। और इसे भी कोई पूरी तरह भोगने नहीं पाया क्योंकि इसका यही (अथ यौवनमें) वियोग है। इस दुर्बुद्धिरूपी माया ऐसी जहरीली है कि हरि सों हराम करके मुखसे राम भी कहने नहीं देती ॥३-४॥

कबीर माया बेसवा, दोनूँ की इक जात।
आंवत को आदर करैं, जात न बूझैं बात ॥५॥
कबीर माया मोहिनी, मोहै जान सुजान।
भागे हू छूटै नहीं, भरि भरि मारै बान ॥६॥

ऐ कबीर! माया और वेश्या ये दोनों की एकही जात जानो आतेही समय आदर करती हैं और जाते वक्त तो बात भी नहीं पूछतीं। ऐसी मोहिनी माया है कि ज्ञानी अज्ञानी सबहीको मोहती है। उसकी विलासी तिरछी नजर रूप बाण ऐसा तीक्ष्ण है कि भागने पर भी नहीं छूटने पाता ॥५॥६॥

कबीर माया मोहिनी, जैसी मीठी खाँड़।
सतगुरु की किरपा भई, नातर करती भाँड़ ॥७॥
कबीर माया मोहिनी, सब जग घाला घानि।
कोइ एक साधू ऊबरा, तोड़ी कुल की कानि ॥८॥

ऐसी मोहिनी माया मीठी है जैसी खाँड। सद्गुरुकी कृपा हुई बच गये नहीं तो भाँड़ कर देती, किसी दीनका नहीं रह जाते। इसने अपने मोहरूप कोल्हूमें घालकर सबको घानी बना ली। जिसने कुल मर्यादा छोड़ी ऐसे कोई एक सन्त इससे बच चले ॥७॥८॥

कबीर माया मोहिनी, भइ अँधियारी लोय।
जो सोये सो मुसि गये, रहे वस्तु को रोय ॥९॥
कबीर माया डाकिनी, सब काहू को खाय।
दाँत उपारूँ पापिनी, सन्तो नियरे जाय ॥१०॥

इस मोहिनी मायाके पीछे सब लोग अन्धे हो गये। जो

मोह नींदमें सोये वे मूये गये और वस्तुके लिये रोते रह गये अथवा सोये हुयेको यह माया चोरवत्‌ धनके मूसती है। यह ऐसी खाऊँ माया है कि सबको खाती है। ऐ पापिनी! खबरदार! कहीं सन्तोंके नज़दोक गई तो दाँत उखाड़ डालूँगा॥

कबीर माया रूखड़ी, दो फल की दातार।
खावत खरचत मुक्ति भय, संचत नरक दुवार॥११॥
कबीर माया सूम की, देखन ही का लाड़।
जो यामें कौडी घटै, तौ हरि तोड़ै दाड़॥१२॥

ऐ कबीर! सम्पत्तिरूपी माया वृक्षमें दो फल लगे हैं। जो अनासक्त हो खाने खर्चनेमें इसे उपयोग करते हैं सो तो मुक्त होते हैं और आसक्ति वश सग्रह करनेवाले नरकमें जाते हैं। सूमकी सम्पत्ति देखनेहीको प्यारी है। जो कहीं उसमेंसे कोड़ी भी घट जायगी तो मालिक उसकी हड्डी २ तोड़ डालेंगे॥११-१२॥

कबीर माया जात है, सुनो शब्द निज मोर।
सखियों के घर साध जन, सूमौं के घर चोर॥१३॥
कबीर या संसार की, झूठी माया मोह।
जिहि घर जिता बधावना, तिहि घर तेता दोह॥१४॥

ऐ कबीर! माया जाती हुई कहती है कि मेरा शब्द सुन लो। मैं दानियोंके घरसे सन्तोंके सत्कार द्वारे और सूमोंके घरसे चोरोंकी चोरी द्वारे जाती हूँ। सांसारिक सम्पत्तिकी मोह माया झूठी है। जहाँ जितनी सम्पत्तिकी उत्सव व वृद्धि वहाँ उतनीही विपत्ति भी है, इसके सग्रहमें सुख हर्गिज़ नहीं॥

कबीर माया यौं कहै, तू मति देई पीठि।
और हमारैं बसि पड़ा, रह्या कबीरा रूठि॥१५॥

माया आगे जीव सब, ठाढ़े रहे कर जोरि।
जिन सिरजै जल बुंद सों, तासों बैठा तोरि ॥१६॥

माया लोगोंसे इस प्रकार कहती है कि तू मुझसे विमुख मत हो। सब तो हमारे वशमें होईही हैं केवल सत्संगी जन हमसे उदासीन रहते हैं। मायाके आगे मायावारो लोग सब हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। और जिसने जल बुन्दसे पैदा किया उससे प्रीति तोड़ बैठे हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

माया करक कदीम है, या भौसागर माँहि।
जंबुक रूपी जीव है, खैंचत हीमरि जाँहि ॥१७॥
माया झोला मारिया, नाभि न बैठे साँस।
जिवरा तो संसै गला, राम कहन की आस ॥१८॥

संसार सागरमें माया सदासे हड्डियोंका जखीरा बनी है और विषयी, पामर जीव सब शृगालरूप हैं ज्योंही उसे खैंचनेको चाहते त्योंही मर जाते हैं। सद्गुरु विमुख लोगोंको मायाने ऐसा झपाटा लगाया है कि उन्हें ऊर्ध्व श्वास होगया नाभिमें नहीं बैठता। जीव संशयमें खिन्न होगया राम कहनेकी आशाही आशा रह गई ॥ १७ ॥ १८ ॥

माया सेती मति मिलो, जो सोवरिया देहि।
नारद से मुनिवर गले, क्याहि भरोसा तेहि ॥१९॥
माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि माँहि परन्त।
कोइ एक गुरु ज्ञान तें, उबरे साधू सन्त ॥२०॥

मायासे मत मिलो चाहे स्वर्ण सा शरीर क्यों न हो। क्या उसका विश्वास? जब कि नारद ऐसे मुनि श्रेष्ठ उसमें पिघल

गये ॥ माया दीपककी शिखा है और नर जीव पतंग हो उसमें पड़ते और मरते हैं। कोई विरले सन्त सद्गुरु ज्ञान महिमा से बचे और बचते हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

माया दोय प्रकार की, जो कोय जानै खाय।
एक मिलावै राम को, एक नरक ले जाय ॥२१॥
माया मेरे राम की, मोदी सब संसार।
जाकी चीठी ऊतरी, सोई खरचन हार ॥२२॥

माया दो प्रकारकी है यदि कोई इसे सदुपयोग करना जाने तो यही परमार्थ द्वारे रामसे मिलाती और दुरुपयोगसे नरकमें ले जाती है। सम्पूर्ण संसार सम्पत्ति मेरे रामकी माया है और संसारी लोग सब दुकानदार हैं, जिसके नामके हुक्मनामा आता वही खर्च (भोग) करता है नहीं सब संरक्षक हैं ॥२१ ॥ २२॥

माया संचै संग्रहै, वह दिन जानै नाँहि।
सहस बरसकी सब करै, मरै मुहूरत माँहि ॥२३॥
माया छाया एक सी, बिरला जानै कोय।
भगता के पाछै फिरै, सनमुख भागै सोय ॥२४॥

मायाको जोड़ जोड़ संग्रह करते हैं मौतका दिन नहीं जानते एकही मुहूर्तमें क्यों न मर जायँ। लेकिन जीनेकी आशा सबको हज़ार वर्षकी है। रामकी माया और वृक्षकी छायाका एकही स्वभाव है इसे कोई विरलेही जानते हैं। यह भगने वाले भक्तोंके पीछे पड़ती है और सामने जाने वालेसे कोशों दूर भागती है ॥ २३ ॥ २४ ॥

माया मन की मोहिनी, सुर नर रहे लुभाय।
इन माया सब खाइया, माया कोय न खाय ॥२५॥

माया दासी साधु की, ऊभी देइ असीस।
विलसि और लातै छरी, सुमिरिसुमिरिजगदीस॥२६॥

मन मोहिनी मायाके मोहमें सुरनर सबही लुभा रहे हैं। मायाने सबको भोग लिया और मायाको किसीने भी नहीं। माया सन्तोंकी चेरी है; सदा खड़ी हो आशीर्वाद किया करती है। सन्तजन प्रभु नामके प्रतापसे लाते और छड़ीके हाथे इसे परमार्थमें लगाते हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥

माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस।
जा ठगने ठगनी ठगी, ता ठग को आदेस॥२७॥
माया मुई न मन मुआ, मरि मरि गया शरीर।
आशा तृष्णा ना मुई, यों कथि कहैं कबीर॥२८॥

विचित्र ठगिनी माया बनी है सब देशको ठगती फिरती है। परन्तु इस ठगिनीको जिसने ठगा उस ठगको धन्यवाद सह नमस्कार है। माया और मन दोनों अमर हैं बारम्बार शरीरही मरता है। इसी प्रकार आशा, तृष्णा भी नहीं मरती ऐसा कथन सद्गुरु कबीरका है ॥ २७ ॥ २८ ॥

माया मरि मन मारिया, राखया अमर शरीर।
आशा तृष्णा मारि के, थिर ह्वै रहैं कबीर॥२६॥
माया कालकी खानि है, धरे त्रिगुण विपरीत।
जहँजाय तहँ सुखनहीं, या माया की रीत॥३०॥

जिन मुमुक्षुओंने जीते जी माया, मनको मारके शरीरको अमर बना लिये हैं। वेही आशा, तृष्णाको भी मारके स्थिर ज्ञानारूढ़ जीवन्मुक्तिके आनन्द लेते हैं। ई माया मृत्युकी खानि है आत्म विमुखोंको त्रिगुण माया मय शरीर धराया करती है।

ये जीव माया वश जहाँ २ जिस २ योनिमें जाता है कहीं भी सुख नहीं पाता है यही मायाकी विचित्र चाल है ॥२६॥३०॥

माया तरुवर त्रिविधका, शोक दुःख संताप।
शीतलता सुपनै नहीं, फल फीका तन ताप ॥३१॥
जग हटवारा स्वाद ठग, माया वेस्या लाय।
रामनाम गाढ़ा गहो, जानि जहु जनम गँवाय ॥३२॥

माया वृक्षमें शोक, दुःख और सन्ताप ये तीन प्रकारके फल लगे हैं। इसकी छायामें शान्ति तो स्वप्नमें भी नहीं है और इसका फल भी रसहीन तथा शरीर सन्तापक है। संसार बाजारमें इन्द्रियोंका स्वाद यही ठग है माया वेश्या विषय भोग फैला रक्खी है। राम नामको दृढ़कर पकड़ लो उसमें नर जन्मको मत गमाओ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मैं जानूँ हरिसूँ मिलूँ, मो मन मोटी आस।
हरि बिच डारै अन्तरा, माया बड़ी पिचास ॥३३॥
मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सब को खाय ॥३४॥
झीनी माया जिन तजी, मोटी गई बिलाय।
ऐसे जन के निकट सें, सब दुख गये हिराय ॥३५॥

मैं जानता कि प्रभुसे मिलूँगा मेरे मनमें बड़ी हौसला थी। लेकिन ई माया ऐसी पिशाचनी है कि बीच २ में विघ्न किया करती है। वासना रूपी झीनी माया दुस्तर है। पीर पैगम्बर आदि सबको खा गई। जिसने वासना रूपी झीनी मायाको त्याग दी उसकी मोटी स्वयं नष्ट हो गई। ऐसे महात्माके नज़दीकसे जन्मादि सबही दुख भग जाते हैं ॥३३॥३४॥३५॥

खान खरच बहु अन्तरा, मन में देखु विचार।
एक खवावै साधु को, एक मिलावै छार ॥३६॥
आँधी आई प्रेम की, ढही भरम की भीत।
माया टाटी उड़ि गई, लगी नाम सों प्रीत ॥३७॥

मनमें विचार देखो, खाने व खर्चनेमें भी बड़ा भेद है। एक तो सन्तोंके भोजन सत्कारमें खर्चता है और एक वेश्याको निछावर कर छारमें मिलाता है। [प्रेम रूपी ववण्डरको आतेही भ्रम रूप कोट ज़मीन दोस्त हो गया। और जब सद्गुरु ज्ञान में प्रीति हुई तब मायाका पड़दा भी फट गया ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

मीठा सब कोय खात है, विष है लागै धाय।
नीम न कोई पीवसी, सबै रोग मिटि जाय ॥३८॥
रामहि थोरा जानि के, दुनिया आगे दीन।
जीवन को राजा कहै, माया के आधीन ॥३९॥

विषय सुखको मीठा समझकर सब कोई खाता है जिसका परिणाम फल विष होता है। परन्तु कडुआ नीमको तरह विवेक वैराग्यादिको आँखे बन्दकर कोई नहीं पीता जिससे कि जन्मादि सबही रोग निवृत्त हो जायँ। थोड़ा 'राम राम'कहना सीख लिया साधुके वेष बनाके संसारी लोगोंके आगे लाचार हो रहे हैं। माया खातिर माया धारी नरजीवोंको महाराजा! अन्नदाता! इत्यादि कहते फिरते हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

या माया के कारनै, हरि सों बैठा तोरि।
माया करक कर्दम है, केता गया चंचोरि ॥४०॥

अज्ञानी लोग इस तुच्छ मायाहीके वास्ते सर्वात्मरूप हरि

सो भी हेत तोड़ बैठे और यह माया ऐसी अनादि अस्थि पंजर है कि इसे कितने कूकर, सियार बनके नोच नोच कर चले गये। कोई कार्य सिद्ध नहीं हुआ ॥ ४० ॥

पूत पियारा बाप को, गोहन लागा धाय।
लोभ मिठाई हाथ दे, आपन गया भुलाय ॥४१॥
दीन्हीं खाँड़ पट्टकि कर, मन में रोस उपाय।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाय ॥४२॥

पिताको पुत्र प्रिय होता है, मारे प्रेमके साथे साथ दौड़ा करता है। क्षण सुख मिठाईकी लालचमें हाथ देके अपने आपको भूल गया। फिर खाँड़के दोना फेंक कर मनमें रुष्ट हो गया। और रोते रोते प्रिय पितासे जा मिला ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

मोती उपजे सीप में, सीप समुन्दर होय।
रंचक संचर रहि गया, ना कछु हुआ न होय ॥४३॥
भूले थे संसार में, माया के संग आय।
सतगुरु राह बताइया, फेरि मिलै तिहि जाय ॥४४॥

संसार सिन्धुके सीपरूप नरदेहमें इन्द्रियोंके निरोधसे आत्मज्ञान रूप मोती उत्पन्न होता है। लेकिन जैसे सीपमें ज़रा भी संचर नाम छिद्र रह जाय तो। कुछ भी नहीं होने पाता तैसेही मनमें विकार होनेसे गुरु ज्ञान नहीं ठहरता। संसारमें आके मायाके संगमें भूल गये थे। सद्गुरुकी कृपा हुई रास्ता मिल गया फिर अपने आपमें जा मिले ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

जिनको साँई रँग दिया, कबहु न होय कुरंग।
दिन दिन बानी आगरी, चढ़ै सवाया रंग ॥४५॥

जिन जिज्ञासुओंको सद्गुरु स्वामीने अपने ज्ञान रंगमें रंग दिया उसका रंग कभी बदरंग नहीं होता। प्रति दिन चातुर्य पूर्ण ज्ञान वाणी होती है और सवाया ज्ञानरंग चढ़ता जाता है॥

सौ पापन को मूल है, एक रुपैया रोक।
साधूजन संग्रह करै, हारै हरि सों थोक ॥४६॥
साधू ऐसा चाहिये, आई देई चलाय।
दोस न लागै तासु को, शिर की टरै बलाय ॥४७॥

सैकड़ों पापोंका कारण एक रुपया है जो विरक्त होके आसक्ति पूर्वक संग्रह करते हैं। इसी कारण हरिसे थोक (थैला) हारते अर्थात् आत्म विमुख होते हैं। साधु को तो ऐसा चाहिये कि 'ज्यों आवे त्यों फेरी हो' इसमें कोई दोष नहीं लगता और शिरकी बला भी टल जाती है ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

सन्तो खाई रहत है, चोरा लीन्ही जाय।
कहैं कबीर विचारि के, दरगह मिलिहै आय ॥४८॥
सुकृत लागै साधु की, बादि विमुख की जाय।
कै तो तल गाड़ी रहै, कै कोय और खाय ॥४९॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि सन्तोंके खाया हुआ द्रव्य जमा रहता है जब चाहे, तब मालिकके दरबारमें मिल जाता है। और जो चोर चोरा ले जाता है वह तो नष्टही होजाता है। परोपकारी साधुका धन शुभ कर्ममें लग जाता है परन्तु सन्त गुरु विमुखोंका सचित द्रव्य योंही व्यर्थमें चला जाता है या तो जमीनमें गाड़े या चोरके द्वारे ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

या सारा जग भरमिया, सबको लगी उपाध।
यहि तारन के कारने, जग में आये साध ॥५०॥

कबीर गुरु कहते हैं कि "द्रव्यको चोट कठिन कै मारा" इत्यादि द्रव्यरूपी मायाकी मारसे जगज्जीव सब भ्रममें पड़े हैं उनके पीछे कठिन उपाधि लगी है। इन्हें इस उपाधिसे उद्धारके वास्ते संसारमें सन्त आये हैं ॥ ५० ॥

कबीर माया साँपिनी, जनता ही कौं खाय।
ऐसा मिला न गारुड़ी, पकड़ि पिटारे घाँय ॥५१॥

ऐ कबीर! सर्पिणीरूप माया जन समूहोंको काट खाई व खाती है। ऐसा कोई गारुड़ी (विष उतारनेवाला) नहीं मिला कि उसे पकड़कर पिटारेमें बन्द कर दे ॥ ५१ ॥

माया का सुख चार दिन, कहँ तूँ गहे गमार।
सपने पायो राज धन, जात न लागे वार ॥५२॥

मायाका सुख बहुत थोड़ा चार दिनका है 'अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता" ऐ मूर्ख! इसे क्यों पकड़ता है। अरे! स्वप्नकी राज्य सम्पत्तिके समान इसे जाते देरी नहीं लगती ॥ ५२ ॥

करँक पड़ा मैदान में, कूकर मिले लख कोट।
दावा कर कर लड़ि मुए, अन्त चले सब छोड़ ॥५३॥

मैदानमें अस्थिपंजर पड़ा देखकर लाखों करोड़ों कुत्ते जुट गये। और अपना अपना दावा करके लड़ मरे और अन्तमें छोड़ चले। यही हाल मायाके पीछे अज्ञानियोंका है ॥ ५३ ॥

माया माथै सींगड़ाँ, लम्बे नौ नौ हात।
आगे मारे सींगड़ाँ, पाछे मारे लात ॥५४॥

मायाके मस्तक पर बड़े लम्बे नव नव हाथकी सींग है। आती समय तो सीनेमें सींग मारती है जिससे अहंकारके मारे सीना तन जाता है और जाते वक्त पीछेसे लात मारती है

जिससे कूबड़ा बन जाता और नीचा देखता लकड़ीके सहारे चलता है। भावार्थ—मायाका स्वभाव है आते समय अहंकारी और जाते समय नरजीवको दीन लाचार बनाके चली जाती है॥

गुरु को चेला बीष दे, जो गाँठी होय दाम।
पूत पिता को मारसी, ये माया के काम ॥५५॥

गुरुको शिष्य और पिताको पुत्र विष तबही खिलाता है जब कि गुरु, पिताके पास द्रव्य होता है और खर्चनेको नहीं देता। ये सब उपद्रव द्रव्यका है ॥ ५५ ॥

ऊँची डाली प्रेम की, हरिजन बैठा खाय।
नीचे बैठी बाघिनी, गीर पड़े तिहि खाय ॥५६॥

प्रेमरूपी ऊँची शाखा पर बैठके हरिजन निवृत्तिरूप आनन्द फलको खाते हैं। जो निवृत्तिसे प्रवृत्ति मार्गमें गिरते हैं उन्हें नीचे बैठी हुई मायारूपी बाघिनी खा लेती है ॥ ५६ ॥

माया दासी संत की, साकट की शिर ताज।
साकुटकी शिर मानिनी, सन्तों सहेलि लाज ॥५७॥

माया सन्तोंकी दासी और साकटोंके शिर मुकुट है। यही कारण है कि साकटोंसे मान चाहती और सन्तोंसे लाज करती है ॥ ५७ ॥

माया माया सब कहै, माया लखे न कोय।
जो मनसे ना ऊतरे, माया कहिये सोय ॥५८॥

माया माया सब कोई कहते हैं लेकिन मायाका स्वरूप नहीं चीन्हते। माया उसीका नाम है जो मनमें अति आसक्ति है ॥५८॥

माया छोरन सब कहै, माया छोरि न जाय।
छोड़नकी जो बात करु, बहुत तमाचा खाय ॥५९॥

माया त्यागनेको सब आचार्य कहते हैं और त्यागा नहीं जाता तो त्यागकी बात करना व्यर्थ है। इस हालतमें मायाकी मार खूब खायँगे ॥ ५६ ॥

मन मते माया तजी, यूँ करि निकस बहार।
लागी रहि जानी नहीं, भटकी भयो खुवार ॥६०॥

मनमती लोग मायाको त्यागकर घरसे निकल पड़े, और विरक्त वेष बना लिये। न मन, मायाकी आसक्ति छूटी न ज्ञान हुआ योंही भटक २ ख़राब हो गये ॥ ६० ॥

माया सम नहिं मोहिनी, मन समान नहिं चोर।
हरिजन समनहिंपारखी, कोई न दीसे और ॥६१॥

मायाके समान मोहिनी और मनके सदृश चोर तथा हरिजनके बराबर पारखी और कोई संसारमें नहीं दीखता है ॥६१॥

छाड़े बिन छूटै नहीं, छोड़न हारा राम।
जीव जतन बहुतहि करे, सरे न एकौ काम ॥६२॥

रमैया राम छोड़ने वाला स्वयं है, माया आसक्ति जबतक यह नहीं छोड़ेगा तबतक नहीं छूट सकती। और आसक्ति छूटे बिना नरजीवका प्रयत्न भी व्यर्थ जाता है एक भी कार्य सिद्ध नहीं होता ॥ ६२ ॥

कबीर माया डाकिनी, खाया सब संसार।
खाइ न सके कबीर को, जाके नाम अपार ॥६३॥

कबीर गुरु कहते हैं कि ई लाँऊ माया सब संसारको खा गई। केवल उसीको न खा सकी जो जीव सद्गुरु नाम (ज्ञान) के आश्रय है ॥ ६३ ॥

माया चार प्रकार की, इक बिलसे इक खाय।
एक मिलावे नाम को, एक नरक लै जाय ॥६४॥

माया चार प्रकारकी है, एक सुख भोगाती है, दूसरी खा जाती है, तीसरी रामसे मिलाती और चौथी नरकमें ले जाती है ॥ ६४ ॥

माया जुगवे कौन गुन, अंत न आवे काज।
सोई नाम जोगावहु, भय परमारथ साज ॥६५॥
माया संखा पदुम लौं, भक्ति बिहुन जो होय।
जम लै ग्रासै सो तेहि, नरक पड़े पुनि सोय ॥६६॥

जो अन्तके साथी नहीं हैं ऐसी मायाके संचय और रक्षामें क्या फ़ायदा। जिससे परमार्थका साज सुधरे उसी रामनामको रक्षा करो। सद्गुरु भक्ति विमुख चाहे माया (द्रव्य) पद्म, और संख संख्या पर्यन्त क्यों न हों वह मृत्यु-मुखसे बचाकर नरकसे कदापि नहीं उबार सकती ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

मन ते माया ऊपजै, माया तिरगुण रूप।
पाँच तत्त्व के मेल में, बाँधे सकल सरूप ॥६७॥

त्रिगुण रूप मायाकी उत्पत्ति केवल मनसे है। और पाँच तत्त्वके संघातमें उसने सकल जीवोंको बाँध रक्खा है ॥ ६७ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित मायाको अङ्ग समाप्त ॥ ३० ॥

अथ कनक कामिनीको अंग ॥३१॥

चलो चलो सबको कहै, पहुँचै विरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय ॥१॥

मालिकसे मिलनेके लिये सब कोई चला चली कर रहे हैं लेकिन वहाँ तक विरले कोई पहुँचते हैं। क्योंकि कनक और कामिनीरूपी घाटी बड़ा कठिन चढ़ाव है, इन दोनोंको पार करना बहुत मुश्किल है ॥ १ ॥

एक कनक अरु कामिनी, ये लम्बी तरवार।
चाले थे हरि मिलन को, बीचहि लीन्हा मार ॥२॥

कनक और कामिनीरूपी तलवार बड़ी लम्बी है। चले तो थे प्रभु मिलनेके लिये। परन्तु इन्होंने अधबीचमें मार डाला। नहीं पहुँचने पाये ॥ २ ॥

एक कनक अरु कामिनी, दोउ अगिन की झाल।
देखत ही ते पर जरै, परसि करै पैमाल ॥३॥

कनक और कामिनी ये दोनों अग्निकी ज्वाला हैं। दर्शन मात्रसे वे जलाती हैं और स्पर्श करने पर तो सत्यानाश कर डालती है ॥ ३ ॥

एक कनक अरु कामिनी, विष फल लिया उपाय।
देखत ही ते विष चढ़ै, चाखत ही मरि जाय ॥४॥

कनक और कामिनी ये दोनों ऐसा विष फल है कि देखत

ही नससे शिखा पर्यन्त विष व्याप जाता है और जो खाता वह तो मरही जाता है ॥ ४ ॥

एक कनक अरु कामिनी, तजिये भजिये दूर ।
गुरु बिच पाड़े अन्तरा, जम देसी मुख धूर ॥५॥

कनक और कामिनीको त्यागकर दूर भाग चलो क्योंकि ये सद्गुरु सत्संग ज्ञानमें भेद डालनेवाली है और इसीके कारण मृत्यु मुखमें खाक भी डालती है ॥ ५ ॥

जो या घाटी लंघहीं, सो जन उतरै पार ।
या घाटी तें आखड़े, ताको वार न पार ॥६॥

जो पुरुष इस दुर्गम घाटीको उल्लंघन करते हैं वेही पार उतरते हैं। और जो इस चढ़ाव परसे जरा भी फिसले कि गये रसातल ॥ ६ ॥

अविनाशी बिच धार तिन, कुल कंचन अरु नारि ।
जो कोइ इनते बाचि चलै, सोई उतरै पार ॥७॥

अविनाशी पुरुषके मार्गमें कुल मर्यादा, कंचन और स्त्री येही मध्य प्रवाह है। जो कोई इनके बहावसे बचता है वही पार उतरता है ॥ ७ ॥

नारी की झाँई पड़त, अन्धा होत भुजंग ।
कबीर तिनकी कौन गति, नित नारी के संग ॥८॥

स्त्रीकी छाया पड़नेसे सर्प भी अन्धा हो जाता है। कबीर जाने उनकी कौनसी दशा होगी जो सदा स्त्रीकेही साथमें हैं ॥

नारि पराई आपनी, भोगै नरकै जाय ।
आग आग सब एक सी, हाथ दिये जरि जाय ॥९॥

जहर पराया आपना, खाये से मरि जाय।
अपनी रच्छा ना करै, कहैं कबिर समुझाय ॥१०॥

नारी घरकी हो या परकी उसमें भोगासक्ति बुद्धिसे अवश्य अधोगति होती है। क्योंकि अग्नि कहींकी भी हो हवन या मशानकी जलाना उसका स्वभाव है। हाथ डालकर देख लो। इसी प्रकार ज़हरको भी समझ लो, कबीर गुरु समझाकर कहते हैं इससे रक्षाकी आशा मत करो यह अपना पराया नहीं जानता ॥ ६ ॥ १० ॥

कूप पराया आपना, गिरे डूबि सो जाय।
ऐसा भेद विचार के, तूँ मति गोता खाय ॥११॥
छुरी पराई आपनी, मारे दर्द जु होय।
बहुविध कहूँ पुकारि के, कर छूवो मति कोय ॥१२॥

कूँआ अपना हो या बिराना जो उसमें गिरेगा वह अवश्य डूबेगा। ऐसा भेदका तत्त्व निर्णय कर तू गोता कभी भूलकर भी मत लगाना। बहुत प्रकार समझाकर कह रहा हूँ कि छुरी किसीकी भी हो मारने पर ज़रूर घाव लगेगा अतएव भला चाहो तो उसे कोई स्पर्श भी मत करो ॥ ११ ॥ १२ ॥

नारी निरखि न देखिये, निरखि न कीजै दौर।
देखत ही ते विष चढ़े, मन आवै कछु और ॥१३॥
नारि नसावै तीन गुण, जो नर पासे होय।
भक्तिमुक्तिनिजध्यानमें, पैठि न सकहीं कोय ॥१४॥

आँखसे आँख मिलाकर स्त्रीको कभी नहीं देखना, न देख कर मनमें चिन्तन करना। क्योंकि इसको देखतेही विष व्याप जाता है और मनमें भावना और प्रकारकी हो जाती है। अतः

जो मनुष्य इसके संग रहते हैं उनके तीनों गुण नष्ट हो जाते हैं। वे भक्ति मुक्ति और आत्म चिन्तन रूप ध्यानमें कभी प्रवेश नहीं कर सकते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

नारी कहूँ कि नाहरी, नख सिखसे यह खाय।
जल बूड़ा तो ऊबरै, भग बूड़ा बहि जाय ॥१५॥

इसे नारी कहना या बाघिनी यह तो नख और शिख (नख-जावक नेत्रका कटाक्ष, या केश पास) दोनोंसे मारती है। जलमें डूबने वाला कभी बच भी जाता है परन्तु भगमें डूबने वाला कदापि नहीं ॥ १५ ॥

नारी नाहीं नाहरी, करै नैन की चोट।
कोइ कोइ साधू ऊबरै, ले सतगुरु की ओट ॥१६॥

स्त्री नहीं यह सिंहिनी है ऐसी कटाक्ष करती है कि इससे कोई एक साधु ही उबरते हैं जो कि सद्गुरुकी शरण लेते हैं ॥

नारी नाहीं जम अहै, तूँ मति राचै जाय।
मंजारी ज्यों बोलि के, काढ़ि करेजा खाय ॥१७॥

स्त्री नहीं यह खास यमराज है इसे तू अपने मनमें जगह मत दे। यह बिल्लीकी तरह म्युं म्युं बोलके हृदयको काढ़के खा लेती है ॥ १७ ॥

नारी नदिया सारखी, बहै अपरबल पूर।
साहिब सों न्यारा रहै, अन्त परै मुख धूर ॥१८॥

नारी और नदी ये दोनोंकी धारा समान अगम्य बहती है। जो सद्गुरु साहिबसे विमुख रहते हैं, अन्तमें उनके मुखमें धूर पड़ती है ॥ १८ ॥

नारि पुरुष की इस्तरी, पुरुष नारि का पूत ।
याही ज्ञान विचारि के, छाड़ि चला अवधूत ॥१६॥

स्त्री पहिले पुरुषकी जोरू बनती है फिर उलटकर पुरुष उसका पुत्र और वह माता बन जाती है। यही विपरीत संबन्ध को शोचकर ज्ञानियोंने त्याग दिया ॥ १६ ॥

नारी नजरि न जोरिये, अंसहि खिस ह्वै जाय।
जाके चित नारी बसै, चारि अंस ले जाय ॥२०॥

नारीसे नेत्र मत मिलाओ तुम्हारे सारे शरीरका अंश (वीर्य) खिसक (गिर) जायगा। जिसके मनमें नारीका ध्यान होता है उसके शुभ कर्म, धर्म, ज्ञान और मोक्ष चारों नष्ट हो जाते हैं।

नारी कुंडी नरक की, विरला थामै बाग।
कोइ साधू जन ऊबरा, सब जग मूआ लाग ॥२१॥

नारी नरकका कुण्ड है उसमें गिरके सब लोग रसातलको चले गये। कोई विरले साधु मन घोड़ेकी विवेक लगामसे रोक कर बच गये ॥ २१ ॥

नारि पुरुष सबही सुनो, यह सतगुरु की साख।
विष फल फले अनेक हैं, मति कोइ देखो चाख ॥२२॥
जिन खाया सोई मुआ, गन गंध्रव बड़ भूप।
सतगुरु कहैं कबीर सों, जग में जुगति अनूप ॥२३॥

सद्गुरुकी इस शिक्षाको नारी और पुरुष सबही मिलकर सुनो। संसार वृक्षमें जो अनेकों विषफल फले हैं उसे कोई चाख कर मत देखो। इसीमें कुशल है। इसे जिन गए, गन्धर्व

और बड़े बड़े राजाओंने खाया वे सब मर गये। कबीरको बचनेका अनुपम युक्तिको सद्गुरु बतला रहे हैं कि इससे बचो॥

नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबही हरै।
कहा गँवावै देह, कारज कोई ना सरै॥२४॥

स्त्री विषयक जो प्रीति है वह विवेक बुद्धिको नष्ट कर देती है। ऐ नरजीव! क्यों व्यर्थमें शरीर खो रहा है, उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता॥ २४॥

कामिनी काली नागिनी, तीनों लोक मँझार।
नाम सनेही ऊबरे, विषयी खाये झार॥२५॥
कामिनी सुन्दर सर्पिनी, जो छेड़ै तिहिं खाय।
जो गुरु चरनन राचिया, तिनके निकट न जाय॥२६॥

तीनों लोकमें काली नागिनीके सदृश कामिनीको समझो। फक़ इससे रामके प्रेमीही बचते और विषयी, पामरोंको तो मार खाती है। ये ऐसी विचित्र सर्पिणी है कि जो इसे छेड़ता है उसीको खाती है। और जो इससे विमुख हो सद्गुरु चरणमें प्रेम करता है उसके नज़दीक नहीं जाती॥ २५॥ २६॥

इक नारी इक नागिनी, अपना जाया खाय।
कबहूँ सरपट नीकसे, उपजे नाग बलाय॥२७॥

नारी और सर्पिणी ये अपनी सन्ततिको खाती है। कभी इसके कुण्डालासे जो उछलकर निकल जाता है वही बलासे बचकर नाग होता है॥ २७॥

नैनों काजर देय के, गाढ़े बाँधे केस।
हाथों मेंहदी लाय के, बाघिनि खाया देस॥२८॥

नेत्रोंमें काजल और शिर पर केश पाशको खूब बाँधके इसी तरह हाथोंमें मेहँदी लगाके बाघिनीरूपी कामिनीने सारे देशको खा लिया ॥ २८ ॥

पर नारी पैनी छुरी, मति कोइ करो प्रसंग ।
रावन के दस सिर गये, पर नारी के संग ॥२६॥
पर नारी पैनी छुरी, बिरला बाँचै कोय ।
कबहूँ छेड़ि न देखिये, हँसि हँसि खावे रोय ॥३०॥

पराई स्त्री तीक्ष्ण छुरी है इसे कोई स्पर्श मतकरो । देखलो पर नारीके संगसे लंकाका सरदार दश मस्तकका रावण भी धूलमें मिल गये । इससे कोई विरले बचते हैं, इसे कभी मत छेड़ो । ये हँसके और रोके दोनों प्रकारसे खाती है ॥२६॥३०॥

पर नारी पैनी छुरी, बिरला बाँचै कोय ।
ना वह पेट सँचारिये, जो सोना की होय ॥३१॥

दूसरेकी स्त्री बड़ी तीक्ष्ण छुरी है इससे विरले कोई बचते हैं । जो कहिं ये सोनेकी होवे तो भी पेटमें मत घुसाओ ॥३१ ॥

पर नारी का राचना, ज्यूँ लहसुन की खान ।
कोनै बैठे खाइये, परगट होय निदान ॥३२॥

पराई स्त्रीसे प्रेम मानों लहसुनका खाना है । चाहे खंडकमें जाके खाओ वह अन्तमें प्रगट हुये बिना नहीं रहेगा ॥ ३२ ॥

छोटी मोटी कामिनी, सबही विष की बेल ।
बैरी मारै दाव से, यह मारै हँसि खेल ॥३३॥
देखत ही दह में परै, कनक कामिनी भाय ।
कहँ कायर कौतुक भया, मन को रहा समाय ॥३४॥

छोटी हो या बड़ी कामिनी सब विषकी लता है। शत्रु तो दाव पेचसे मारता है और यह तो हँसते, खेलते मार डालती है। कबीर गुरु कहते हैं कि हे भाइयो! कनक कामिनी मनमें ऐसे घुस जाती है कि उसे देखतेही लोग गढ़ेमें गिर जाते हैं। अतः इससे सचेत रहो ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

जो कबहूँ के देखिये, बीर बहिन के भाय।
आठ पहर अलगा रहै, ताको काल न खाय ॥३५॥

जो कभी इसे देख भी लो तो स्त्रीरूपमें मत खयाल करो किन्तु समान उमरवालीको भाई, बहिन की निगाह से देखो। और अधिक ऊमर वाली को माता दृष्टिसे देखकर अहो रात इससे अलग रहो। जो इस प्रकारका व्यवहार उससे रखता है उसे काल नहीं ग्रासता ॥ ३५ ॥

सरब सोने की सुन्दरी, आवै बास सुवास।
जो जननी है आपनी, तऊ न बैठे पास ॥३६॥
गाय रोय हँसि खेलि के, हरत सबन के प्रान।
कहैं कबिर या घात को, समझैं संत सुजान ॥३७॥

चाहे सुरभि और स्वर्णमयी सुन्दरी हो या खास अपनी माताही क्यों न हो तो भी एकाकी एकान्त स्थानमें उसके पास न बैठे। कबीर गुरु कहते हैं कि गाय के, रोके और हँस खेलके यह सबके प्राण हरती है। इसकी चालबाजी तो कोई विरले सुज्ञ सन्त समझते हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

जग में भक्त कहावई, चुटकी चून न देय।
सिष जोरू का है रहा, नाम गुरू का लेय ॥३८॥
सेवक अपना करि लिया, आज्ञा मेटै नाँहि।
भग मंतर दे गुरु भई, सिष है सबै कमाँहि ॥३६॥

लोकमें दानी भक्त कहलाते हैं, लेकिन परमार्थके अर्थ चुटकी भर चून तक नहीं देते। दास कामिनी कनकके वने रहते और नाम गुरुका लेकर वदनाम करते हैं। कामीको कामिनी ऐसा अपना शिष्य वना लेती है कि उसकी आज्ञा वह कभी नहीं टालता। मल मूत्रको थैली रूप मंत्र देके गुरु वन जाती और ये चेला वनके वैलकी तरह सब दिन कमाते मरते हैं।

कबिर नारिकी प्रीति से, केते गये गड़न्त।
केते औरौ जाहिंगे, नरक हसन्त हसन्त ॥४०॥
जोरू जूठनि जगत की, भले बुरे के बीच।
उत्तम सो अलगा रहै, मिलि खेलै सो नीच ॥४१॥

ऐ कबीर! नारीके प्रेमसे कितने रसातलको चले गये और कितने अभी और हँसते २ जायँगे। इस वास्ते संसारकी भोगी हुई स्त्री भले, बुरेके मध्यमें जूठी है। इस उच्छिष्टको जो त्यागता है वही श्रेष्ठ है और साथ रमनेवाला नीच है ॥ ४० ॥ ४१ ॥

सुन्दरी ते सूली भली, बिरला बाँचै कोय।
लोह लुहालै अगिनि में, जरि बरि कुइला होय ॥४२॥
रज बीरज की कोठरी, तापर साज्यौ रूप।
एक नाम बिन बूड़सी, कनक कामिनी कूप ॥४३॥

सुन्दरीके संग रियाखिया कर मरनेसे सूली पर चढ़के एक दम मर जाना अच्छा है। इससे कोई विरले वचते हैं लोहेसे छिन्न भिन्न होके अग्निमें जलके खाक हो जाते हैं। रजोवीर्यकी कोठरी ऊपर हड्डी चर्मादि साजोंसे स्वरूप वनाके खड़ा किया है। एक प्रभुके नाम विना सव कनक कामिनी रूप अन्ध कूप में डूब मरे व मरेंगे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

जहाँ जराई सुन्दरी, तूँ जनि जाय कबीर।
उड़िकेभसमजोलागसी, सूना होय शरीर ॥४४॥

ऐ कबीर! उस श्मशान भूमि पर भी तू मत जा; जहाँ सुन्दरी जलाई गई हो। उसकी राख (स्मरण) जो कहीं उड़के लगेगी तो भी शरीर शून्य हो जायगा ॥ ४४ ॥

नागिनके तो दोय फन, नारी के फन बीस।
जाकाडसा न फिरजियै, मरिहै बिसवा बीस ॥४५॥

सर्पिणीके दोही फन होते हैं और नारीके बीस अँगुलियाँ रूप बीस फन हैं। इसके अभिनय कटाक्ष रूप डंकसे जो डसे जाते हैं वे अवश्य मरते हैं ॥ ४५ ॥

जग में डोड़ी कामिनी, पीवै सब संसार।
सोफी ह्वै करि जो पियै, ताहि उतारूँ पार ॥४६॥

संसारमें कामिनी एक ऐसी डोड़ी (पोस्तेका छूँतरा, लता विशेष) है कि इसका रस सब कोई पीते हैं। परन्तु जो सोफियाना (हलका नशा, अनासक्त भोग) पान करते हैं उन्हें शनैः शनैः पार उतार सकता हूँ ॥ ४६ ॥

दीपक झोला पवन का, नर का झोला नारि।
साधू झोला शब्द का, बोलै नाँहि विचारि ॥४७॥

दीपकको वायुका झोला (झपाटा) और नरको भय नारी रूप झोलाका है। इसी प्रकार जो बिना विचारे शब्द बोला जाता है उस शब्दका झोला सन्तोंको भी शान्ति पदसे गिरा देता है ॥ ४७ ॥

केता बहाया बहि गया, केता बहि बहि जाय।
ऐसा भेद विचारि के, तूँ मति गोता खाय ॥४८॥

स्त्री रूपी धारा प्रवाहमें कितने तो बह गये और अभी कितने भटके जायँगे। इसका कोई हिसाब नहीं है ऐसा मर्म समझकर तू मत गोता लगा ॥ ४८ ॥

कपास बिनूठा कापड़ा, कदे सुरंग न होय।
कबीर त्यागो ज्ञान करि, कनक कामिनी दोय ॥४९॥

जैसे खराब कपासका बना हुआ कपड़ा सुन्दर कभी नहीं होता तैसेही कनककामिनीके सम्बन्धसे निर्मल ज्ञान कभी नहीं हो सकता ऐसा समझ विचार कर उन दोनों हीको त्याग दो।

नारी मदन तलावड़ी, भवसागर की पाल।
नर मच्छा के कारने, जीवत माँड़ी जाल ॥५०॥

संसार सागरके किनारे स्त्री रूप एक कामदेवका कुण्ड है। अथवा संसार सागरकी रक्षाके लिये स्त्री एक कामदेवकी बावली है। उसमें पड़े हुये नरमत्स्यको जीवित पकड़नेके लिये सन्तगुरु दयालु कृपा रूपी डोरी और प्रेम रूपी चारा सहित अपने चरण रूप जाल डाले हैं। अर्थात् जीवोंकी उद्धारके लिये सन्त संसारमें अवतार लिये व लेते हैं ॥ ५० ॥

नारी नरक न जानिये, सब संतन की खान।
जामें हरिजन ऊपजे, सोई रतन की खान ॥५१॥

सब नारीको नरक मत समझो बड़े २ जो महात्मा हो गये उन रत्नोंका आकर भी वही है। जहाँसे हरिजन रत्न उत्पन्न होते हैं वही रत्नकी खानि कहलाती है ॥ ५१ ॥

कबीर मन मिरतक भया, इंद्री अपने हाथ।
तो भी कबहु न कीजिये, कनक कामिनी साथ ॥५२॥

ऐ कबीर! यद्यपि मनके मरने पर इन्द्रियाँ कब्जे में आ जाती हैं। तथापि कनक, कामिनीका संग कभी भूलकर भी नहीं करना ॥ ५२ ॥

माँस माँस सब एक है, क्या हरिनी क्या गाय।
नारि नारि सब एक है, क्या मेहरी क्या माय ॥५३॥

चाहे हरिनीका हो या गायका, मांस जैसे दोनोंके एकसे हैं। तैसेही माँ हो या मेहरी स्त्री सब एक सी जानो ॥ ५३ ॥

त्रिया कृतघ्नी पापिनी, तासों प्रीति न जोड़।
पैंड़ी चढ़िया आखड़े, लागे मोटी खोड़ ॥५४॥

स्त्री बड़ी कृतघ्नी और पापिनी होती है इसे विश्वासका पात्र समझकर प्रीति कभी मत करो। इसके रस्ते लगते ही अखड़ने लगती है और भारी शिरपर कलंक लग जाता है ॥५४॥

सात द्वीप नव खंड में, सबसे फगुवा लीन।
ठाढ़ी कहै कबीर सों, तुमने कछू न दीन ॥५५॥

कनक और कामिनीने सम्पूर्ण भूमण्डलमें सबसे भोग विलास रूप फगुआ चुका लिया। परन्तु कबीरसे खड़ी हो कहते रह गई कि आपने कुछ नहीं दिया ॥ ५५ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित कनककामिनीको अङ्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

अथ कालको अंग ॥३२॥

काल जीव को ग्रासई, बहुत कह्यो समुझाय ।
कहैं कबिर मैं क्या करूँ, कोई नहिं पतियाय ॥१॥

कबीर गुरु कहते हैं मैं क्या करूँ बहुत कुछ समझा समझा कर कहा कि ऐ नरजीव! काल तुझे ग्रासता है और तू प्रति दिन काल कवल बनता जाता है तो भी कोई विश्वास नहीं करता ॥ १ ॥

काल हमारे संग है, कस जीवन की आस ।
दस दिन नाम सँभार ले, जब लगि पिंजर साँस ॥२॥

"जीवनकी जनि आशा राखो काल धरे हैं श्वासा" बीजक। जीनेकी आशा कैसे हो सकती है? जब कि काल हमारे संगमें उपस्थित है कदापि नहीं। ऐसा समझकर जब तक प्राण पिण्डका संयोग है तब तक जो कुछ बनि आवे दश दिन प्रभुका नाम याद करले ॥ २ ॥

काल चिचाना है खड़ा, जाग पियारे मीत ।
नाम सनेही बाहिरा, क्यों सोवै निहचींत ॥३॥

ऐ प्रिय मित्र! जागो कालरूप बाज झपटनेके लिये तैयार है। ऐ रामका प्रेमी! क्यों रामसे विमुख हो बेखबर सोया है?। होश करो ॥ ३ ॥

झूठा सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद ।
जगत चबेना काल का, कछु मूठी कछु गोद ॥४॥

सांसारिक मिथ्याही सुखको सुख मानके मनमें यहा हर्षित हो रहा है। जगज्जीव यह नहीं जानता कि कुछ गोद और कुछ मूठीमें लेकर काल कलेवा कर रहा है ॥ ४ ॥

आज काल पल छिनक में, मारग मेला हित्त।
काल चिचाना नर चिड़ा, औंजड़ औ अवचित्त॥५॥

एक दिन आगे या पीछे क्षण पलमें इस मेलाका मार्ग छोड़ना पड़ेगा। क्योंकि कालरूप बाज नर पखेरूको अचानक झपाटा लगाता है ॥ ५ ॥

सब जग सूता नींद भरि, मोहि न आवै निन्द।
काल खड़ा है बारनै,(ज्यौं)तोरन आया बिंद॥६॥

सब संसार अचिन्त निद्रा ले रहा है पर मुझे नींद नहीं आती। दुलहा नगरमें आया नहीं कि काल द्वार पर खड़ा है॥६॥

टालै टूलै दिन गयो, ब्याज बढ़न्ता जाय।
ना हरि भजा न खत कटा, काल पहूँचा आय॥७॥

बहाने बाजीमें समय निकलता गया और ब्याज बढ़ता गया। न प्रभुका नाम लिया न फ़ारखती मिली इतनेमें काल आके खेल खलास कर दिया ॥ ७ ॥

कबीर टुग टुग चोघताँ, पल पल गई बिहाय।
जिव जंजाले पड़ि रहा, दिया दमामा आय॥८॥

ऐ कबीर! टुकुर टुकुर देखतेमें नर जन्म समयका क्षण क्षण योंही खतम हो गया और जीव संसार उलझनमें फँसाही रह गया इतनेमें काल आकर कूचका नगारा बजा दिया। कुछ भी करने न पाया ॥ ८ ॥

मैं अकेल वह दो जना, सेरी नाहीं कोय।
जो जम आगे ऊबरो, तो जरा बैरी होय ॥९॥

मैं अकेला और काल दो जने हैं इनसे बचनेका कोई मार्ग नहीं। जो कहीं मृत्युसे बचे तो जरावस्थारूप शत्रु तैयार है ॥९॥

जरा आय जोरा किया, पिय अपना पहिचान।
अन्त कछू पल्ले पड़े, ऊठत रे खलिहान ॥१०॥
जरा आय जोरा किया, नैनन दीन्ही पीठ।
आँखौ ऊपरि आँगुली, बीष भरै पछ नीठ ॥११॥

जरा आके ज़बरदस्ती कर रही है। अपने स्वामीको पहिचानो आखिर जो कुछ पल्ले (गोला) में पड़े हैं उठालो खलिहान उठ रहा है। जराने ऐसा ज़ोर दिया कि नेत्र बिलकुल विमुख हो गया भौं आगे अँगुलियोंकी छाया करने पर भी 'बिष भरे पछ नीठ' यानी मुश्किलसे एक बिस्वा तक देखनेमें आता है ॥ १० ॥ ११ ॥

जोबन सिकदारी तजी, चला निशान बजाय।
सिर पर सेत सिरायचा, दिया बुढ़ापै आय ॥१२॥

जब युवावस्थाने अपनी सरदारी त्यागकर कूचका डंका बजाके चलता भया। तब बुढ़ापाने धीरेसे आके उजला ताज शिर पर रख दिया ॥ १२ ॥

कान लगी सुनहा कहै, काले मानी हार।
राज बिराजी होत है, सकै तो नाम सम्हार ॥१३॥

जरारूपी कुत्ती कान लगके कह रही है कि ऐ लोगो! क्या

लेकर थक बैठा अरे ! नरदेहका राज विराज हो रहा है यदि कुछ शक्ति है तो सद्गुरु ज्ञानको सँभाल ले ॥ १३ ॥

बिरिया बीती बल घटा, केस पलटि भये और।
बिगरा काज सँभारि लै, करि छूटन की ठौर ॥१४॥

युवाका समय बीतने पर शरीरकी शक्ति घट जाती है केश भी कालेसे धोले हो गये। बिगड़े कार्यको सुधार कर छूटनेकी युक्ति कर लो ॥ १४ ॥

बिरिया बीती बल घटा, औरौ बुरा कमाय।
हरिजन छाँड़ा हाथ ते, दिन नीरा ही आय ॥१५॥

समय बीतने पर बल घट गया तिस पर भलाके बदले बुराही करते जाते हो। विपत्तिमें हाथ बटानेवाले हरिजनोंकी संगति हाथसे छोड़ दिया और मरनेका समय एकदम नज़दीक आ गया फिर क्या हो सकता है ॥ १५ ॥

जरा कुत्ता जोबन ससा, काल अहेरी नित्त।
दो बैरी बिच झोंपड़ा, कुशल कहाँ सों मित्त ॥१६॥

ज्वानीरूपी खरहे पर जरा रूप कुत्तेको काल शिकारने प्रति दिन आखेटको छोड़ा है। ऐ मित्र ! जिसकी झोंपड़ी काल और कुत्ता ये दो बैरीके मध्यमें है उसे कुशल कहाँसे हो सकता? ॥

कुसल कुसल जो पूछता, जग में रहा न कोय।
जरा मुई ना भय मुआ, कुसल कहाँ ते होय ॥१७॥

जो कुशल क्षेम पूछता था वह भी कोई जगतमें नहीं रह गया और न जरा मरी न डर मिटा कुशल कहाँसे होय ॥१७॥

घड़ि जो बाजै राज दर, सुनता है सब कोय।
आयु घटै जोबन खिसै, कुसल कहाँ ते होय॥१८॥

राजद्वारे जो घण्टा बजता है उसे सब कोई सुनते हैं। उसीसे उमर घटती और ज्वानी खसकती जाती है फिर कुशल होय तो कहाँसे ?॥ १८ ॥

कै कुसल अनजान के, अथवा नाम जपन्त।
जनम मरन होता नहीं, तो बूझो कुसलन्त॥१६॥

अविद्या अन्धकार में पड़ेहुये को तथा प्रभु नाममें लीनको जन्म मरणका गम नहीं होता इसीसे उन्हींका कुशल समझो १६

कुसल जो पूछो असल की, आसा लागी होय।
नाम बिहूना जग मुआ, कुसल कहाँ ते होय॥२०॥

असलमें कुशल पूछो तो प्रभु नामके बिना जहाँ तक आशा लगी है तहाँ तक कुशल नहीं है; सब लोग मुर्देके पीछे मरे व मर रहे हैं॥ २० ॥

माली आवत देखि के, कलियाँ करें पुकार।
फूली फूली चुनि लई, काल हमारी बार॥२१॥

कालरूप मालीको आते देखकर प्राणरूप कलियाँ गोहार करती हैं कि जो कलियाँ खिली थीं वह तो चुन गई काले हमारी पारी है॥ २१ ॥

बढ़ही आवत पेखि के, तरुवर रुदन कराय।
मैं अपंग संसै नहीं, पच्छी बसते आय॥२२॥

बढ़ईको आते देखकर वृक्ष रोता है कि मुझे अपंगको नष्ट

होनेमें तो कोई शोक नहीं परन्तु पक्षी जो आकर बसते थे उनकी चिन्ता है ॥ २२ ॥

फागुन आवत देखि के, वन रोता मन माँहि।
ऊँची डारी पात था, पियरा ह्वै ह्वै जाँहि ॥२३॥

फाल्गुन मास अर्थात् पतझड़के समयको देखकर जंगल मनमें रोता है कि जो ऊँची डालियोंमें पत्ते थे वे पीले होके झड़ रहे हैं ॥ २३ ॥

पात जो तरुवर सों कहै, विलंब न मानै मोर।
आय रितु जो बसंत की, जहँ जाओ तहँ तोर ॥२४॥

झड़ते हुये पत्ते वृक्षको सांत्वना देते हैं कि मेरे आनेमें विलम्ब मत समझो। वसन्त ऋतुके आतेही जहाँ जाओ तहाँ इच्छानुसार पत्तोंको तोड़ लो ॥ २४ ॥

तरुवर पात सों यों कहै, सुनो पात इक बात।
या घर याही रीति है, इक आवत इक जात ॥२५॥

वृक्ष कहता है कि ऐ पत्र! मेरी बात भी एक सुन लो। ई संसारको यही पद्धति है कि एक आता एक जाता है ॥ २५ ॥

पात झरन्ता यों कहै, सुन तरुवर बनराय।
अब के बिछुड़े ना मिले, दूर पड़ेंगे जाय ॥२६॥

झड़ते हुये पत्र यों कहता है कि ऐ महावनका श्रेष्ठ वृक्ष! सुनो इस वारका वियोग बड़ा विकट है फिर मिलना कठिन है बहुत दूर जाकर पड़ेंगे। यह दशा मानव शरीर वियोगकी है।

जो ऊगै सो आथमे, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चूनै सो ढहि पड़े, जामै सो मरि जाय ॥२७॥

जिसका उदय उसका अस्त भी होता है इसी प्रकार जो फूलता है वह ज़रूर कुम्हिलाता है। जो इमारत चूना जाता है वह काल पाकर अवश्य ढहता है वैसेही जो जन्म लिया वह निश्चय मरेगा इसकी चिन्ता व्यर्थ है ॥ २७ ॥

निश्चय काल गरास ही, बहुत कहा समुझाय।
कहैं कबीर मैं का कहूँ, देखत ना पतियाय ॥२८॥

काल परिणामी पदार्थको अवश्य आक्रमण करता है इसके विषे मैंने बहुत कुछ समझाकर कह दिया अब क्या कहूँ जिसे देखते हुये विश्वास नहीं होता ॥ २८ ॥

कबीर जीवन कुछ नहीं, खिन खारा खिन मीठ।
कालिह अलहजा मारिया, आज मसाना दीठ ॥२९॥

ऐ कबीर! प्राणियोंका जीवन सुख दुःख पूर्ण तुच्छ है, क्षण २ में बदला करता है। जो कल बड़े २ आलीजा (वीर) रणमें शत्रुको मारते थे वे भी आज श्मशानमें देखे गये ॥ २९ ॥

कबीर मंदिर आपने, नित उठि करता आल।
मरहट देखी डरपता, चौड़े दीया डाल ॥३०॥

ऐ कबीर! जिस मन्दिरमें स्वयं प्रतिदिन आनन्द विहार करता। और श्मशानको देखकर भय खाता था कालने आज उसी चौड़े मैदानमें डाल दिया ॥ ३० ॥

कबीर पगरा दूरि है, बीच पड़ी है रात।
ना जानौं क्या होयगा, ऊगन्ता परभात ॥३१॥
कबीरग़ाफिल क्यौंफिरै, क्या सोता घन घोर।
तेरे सिराने जम खड़ा, ज्यूँ अँधियारे चोर ॥३२॥

ऐ कबीर ! अभी चलनेका मार्ग बहुत दूर है और बीचही में रात हो गई और यह भी कहाँ खबर है कि कल सूर्य उदय होते क्या होयगा ? फिर क्यों बेखबर घूमते और घोर निद्रामें सोते हो ? अरे ! तेरे शिर पर काल तो ऐसे खड़ा है जैसे अन्धेरेमें चोर ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कबीर हरिसों हेतकर, कोरै चित्त न लाय।
बाँध्यो बांरि खटीकके, ता पसु कोतिक आय ॥३३॥

ऐ कबीर ! प्रभुसे प्रेम जोड़ और कुछ मनमें मत आने दे। अरे ! कसाईके दरवाजे जो पशु बँधा है उसकी आयु क्या अर्थात् कुछ नहीं ॥ ३३ ॥

कबीर सब सुख राम है, औरहि दुखकी रासि।
सुरनरमुनिअरुअसुरसुर, पड़े कालकी फाँसि ॥३४॥

सुख स्वरूप रामके अतिरिक्त सर्व दुःख रूप है। राम विमुख सुर असुर सब कालके गालमें हैं ॥ ३४ ॥

धमन धमती रहि गई, बूझि गया अंगार।
अहरन का ठमका रहा, जब उठि चला लुहार ॥३५॥

श्वासा रूपी धूँकनी धूँकनी ही रह गई और इन्द्रिय रूपी अग्नि सब शान्त हो गई। इसीप्रकार प्राण रूप लोहार जब चल दिया तब जिह्वा रूपी निहाईका वाग्विलास रूप ठमका भी बन्द हो गया ॥ ३५ ॥

पंथी ऊभा पंथ सिर, बगुचा बाँधा पूँठ।
मरना मुँह आगे खड़ा, जीवन का सब झूठ ॥३६॥

गठरी पीठपर बाँधके राही रस्ते पर खड़ा है। मौत सामने खड़ी है ऐसी दशामें जीनेका सुख सब झूठा है ॥ ३६ ॥

यह जीव आया दूर ते, जाना है बहु दूर।
बिचके बासै बासिगया, काल रहा सिर पूर ॥३७॥

जीव रूपी मुसाफिर बहुत दूरसे आया और दूर अभी जाना है। परन्तु प्रासंगिक संसार व्यवहारमें रह जानेसे काल कलेवा बन गया ॥ ३७ ॥

काची काया मन अथिर, थिर थिर करम करन्त।
ज्यौंज्यौं नरनिधड़कफिरै, त्यौं त्यौं काल हसन्त।३८॥

नश्वर शरीरमें आसक्त हुआ चंचल मन अनेकों स्थायी कर्म कर रहा है। जैसे २ नरजीव निःसन्देह भटकता है तैसे २ काल प्रसन्न होता है ॥ ३८ ॥

हम जाने थे खाहिंगे, बहुत जिमीं बहु माल।
ज्यौंका त्यौंही रहिगया, पकड़ि ले गया काल ॥३९॥

हम जानते थे कि ये जगह ज़िमींदारी और माल खज़ाना सब भोगेंगे। परन्तु सब ज्योंका त्योंही रहा और काल पकड़ ले गया ॥ ३९ ॥

चहुँदिस पाका कोटथा, मन्दिर नगर मँझार।
खिरकी खिरकी पाहरू, गज बँधा दरबार ॥४०॥
चहुँदिस ठाढ़े सूरमा, हाथ लिये हथियार।
सबही यह तन देखताँ, काल ले गया मार ॥४१॥

यद्यपि किलाको चारों ओर पायेदार कोट और निवास-स्थान शहरके मध्यमें था। प्रत्येक खिड़की पहरेदार और दर-वाजे पर हाथी बँधे थे। और चारों दिशामें योद्धा हथियार

लिये खड़े थे। तौ भी सबके सामनेसे इस शरीरको काल पकड़ कर ले गया किसीका कुछ न चला ॥ ४० ॥ ४१ ॥

आस पास जोधा खड़े, सबै बजावै गाल।
मंझ महल तें ले चला, ऐसा परबल काल ॥४२॥

सब तरफ योद्धा लोग खड़े २ वीरताकी डींग हाँक रहे थे। किन्तु मध्य महलसे काल बली जब ले चला तब किसीका कुछ न चला ॥ ४२ ॥

धरती करते एक पग, करते समुँद्र फाल।
हाथों परबत तोलते, तेभी खाये काल ॥४३॥
हाथों परबत फाड़ते, समुदर घूँट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, का कोय गरब कराय ॥४४॥

जिन वावन, हनुमान और कृष्णजो सिद्धिके बलसे धरती नापते, समुद्र उलंघते और पर्वत हाथोंसे तोलते थे। तिन्हें भी काल कलेवा कर गया। और भी पर्वतको फाड़नेवाला रावण ऐसा वीर तथा समुद्रको आँचमन करनेवाले अगस्त ऐसे मुनि श्रेष्ठ भी मिट्टीमें मिल गये तो इतर कोई क्या अहंकार करेगा ॥

ताजी छूटा सहरते, कसबै पड़ी पुकार।
दरवाजा जडाहि रहा, निकस गया असवार ॥४५॥

ज्योंही शरीर रूप शहरसे प्राण रूप ताज़ी प्रस्थान किया त्योंही इन्द्रियें रूप कसबामें हा हा कार मच गयी। इसीतरह आँख कानादि ज्योंके त्यों बने रहे और जीव रूप सवार निकल गया; 'काहु न लखा देख सब ठाढ़े' ॥ ४५ ॥

बेटा जाये क्या हुआ, कहा बजावै थाल।
आवन जावन है रहा, ज्यौं कीड़ी का नाल ॥४६॥

ऐ मूर्ख ! पुत्र उत्पन्न हुआ तो थाली क्या ठोकता है ? अरे ! यह तो चींटीकी कतारके समान आना जाना होही रहा है ॥

जाया जाया सब कहै, आया कहै न कोय ।
जाया नाम जनम का, रहन कहाँ ते होय ॥४७॥
बालपना भोले गया, और जुवा महमंत ।
वृद्धपने आलस भयो, चला जरन्ते अन्त ॥४८॥

जाया २ सब कोई कहते हैं आया कोई नहीं जाया पत्नी, जन्मको कहते हैं तो रहना कैसे हो सकता । अज्ञान दशामें बाल्यावस्था और मस्तीमें ज्वानी । इसी तरह आलसमें वृद्धावस्था और अन्त में चली चला हो गया ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

संसै काल शरीर में, विषम काल है दूर ।
जाको कोइ जाने नहीं, जारि करै सब धूर ॥४९॥
जारि बारि मिस्सी करै, मिस्सी करिहै छार ।
कहैं कबिर कोइला करै, फिर दे दै औतार ॥५०॥

विषम (मृत्यु) काल तो बहुत दूर है परन्तु जिसे सद्गुरु सत्संग बिना कोई नहीं जानता और जो जलाकर सबको खाक कर देता है वह संशय रूप काल शरीरमें है । कबीर गुरु कहते हैं कि जलाकर भस्म ही करके नहीं छोड़ता किन्तु बारम्बार अवतार भी देता है । उससे बचो ॥ ४९ ॥ ५० ॥

ऐसे साँच न मानई, तिल ही देखो जोय ।
जारि बारि कोइला करै, जमता देखा सोय ॥५१॥

यदि ऐसे विश्वास न हो तो तिलई काष्ठको देख लो । उसे जलाकर कोइला करने पर भी उससे अंकुर निकलते देखा गया है ॥ ५१ ॥

संसै काल सरीर में, जारि करै सब धूर।
कालसे बाँचै दास जन, जिन पै द्याल हजूर ॥५२॥

संशय रूप काल शरीरमें रहके सबको खाकमें मिलाता है। इससे वेही दास बचते हैं जिनपर दीन दयाल सद्गुरु मिहरबान हैं ॥ ५२ ॥

जिनके नाम निशान है, तिन अटकावै कौन।
पुरुष खजाना पाइया, मिटिगया आवागौन ॥५३॥

जिनके ऊपर सद्गुरु ज्ञानका झण्डा फहराता है उन्हें कौन रोक सकता है। वे तो परम पुरुष आत्म धनको प्राप्तकर जन्म मरणसे रहित हुये व होते हैं ॥ ५३ ॥

घाट जगाती धर्मराय, गुरुमुख ले पहिचान।
छाप बिना गुरुनाम के, साकट रहा निदान ॥५४॥

चुङ्गी उगाहने वाला धर्मराय गुरुमुखको पहिचान कर छोड़ देता है। और जो गुरुमुख छाप (निशान) से रहित साकट है उसे अन्तमें गिरफ्तार कर लेता है ॥ ५४ ॥

गुरु जहाज हम पावना, गुरुमुख पारि पड़ै।
गुरु जहाज जानै बिना, रोवे घाट खड़ै ॥५५॥

गुरु जहाज़ और हम पार जवैया हैं। जो गुरुमुख होता है वही पार उतरता है। गुरुकी शरण रूप जहाज़को बिना जाने घाट पर खड़े रो रहे हैं ॥ ५५ ॥

खुलि खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय।
घाट जगाती क्या करै, सिरपर पोट न होय ॥५६॥

संसारमें मोह बन्धनसे खुल्ले विचरो कोई नहीं बाँध

सकता। सिरपर बोझही नहीं है तो महसूल वसूल करनेवाला क्या करेगा ? कुछ नहीं ॥ ५६ ॥

जम्मन जाय पुकारिया, डंडा दीया डार।
संत मवासी है रहा, फाँसि न पड़े हमार ॥५७॥

यमदूत यमराजके पास डण्डा पटकके कह दिया कि सन्त लोग विद्रोही हो रहे हैं वे हमारी फाँसीमें नहीं पड़ते हैं ॥५७॥

जाता है जिस जान दे, तेरी देसी न जाय।
केवटिया की नाव ज्यौं, घना चढ़ेगा आय ॥५८॥

यमने कहा जो जाता है उसे जाने दे तेरे फन्देमें न पड़े तो वह मत पड़ो। यह तो केवटकी नौका है बहुतेरे आके चढेंगे ॥

चाकी चली गुपाल की, सब जग पीसा झार।
रूड़ा शब्द कबीर का, डारा पाट उधार ॥५६॥

गुपालजी की ऐसी माया चक्की चल रही है कि सारे संसार इसमें पिसा रहे हैं। केवल कबीर गुरुका ही ज्ञान रोड़ा चक्की पाटको उखाड़कर साबूत निकल जाता है ॥ ५६ ॥

चलती चाकी देखि के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन बिच आय के, साबुत गया न कोय ॥६०॥

माया चक्कीको चलती देखकर कबीरने रो दिया कि इस दो पाटके अन्दर आके सद्गुरु विमुख कोई भी साबूत नहीं निकला।

आसै पासै जो फिरै, निपट पिसावै सोय।
कीला सों लागा रहै, ताको विघन न होय ॥६१॥

जो संसार चक्कीके आस पासमें फिरते हैं वे तो खूब अच्छी

तरह पिसाते कदापि बचने नहीं पाते। निर्विघ्न तो वे ही बचते हैं जो सद्गुरु कीलासे लगे रहते हैं ॥ ६१ ॥

सब जग डरपैं कालसों, ब्रह्मा विस्नु महेस।
सुरनरमुनि औलोकसब, सात रसातल सेस ॥६२॥

कालकी हाँकसे सबही डरते हैं। क्या ब्रह्मा और विष्णु, महेश यहाँ तक कि सुर, नर, मुनि और सर्वलोक सहित सात लोकके तले रहनेवाले शेषनाग भी उसकी हाँकसे काँपते हैं॥६२॥

मूसा डरपे काल सूँ, कठिन कालका जोर।
स्वर्ग भूमि पाताल में, जहँ जाव तहँ गोर ॥६३॥

मूसा पैगम्बर भी काल बलीके कठोर ज़ोरसे डरते थे तो औरोंकी क्या कथा ?। स्वर्गादि तीनों लोकमें भी जहाँ जावो तहाँ क़बर ही क़बर देखनेमें आती हैं ॥ ६३ ॥

फागुन आवत देखि के, मन झूरे बनराय।
जिनडाली हमकेलिकिय, सोही न्यारे जाय ॥६४॥

पतझड़का समय फाल्गुन माहको आते देखकर झाड़खण्डों का मुख मुरझा गया कि जिन शाखाओं पर हम आनन्द करते थे वे ही न्यारसे बिखरे जा रहे हैं ॥ ६४ ॥

पान झरन्ता देखि के, हसतीं कूपलियाँ।
हम चाले तुम चालियो, धीरी बापलियाँ ॥६५॥

झड़ते हुये पत्तोंको देखकर नूतन पत्तियाँ हँसती हैं। इस पर वे जवाब देते हैं कि ऐ बपुरी ! तूँ क्या हँसती है ? धीरज धर हमारे पीछे तुझे भी आना होगा ॥ ६५ ॥

काल पाय जग ऊपजो, काल पाय सब जाय।
काल पाय सब विनसिहैं, काल काल कहँ खाय ॥६६॥

सारे पदार्थ काल पाके उत्पन्न होते और कालान्तरमें नाश भी हो जाते हैं। ऐसे कालिक पदार्थको कालसे अवश्य नाश होता है ॥ ६६ ॥

काल काल सब कोइ कहे; काल न चीन्हे कोय।
जेती मन की कल्पना, काल कहावे सोय ॥६७॥

जितनी मनकी कल्पना है वही काल है। इसे कहते सब कोई हैं पर चीन्हते विरले हैं ॥ ६७ ॥

काल फिरै सिर ऊपरे, हाथों धरी कमान।
कहैं कबिर गहु नाम को, छोड़सकलअभिमान॥६८॥

हाथमें धनुष बाण लेके काल सबके शिर पर सवार है। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि सर्व मिथ्या अभिमान छोड़कर सद्गुरुको शरण लो ॥ ६८ ॥

जाय झरोखे सोवता, फूलन सेज बिछाय।
सो अब कहुँ दीखै नहीं, छिन में गयो बिलाय॥६९॥

जो जाली जँगलादार महलमें फूलोंकी सेज पर सोते थे वे सब भी क्षणमें नष्ट हो गये अब कहीं देखनेमें नहीं आते ॥६९॥

कबीर पगरा दूर है, आय पहुँची साँझ।
जन जनको मन राखतों, वेस्या रहि गइ बाँझ ॥७०॥

ऐ कबीर! चलनेका मार्ग अभी बहुत दूर है और सन्ध्या हो चली। देखो! सबके मन रखनेसे वेश्या बन्ध्या रह गई अतः एक सत्यकी शरण लो ॥ ७० ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
कालको अङ्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

अथ समरथको अङ्ग ॥३३॥
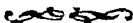
साहिब सो सब होत है, बंदे से कुछ नाँहि ।
राई से परवत करै, परवत राई माँहि ॥१॥

साहिब समर्थ हैं चाहें तो राईको पर्वत और पर्वतको राई क्षण भरमें कर सकते हैं । लाचार तो बन्दा है जिससे कुछ नहीं हो सकता ॥ १ ॥

साहिब सम समरथ नहीं, गरुआ गहिर गँभीर ।
औगुन छाड़ै गुन गहै, छिनक उतारै तीर ॥२॥

साहिब सर्व शक्तिवान् हैं उनके सदृश और कोई श्रेष्ठ, गम्भीर नहीं है । शरणागतोंके अवगुण नहीं देखकर गुणही ग्रहण करते और पल भरमें संसार सागर से पार उतार देते हैं ।

बहन बहन्ता थल करै, थल कर बहन बहोय ।
साहिब हाथ बड़ाइया, जस भावै तस होय ॥३॥

चाहें तो प्रवाही नदीको सूखी भूमि और सूखी ज़मीनको जलधारा दरिया बना दें । सब बड़ाई साहिबकी है जैसा चाहे कर सकते हैं ॥ ३ ॥

बहन बहन्ता थिर करै, थिरता करै बहैन ।
साहिब हाथ बड़ाइया, जिस भावै तिस दैन ॥४॥

इसी प्रकार प्रवाही वेगको भी चाहें तो रोक सकते हैं और स्थिरको बहा सकते हैं । सब बड़ाई उन्हींके हाथ हैं चाहे तिसे दे सकते हैं ॥ ४ ॥

ना कुछु किया न करि सका,(नहिं)करने जागे शरीर।
जो कुछु किय साहिय किये, ताते भये कबीर ॥५॥

सेवक तो न कुछ किया न कर सकता है न करने योग्य उसका शरीरही है। सब कुछ साहिब किये इसी कारण साहिब कबीर समर्थ कहलाये ॥ ५ ॥

जो कुछ किया सो तुम किया, मैं कछु कीया नाँहि।
कहूँ कहीं जो मैं किया,तुमहीं थे मुझमाँहि॥६॥

हे प्रभु! आपने सब कुछ किया मैं कुछ नहीं। यदि मैं कुछ किया ऐसा कहूँ तो भी आपही मुझमें समर्थ रूपसे थे ॥ ६ ॥

कीया कछू न होत है, अन कीया ही होय।
कीया जो कछु होत तो, करता औरै कोय ॥७॥

कर्तेपनेके अहंकारसे कुछ नहीं होता प्रकृतिके अनुसार हुआ करता है। जो किसीके करनेहीसे होता तो सब कोई सब कुछ कर लेते ॥ ७ ॥

ना कछु किया न करि सका, ना कछु करने जोग।
मैं मेरी जो ठानि के, दूजी थापै लोग ॥८॥

सद्गुरु सामर्थकी सहायता विना न कोई कुछ किया न कर सकता है, न योग्यही है। अज्ञानी लोग हठसे मैं मेरी ठानिके दूसरी भावनाकी स्थापना कर रहा है ॥ ८ ॥

इत कूवा उत बावड़ी, इत उत थाह अथाह।
दहूँ दिसा फानि फन कढ़ै, समरथ पार लगाह ॥९॥

हे समर्थ प्रभु! यह मेरी तेरीरूप अगाध इधर कूप और

उधर तालाब है। और सब तरफ फनी (सर्प माया-मोह) फन काढ़े तैयार है इससे आपही पार लगाइये ॥ ६ ॥

घट समुद्र लखि ना परै, ऊठै लहरि अपार।
दिल दरिया समरथ बिना, कौन लगावै पार ॥१०॥

हृदय सागरमें जो निरन्तर लहर उठ रही है वह देखनेमें नहीं आती। हे प्रभु! आपके बिना मन सिन्धुसे पार कौन लगा सकता है ॥ १० ॥

धन धन साँईं तूँ बड़ा, तेरी अनुपम रीत।
सकल भवन पति साँइया, ह्वै करि रहै अतीत ॥११॥

ऐ स्वामिन! तू सबसे बड़ा और धन्य है। तेरी चाल भी निराली है। सकल भुवनोंका स्वामी होते हुये भी ग़रीब होकर रहता है ॥ ११ ॥

साँईं मैं तुझ बाहरा, कौड़ी हू नहिं पाउँ।
जो सिर ऊपर तुम धनी, महँगे मोल बिकाउँ ॥१२॥

हे प्रभु! आपसे विमुख होकर कौड़ी क़ीमतका भी नहीं हूँ यदि तू सहायता करे तो मेरी बड़ी क़ीमत हो जाये। यानी संसार आदर दृष्टिसे देखने लग जाये ॥ १२ ॥

साँईं मेरा बानिया, सहज करै व्यौपार।
बिन डाँड़ी बिन पालड़े, तोलै सब संसार ॥१३॥

ऐ मेरे स्वामी! तू ऐसा वणिक है और ऐसा तेरा स्वाभाविक व्यापार है कि कोई पार नहीं पाता तू बिना तुलाके सारे संसारको तौलता है ॥ १३ ॥

साँई केरा बहुत गुन, औगुन कोई नाँहि।
जो दिल खोजूँ आपना, सब औगुन मुझ माँहि ॥१४॥

हे प्रभु! तेरेमें सब गुणही गुण है अवगुण एक भी नहीं यदि अपने दिलमें खोजता हूँ तो सर्व दोषोंका कोष मैंहो हूँ १४

तेरे बिन जोर जुलम है, मेरा होय अकाज।
विरद तुम्हारे नाम की, सरन पड़े की लाज ॥१५॥

तेरी शरण बिना मुझ पर सब कोई जोर जुल्म कर रहे हैं, जिससे मेरा अकाज हो रहा है। तेरे नामकी शरणमें पड़ा हूँ आप अपनी यश कीर्तिकी लज्जा रक्खो ॥ १५ ॥

बाटरिया दूभर भई, मति कोय कायर होय।
जिन यह भार उठाइया, निरबाहेगा सोय ॥१६॥

राहियो! यद्यपि प्रभु मार्ग पर चलनेमें कठिनाइयाँ होती हैं तथापि कादर मत बनो। अरे! जिसने पार करनेका बोझा उठाया है वही पार लगायगा साहस रक्खो ॥ १६ ॥

हाथी अटक्यो कीच में, काढ़े को समरथ्थ।
कीचल निकलै आपनै, की साँई पसारै हथ्थ ॥१७॥

कीचड़में फँसा हुआ हाथीको प्रभुके सिवा और कौन काढ़ सकता है? या तो स्वयं पुरुषार्थ करे या धनि समर्थ अपने हाथका सहारा दे ॥ १७ ॥

जिस नहीं कोय तिसहि तूँ, जिस तूँ तिस सब होय।
दरगह तेरी साँईया, मेटि न सकै कोय ॥१८॥

हे प्रभु! निरालम्बका आलम्ब तुहीं है जिसे तू सहारा

दे उसे सब कोई होता है। तेरे दरबारका हुक्म कौन मेट सकता है ॥ १८ ॥

मेरा किया न कछु भया, तेरा कीया होय।
तूँ करता सब कुछ करै, करता और न कोय ॥१९॥

ऐ प्रभु ! मेरा किया न कुछ हुआ न हो सकता है। तेराही किया सब कुछ है। तूँ मालिक है चाहे जो करे तुझ पर दूसरा कोई नहीं ॥ १९ ॥

औगुन हारा गुन नहीं, मन का बड़ा कठोर।
ऐसे समरथ साँइया, ताहि लगावै ठौर ॥२०॥

ऐ स्वामिन् ! तू ऐसा समर्थ है कि जो सद्गुण रहित दुर्गुणी और मनका बड़ा कठोर है। तिसे भी तू ठौर लगा देता है तो औरोंकी क्या कथा ? ॥ २० ॥

तुम तो समरथ साँइया, गहि करि पकड़ो बाँह।
धूरहि ले पहुँचाइयो, मत छोड़ो मग माँहि ॥२१॥

ऐ स्वामिन् ! तू प्रभु है मेरी बाँह भी दृढ़ कर पकड़ ले। और थू निज धाम पर पहुँचा दे; रास्तामें मत छोड़ ॥ २१ ॥

बालक रूपी साँइया, खेलै सब घट माँहि।
जो चाहै सो करत है, भय काहू का नाँहि ॥२२॥

ऐ स्वामिन् ! तू बाल स्वरूपसे सबके हृदय कंजमें क्रीड़ा कर रहा है। जो चाहे सोई करता है भय किसीका नहीं है २२

एक खड़ा ही ना लहै, एक ऊभा बिललाय।
समरथ मेरा साँइया, सूता देय जगाय ॥२३॥

एक तो दरबारमें हर वक्त हाज़िर रहता हुआ भी मनोरथको सिद्ध नहीं करने पाता और एक खड़ा रोता हुआ धक्का खा रहा है। ऐ मेरे स्वामी! तो भी तेरी मिहरबानी विना कुछ नहीं पाता और जिसे तू चाहता है उसे बेफ़िक्र निद्रालूको जगाकर भी मालामाल कर देता है; इस तेरी निराली चालको कोई नहीं समझता ॥ २३ ॥

समरथ धोरी कंध दै, रथ को दे पहुँचाय।
मारग माँहि न छाँड़िये, पिय विन विरद लजाय॥२४॥

अतः ऐ समर्थ! धुरन्धर ग्रीवा देके मेरे शरीररूप रथको सीधे मुकाम पर पहुँचा दे अधवीच मत छोड़ क्योंकि प्रभु विना वेषकी लज्जा कोई रखनेवाला नहीं है ॥ २४ ॥

वारी हरि के नाम पर, कीया राई लौन।
जिसे चलावै पंथ तूँ, तिसे भुलावै कौन ॥२५॥

उस प्रभुके नामकी बलिहारी है जिसने पल भरमें पर्वतको राई और राईको पर्वत कर दिया व कर देता है। ऐ समर्थ! जिसे तू मुक्तिकी राह चलावे किसकी मजाल है कि उसे भुलादे॥

मुझमें औगुन तुझहि गुन, तुझ गुन औगुन मुझ्झ।
जो मैं विसरूँ तुझ्झ को, तू मति विसरै मुझ्झ ॥२६॥

मेरेमें अवगुण और तेरेमें गुण है यदि मैं निज अवगुणसे तुझे भूल भी जाऊँ तो भी अपने गुण और मेरे अवगुणको विचारकर तू मुझको मत भुला ॥ २६ ॥

साहिब तुम जनि बीसरो, लाख लोग मिलि जाँहि।
हमसे तुमको बहुत हैं, तुम सम हमको नाँहि ॥२७॥

ऐ मालिक ! चाहे तुम्हें लाख लोग मिलें तो भी मुझे मत भूलना। क्योंकि हमारे ऐसे तुम्हारे बहुत हैं पर मेरे तुम्हारे समान कोई भी नहीं ॥ २७ ॥

तुम्है विसारै क्या बनै, किसके सरनै जाय।
सिव विरंचि मुनि नारदा, हिरदे नाँहि समाय॥२८॥

यदि तुम विसार दोगे तो मेरा क्या चलेगा और मैं किसकी शरण लूँगा ? शिव, ब्रह्मा और मुनि नारदादि तो मेरे हृदयमें आताही नहीं ॥ २८ ॥

मेरा मन जो तुझ्झ सूँ, तेरा मन कहिं और।
कहैं कबिर कैसे बने, एक चित्त दुइ ठौर ॥२९॥

कबीर गुरु कहते हैं कि ऐ नरजीव ! जो मेरा मन तुझ तरफ होय और तेरा किसी और तरफ, फिर कहो एक चित्त दो तरफ होनेमें कैसे बनेगा ? कदापि नहीं ॥ २९ ॥

जो मैं भूल बिगाड़िया, ना करु मैला चित्त।
साहिब गरुआ चाहिये, नफर बिगाड़ै नित्त ॥३०॥

ऐ स्वामी ! यदि मैं भूलसे बिगाड़ भी करूँ तो भी आप अपने चित्तमें मलिनता न लावें क्योंकि स्वामीको श्रेष्ठ होना चाहिये सेवक तो नित प्रति बिगाड़ करताही है ॥ ३० ॥

कबीर भूल बिगाड़िया, करि करि मैला चित्त।
नफर तो दीन अधीन है, साहिब राखै हित्त ॥३१॥

प्राकृत जीव तो अन्तःकरणकी मलिनतासे बार बार भूल, बिगाड़ किया करता है। इसी कारण गरीब गुलाम अधीन हो रहा है। साहिब ! आप तो अवश्य प्रेम रखें ॥ ३१ ॥

मुझमें गुन एकौ नहीं, सुनो सन्त सिर मौर।
तेरे नाम प्रताप से, पाऊँ आदर ठौर ॥३२॥

हे सन्त शिरोमणि ! सुनिये मेरेमें गुण तो एक भी नहीं है परन्तु तेरे नामके प्रतापसे सत्कार और ठौर पा जाता हूँ ॥३२॥

अन्तरजामी एक तूँ, आतम के आधार।
जो तुम छाँड़ो हाथ तें, कौन उतारे पार ॥३३॥

तुमही एक अन्तर्यामी मेरी आत्माका आधार हो। यदि आप बाँह छोड़ दें तो कहिये भला पार कोन उतारे? ॥ ३३ ॥

भौसागर भारी भया, गहिरा अगम अथाह।
तुम दयाल दाया करो, तब पाऊँ कुछ थाह ॥३४॥

संसार सिन्धु भारी गहिरा और अगम अथाह हो रहा है। हे दयालो ! आप कृपा करो तो कुछ थाह पा सकता हूँ ३४

सतगुरु बड़े दयाल हैं, सन्तन के आधार।
भौसागर अथाह सो, खेइ उतारैं पार ॥३५॥

सन्तोंके आधार सद्गुरु बड़े दयाल हैं। अपनी दयाही डाँड़से खेकर संसार अथाह सागरसे पार करते हैं ॥ ३५ ॥

साहिब तुमहि दयाल हो, तुम लग मेरी दौर।
जैसे काग जहाज़ को, सूझै और न ठौर ॥३६॥

बस ! हे सद्गुरो ! आप दयालु हैं मेरी पहुँच भी आपही तक हैं। जैसे जहाज़के कौवेको जहाज़के सिवा और कोई स्थिति नहीं दीखती ऐसे मुझे भी ॥ ३६ ॥

मेरा मन जो तोहि सूँ, यौं जो तेरा होय।
अहरन ताना लोह ज्यौं, संधि लखै नहिं कोय ॥३७॥

जैसे मेरा मन तेरेसे राज़ी है तैसेही यदि तेरा हो जाय तो ऐसे सन्धि न दीखे जैसे निहाई पर पीटा हुआ लोहा। एकमेक हो जाता है पृथक नहीं दीखता ॥ ३७ ॥

कबीर करत है विनती, भौसागर के ताँई।
बन्दे जोरा होत है, जम को बरजु गुसाँई ॥३८॥

सेवक संसार सागरसे पार जानेके लिये सद्‌गुरुसे विनय करता है कि हे प्रभो! आपके सेवकों पर जमको ज़बरदस्ती हो रही है, उन्हे हटक दीजिये ॥ ३८ ॥

धर्मराय दरबार में, दई कबीर तलाक।
भूले चूके हंस को, मति कोइ रोको चाक॥३९॥

तब सद्‌गुरु कबीरने यमराजके दरबारमें जाके सौगन्द दिला दी कि हमारे हंस भूले चूके भी हों उसे भी कोई न रोके ॥ ३९ ॥

बोले पुरुष कबीर से, धर्मराय कर जोर।
तुम्हरे हंस न चंपि हों, दुहाइ लाख करोर ॥४०॥

यमराजने हाथ जोड़कर कबीर गुरुसे बोला कि-अब तेरे हंसको हर्गिज़ न दलेंगे। इसकेलिये लाख और करोड़ गोहार है।

जो जाकी शरनै गहे, ताको ताकी लाज।
उलटि मीन जल चढ़त है, बह्यो जात गजराज॥४१॥

ठीक है, जो जिसकी शरणे जाता है उसकी लज्जा उसीके

हाथ रहती है। देखो! मल्लोको, जिस धारा प्रवाहमें बड़े २ गजराज बहे जाते हैं उसमें वह उलटी वहावके विरुद्ध चढ़ता है।

और पुरुष सब कूप है, तूँ है सिंधु समान।
मोहि टेक तुव नाम की, सुनिये कृपानिधान ॥४२॥

ऐ कृपानिधे! सुनिये इतर पुरुष सब कूपके सदृश हैं और आप सागर तुल्य हैं इसलिये मुझे आपके नामकी टेक है ॥४२॥

अजगर करै न चाकरी, पंखी करै न काम।
दास कबीरा यूँ कहै, सबके दाता राम ॥४३॥

न तो अजगर नौकरी करता है न पक्षी काम। दास कबीर इस प्रकार कहता है कि ऐ राम! तूँ सबके दाता है ॥ ४३ ॥

यद्यपि हम कायर कुटिल, खैर चाकरी चोर।
तद्यपि कृपा न छाँड़िये, चितै आपनी ओर ॥४४॥

यद्यपि हम कादर, कुटिल सेवकाईमें मुँह चोराने वाले हैं सही तो भी हे प्रभु! आप अपने गुणकी ओर देखिये और कृपा न छोड़िये ॥ ४४ ॥

जाको राखै साँइया, मारि सकै नहिं कोय।
वाल न वाँका करि सके, जो जग वैरी होय ॥४५॥

जिसे प्रभु रक्षा करता है उसे कोई नहीं मार सकता चाहे संसार दुश्मन क्यों न हो एक वाल तक भी टेढ़ा नहीं कर सकता है ॥ ४५ ॥

साँईं केरे वहुत गुन, लिखे जु हिरदे माँहि।
पिउँ न पानी डरपता, मत वे धोये जाँहि ॥४६॥

ऐ स्वामिन्! तेरे असंख्य गुण जो मेरे हृदयमें अङ्कित हैं।

उसे धो जानेके भयसे मैं जल तक भी नहीं पीता अर्थात् तेरे सिवा और किसीकी कुछ नहीं सुनना चाहता ॥ ४६ ॥

अनेक बंध से बाँधिया, एक विचारा जीव।
अपने बल छूटे नहीं, जो न छुड़ावै पीव ॥४७॥

अनेकों बन्धनमें जकड़ा हुआ एक बेचारा जीव है। जो उसे सद्गुरुकी ज्ञान सहायता न हो तो स्वयं बलसे छूटना असम्भव है।

तनकीजानै मनकीजानै, जानै चितकी चोरी।
वह साहिबसेक्याछिपावै, जिनके हाथमें डोरी ॥४८॥

जो तन, मन और चित्तकी सारी बुराइयाँ जानता है। उस प्रभुसे क्या छिपायाजाय जिसके हाथमें सबकी बाग डोर है ॥ ४८ ॥

जो जाकी बाँही लगी, ताही के सिर भार।
हलकी कड़वी तूँबरी, लेइ उतारै पार ॥४६॥

जो जिसकी शरण लग जाता है उस शरणागतका रक्षा भार सब स्वामीको होता है। देखो! हलकी और कड़वी तितलौकी को, वह भी अपने शरणागतको लेकर पार लगाई देती है ॥४६॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित. समरथको अङ्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

—————

अथ चानकको अङ्ग ॥३४॥

कबीर तृस्ना टोकना, लीये डोलै स्वाद।
रामनाम जाना नहीं, जनम गँवाया बाद ॥१॥

स्वादके मारे अज्ञानी लोग तृष्णा रूपी हण्डा लिये फिरते हैं। और नित्य तृप्त रमैया रामको नहीं जानते योंही व्यर्थमें नर-जन्म गमाये व गमाते हैं ॥ १ ॥

कबीर कलियुग कठिन है, साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनका आदर होय ॥२॥

ऐ कबीर! कलयुगका ज़माना बड़ा बुरा है; यहाँ तो कामी, क्रोधी और मसखरेके आगे सन्तोंका सत्कार ही उठ गया ॥२॥

नाचै गावै पद कहै, नाँहीं गुरु सों हेत।
कहै कबिर क्यों नीपजै, बीज बिहूना खेत ॥३॥

नाचते, गाते और सद्गुरुका पद भी कहते हैं परन्तु सद्गुरुसे प्रेम नहीं करते। कबीर गुरु कहते हैं बिना बीजका खेत कैसे उपजेगा! कदापि नहीं ॥ ३ ॥

कै खाना कै सोवना, और न कोई चित्त।
हरि सा प्रीतम बीसरा, बालापन का मित्त ॥४॥

सत्संग विमुखोंको खानेको सुन्दर भोजन और सोनेको सुन्दर पलंगके सिवा और कुछ मनमें नहीं आता। बालापनेके रक्षक प्रभु जैसा प्रीतमको भी भुलाय बैठे हैं तो औरकी कथा ही क्या! ॥ ४ ॥

इस उदर के कारनै, जग जाँच्यो निसिजाम।
स्वामिपनो सिरपरचढ्यो, सर्यो न एको काम ॥५॥

केवल एक पेट पोषणके वास्ते इतने दीन हो रहे हैं कि अहो रात्र संसारियोंसे माँगते विताते हैं और स्वामीपनेका अहंकार भी ऐसे शिर पर धरे हैं जिससे एक भी कार्य सिद्ध न हुआ न होता है ॥ ५ ॥

कलिका स्वामी लोभिया, पीतल धरे खटाय।
राज दुवारे यौं फिरै, ज्यौं हरियाई गाय ॥६॥

कलियुगके स्वामी ऐसे लोभी होते हैं कि पीतलकी मूर्तियाँ बनाकर घर रखते और दूसरोंके खेत चरनेवाली हरियाई गाय की तरह राजद्वारे भटकते फिरते हैं ॥ ६ ॥

राज दुवारै राम जन, तीन वस्तु को जाय।
कै मीठा कै मान को, कै माया की चाय ॥७॥
हरि सुमिरन साँची कथा, कोय न सुनिहै कान।
कलिजुग पूजा दंभ की, बाजारी का मान ॥८॥

मिष्टान्न, मान और माया येही तीन वस्तुके लिये रामजन राज द्वारे जाते हैं। प्रभुका नाम स्मरण और उनको सच्ची वार्ता कोई भी ध्यानसे नहीं सुनता। कलियुगमें केवल दंभी, आडम्बरीका सत्कार पूजा है ॥ ७ ॥ ८ ॥

तारा मण्डल बैठि के, चाँद बड़ाई खाय।
उदै भया जब सूर का, तब तारा छिपि जाय ॥९॥
देखनका सब कोय भला, जैसे सित का कोट।
रविके उदय न दीसही, बँधे न जलकी पोट ॥१०॥

तारामण्डलमें बैठिके चन्द्र तबही तक मान पाता है जब तक कि सूर्य उदय नहीं हुआ है उसके उदय होतेही तारा छिप जाते हैं। ऐसेही दंभी, बाज़ारी देखनेको सुहाना श्रोर कणके कोटकी तरह सब ही हैं परन्तु सूर्यके उदय होनेपर सब रफ़ूचक्कर हो जाते उन्हें कोई नहीं पकड़ पाते ॥ ६ ॥ १० ॥

पद गावै मन हरपि के, साखी कहै अनंद।
रामनाम नहिं जानिया, गल में परिगा फंद ॥११॥

बड़ी खुशीके साथ पद गाते और साखी बोलते हैं। परन्तु रामका वास्तविक नाम जाने विना उन्हें गलेमें फन्दा पड़ ही गया ॥ ११ ॥

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि दंभ।
जानै बूझै कछु नहीं, यौंही अंधा रंभ ॥१२॥

खूब आडम्बर ऊँचा करके जो कीर्तन करते हैं यही उनके कर्त्तापनेका दृश्य दीखता है। और आन्तरिक कुछ ज्ञान तो है नहीं योंही अन्धाके आगे अपना आरम्भ किया करते हैं ॥१२॥

स्वामी होना सेंत का, पैसे केर पचास।
राम नाम धन बेंच के, करै सीष की आस ॥१३॥

ऐसे सेंत मेंतके स्वामी पैसेके पचासों मिलते हैं। जो अमूल्य राम नाम धनको बेचके शिष्योंको आशा करते हैं कि कुछ देगा ॥ १३ ॥

राम नाम जाना नहीं, जपा न अजपा जाप।
स्वामिपना माथे पड़ा, कोइ पुरबले पाप ॥१४॥

सद्गुरु सत्संगसे न तो वास्तविक रामका नाम ही जाना

न अजपा जाप ही जपो। कोई मंत्रिल पायसे स्वामी पनेका अहंकार शिरपर सवार हो गया जिससे नरजन्म खो बैठा ॥१४॥

कबीर स्वामी कोय नहिं, स्वामी सिरजन हार।
स्वामी है करि बैठही, बहुत सहेगा मार ॥१५॥

ऐ कबीर! एक मालिकके सिवा दूसरा कोई स्वामी नहीं है जो स्वामी होकर बैठेगा वह बहुत मार सहेगा ॥ १५ ॥

जो मन लागा एक सों, तौ निरुवारा जाय।
तूरा दो मुख बाजता, न्याय तमाचा खाय ॥१६॥

जो एकसे मन लगेगा तो निर्णय होगा। नहीं तो तूरे (बाजा विशेष) की तरह दो मुख बोलनेसे न्यायका तमाचा ज़रूर खायगा ॥ १६ ॥

कबीर बंटा टोकनी, लीया फिरै सुभाय।
राम नाम चीन्हें नहीं, पीतल ही की चाय ॥१७॥

ऐ कबीर! कलियुगके बहुतेरे वेषधारी ऐसे हैं जो बाँटा नाम शालग्राम और टोकनी यानी घंटी यही सुन्दर बनाय लिये फिरते हैं। राम क्या वस्तु हैं यह तो पहिचान है नहीं केवल पीतल (द्रव्य) की चाह है ॥ १७ ॥

कबीर व्यास कथा कहै, भीतर भेदे नाँहि।
औरों कूँ परमोधताँ, गये मुहरका माँहि ॥१८॥

देखो! व्यासजी कथा कहके औरोंको सुनाते हैं लेकिन खुद उन्हींको हृदयमें नहीं धँसता। अतः औरोंको प्रबोध करते हो फनक कालके मुखमें स्वयं चले गये ॥ १८ ॥

कबीर कहहिं पीर को, समझावै सब कोय।
संसय पड़ेगा आपकूँ, और कहँ का होय ॥१९॥

कबीर गुरु कहते हैं; जो कि पूरे मुरीद भावमें भी नहीं उतरे और पीर बनके सबको समझावते हैं। जब उन्हें स्वयं संशय जन्य जन्मादि मार पड़ेगी तब, और को समझाने से उन्हें क्या फ़ायदा हुआ ॥ १९ ॥

कबिरसुनावत दिनगये, उलझिनसुलझ्यामन।
कहँ कबिर चेता नहीं, अजहूँ पहला दिन ॥२०॥

औरोंको उपदेश करते सब दिन बीत गये उलझनमें पड़ा हुआ निज मन नहीं सुलझा। कबीर गुरु कहते हैं कि ऐ नर-जीव! क्यों नहीं चेत करता? अब भी चेतनेका मुख्य दिन है।

अमरापुर को जात हौं, सबसे कहौं पुकार।
आवन होय तो आइयो, सुरी ऊपर यार ॥२१॥

अमर धामको जाते २ सबसे पुकारकर कहे देता हूँ। यदि इच्छा होय तो आ जावो, पर ध्यान रखना यारका आसन सूली (शम दमादि साधन) ऊपर है ॥ २१ ॥

चित चटकी लागी नहीं, क्यौं पावै करतार।
कीट भिरंगी होत है, नरको केतिक वार ॥२२॥

जब कि मन शीघ्रतापूर्वक मालिकमें नहीं लगा तो फिर वह कैसे उसे पा सकता है। अरे! मन लगानेसे तो कीट भृङ्गी बन जाता है; तो कहो भला मनुष्यको कितनी देरी? ॥ २२ ॥

नर नारायण होत है, जो करि बूझै कोय।
कीट भिरंगी होत है, गुरु बलिहारी तोय ॥२३॥

यही नर नारायण बन जाता है यदि विश्वास न होय तो कोई मन लगाके देख लो ?। कीट तक भृङ्गी बन जाता है; सद्गुरो ! तेरी बलिहारी है ॥ २३ ॥

इन्द्री एकौ वस नहीं, छोड़ चले परिवार ।
दुनिया पीछै यों फिरै, जैसे चाक कुम्हार ॥२४॥

संसार परिवारको छोड़कर चल दिये और इन्द्रियाँ एक भी वशमें नहीं तो फिर दुनियाँके पीछे ऐसे फिरते हैं जैसे कुम्हारका चाक ॥ २४ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित चानकको अङ्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

अथ आतम अनुभवको अङ्ग ॥३५॥

आतम अनुभव सूख की, जो कोइ बूझै बात।
कै जो कोई जानई, कै अपनो ही गात ॥१॥

यदि कोई स्वरूपोपलब्धिका आनन्द पूछे तो उस स्वसवेद्य आनन्दको कोई कैसे कह सकता है? कदापि नहीं। इसे स्वयं जाननेका साधन ज्ञाता कह सकता है और कुछ नहीं ॥ १ ॥

आतम अनुभव जब भयो, तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्र दीप सम है रहे, तजि करि वाद विवाद॥२॥

स्वरूपका यथार्थ बोध होने पर मन हर्ष, शोक, वाद, विवादको छोड़कर ऐसे स्थिर हो जाता है जैसे चित्रपट पर चित्र दीपक ॥ २ ॥

आतम अनुभव ज्ञानकी, जो कोय पूछै बात।
सो गूँगा गुड खाय के, कहै कौन मुख स्वाद॥३॥
ज्यौं गूँगा के सैन को, गूँगा ही पहिचान।
त्यौं ज्ञानी के सूख को, ज्ञानी है सो जान ॥४॥

स्वरूपानन्दकी वार्ता किसी दूसरेसे ऐसे नहीं कही जाती जैसे गूँगा गुड़का मिठास। यद्यपि उसे खानेको मुख है तो भी स्वाद कहनेको नहीं। हाँ जैसे गूँगाके इशाराको गूँगा समझता है तैसेही जो ज्ञानी होता है वह ज्ञानीके सुखको अनुभव करता है। भावार्थ —जब तक भौंरे फूलों पर नहीं बैठते हैं तब तक भनभन आवाज करते हैं। जब फूलों पर बैठकर मधुका पान करना शुरू किया, तब चुप हो जाते हैं। मधुका पानकर लेनेके

याद मतवाले होकर फिर कभी कभी वे गुनगुनाते हैं इसी प्रका अनुभवी पुरुषको समझना चाहिये ॥ ३ ॥ ४ ॥

नर नारी के सुख को, खसी नहीं पहिचान ।
त्यौं ज्ञानी के सुख को, अज्ञानी नहिं जान ॥५॥

जैसे स्त्री पुरुष समागमजन्य सुखको हिजड़ा अनुभव नहीं कर सकता तैसेही अज्ञानी ज्ञानीके सुखको नहीं जान सकता॥

ताको लच्छन को कहै जाको अनुभव ज्ञान ।
साध असाध न देखिये, क्यौं करि करूँ बखान ॥६॥

जिसे अनुभव ज्ञान हुआ है वही अनुभूत आत्माका लक्षण कह सकता है । और वह भी साध असाधन अर्थात् विवेकादि साधन रहितोंके प्रति कैसे वर्णन कर सकूँ । अथवा उसका लक्षण कौन कह सकता ? अर्थात् कोई नहीं । क्योंकि जिसको अनुभव ज्ञान है उसकी एकात्म दृष्टिमें साधु और असाधु कोई है नहीं फिर द्वैत दृष्टि विना कैसे वर्णन कर सकता इत्यादि॥६॥

कागद लिखै सो कागदी, की व्यौहारी जीव ।
आतम दृष्टि कहाँ लिखै, जित देखै तित पीव ॥७॥

कागद लिखनेवालेको लोग कागदी या व्यापारी जीव कहते हैं । परन्तु जब सर्वत्र प्रभुमय दृष्टि होगई तब कहाँ और क्या लिखा जाय ? ॥ ७ ॥

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात ।
दुलहा दुलहिन मिलि गये, फीकी पड़ी बरात ॥८॥

दर्शगम्य वार्ताको लिखा लिखीको ऐसे ज़रूरत नहीं रहती जैसे दुलहा और दुलहिनके मिलापसे बरातकी । वृत्तिरूपी दुलहिनको आत्मरूप दुलहामें लीन होने पर कर्त्तव्य कार्य कुछ नहीं रह जाता ॥ ८ ॥

श्याम सब्ज विधि पंच जे, पीत अरुन अरु सेत।
चक्षमान अचक्षु को, ज्यौं नहिं उपमा देत ॥९॥

यदि कोई उसका रंगरूप भी पूछे तो वह भी कोई किसी प्रकार ऐसे नहीं कह सकता जैसे कोई नेत्रवाला अन्धाको रूपका ज्ञान नहीं करा सकता है क्योंकि काला, हरा, पीला, लाल और सुफेद ये पाँच प्रकारके रंग पंच तत्वोंके हैं चिदात्मके नहीं ॥ ९ ॥

ज्ञान भक्ति वैराग सुख, पीव ब्रह्म लौं धाय।
आतम अनुभव सेज सुख, तहँाँ न दूजा जाय ॥१०॥

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, ईश्वर और ब्रह्म सुख तक लोगोंकी दृष्टि पहुँच जाती है। परन्तु चिति मात्र अनुभव सुख शैया पर जानेकी गति सिवा सद्गुरु सत्संगोंके औरकी नहीं।' निर्भय भये तहॉं गुरुकी नगरिया। सुख सोवे दास कबीरा हो" इति ॥१०॥

ज्ञानी जुक्ति सुनाइया, को सुनि करै विचार।
सूरदास की इस्तरी, का पर करै सिंगार ॥११॥

संसारियोंके कल्याणार्थ ज्ञानी पुरुष बहुतकुछ युक्ति सुनाते हैं। परन्तु इसे कौन सुनता और विचार करता है अर्थात् कोई नहीं; तो इनका ज्ञान कथन ऐसे व्यर्थ होता है जैसे सूरदासकी स्त्रीका शृङ्गार। अथवा सूरदासकी स्त्री किसके वास्ते शृङ्गार करे जब कि उसका पति उसके शृङ्गारको देखताही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी ज्ञान किसे सुनावे जब कि श्रोता ध्यानमें लेता ही नहीं ॥ ११ ॥

ज्ञानी भूले ज्ञान कथि, निकट रहा निज रूप।
बाहिर खोजै बापुरे, भीतर वस्तु अनूप ॥१२॥

केवल शास्त्रके ज्ञानी लोग कथन ज्ञानमें भूल गये: आनि

सन्निकट अनूप। निजात्म स्वरुप;अन्दरको छोड़के बाहिर ढूढ़ने चले गये। यथाः—"ज्ञान अमर पद बाहिरे, नियरे ते हैं दूर। जाने ताको निकट है, रहा सकल घट पूर॥" इति॥ १२॥

भीतर तो भेदा नहीं, बाहिर कथै अनेक।
जो पै भीतर लखि परै, भीतर बाहिर एक॥१३॥

भीतर तो प्रवेश किया नहीं; बाहर बहुतेरे कथन करते हैं। जो कहीं अभ्यन्तर आत्म स्वरूप लखनेमें आ जाय तो बस! बाहिर भीतर एकही हो जाय॥ १३॥

नैन समाने नैन में, बैन समाने बैन।
जीव समाने बूझ में, रहै ऐन के ऐन॥ १४॥

रूप नेनमें और वचन वागिन्द्रियमें लीन हो गया। इसी प्रकार जीव निज ज्ञान स्वरुपमें समा गया बस! "है जैसा रहे तैसा, कहहिं कबीर विचार" एक ,दोका झगड़ा मिट गया। फ़ारसीमें 'ऐन' अक्षरके मस्तक पर एक विन्दु लगानेसे वह 'ग़ैन' हो जाता है, पुनः विन्दुरहित करने पर ऐनको ऐन ज्योंका त्यों रह जाता है। मुसलमानी तंत्रोंमें 'ऐन' को शुभ अक्षर और सबसे प्रेम बढानेवाला माना है। उसी 'ऐन'के शोश पर विन्दु लगानेसे वह ' ग़ैन ' अशुभ अक्षर मारन उच्चाटन वैर विरोध इत्यादि अमंगल करनेवाला हो जाता है। सबका प्रेमास्पद शुभ माङ्गलिक ऐन अक्षरमें अमङ्गल कर एक विन्दुही कारण है। अनर्थभूत विन्दुके त्यागसे विशुद्ध मांगलिक ऐन अक्षर रह जाता है। सद्गुरु कबीर साहेब कहते हैं 'ऐन' रूप विशुद्ध सबका प्रेमास्पद अखण्डात्म स्व स्वरूप है। उसीमें विषय वासनारूप विन्दु लगनेसे वह अशुद्ध अमंगल सबको दुःखद व दुःखरूप बन गया, फिर तो वह देहेन्द्रिये मानकर नयनोंसे बाहिरी आदिकरूपको देखने और वाणीसे बाह्य शब्दोंकी रचनामें प्रवृत

हुआ। इस प्रकार स्वयं जीव संसारी वनके निज वृक्ष-ज्ञान स्वरूपको त्यागकर अज्ञानके पड़देमें मनमाना कार्य करने लगा और वासना बिन्दुके प्रभावसे ज्ञानी अज्ञानी, त्यागी रागी, योगी भोगी इत्यादि इत्यादि नाम धराने लगा। परन्तु सद्गुरुकी कृपासे जब नरजीव पुनः वासना बिन्दुसे रहित हो नयनको नयनमें बैनको बयनमें लीन करके जीवको विशुद्ध ज्ञान स्वरूपमें लगा दिया तो फिर वही ऐनको ऐन ज्योंका त्यों शुद्ध स्वरूप मंगलमय गुरु-कृपासे रह गया इत्यादि ॥ १४ ॥

झारी फाँसी कूप में, भभकी पानी माँहि।
भरे भभक सब मिटि गई, अब कछु कहनी नाँहि॥१५॥

खाली कमण्डल कूपमें डालने पर पानी भरते समय भभक ऐसी आवाज़ होती है और भर जाने पर आवाज़ मिट जाती है। इसी प्रकार आत्म अनुभव होने पर कथनी मिट जाती है। यदि किसीको शंका होय कि:—क्या आत्म निष्ठ बात चीत नहीं करते? समाधान = चिदात्म दर्शन होने पर ज्ञानी पुरुष "चित्र दीप सम होत थिर, त्यागि वृथा बकवाद" स्थिर हो जाते हैं। क्योंकि जब तक स्वरूप दर्शन नहीं होता तबही तक विचार प्रवाह चलता है। जैसे घीके कच्चा रहने तक कलकल आवाज सुनाई देती है। पक जाने पर आवाज़ नहीं रहती। किन्तु पके हुए घीमें फिर जब कची पूरी पड़ती है तब फिर एक बार घी कड़कड़ करता है। जब कची पूरी पक गई तब घी भी चुप हो जाता है। इसी प्रकार जब आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुषके पास जिज्ञासु आते हैं तब उन लोगोंको शिक्षा देनेकेही लिये पुनः वृत्तिको पलट कर बात चित करते हैं। अन्यथा नहीं॥

भरा होय तो रीतई, रीता होय भराय।
रीता भरा न पाइये, अनुभव सोय कहाय॥१६॥

भरे हुएको खाली होना ज़रूरी है यदि ऐसा न हो तो खाली भरेगा कैसे ? भाव यह है कि पूर्ण ज्ञानीका ज्ञान शिष्यके प्रति उपयोग होनेसे उनके स्वात्म अनुभव ज्ञानमें कमी नहीं होती। इसी मतलबसे कहते हैं कि जिसमें खाली भरती न हो उसीका नाम अनुभव है। शंकाः—क्या दूसरेके प्रति उपदेश करनेमें उस अनुभवमें विक्षेप नहीं होता ? । समाधानः—विक्षेप यों नहीं होता। जैसे तलावसे जल कलशमें भरते समय भक् भक् आवाज होती है। भर जाने पर फिर आवाज़ नहीं रहती; लेकिन वही जल यदि दूसरे कलशमें ढाला जाय, तो फिर आवाज़ ज़रूर होती है। किन्तु जलमें विकार होनेका कोई कारण नहीं रहता। ऐसे ज्ञानीका ज्ञान प्राप्ति और प्रदानके समय ज्योंका त्योंही रहता है; विक्षेपकी कोई संभावना नहीं॥१६

कहा सिखापन देत हो, समुझि देख मन माँहि।
सबै हरफ है द्वात महँ, द्वात न हरफन माँहि ॥१७॥

विशेष शिक्षा देनेकी कोई ज़रूरत नहीं; मनमें समझ देखो। द्वेत रूप द्वातमें सब कहना सुनना है। आत्म अनुभव रूप द्वात वर्णोंसे वर्णन नहीं होता ॥ १७ ॥

सुखपत माँहीं सब गले, मन बुधि चितपरकास।
छिनक माँहि परलै भया, को ठाकुर को दास ॥१८॥

सुपुप्ति अवस्था होत ही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब लीन हो जाते। स्वामी और सेवक भाव भी नहीं रह जाता। क्षण भरमें प्रलय हो गया ॥ १८ ॥

जागृत जागृत साँच है, सोवत सपना साँच।
देह गये दोऊ गये, ज्यौं भगली का नाच॥१९॥

जैसे जाग्रदवस्थाका पदार्थ जाग्रत्‌में सत्य प्रतीत होता है

तैसे स्वप्नका स्वप्नमें। शरीरके अभाव होनेपर जादूगरीके नृत्य समान दोनों मिथ्या हो जाते हैं ॥ १६ ॥

अँधरे को हाथी ज्यौं, सब काहू को ज्ञान।
अपनी अपनी कहत हैं, काको धरिये ध्यान ॥२०॥
अंधे मिलि हाथी छुआ, अपने अपने ज्ञान।
अपनी अपनी सब कहैं, किसको दीजै कान ॥२१॥
अँधरन को हाथी सही, हैं साँचे सघरे।
हाथन की टोई कहै, आँखिन के अँधरे ॥२२॥
अंधों का हाथी सही, हाथ टटोल टटोल।
आँखों से नहि देखिया, ताते भिनभिन बोल ॥२३॥
दूजा है तो बोलिये, दूजा झगरा सोहि।
दो अंधों के नाच में, कापै काको मोहि ॥२४॥
निरजानीसोंकहियेकहा, कहत कबीर लजाय।
अंधे आगे नाचते, कला अकारथ जाय ॥२५॥

अन्धेके हस्तीके समान सबको ज्ञान है। अपनी २ सब कहते हैं, किसको २ ध्यान देना। हाथीको सबने स्पर्श किया है उसके अनुसार कहता है। नहीं किसको कहना। उनके हाथी, ज्ञान और वे अन्धे सब सच्चे हैं। क्योंकि उन्हें आँखें तो हैं नहीं; हाथको टोई कहते हैं। आँखसे तो वे देखे नहीं केवल हाथसे स्पर्श किया है। इसलिये पृथक् २ बतलाते हैं। दूसरा कोई आँख वाला होय, तो उसके झगड़ेमें कुछ कहना शोभता है। और यहाँ तो अन्धोंका नाच है। कौन किसपर आशिक होय ? हे कबीर ! अज्ञानीके प्रति कहनेमें ज्ञानी पुरुष

शमांते हैं। क्योंकि जैसे अन्धोंके आगे नाचनेकी कला सब व्यर्थ जाती है। ऐसे ज्ञानीको ज्ञान समझो २०-२१-२२ २३-२४-२५

चचन वेद अनुभव जुगति, आनंद की परछाँहि।
बोध रूप पुरुप अखंडित, कहवे में कछु नाँहि ॥२६॥
बूझ सरीखी बात है, कहन सरीखी नाँहि।
जेते ज्ञानी देखिये, तेते संसै माँहि ॥२७॥

वाक्य ज्ञान और अनुभव, युक्ति ये सब वाग्विलास सत्संग का आनन्द प्रतिबिम्ब रूप है। और जो ज्ञान स्वरूप अखण्ड पुरुष है वह वागिन्द्रियका विपय नहीं, कोई कैसे कह सकता है। यह तो समझनेको वस्तु है कहनेकी नहीं। जो केवल पुस्तकके ज्ञानी देखनेमें आते हैं वे सब उस बोध स्वरूपसे वंचित भ्रम भूलमें पड़े हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

ज्ञानी तो निरभय भया, मानै नाहीं संक।
इन्द्रिन केरे बसि पड़ा, भुगते नरक निसंक ॥२८॥
ज्ञानी मूल गँवाइया, आप भये करता।
ताते संसारी भला, जो सदा रहै डरता ॥२९॥

जो ज्ञानी पाप, पुण्यकी शंकासे नि शंक विचरते हैं। और इन्द्रिय एक भी वशमें नहीं किन्तु उसीके वशमें स्वयं पड़े हैं। तो वे अवश्य नरकमें जायेंगे। क्योंकि स्वयं स्वतंत्र ज्ञानी बन के स्वरूप ज्ञानका साधन जो सद्गुरु सत्संग विवेकादि हैं उसे गमा बैठे हैं। इनसे तो वे संसारी लोग अच्छे हैं जो पापके भयसे पुण्य जनक शुभ कर्म, और सन्त गुरुके सेवा सत्संग करते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

इति श्रीआतम अनुभवको अङ्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

अथ सहजको अङ्ग ॥२६॥

सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्है कोय।
जा सहजै साहिब मिलै, सहज कहावै सोय ॥१॥
सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्है कोय।
पाँचौ राखै पसरती, सहज कहावै सोय ॥२॥

सहज सहज सब कोई कहते ज़रूर हैं परन्तु पहिचानता कोई भी नहीं। क्योंकि सहजावस्था उसे कहते हैं जिससे अपने मालिक साहेबकी प्राप्ति हो। सहज समझनेका एक यह भी तरीक़ा है कि पाँचो इन्द्रियाँ निज निज विषयोंमें बरतती हुई भी मनोवृत्ति 'तन तजि अन्त न जावे' आत्म चिन्तनको छोड़कर बाह्य न होय इसीका नाम सहजावस्था या सहज समाधि है ॥

सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्है कोय।
जा सहजै विषया तजै, सहज कहावै सोय ॥३॥

सहजावस्था उसीको कहते हैं जिसको प्राप्त होने पर उभय लोकको सम्पूर्ण भोगवासनाका परित्याग हो जाय ॥ ३ ॥

सहजै सहजै सब भया, मन इन्द्री का नास।
निहकामी सों मन मिला, कटी करम की फाँस ॥४॥

सहजावस्था प्राप्त होने पर सहजही मन, इन्द्रिय सबको सत्यानाश हो जाता है। फिर मन कामना रहित नित्य तृप्त आत्मदेवसे जा मिला और कर्मकी फाँस कट गई ॥ ४ ॥

सहजै सहजै सब गया, सुत वित काम निकाम।
एकमेक है मिलि रहा, दास कबीरा राम ॥५॥

"सुत वित लोक ईषणा तीनों। कहु किहि मन ईन कीन्हि मलोनी" ये भी सहजावस्था प्राप्त होतेही पुत्र वासना, धन वासना और लोक वासना स्वाभाविक रफूचक्कर हो जाती हैं। और जिज्ञासुजन अपने रामसे मिलके एक मेक हो रहते हैं ॥५॥

काहे को कलपत फिरै, दुखी होत बेकाम।
सहजै सहजै होयगा, जो कछु रचिया राम ॥६॥

व्यर्थमें दुःखी होकर क्यों बिलखता फिरता है। अरे! जो रामके रचे हुए प्रारब्ध भोग हैं वे किसीके रोके नहीं रुकेंगे वह सहजही होयगा ॥ ६ ॥

जो कलपै तो दूरि है, अनकलपै है सोय।
सतगुरु मेटी कलपना, सहज होय सो होय ॥७॥

देखो! जिसके लिये कल्पना करता है उसके विपरीत अनकल्पे होता है। सद्गुरुकी शरण लो, सब कल्पना मेट देंगे, स्वाभाविक होनहार हुआ करेगा ॥ ७ ॥

जो कछु आवै सहज में, सोई मीठा जान।
कडुवा लागै नीम सा, जामें ऐंचा तान ॥८॥

सहजावस्थामें जो कुछ मिल जाय, उसीको मिष्टान्न समझो। और वह नीम जैसा कडुवा है जिसमें खेंच तान है ॥ ८ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित सहजको अङ्ग ॥ ३६ ॥

—०—

अथ मध्यको अङ्ग ॥ ३७ ॥

मध्य अंग लागा रहै, तरत न लागै वार।
दो दो अँग सो लागता, यों बूड़ा संसार ॥१॥

"वर्त्तमानमें वर्तो भाई। भूत भविष्य सब देहु बहाई" निर्णयसागर। लोक, परलोक और भूत भविष्यकी कल्पना छोड़ कर मध्य अंग नाम वर्त्तमान शरीर उससे सद्गुरुको शरणमें लगे रहे तो भवसिन्धु तरते देर न लगेगी। और दुविधामें पड़के अज्ञानी लोग योंही गोता खा रहे हैं ॥ १ ॥

कबीर दुविधा दूरि कर, एक अंग है लाग।
वा सीतल वा तपत है, दोऊ कहिये आग ॥२॥

ऐ कबीर! दुविधाको छोड़के "दुविधामें दोऊ गये, माया मिली न राम" अतः एक अंग होके सद्गुरुकी शरण ले। और कहहि कबीर ये दोनों बेड़ी। एक सोना एक लोहा केरी" शीतल स्वर्गादिका भोग और तप्त मृत्युलोकके भोग ये दोनों ही अग्नि रूप हैं। दोनों को बन्धन समझो ॥ २ ॥

अनल अकासै घर किया, मध्य निरन्तर वास।
वसुधा वास विरक्त रहै, विना ठौर विस्वास ॥३॥
अनलपंख आवै नहीं, सुत अपने को लैन।
वह अलीन यह लीन है, उलटि मिलै ते चैन ॥४॥

अनल पक्षीका घर आकाशमें है, हमेशा मध्यमें रहता है। और पृथ्वीसे सदा उदास होकर केवल विश्वास पर विना

स्थितिके आकाश में वास किया है। वह अपने बचाको भी लेने नहीं आता, वह उससे विरक्त है और यह (बचा) ऐसे उसमें अनुरक्त है कि उलटकर उससे मिलने ही में शान्ति मानता है ॥

अनलपंख का चेटवा, गिरते किया विचार।
सुरति बाँधि चेतन भया, जाय मिला परिवार ॥५॥

अनल पत्ती का बच्चा गिरते २ विचार कर लिया। और वृत्तिको सुधारके सचेतन हो परिवारमें जा मिला ॥ ५ ॥

वासर गम नहि रैन गम, नहि सपनेतर गाम।
तहाँ कबीर बिलंबिया, जहाँ छाँह नहिं घाम ॥६॥

"न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि जहाँ दिन, रात, धूप, छाया, और स्वप्न आदि कोई अवस्थाका भी गम और ग्राम नहीं है। वहाँ सद्गुरु सत्संगी अपना आसन जमाया है ॥ ६ ॥

नर्क स्वर्ग ते मैं रहा, सतगुरु के परसादि।
चरन कमल की मौज में, रहसी अंत रु आदि ॥७॥

सद्गुरुकी कृपा हुई नरक, स्वर्गसे अलग हो रहा। अब सद्गुरुके चरणारविन्दकी लहरमें आदिसे अन्त तक रहेंगे ॥७॥

कावा फिर कासी भया, राम जु भया रहीम।
मोटा चुन मैदा भया, बैठ कबीरा जीम ॥८॥

कावा, काशी और राम, रहीम अब एक हो गया। मोटा चून भी मैदा बन गया ऐ कबीर! बैठकर जेम लो। भावः—मन गुरु बोधमें लगनेसे दुविधा नहीं रहती ॥ ८ ॥

दास कबिर काढ़ी भली, दोउ राह बिच राह।
अंधे लोग अचरज करैं, साँई करैं सराह ॥९॥

जिज्ञासुओंने हिन्दु तुर्कादि; या द्वैत अद्वैत ये दो रस्तेके मध्यमें एक निराली राह निकाल ली। अविवेकी लोग आश्चर्य करते हैं और समझदार शाबाश देते हैं ॥ ६ ॥

धरती और अकास में, दो तूँबरी अबद्ध।
षट् दरसन धोखै पड़े, औ चौरासी सिद्ध ॥१०॥

ज़मीन असमानके बीचमें दो तूँबरी यानी सन्त, गुरु ये दोनों निर्बन्ध हैं ये किसीके फन्देमें नहीं आते। और जोगी, जंगमादि षड्दर्शन एवं चौरासी सिद्ध ये मिथ्या अभिमानी धोखेमें पड़े हैं ॥ १० ॥

सुरति निरति दो तुंबरी, आवा गवन अबद्ध।
अन समझा धोखै पड़ा, समझा सोई सिद्ध ॥११॥

सुरति निरति अर्थात् मन, मनसा ये ही दो तितलौकी हैं ये जिसके वशमें हो गये वे वशी मानों आवागमनसे रहित हो गये। इसे जो समझ लिया वेही सिद्ध नहीं और असिद्ध, धोखे में पड़े हैं ॥ ११ ॥

प्रगट गुप्त की संधि में, जो यह अस्थिर होय।
ज्यौं देहल का दीवला, अन्दर बाहर सोय ॥१२॥

स्थूल, सूक्ष्मके मध्यमें जो यह चंचल मन स्थिर हो जाय। तो यह बाहर, भीतर ऐसे प्रकाश करे जैसे देहली पर रखा हुआ दीपक ॥ १२ ॥

पाया कहैं ते बावरे, खोया कहैं ते कूर।
पाया खोया कछु नहीं, ज्यौं का त्यौं भरपूर ॥१३॥

जो लोग कहते हैं कि उन्होंने परमात्माको पा लिया बस! वे दिवाने हैं और जो कहते हैं कि खो गया बस! उन्हें बेवक़ूफ

समझो। देखो समझकी बात है; एक समय एक चींटी चीनी के पहाड़ पर गई थी। एक ही दाना खाकर पेट भर गया। दूसरा एक दाना लेकर घरको जाने लगी। जाते समय उसने सोचा कि फिर आकर सारा पहाड़ ही ले जाऊँगी। बस! गुरु सत्संग विमुख क्षुद्र मनुष्य इसी प्रकार सोचते हैं। वे नहीं जानते कि ज्योंका त्यों परिपूर्ण आत्म वस्तुमें पाया और खोया नहीं बनता॥ १३॥

भजूँ तो को है भजनको, तजूँ तो को है आन।
भजन तजन के मध्यमें, सो कबीर मन मान॥१४॥

अहो चैतन्य देव! भजन करूँ तो प्रश्न होता है कि भजन का विषय कौन? और यदि छोड़ दूँ तो कहो त्यागने योग्य दूसरा पदार्थ कौन है। धन्य हो सद्गुरो! तेरी कृपासे मेरी मनसा भजन, तजनके मध्य मार्गमें ही पूरी हो गई॥ १४॥

लेऊँ तो महा प्रतिग्रह, देऊँ तो भोगन्त।
लेन देन के मध्य में, सो कबीर निज सन्त॥१५॥

यदि कुछ ग्रहण करूँ तो महा प्रतिग्रह यानी दान लेना कहलाता है; और देऊँ तो भोगने पड़ेंगे। अतः दान और प्रतिग्रहसे रहित जो लेन देनके मध्यमें रहते हैं वही शान्तचित्त परम विवेकी सन्त हैं॥ १५॥

दुआदेऊँतोदोजखजाऊँ, बद दूआ भी नाँहि।
दुआबददुआकिसकोदेऊँ, साहिब है सब माँहि॥१६॥

जब सब घटमें साहिब विराजमान हैं तो फिर अनुग्रह और शापका अवकाश कहाँ? कि कोई किसीको दे॥ १६॥

मँडि रहना मैदान में, सनमुख सहना तीर।
जमरा औ जगदीस के, मधि में बसै कबीर ॥१७॥

मैदानमें डटे रहना, गुरुका ज्ञान वाण सामने सहना। यम और प्रभुके बीचमें बसना परम गुरुभक्त कबीर हीका काम है।

गुरू नहीं चेला नहीं, मुरीद हू नहि पीर।
एक नहीं दूजा नहीं, बिलमै दास कबीर ॥१८॥

ऐ कबीर! विमल जिज्ञासु वहाँ विलम्बते हैं जहाँ गुरु, शिष्य, पीर, मुरीद और द्वैत अद्वैतका पक्ष नहीं है ॥ १८ ॥

हिन्दू ध्यावै देहरा, मूसलमान मसीत।
दास कबिर तहँ ध्यावही, दोनों की परतीत ॥१९॥

हिन्दू देहरा और मुसलमान दरगाहको पूजते हैं और दास कबीर उन दोनोंके विश्वास स्थानको ध्यान करते हैं ॥ १९ ॥

हिन्दू तुरक के बीच में, मेरा नाम कबीर।
जिव मुक्तावन कारनै, अविगत धरा शरीर ॥२०॥
हिन्दू तुरक के बीच में, शब्द कहूँ निरवान।
बंधन काटूँ जगत का, मैं रहिता रहमान ॥२१॥

हिन्दू और तुरकके मध्यमें मैं कबीर नामसे प्रगट हूँ। दो दीनमें फँसे हुये जीवोंको मुक्त करनेके लिये ही शरीर धारण किया हूँ। इसीलिये दोनोंके मध्यमें निर्बन्ध पद कहके जगज्जीव का बन्धन काटता हूँ मैं दयालु, दया करना मेरा स्वभाव है ॥

हिन्दू मूआ राम कहि, मूसलमान खुदाय।
कहँ कबिर सो जीवता, दोउ के संग न जाय ॥२२॥

मिथ्या राम, व रहीमके पक्ष करके हिन्दु मुसलमान दोनों मर मिटे। कबीर गुरु कहते हैं, जो दोनोंका दुराग्रह छोड़कर जाग्रत स्वरूपमें रहा वही जीवित रहा और है ॥ २२ ॥

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाँहि।
पाँच तत्त्व का पूतला, गैबी खेलै माँहि ॥२३॥

मैं तो न हिन्दू हूँ न मुसलमान, मैं तो वह हूँ जो पाँच तत्त्व का पुतला रचके और स्वयं अदृश्य हो सूत्रधारकी तरह कठपुतलीका खेल खेल रहा है ॥ २३ ॥

गैबी आया गैब ते, इहाँ लगाया ऐब।
उलटि समाना गैब में, (नव) कहाँ रहेगा ऐब ॥२४॥

गैबी गैबसे आकर यहाँ हिन्दु,तुरकका दुराग्र रूप ऐब लगा लिया है। पुनः उलटकर गैब (चितिस्वरूप) में समा गया ऐब सब छूट गया ॥ २४ ॥

गैबी तो गलियाँ फिरै, अजगैबी कोय एक।
अजगैबी हू जो लखै, जाके हियै विवेक ॥२५॥

यों तो बहुतेरे गैबी देहके अध्यासमें पड़के इन्द्रियाँ रूपी गलियोंमें भटक रहे हैं; अजगैबी ऐब रहित तो कोई एक है। और उसे वही पहिचानता है जिसके हृदयमें विवेक है ॥२५॥

आगे खोजी पचि मुआ, पीछे रहा भुलाय।
मध्य माँहीं वासा करै, ताको काल न खाय ॥२६॥

सद्गुरु-सत्संग विमुख लोग निजस्वरूपसे भूले हुये आगे पीछेकी खोजमें मर मिटे और मर रहे हैं। कल्पना कालसे तो वेही बचे व बचते हैं जो मध्य मार्गको अवलम्बन किये व करते हैं ॥ २६ ॥

अतिका भला न बोलना, अतिकी भली न चूप।
अतिका भला न बरसना, अतिकी भली न धूप॥२७॥

"अति सर्वत्र वर्जयेत्" प्रयोजनसे अधिक बोलना तथा बोलनेके प्रयोजनमें मौन रहना भला नहीं हैं। इसीप्रकार अति वृष्टि और अनावृष्टि भी ये सब दुःख रूप हैं॥ २७ ॥

सबही भूमि बनारसी, सब निर गंगा तोय।
ज्ञानी आतम राम है, जो निर्मल घट होय॥२८॥

निर्मल अन्तःकरण वाले ज्ञानी जो आत्माराममें रमते हैं उनके लिये सर्व भूमि काशी और सर्व जल गंगाजल रूप ही हैं।

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित मध्यको अंग समाप्त ॥ ३७ ॥

अथ भेदको अंग ॥३८॥

कबीर भेदी भक्त सों, मेरा मन पतियाय।
सेरी पावै शब्द की, निरभय आवै जाय ॥१॥

ऐ कबीर! जो मर्मी भक्त हैं उनपर मेरा मन विश्वास करता है। क्योंकि वे सार शब्दके मार्ग (रहस्य) को प्राप्तकर निर्भय विचरते हैं ॥ १ ॥

भेदी जानै सर्व गुन, अनभेदी क्या जान।
कै जानै गुरु पारखी, कै जिन लागा बान ॥२॥

जो मर्मी पुरुष हैं वेही गुणके रहस्य सब जानते हैं अन-मर्मज्ञ क्या जाने। सार शब्दको तो पारखी सद्गुरु जानते हैं या जिसे शब्द बाण लगा हो ॥ २ ॥

भेद ज्ञान तौं लौं भलो, जौं लौं मुक्ति न होय।
परम जोति प्रगटै जहाँ, तहँ विकल्प नहिं कोय ॥३॥

जब तक विदेह मुक्ति नहीं हुई है तब तक भेद ज्ञान अच्छा है। और जहाँ अखण्डात्म स्वरूप परम प्रकाशके प्रत्यक्ष हुआ तहाँ भेद भाव स्वतः ही भग जाता है ॥ ३ ॥

भेद ज्ञान साबुन भया, सुमिरन निरमल नीर।
अन्तर धोई आतमा, धोया निरगुन चीर ॥४॥

भेद ज्ञान साबुन है और नाम स्मरण स्वच्छ जल है। अन्तःकरण निर्मल होनेसे त्रिगुण माया रहित निर्गुण आत्म पट भी धोया गया और धोया जाता है ॥ ४ ॥

समझे को सेरी घनी, अन समझे को नाँहि ।
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिर गोता खाँहि ॥५॥

समझदारोंके लिये अनेकों मार्ग हैं अनसमझेको कोई नहीं। अनभिज्ञ लोग शब्द द्वार नहीं पाते इसीलिये अन्धोंकी तरह गोता खाया करते हैं ॥ ५ ॥

समझा समझा एक है, अन समझे सब एक ।
समझा सोई जानिये, जाके हिये विवेक ॥६॥

जैसे सब समझदारोंका एक मत होता है तैसे सब अन समझोंका भी एकही मत होता है। समझदार उसीको समझो जिसके हृदयमें विवेक है ॥ ६ ॥

समझा समझा एक है, अन समझे सों मौन ।
बातें बहुत मिलावई, तासों झीखै कौन ॥७॥

समझदारोंका मत समझदारोंसे मिलता है, अनसमझेसे वे मौन रहते हैं। क्योंकि अनसमझू लोग बातें बहुत बेतरह बनाया करते हैं अतः उनसे कोन खोजे खीजावे ? ॥ ७ ॥

समझा सोई जानिये, समझ समानी माँहि ।
जब लग कछू न आवही, तब लग समझा नाँहि ॥८॥

समझ ज्ञान उसीको कहते हैं जो अन्दरमें प्रवेश किया हो। और जब तक कि भीतरी असलीयतको नहीं पाया है तब तक कुछ भी नहीं समझा है ॥ ८ ॥

कोटि सयाने पचि मुये, कथै विचारै लोय ।
समझा,घट तब जानिये, रहित विचार जु होय ॥९॥

ग्रन्थके ज्ञान कथन करते और विचारते अनेकों सयाने

लोग मर मिटे श्रौ समम न आई। समझा घट तो तबही कहलाता है जब ग्रन्थ विचारसे रहित चिदात्मविचारी हो ॥६॥

भारी कहूँ तो बहु डरूँ, हलका कहूँ तो झूठ।
मैं क्या जानूँ राम को, नैना कछू न दीठ ॥१०॥

उस ज्ञान मात्र स्वरूप विषे न तो भारी कहा जा सकता न हलका। क्योंकि, नेत्रका अविषय होनेसे रमैया रामको कोई इन्द्रिय क्या जाने। 'रूप निरूप जाय नहीं बोली। हलुका गरुवा जाय न तौली।" इति बीजक ॥ १० ॥

दीठा है तो कस कहूँ, कहूँ तो को पतियाय।
हरि जैसा तैसा रहै, हरषि हरषि गुन गाय ॥११॥

उस स्वसंवेद्य वस्तुको यदि विवेक दृष्टिसे देखा भी तो कहूँ किस प्रकार श्रौर उसे सुनकर विश्वास भी कौन करे। बस! वह जैसा है तैसाही रहै मुझे तो उसके गुणही स्मरणमें आनन्द है ॥

ऐसी अद्भुत मति कथो, कथो तो धरो छिपाय।
वेद कुराना नहिं लिखा, कहूँ तो को पतियाय ॥१२॥

ऐसी आश्चर्यजनक वार्ता मत कहो यदि कहो भी तो जिज्ञासु प्रति गुप्त रीतिसे। जो हिन्दू, मुसलमानके ग्रन्थोंमें नहीं लिखी है उसे कहूँ तो कौन प्रतीत करेगा? कोई नहीं ॥१२॥

जो देखै सो कहै नहिं, कहै सो देखै नाँहि।
सुनै सो समुझावै नहिं, रसन स्रवन द्रिग काहि ॥१३॥

वस्तुको देखनेवाला नेत्र है पर वह जिह्वाके अभावसे कह नहीं सकता। जीभ कहती है परन्तु वह नेत्रके अभावसे देख नहीं सकती। ऐसही कान सुनता है किन्तु समझा नहीं सकता है। क्योंकि समझ अन्तःकरणमें होती है। तात्पर्य यह है कि वह

वस्तु किसी इन्द्रियका विषय नहीं है यथाः—"पारख सबको परखतु हैं। पुनि पारखको को ? परखन हारा।" इति ॥ १३ ॥

जो पकरै सो चलै नहिं, चलै सो पकरै नाँहि।
कहँ कबिर या साखि को, अरथ समुझ मनमाँहि॥१४॥
जो पकरै सो चलै नहिं, चलै सो पकरै नाँहि।
कर पद को तुम कहत हो, समुझि लीन मनमाँहि॥१५॥

जो हस्त ग्रहण करता है वह पगके न होनेसे चल नहीं सकता और जो चलता है उसे हाथ न होनेसे पकड़ नहीं सकता। कबीर गुरु कहते हैं कि इन साखियोंका अर्थ मनमें समझना चाहिये। श्रोता कहता है कि यह तो मैं समझ लिया हाथ पगके बारेमें आप कहते हो कि जो पकड़ता वह चलता नहीं और जो चलता वह पकड़ता नहीं ॥ १४ ॥ १५ ॥

जानि के अनजान हुआ, तत्त्व लिया पहिचानि।
गुरू किये ते लाभ है, चेला किये न हानि॥१६॥

"जानन्नपीह मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्" इस मनु वचनके अनुसार जो पुरुष तत्त्वको समझकर जन संसदिमें अज्ञातसा बना है उसे गुरु करनेमें तो लाभ अवश्य है किन्तु शिष्य करनेमें भी कोई हानि नहीं है। भावार्थः—सर्वथा अहंकारसे रहित और लोकसे उदासीन रहना सन्तोंके श्रेष्ठ लक्षण है ॥ १६ ॥

वाद बिवादे बिष घना, बोले बहुत उपाधि।
मौन गहि हरि सुमिरिये, जो कोय जानै साध॥१७॥

वाद विवाद तो विष रूपही है किन्तु न्याय बोलनेमें भी बड़ी उपाधि है। अतः यदि कोई सन्त समझें तो मौन ग्रहण कर आत्मचिन्तनमें आराम है ॥ १७ ॥

पंडित सेती कहि रहा, कहा न माने कोय।
वह अगाध ये क्यों कहैं, भारी अचरज होय॥१८॥

यदि कहा नहीं मानता तो परिडतजी व्यर्थमें बक रहे हैं। मुझे तो बड़ा आश्चर्य होता है कि उस अथाह तत्त्वको ये कैसे कहते हैं। तात्पर्यः—कोई कितने क्यों न पढ़े हों ये उस तत्त्वको कैसे संपूर्ण कह सकते हैं? मान लिया व्यास, शुकदेवादि साधारण जीवोंकी अपेक्षा उस तत्त्वको कुछ ज्यादे जाने व कहे होंगे। यदि उनसे कोई प्रश्न करे कि वह कैसा है तो यही कहेंगे कि वेदमें लिखा है—वह आनन्द स्वरूप-सच्चिदानन्द आदि है। बस! इसके सिवा और क्या कहेंगे? इसीलिये कोई कोई कहते हैं कि वे उस आनन्द स्वरूप सिन्धुमें उतरेही नहीं थे। स्वरूप सिन्धुमें उतर कर पुनः लौटना असंभव है। देखिये दृष्टान्तः-नमककी पुतली समुद्रको नापने गई, कितना जल है? आशामें सब खड़े हैं कि थाह लगाकर खबर देगी! खबर और देनाही नहीं हुआ क्योंकि वह समुद्रमें उतरतेही गल घुलकर रल मिल गई। फिर खबर कौन देती? यही रहस्य कथन और समझके हैं यथाः—

गई बूँद लेने समुन्दरकी थाह। यकायक लिया मौजने उसे स्याह॥
हुई आपही गुम तो पाये किसे। बताये वो क्या और जताये किसे॥

बसै अपिंडी पिंड में, ताको लखै न कोय।
कहैं कबीरा सन्तजन, बड़ा अचम्भा होय॥१९॥
घट में है सूझै नहिं, कर सों गहा न जाय।
मिला रहै औ ना मिलै, तासों कहा बसाय॥२०॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस मूर्तिमान पिंडमें विराजमान उस दिव्य अमूर्तको गुरु

सत्संग विमुख कोई न स्वयं लखता है, न उसे सूझताही है। वह हाथसे पकड़ा जाता नहीं। तो जो सदा मिलनेसे नहीं मिलता तो उससे किसीका क्या वश चले ॥ १६ ॥ २० ॥

आठ पहर चौंसिस घड़ी, मो मन यही अंदेस।
या नगरी प्रीतम बसै, मैं जानूँ परदेस ॥२१॥
प्रीतम को पतिया लिखूँ, जो वह है परदेस।
तन में मन में नैन में, ताको कहा सँदेस ॥२२॥

दिन रात मुझे यही चिन्ता है कि इसी घटमें स्वामी निवास करता है। और मेरे लिये परदेश हो रहा है। यदि विदेशमें होय तो पत्र भी लिखा जाय। परन्तु जो प्रभु तनमें, मनमें और नयनमें सदा हाज़िर हजूर है उसे क्या सन्देश कहा जाय ॥

समदर्सी सतगुरु किया, भरम भया सब दूर।
भया उजारा ज्ञान का, निरमल ऊगा सूर ॥२३॥

अब समदर्शी सद्गुरुके मिलनेसे सब संशय दूर हो गये। निर्मल ज्ञानरूप सूर्य उदय हुआ और हृदयमें प्रकाश हो गया॥

समदर्सी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
दूजा कोय दीखै नहिं, राम रहा भरपूर ॥२४॥

समदर्शी सद्गुरु करनेसे उन्होंने सर्व भ्रमको निवारण कर दिया। अब दूसरा कोई नहीं दीखता सबमें रामही राम पारपूर्ण है ॥ २४ ॥

समदर्सी सतगुरु किया, दीया अविचल ज्ञान।
जहँ देखो तहँ एक ही, दूजा नाहीं आन ॥२५॥

— पक्षपात रहित सद्गुरुने निश्चल स्वरूप देखने का ऐसा

दिव्य चक्षु दिया कि। अब जहाँ देखता हूँ वहाँ उसी एकके सिवा और दूसरा कोई नहीं दीखता ॥ २५ ॥

समदर्सी सतगुरु किया, मेटा भरम विकार।
जहँ देखा तहँ एकही, साहिब का दीदार ॥२६॥

समदर्शी सद्गुरुकी कृपासे भ्रम विकार सब मिट जाने पर सर्वत्र एक साहिबकाही दर्शन होता है ॥ २६ ॥

समदर्सी तब जानिये, शीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एक सी सोय ॥२७॥
जो मन समझै ज्ञान में, ज्ञानहि होय सहाय।
सो फिर तोही ना रुचै, जाकूँ तूँ कहै माय ॥२८॥

समदर्शी तबही समझना जब शान्त औ समान दृष्टि होय। और सकल प्राणीकी आत्मा एकसी जाने। और ऐसा ज्ञान जो मनमें अच्छी तरह समझ ले तो फिर वही ज्ञान तुझे ऐसा सहायक होगा कि जिसे तू माय कहके मोहमें फँसता है वह फिर नहीं रुचेगा ॥ २७ ॥ २८ ॥

समझै का घर और है, अन समझे को और।
जा घटमे साहिब बसै,(सो)विरला जानै ठौर ॥२९॥

समझदार और अनसमझोंकी स्थिति अलग अलग होती है जिस हृदयमें साहिबका प्रकाश होता है उसे कोई विरला जानता है ॥ २९ ॥

समझे का मत और है, अन समझे का और।
समझे पीछे जानिये, राम बसै सब ठौर ॥३०॥

ज्ञानी और अज्ञानीकी समझ भी पृथक् पृथक् होती है।

सब घटमें रमैया रामका निवास जब समझे तब समझा हुआ समझना ॥ ३० ॥

भटकि मुआ भेदी विना, कौन बतावै धाम।
चलते चलते जुग गया, पाव कोस पर गाम ॥३१॥

भेदी विना नरजीव भटक मरे, सद्गुरु भेदी विना उन्हें पाव कोशका धाम कौन बतावे? चलते चलते युगों वीत गये॥

जा कारन हम ढूँढ़ते, करते आस उमेद।
सो तो अंतर गत मिला, गुरु मुख पाया भेद ॥३२॥

विना गुरु मुख भेद पाये जिसके वास्ते हम युगोंसे आशा लगाय खोजते फिरते थे वह शान्ति कारक अमूल्य जड़ी गुरुमुख भेद जानने पर अन्दरही मिल गई ॥ ३२ ॥

जो देखो सो तीन में, चौथा मिले न कोय।
चौथे कूँ परगट करै, हरिजन कहिये सोय ॥३३॥

जहाँ तक देखा सुना सब त्रिगुण मायामें। इससे अलग चौथा कोई नहीं मिला। जो चौथे प्रभुको प्रगट करते हैं, वेही हरिजन कहे जाते हैं ॥ ३३ ॥

जो वह एक न जानिया, बहु जाने क्या होय।
एके ते सब होत है, सबते एक न होय ॥३४॥

उस एक मालिकसे अनभिज्ञ रहके बहु ज्ञाता हुआ तो क्या?। सबसे एक नहीं एकहीसे सब कुछ होता है ॥ ३४ ॥

दौड़ धूप छोड़ो सखी, छोड़ो कथा पुरान।
उलटि वेद को भेद गहु, सार शब्द गुरु ज्ञान ॥३५॥

ऐ सखी! वृत्ति! भटकना छोड़ दे और कथा पुराण भी उधरसे लौटकर भेदोंसे वेद ज्ञानको ग्रहण कर यह ज्ञान गुरुका सार शब्द है ॥ ३५ ॥

ईलम से उद्योग खिले, खिले नेकि से नूर।
ईलम विन संसार में, समुभि अन्धेरो धूर ॥३६॥

ईलमसे उद्योग फलीभूत होता है और नेकीसे रौनक। संसारमें विना ईलमके नरजीवको शरीरका मैल समझो ॥३६॥

मुख से रहे सो मानवी, मन में रहे सो देव।
सुरत रहे सो संत है, इस विधि जानो भेव ॥३७॥

मुखसे अर्थात्त जो शुद्ध अहार विहारसे जीवन बीताता है सो तो मनुष्य लक्षणमें है। और जो मनको वश करके रहता है वह देव है इसी प्रकार जो वृत्तिको चित्स्वरूपमें शान्त किये रहता है वह सन्त है। इसी तरीकासे भेद, रहस्यको जानो ॥

बोलत ही विष वाद है, पूछत ही है वाद।
ऐसे मन में समुभि के, चूप रहे सो साध ॥३८॥

व्यर्थ बोलनेमें बकवादरूप विष पैदा होता है। और पूछनेसे भी विवाद होता है। इस प्रकार मनमें समझकर जो मौन रहते हैं वे साधु हैं ॥ ३८ ॥

जिन पाया तिन सुगह गहा, रसना लागी स्वाद।
रतन निराला पाइया, जगत टटोला वाद ॥३६॥

जिसने इस भेदको पाया उसकी रसनामें सुन्दर स्वाद लगा और भट ग्रहण कर लिया। बस! उसने ख़ाशा रत्न पा लिया अब व्यर्थके जगजीव सब टटोल रहे हैं ॥ ३६ ॥

कबीर दिल साबित भया, फल पाया समरथ्थ ।
सायर माँहि ढँढोरताँ, हीरा पड़ि गया हथ्थ ॥४०॥

ऐ कबीर ! भेदीसे भेद पाने पर चित्त स्थिर हो गया क्योंकि संसार सागरमें टटोलते टटोलते समर्थ हरिरूप हीरा हाथ लग गया ॥ ४० ॥

चार ईंट चौरासि कुवा, सोलह सौ पनिहार ।
भट पंडित खोजत मुवे, सन्तन किया विचार ॥४१॥

चतुष्टय अन्तःकरणकी चार वृत्तियाँरूप चारईंटसे चोरासी योनियोंके शरीररूप कुयें बने हुये हैं और षोडश कलायुक्त पुरुष सोलह सौ पनिहारी हैं। उसकी खोजमें भट्ट, पण्डित मर मिटे, भेद पानेसे सन्तोंने सहजमें विचार कर लिया ॥ ४१ ॥

कहने जैसी बात नहिं, कहै कौन पतियाय ।
जहँ लागे तहँ लगि रहे, फिर पूछेगा काय ॥४२॥

यह कहने जैसी बात नहीं यदि कोई इसके विषै इशारा भी किया तो अज्ञानियोंको विश्वास नहीं। बस ! यही कारण है कि भेदी जहाँ लगे तहाँ लगेही रह जाते हैं फिर उनसे कौन पूछेगा ? कोई नहीं ॥ ४२ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित भेदको अङ्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

अथ साक्षीभूतको अङ्ग ॥ ३९ ॥
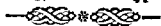
जा घट में साँई बसै, सो क्यौं छाना होय।
जतन जतन करि दाबिये, तउ उजियारा सोय ॥१॥

जिसके हृदयमें स्वयं प्रकाश रूप स्वामीका निवास है वह गुप्त कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं, चाहे कैसहु उसे दबाओ वह प्रकाश किये बिना नहीं रह सकता ॥ १ ॥

सब घट मेरा साँईया, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की, जो घट परगट होय ॥२॥

यद्यपि मेरे स्वामी प्रत्येक घटमें विराजमान हैं कोई भी खाली नहीं है। तथापि धन्यवाद उसी घटका है जिसमें वे प्रत्यक्ष हुए हैं।

जा घट में संसै बसै, ता घट राम न होय।
राम सनेही साधु बिच, तिना न संचर जोय ॥३॥

जिसके हृदयमें संशय है उसमें राम प्रत्यक्ष नहीं होता। रमैया रामका रमण तो सन्तोंके मध्यमें होता है अतः तहाँ संशयका संचार (प्रवेश) तक भी नहीं देखा गया है ॥ ३ ॥

जो भाजौ तो भय नहीं, सनमुख रहा न जाय।
सूतासिंघ न जगाइये, जो छेरै तिहि खाय ॥४॥

कामी क्रोधी आदि कुसंगियोंके संगसे भगने हीमें भय मिटता है सामना करनेसे नहीं। ये प्रसुप्त सिंहके समान हैं इन्हें जो छेड़ता है उसीको खाते हैं। अतः इन्हें छेड़ मत ॥ ४ ॥

राम राम जिन ऊचरा, छिन छिन बारम्बार।
ते मुख भये जु ऊजला, कहैं कबीर विचार ॥५॥

कबीर गुरु विचारकर कहते हैं कि जिसके मुखसे पल २ में राम राम उच्चारण होता है वही मुख शुद्ध है ॥ ५ ॥ २।

कबीर पूछै राम सों, सकल भवन पति राय।
सबही करि न्यारा रहै, सोई देहु बताय ॥६॥

जिज्ञासु पूछता है कि हे प्रभु! मुझे उन्हें बतला दीजिये जो सकल भुवनोंके स्वामी हों और सबसे पृथक् रहते हों? ॥६॥

जिहिबिरियांसाहिबमिले, ता समान नहि और।
सबकूँ सुख दे मदद करि, अपनी अपनी ठौर ॥७॥

जिस वक्त सद्गुरु मिले उसके समान और कोई समय नहीं क्योंकि वे अपने निर्मल उपदेशोंसे योग्यतानुसार सबहो को सुखी करते हैं।

साहिब तेरी साहिबी, सब घट रही समाय।
ज्यूँ मेंहदी के पात में, लाली लखी न जाय ॥८॥

ऐ प्रभु! आपका सामर्थ्य प्रत्येक घटमें ऐसे छिपा है जैसे मेंहदीके पत्तेमें रक्तिमा। परन्तु विना तेरी दया और पुरुषार्थके वह किसीको प्राप्त तो क्या पहिचान तक भी नहीं होता ॥८॥

स्वास सुरति के मध्यही, न्यारा कभी न होय।
ऐसा साखी रूप है, सुरति निरतिसे जोय ॥९॥

जो स्वाला और सुरतिके आसक्ति रूप पक्षपातसे रहित और उसके समीप रह उससे पृथक् कभी न होय ऐसा चैतन्य स्वरूपको साक्षी कहते है। उसे निरोध वृत्तिसे देखो साक्षीका लक्षण गिरिधर कवीने ऐसा बतलाया है यथाः—

"साक्षीके लक्षण सुनो साक्षी कहिये सोय। उदासीन चैतन्य पुनि समीपवर्त्ती है जोई। समीपवर्त्ती है जोइ न सोइ, तो साक्षी होई। इन लक्षण ते रहितको साक्षी कहे न कोई। कह गिरिधर कविराय लोक पुनि वेदहु भाषो। हुआ न कबहु होय और साखीको साखी ॥ ९ ॥

इति श्री साक्षीभूतको अङ्ग ॥ ३९ ॥

अथ एकताको अङ्ग ॥४०॥

—❧❦—

अलख इलाही एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय॥१॥
राम रहीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय॥२॥

यद्यपि अलख और इलाही ये नाम दो हैं तथापि विवेक दृष्टिसे देखो तो वस्तु एकही है। कबीर गुरु कहते हैं कि दो नाम सुनकर कोई भ्रममें मत पड़ो। केवल राम और रहीम ये पृथक् २ दो नाम धरे हैं ॥ १ ॥ २ ॥

कृष्ण करीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय॥३॥
कासी काबा एक है, एकै राम रहीम।
मैदा इक पकवान बहु, बैठि कबीरा जीम॥४॥

कबीर गुरु कहते हैं कि कृष्ण और करीमा तथा काबा और काशी ये फक्त् दो नाम धरे गये हैं। भेद बुद्धि करनेकी ऐसे ज़रूरत नहीं है जैसे एकही मैदाके जलेबी, खाजा इत्यादि अनेकों पकवान बनते हैं, परन्तु खानेवालोंकी दृष्टिमें एकही खाद्य पदार्थ दीखता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

राम कबीरा एक है, दूजा कबहुँ न होय।
अंतर टाटी भरम की, ताते दीखै दोय॥५॥

राम कबीरा एक है, कहन सुनन को दोय ।
दो करि सोई जानहीं, सतगुरु मिला न होय ॥६॥

राम कबीर एकही है दो कदापि नहीं। अन्तःकरणके भ्रान्ति पड़दासे दो दीखता है। राम कबीरमें भेद कथन मात्रका है। वास्तविक भेद वही जानता है जिसे सद्गुरु नहीं मिले हैं या जो सद्गुरु सत्संगसे विमुख हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

एक वस्तु के नाम बहु, लीजै वस्तु पिछानि ।
नाम पच्छ नहि कीजिये, सार तत्त ले जानि ॥७॥
नाम अनन्त जो ब्रह्मका, तिनका वार न पार ।
मन मानै सो लीजिये, कहैं कबीर विचार ॥८॥

एक वस्तुके नाम अनेक होते हे। वस्तुको पहिचान कीजिये नाम, रूपके पक्षको छोड़कर सारतत्त्वको जान लीजिये। कबीर गुरु विचारकर कहते हैं कि, ब्रह्मका नाम तो अनन्त हैं उसकी सीमा, संख्या कुछ नहीं। जिसमें यह शैतान मन शान्त हो जाय उसीको ग्रहण कीजिये ॥ ७ ॥ ८ ॥

सब काहू का लीजिये, साचा शब्द निहार ।
पच्छपात ना कीजिये, कहैं कबीर विचार ॥९॥
हरिका बना सरूप सब, जेता यह आकार ।
अच्छर अर्थ यौं भाखिये, कहैं कबीर विचार ॥१०॥

कबीर गुरु विचारकर कहते हे कि सबही आप्तवक्ताओंके आप्त वचनको परीक्षा कीजिये। पक्षपात करनेकी कोई ज़रूरत नहीं। जितने आकार रूप दीखते हैं वे सब प्रभुके स्वरूप है। और प्रभु उनमें ऐसे घुसे हैं जैसे अक्षर (शब्द) में अर्थ ॥९॥१०॥

देखन ही की बात है, कहनेको कछु नाँहि।
आदि अन्तको मिलिरहा, हरिजन हरिहिमाँहि ॥११॥
सबै हमारे एक है, जो सुमिरै हरिनाम।
वस्तु लही पहिचानि के, बासन सो क्याकाम ॥१२॥

यह वार्ता विवेक दृष्टिसे देखनेहो योग्य है कहने योग्य नहीं अनादि कालसे हरि हरिजनमें मिलि रहे हैं। इसी वास्ते जो प्रभुके नाम स्मरण करते हैं वे सब हमारे लिये एक हैं और हम सब उनके हैं। असलीयत तत्वको पहिचान लिया भाएडेसे क्या मतलब है ॥ ११ ॥ १२ ॥

खाँड़ खिलौना दो नहीं, खाँड़ खिलौना एक।
तैसे सब जग देखिये, किये कबीर विवेक ॥१३॥
खाँड़ खिलौना तुम कहो, एक अहै नहि दोय।
नाम रूप दीसै पृथक, हस्ती घोड़ा सोय ॥१४॥

खाँड़का खिलौना खाँड़से पृथक् नहीं है इसीप्रकार सम्पूर्ण जगत्को समझिये; जगतका कारण जगतसे पृथक् कदापि नहीं हो सकता। यद्यपि हस्ती, घोड़ाके समान नाम और रूप दो पृथक् पृथक् दीखते हैं तथापि विवेकसे खाँड़ खिलौना एकही है दो नहीं ॥ १३ ॥ १४ ॥

उपजै एकै खाँड़ ते, हस्ती घोड़ा ऊँट।
खाँड़ विचारे पाइया, नाम रूप सब झूठ ॥१५॥
कबीर लोहा एक है, घड़ने में है फेर।
ताही का बखतर बना, ताही की समसेर ॥१६॥

एकही खाँड़से उत्पन्न हुए हस्ती, घोड़ा और ऊँट है। खाँड़

ने झूठही ये नाम रूप सब प्राप्त किया है। देखिये गढ़नेके फेर से एकही लोहाकी अलग अलग कवच और तलवार दीपती हैं वास्तविक भेद कुछ भी नहीं ॥ १५ ॥ १६ ॥

त्यौंही एकै ब्रह्म ते, जीव ईस जग जान।
ब्रह्म विचारै पाइया, नाम रूप की हान ॥१७॥
जीव ब्रह्म व्यौरा नहीं, जीव ब्रह्म इक अंग।
ज्यौं कनक कुंडल मृद्‌घट, सारा फेन तरंग ॥१८॥

इसीप्रकार संसारमें एकही मायिक ब्रह्मरूपी धेनुके जीव और ईश ये दो बछड़े हैं। कार्य, कारण भावसे ब्रह्म विचारेने ये दोनों नाम रूपको प्राप्त किया है जो कि नाशमान है। कार्य कारण भाव होनेसे कनक, कुण्डल, मिट्टी, घड़ा और फेन, तरंग के सदृश जीव ब्रह्म ईश्वर माया ये सब एकही हैं। यह अद्वैतो का सिद्धान्त है। विवेकी सन्तोंको द्वैत अद्वैत आदिके झगड़ेसे कोई मतलब नहीं ॥ १७ ॥ १८ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित एकताको अङ्ग समाप्त ॥ ४० ॥

अथ व्यापकको अङ्ग ॥४१॥

जेता घट तेता मता, बहु बानी बहु भेख।
सब घट व्यापक साँइया, अगम अपार अलेख ॥१॥
पारब्रह्म सूभर भरा, जाका वार न पार।
खालिक बिन खाली नहीं, सुइ जेता संचार ॥२॥

जितने अन्तःकरण हैं उतने मत हैं। अनेक वाणि (उपदेश) तदनुसार अनेक वेष हैं। और अगम अपार तथा अलेख स्वामी सब घटमें व्याप रहे हैं। जिसका वार पार कुछ नहीं ऐसे पारब्रह्म खूब ठसमठस भर रहा है। उसके विना ऐसी कोई भी जगह खाली नहीं है जहाँ कि सूई भी रख सकें॥ १ ॥ २ ॥

जाति जाति के पाहुने, जाति जाति को जाय।
साहिब सबकी जाति हैं, घट घट रहा समाय ॥३॥
ज्यौं नैनों में पूतली, त्यौं खालिक घट माँहि।
मूरख लोग न जानहीं, बाहिर ढूँढ़न जाँहि ॥४॥

जातिके पहुने अपनी जातिहीमें जाते हैं। मालिक सबकी जाति है इसीलिये सब घटमें समा रहा है। खलकके अन्दर खालिक ऐसे रमा है जैसे नैनमें काली पूतली। अज्ञानी लोग उसे नहीं जानकर बाहर खोजने जाते हैं॥ ३ ॥ ४ ॥

ज्यौं तिल माँहीं तेल है, चकमक माँहीं आग।
तेरा प्रीतम तुझहि में, जागि सकै तो जाग ॥५॥

पुहुँप मध्य ज्यौं वास है, व्यापि रहा जग माँहि।
सन्तो माँहीं पाइये, और कहीं कछु नाँहि॥६॥

जैसे तिलके अन्दर तेल और चकमक पथरीके अन्दर अग्नि है तैसे तेरा मालिक तुझहीमें है चेत सके तो चेत ले। जैसे फूलमें सुगन्धि व्याप्त है तैसे मालिक संसारमें। परन्तु इसका पता सन्तोंके सत्संगमें मिलेगा अन्यत्र नहीं ॥ ५ ॥ ६ ॥

भूला भूला क्या फिरै, सिर पर बाँधि गइ बेल।
तेरा साँईं तुझहि में, ज्यौं तिल माँहीं तेल ॥७॥
पावक रूपी साँइया, सब घट रहा समाय।
चितचकमक लागैनहीं, तातैं बुझि बुझि जाय ॥८॥

क्या भूले भूले फिरते हो। अरे! नखसे शिखापर्यन्त माया रूपी लता तो बढ़कर छा गई। अभी भी नहीं दीखता कि तेरा स्वामी तेरेहीमें तिलके अन्दर तेलके सदृश व्याप रहा है॥ अग्निरूपसे सब अन्तःकरणमें स्वामी समा रहा है। तेरा चित्तरूपी चकमक तो उससे लगतेही नहीं, यही कारण है कि अग्निका प्रकाश नहीं होता ॥ ७ ॥ ८ ॥

जैसी लकड़ी ढाक की, ऐसा यह तन देख।
वामें केसू छिपि रहा, यामें पुरुष अलेख ॥९॥
तेरा साँईं तुझहि में, ज्यौं पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मिरग ज्यौं, फिरि फिरि ढूँढै घास ॥१०॥

जैसे ढाक पलासके वृक्षमें केसू छिपा है, वैसेही इस शरीरमें छिपा हुआ अलख पुरुषको देखो। यद्यपि तेरा मालिक तेरेहीमें ऐसे प्रविष्ट है जैसे पुष्पमें सुगन्धि। परन्तु भेद जाने बिना तू

भी ठीक उसी कस्तुरिया मृगके समान बाहर भटक रहा है। जोकि घासमें कस्तूरीकी सुगन्धि खोजती फिरती है ॥६॥१०॥

कस्तूरी नाभी बसै, मिरग ढुंढै बन माँहि।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानै नाँहि ॥११॥
कस्तूरी नाभी बसै, नाभि कमल हरि नाम।
नर ढूँढै पावै नहीं, गुरु बिन ठामहि ठाम ॥१२॥

कस्तूरी तो मृगकी नाभिमें है, और वह बाहर घासमें ढूँढ़ रहा है। ऐसे प्रभु हृदयमें विराजमान हैं तोभी संसारी लोग उसे न जानकर बाहर ढूँढ़ रहे हैं ॥ कस्तूरी जैसे नाभिमें है तैसे प्रभु नाभि या हृदय कमलमें है। परन्तु गुरुमुख भेद पाये बिना मनुष्य ढूँढ़ता फिरता है और ठौरहींकी वस्तु नहीं पाता है ॥

सो साहिब तन में बसै, मरम न जानै तास।
कस्तूरी का मिरग ज्यौं, फिरि फिरि ढूँढ़ै घास ॥१३॥
जा कारन जग ढूँढ़िया, सो तो घटहि माँहि।
परदा दीया भरम का, तातै सूझै नाँहि ॥१४॥

वह साहिब शरीरमें बसता है किन्तु उसका मर्म न जानकर घास सूँघनेवाली कस्तूरिया मृगके मानिन्द भटका खा रहा है। जिसके वास्ते संसारको छान डाला वह घटहीमें बैठा है भ्रमका पड़दा दे रक्खा है इसीसे वह नहीं दीखता ॥१३॥१४॥

समझै तो घर में रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साहिब तुझहि में, अन्त कहूँ मति जाय ॥१५॥
मैं जानूँ हरि दूरि है, हरि हिरदै भरपूर।
मानुष ढूँढ़ै बाहिरा, नियरै होकर दूर ॥१६

यदि इस मर्मको समझ लिया तो पलकोंके पड़दा डालके घरहीमें रह जाओ बाहिर जानेकी कोई ज़ुरूरत नहीं तेरा मालिक तुझहीमें है। अरे! हरि हृदयमें भरपूर है। देखो! अत्यन्त समीप होते हुये भी अज्ञानी लोग उसे दूर जानकर बाहर ढूँढे व ढूँढ़ रहे हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

तिल के ओटे राम है, परवत मेरे भाय।
सतगुरु मिलि परिचै भया, तब पाया घट माँय ॥१७॥
कबीर खोजी राम का, गया जु सिंगल दीप।
साहिब तो घट में बसै, जो आवै परतीत ॥१८॥

ऐ मेरे भाइयो! पर्वतके समान तिल (आँखकी पुतली) के पड़दामें राम छिपा है। जब सद्गुरु मिल गये; और उनकी कृपासे परिचय होगया फिर आरामप्रद रामको घटहीमें पा लिया। विश्वास विना रामके खोजी जी सिंगल द्वीपको गये और वह साहिब तो सबके घटमें वैठा है। विश्वास हो तो मिलें ॥ १७ ॥ १८ ॥

घट बढ़ कहूँ न देखिये, प्रेम सकल भरपूर।
जानै ही ते निकट है, अनजानैं ते दूर ॥१९॥
कबीर बहुत भटकिया, मन ले विषय विराम।
ढूँढ़त ढूँढ़त जग फिरा, तिनका ओटे राम ॥२०॥

उसमें कमी, वेसी ज़रा भी नहीं है प्रेम और विश्वास होना चाहिये। जो जानता है उसको अति समीप और अज्ञानियोंको वह कोशों दूर है। प्राकृत जीव सब बहुत भटके उनके मन विषयमेंही आराम लेता है। इसी कारण तृण (आँखकी

पुतली) की ओटमें राम है यह नहीं देखते और सारे संसार खोज डाले ॥ १६ ॥ २० ॥

राम नाम तिहुँ लोक में, सकल रहा भरपूर ।
जो जानै तिहि निकट है, अनजानै तिहिं दूर ॥२१॥
सबै खिलौने खाँड़ के, खाँड़ खिलौना माँहि ।
तैसे सब जग ब्रह्म में, ब्रह्म जगत के माँहि ॥२२॥

यद्यपि रामका नाम सकल भुवनोंमें प्रसिद्ध है तथापि जो जानते हैं उन्हींके समीप है अज्ञानीको तो बहुत दूर है । सम्पूर्ण जगतमें ब्रह्म और ब्रह्मसे जगत ऐसे ऐसे रले मिले हैं जैसे खिलौने सब खाँड़में और खाँड़ खिलौनेमें ॥ २१ ॥ २२ ॥

ज्यौं ही एकै महल में, प्रतिमा विविध प्रकार ।
कहैं कबिर त्यौंही बसै, ब्रह्म मध्य संसार ॥२३॥
दारु मध्य ज्यौं पूतरी, पुतरी मध्ये दारु ।
कहैं कबिर त्यौं ब्रह्म में, भासत जग व्यौहारु ॥२४॥

जैसे एकही मन्दिरमें अनेकों प्रकारकी मूर्तियाँ रहती हैं । कबीर गुरु कहते हैं कि तैसेही ब्रह्ममें सारा जगत् समाया है । और जैसे काष्ठमें पुतली और पुतलीमें काष्ठ है तैसेही ब्रह्ममें जगत्का व्यवहार प्रतीत होता है ॥ २३ ॥ २४ ॥

ज्यौं मृतिका घट मध्य में, मृतिका मध्ये जोय ।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मध्य जग सोय ॥२५॥
ज्यौं बधूरा बाव मध्य, मध्य बधूरा बाव ।
त्यौंही जग मधि ब्रह्म है, ब्रह्ममधि जगत सुभाव ॥२६॥

जैसे घड़ामें मिट्टी और मिट्टीमें घड़ा है तैसेही जगतमें ब्रह्म और ब्रह्ममें जगत है। इसी प्रकार वायुमें ववण्डर और ववण्डरमें वायुके समान जगतमें ब्रह्म और ब्रह्ममें जगत् स्वाभाविक रहता है ॥ २५ ॥ २६ ॥

ज्यौं मृतिका घट फेन जल, कुंडल कनक सो आय।
त्यौं कबीर जग ब्रह्म ते, भिन्न कहूँ न दिखाय ॥२७॥
जैसे तरुवर बीज महँ, बीज तरुवरै माँहि।
कहैं कबीर बिचारि के, जगत ब्रह्म के माँहि ॥२८॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जैसे मिट्टी घड़ा, फेन जल, कनक कुण्डल और बीज वृक्ष परस्पर भिन्न नहीं हैं तैसेही जगत् ब्रह्म परस्पर भिन्न नहीं है ॥ २७ ॥ २८ ॥

जैसे सूरज धूप मधि, सूरज मध्ये धूप।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मध्य जग रूप ॥२९॥
जैसे स्याही अंक मधि, स्याही मध्ये अंक।
त्यौंही जग मधि ब्रह्म है, ब्रह्म मधि जगत निसंक ॥३०

जैसे सूर्य में ताप और तापमें सूर्य एवं मषिमें अङ्क और अङ्कमें मषि है तैसेही जगतमें ब्रह्म और ब्रह्ममें जगत निःसन्देह समझो ॥ २९ ॥ ३० ॥

भूषण मध्ये कनक ज्यौं, भूषण कनक मँझार।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मधि जग निरधार ॥३१॥
दरिया मध्ये लहर ज्यौं, लहर मध्य दरियाव।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत सुभाव ॥३२॥

जैसे स्वर्णमें भूषण व भूषणमें स्वर्ण और सागरमें लहर व लहरमें सागर है तैसे ब्रह्ममें जगत व जगतमें ब्रह्म है ॥३१॥३२ ॥

देह मध्य ज्यौं थंग है, थंगे मध्य शरीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥३३॥
नीर मध्य ज्यौं बुदबुदा, बुदबुद मध्ये नीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥३४॥

जैसे शरीरमें अवयव व अवयवमें शरीर और जलमें बुदबुदा व बुदबुदामें जल है वैसे जगतमें ब्रह्म व ब्रह्ममें जगत है ॥

चीर मध्य ज्यौं तंतु है, तंतु मध्य ज्यौं चीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥३५॥
आँधी यथा समीर मधि, आँधी मध्य समीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥३६॥

जैसे सूतमें वस्त्र व वस्त्रमें सूत और वायुमें आँधी व आँधी में वायु है तैसे ब्रह्ममें जगत व जगतमें ब्रह्म है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

तम में सीत न पाइये, ज्यौं पावक विस्तार।
जीव ईश जग जोइले, त्यौं ही ब्रह्म विचार ॥३७॥
ईश्वर में अरु जीव में, ब्रह्मै मध्य कबीर।
तिरविधि भेद न देखिये, सिंधु बुदबुदा नीर ॥३८॥

जैसे अन्धकारमें प्रकाश और अग्निमें ठण्ढक नहीं है तैसेही जीव, ईश्वर, जगत और ब्रह्ममें भेद नहीं है। जीवमें, ईश्वरमें और ब्रह्ममें तीन प्रकारके भेद ऐसे नहीं है जैसे समुद्र, बुदबुद और जल में ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

कबीर भिन्न न देखिये, जगत ईस अरु ब्रह्म।
सब ही मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मध्य सब भर्म ॥३९॥

व्योम मध्य ज्यौं घट मठ, अरु चिदाकास आकास।
कहैं कबिर यौं ब्रह्ममें, जीव ईस जग भास ॥४०॥

जीव, जगत, ईश्वर और ब्रह्म इनमें परस्पर पृथक भाव नहीं देखनेमें आता। सबमें ब्रह्म और ब्रह्ममें सब भ्रम है। जैसे एक ही महा आकाशमें घटाकाश, मठाकाश, चिदाकाश और आकाश हैं तैसेही व्यापक ब्रह्ममें जीव, जगत व ईश प्रतीत होते हैं ॥ ३९ ॥ ४० ॥

हथियारहि में लोह ज्यौं, लोह मध्य हथियार।
कहैं कबिर त्यौं देखिये, ब्रह्म मध्य संसार ॥४१॥
पानी मध्ये लीक ज्यौं, लीक मध्य ज्यौं पानि।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म जगत में जानि ॥४२॥

ब्रह्ममें संसार ऐसे हैं जैसे लोहमें हथियार। और जलमें लकीर। ये जैसे एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं तैसे ब्रह्मसे जगत और जगत ब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अंडज स्वेदज उद्भिज, पिंडज आतम रूप।
कहैं कबीर विचारि के, यौं ज्यौं सूरज धूप ॥४३॥
पावक एक अनेक जो, दीपक और मसाल।
कहैं कबिर त्यौं जानिये, ब्रह्म मध्य जग जाल ॥४४॥

व्यापकका लक्षण कबीर गुरु यों विचार कर कहते हैं कि सूर्य और धूपके सदृश अण्डजादि सब आत्म रूपही है। अनेक ऐसे दीखते हैं जैसे एकही अग्निके दीपक, मशाल पृथक २ प्रतीत होता है वास्तविकभेद नहीं। ऐसे ब्रह्म जगतको समझो ॥

मोमें तोमें सरब में, जहँ देखूँ तहँ राम।
राम बिना छिन एकही, सरै न एकौ काम ॥४५॥

खालिक विन खाली नहीं, सूइ धरन को ठौर ।
आगे पीछे राम है, राम विना नहिं और ॥४६॥

देख लो मेरे तेरे और सर्वमें राम रमा हुआ है । राम विना एक पल भी किसीका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। उसके विना सूई धरनेकी भी जगह नहीं है। सर्वत्र सब कुछ रामही है उसके सिवा कुछ नहीं ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

घट विन कहूँ न देखिये, राम रहा भरपूर ।
जिन जाना तिस पास है, दूर कहा उन दूर ॥४७॥
बाहिर भीतर राम है, नैनन का अभिराम ।
जित देखूँ तित राम है, राम विना नहि ठाम ॥४८॥

उसके विना कोई घट नहीं देखनेमें आता, सब घटमें राम रमा है । भेद इतनाही है कि वह जाननेवालेके समीप और अनजानेसे दूर है । सबके नेत्रोंको आराम प्रद राम बाहर, भीतर सर्वत्र रमा है । ऐसा कोई ठामही नहीं देखता हूँ कि जहाँ राम नहीं हो ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

ज्यों पत्थर में आग है, यों घट में करतार ।
जो चाहो दीदार को, चकमक होके जार ॥४९॥
साँई तेरा तुझहि में, ज्यूँ पत्थर में आग ।
जोत सरूपी राम है, चित चकमक हो लाग ॥५०॥

जैसे पत्थरमें अग्नि छिपी है ऐसे राम सब घटमें छिपा है। यदि दर्शन चाहिये तो चकमक होके रगड़ मचाओ अवश्य प्रगट होगा। तेरा स्वामी तुझहीमें ऐसे है जैसे पत्थरमें अग्नि। प्रकाश रूप राममें अपने चित्तको चकमक बनाके स्पर्श करो फिर राम का दर्शन कर लो ॥ ४९ ॥ ५० ॥

इति श्रीव्यापकको अङ्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

अथ जीवत मृतकको अङ्ग ॥४२॥

जीवत मृतक है रहे, तजै खलक की आस।
रच्छक समरथ सतगुरु, मति दुख पावै दास ॥१॥
जीवत में मरना भला, जो मरि जानै कोय।
मरना पहिलै जो मरै, अजर अमर सो होय ॥२॥

संसारकी आशा छोड़कर जीते जी मर रहे। समर्थ सद्गुरु रक्षक हैं उनके दास दुःखी कदापि नहीं हो सकता। यदि कोई आशाओंको त्यागकर मरना जाने तो ऐसा जीते जी मरना बहुत अच्छा है। प्राणपिण्ड वियोग होनेके प्रथम ही जो शरीर की आशा छोड़ अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता वही अजर अमर होता है ॥ १ ॥ २ ॥

मरते मरते जग मुआ, औसर मुआ न कोय।
दास कबीरा यौं मुआ, बहुरि न मरना होय ॥३॥

मरते मरते यहाँ तक मरे कि सारे संसार मर गये परन्तु ऐसे कोई मौकेसे नहीं मरे जैसे कि मुमुक्षु जन जीते जी मरते हैं। जिससे उन्हें फिर मरना नहीं होता ॥ ३ ॥

बैद मुआ रोगी मुआ, मुआ सकल संसार।
एक कबीरा ना मुआ, जाके नाम अधार ॥४॥
कबीर मन मिरतक भया, दुरबल भया सरीर।
पाछे लागे हरि फिरै, कहैं कबीर कबीर ॥५॥

वैद्य, रोगी और सम्पूर्ण संसार सब मर गये। एक वही जिज्ञासु नहीं मरा जो रामकी शरण लिया। उसका मन जीतेजी मर गया और शरीर दुर्बल हो गया। फिर तो उसकी रक्षामें प्रभु स्वयं उसके नाम ले ले पीछे पीछे फिरने लगे ॥ ४ ॥ ५ ॥

काया माँहि समुद्र है, अन्त न पावै कोय।
मिरतक ह्वै करि जो रहै, मानिक लावै सोय ॥६॥

शरीर हीमें समुद्र है सद्गुरु सत्संग बिना इसका अन्त कोई नहीं पाता। जो जीते जी मृतक दशा धारण करता है वही मणिको खोज कर लाता है ॥ ६ ॥

मैं मरजीवा समुँद्र का, डुबकी मारी एक।
मूठी लाया ज्ञान की, जामें वस्तु अनेक ॥७॥

मैं सद्गुरु कृपासे जीतेजी शरीर समुद्रके मरजीवा बनके उसमें एक ऐसी डुबकी लगाई। और जिसमें अनेकों अमूल्य वस्तु है ऐसा ज्ञानकी मुट्ठी भरलाई ॥ ७ ॥

डुबकी मारी समुँद्र में, जाय निकस आकास।
गगन मंडलमे घर किया, हीरा पाया दास ॥८॥
हरि हीरा क्यों पाइये, जिन जीवै की आस।
गुरु दरिया सें काढ़ली, कोइ मरजीवा दास ॥६॥

पिण्ड रूप समुद्रमें गोता लगाया और ब्रह्माण्डरूप आकाशमें जा निकला। गुरुकी कृपासे जिज्ञासु जन गगन गुफामें घर (स्थिति) करके हरि रूप हीराको पा लिये। और जिन्हें जीनेकी आशा है वे हरि हीरा कैसे पावेंगे। उसे तो कोई मरजीवाँ दास ही गुरु दरियासे निकालते हैं ॥ ८ ॥ ६ ॥

गुरु दरिया सूभर भरा, जामें मुक्ता लाल।
मरजीवा ले नीकसे, पहिरि छिमाकी खाल ॥१०॥

सद्गुरु सत्संग रूप दरियामें निर्मल ज्ञान रूप जल खूब भरा है जिसमें मुक्तिरूपी अनेकों मुक्ता, लाल (रत्न) भरे पड़े हैं। परन्तु उन्हें वेही निकालकर लाते हैं जो जीतेजी मरे और क्षमारूपी चर्म सारे शरीरमें लपेटे हैं ॥ १० ॥

तन समुद्र मन मरजीवा, एक बार धसि लेय।
कै लाल लइ नीकसै, कै लालच जिव देय ॥११॥

शरीर रूप समुद्रमें मन रूप मरजीवा जो एक बार गोता लगा ले तो लालच वश या तो प्राण गमायगा या मुक्ता रत्न लेई कर निकलेगा ॥ ११ ॥

मोती निपजै सीप में, सीप समुँदर माँहि।
कोय मरजीवा काढ़सी, जीवनकी गम नाँहि ॥१२॥

मोती सीपमें पैदा होता है और सीप समुद्रमें। वही मरजीवा इसे काढ़ता है जिसे जीनेकी परवा नहीं है ॥ १२ ॥

मनको मिरतक देखिके, मति मानै विसवास।
साध तहाँ लौं भय करै, जबलग पिंजर साँस ॥१३॥

मन विषयोंसे मर गया ऐसा इसपर विश्वास हर्गिज़ न करो। क्योंकि सन्त इससे तब तक डरते हैं जबतक पिंजरेमें श्वासका संचार है ॥ १३ ॥

मैं जानूँ मन मरि गया, मरि करि हूआ भूत।
मूये पीछे उठि लगा, ऐसा मेरा पूत ॥१४॥

मैंने समझा था कि मन मर गया पर यह मरा क्या ? मेरा बेटा ऐसा मरकर भूत हुआ कि फिर उठकर पीछे लग गया॥१४॥

मनकी मनसा मिटिगई, अहं गई सब छूट।
गगन मंडलमें घरकिया, काल रहा सिर कूट ॥१५॥

जब मनकी तृष्णाके, साथ साथ सारी अहन्ता ममता भी छूट गई और गगन गुफामें स्थिति हो गई तब काल शिर कूट२ रह गया और उसपर कुछ वश न चला ॥ १५ ॥

मोहि मरन की चाव है, मरूँ तो राम दुवार।
मति हरि बूझै बातरी, दास मुआ दरबार ॥१६॥

मुझे मरनेकी चाह तो बड़ी है परन्तु अन्यत्र नहीं, राम द्वारे। भले प्रभु बात न पूछे किन्तु दास तो दरबारहीमें मरा न॥

मोहिं मरन की चाव है, मरूँ तो राम दुवार।
की तन का कुटका करूँ, की ले उतरूँ पार ॥१७॥

मुझे राम द्वारे मरनेकी चाह इसलिये है कि इस तनको उसके दरबारमें बलिदान कर दूँ या पार उतार ले जाऊँ बस! यही प्रण है ॥ १७ ॥

जा मरना सों जग डरै, मेरे मन आनन्द।
कब मरिहौं कब भेंटिहौं, पूरन परमानन्द ॥१८॥

जिस मौतसे संसार डरता है उससे मेरे मनमें बड़ा आनन्द है। मैं चाहता हूँ कि कब मरकर उस पूर्ण स्वरुपानन्दमें मिल जाऊँ जहाँसे फिर आना नहीं होता है ॥ १८ ॥

ऊँचा तरुवर गगन फल, बिरला पंछी खाय।
इस फल को तो सो चखै, जो जीवत मरि जाय ॥१९॥

बहुत ऊँचा वृक्ष है, आकाशमें फल लगे हैं इस फलको वेही विरले पक्षी चखने पाते हैं जो जीतेजी मर जाते हैं ॥ १६ ॥

जब लग आस शरीर की, मिरतक हुआ न जाय।
काया माया मन तजै, चौड़े रहै बजाय ॥२०॥

जब तक शरीरमें आसक्ति है तब तक जीतेजी मरा नहीं जाता। जब कायाकी माया मन त्यागता है तब सत्संग मैदानमें निर्भय निशान बजाके रहता है ॥ २० ॥

खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय।
राम कसौटी सो टिकै, जीवत मिरतक होय ॥२१॥

रामकी सच्ची कसौटी (परीक्षा) है, झूठा कोई भी नहीं ठहर सकता। उसपर वही टिकता है जो जीतेजी मरा है ॥२१॥

राम कहो तो मरि रहो, जीवत मिले न राम।
जब लग जीवत राम है, तब लग काचा काम ॥२२॥

बस! यदि राम कहना है तो जीतेजी मर जाओ क्योंकि जीवितको राम नहीं मिलता। ऐ रमैया राम! जब तक तू संसारमें जीता है तब लग तेरा काम सब कच्चा है ॥ २२ ॥

मूये को क्या रोइये, जो अपने घर जाय।
रोइये बन्दीवान को, हाटै हाट बिकाय ॥२३॥
भक्त मरे क्या रोइये, जो अपने घर जाय।
रोइये साकिट बापुरे, हाटों हाट बिकाय ॥२४॥

उस मुर्देको क्या रोना है जो निज घरको जा रहा है। उस क़ैदीके लिये आँसू गिराओ जो चौरासी लक्ष योनिरूप बाज़ारमें बिके जा रहा है। उन भक्तोंके लिये क्या रोना है?

जो इस नश्वर तनको छोड़कर निज अमर घरको जा रहे हैं। उन बेचारे शाक्तोंके लिये रोओ जो चौरासी हाटमें बिकने जा रहे हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥

मिरतक को दावा किसा, अहं रहे नहिं कोय।
मुआ मसाना पर जलै, यह कछु अचरज होय॥२५॥

जिसने सर्वथा अहंकारको छोड़ दिया ऐसे जीवित मृतकको अधिकार कैसा ? कुछ नहीं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि जो मुआ मशाना अर्थात् जीतेजी मरा है वह अपना तो क्या पर दूसरेको भी ज्ञान दीपक जलाके प्रकाश कर देता है ॥ २५ ॥

कबीर मर मरघट गया, किनहूँ न बूझी सार।
हरि आगे आदर लिया, गऊ बच्छा की लार॥२६॥

जिज्ञासु जन जीतेजी मरके मशानमें चले गये किसीने उनके सार तत्त्वको नहीं समझा जैसे गौके साथ बछड़ेको सत्कार होता है ऐसे हरिके सामने उसने आदर पा लिया ॥ २६ ॥

पैंडा माँहि पड़ि रहो, दुरबल मिरतक होय।
जिहि पैंडे जम लूटिया, बात न बूझै कोय॥२७॥

जिस रास्तेमें यम सबको मारता है उसी रास्तेमें तुम जीतेजी दुर्बल और मृतक होके पड़े रहो कोई बात तक भी नहीं पूछेगा ॥ २७ ॥

मरना भला बिदेस का, जहँ अपना नहिं कोय।
जीव जन्तु भोजन करै, सहज महोछा होय॥२८॥

उस प्रदेशका मरना बहुत अच्छा है जहाँ पर अपना कोई मोह करनेवाला न हो। शरीरको जीव जन्तु सब भोजन कर लेते बिना परिश्रमही मृतक भोज भी हो जाता है ॥ २८ ॥

कबीर चेरा सन्त का, दासन हूँ का दास ।
अब तो ऐसा है रहु, पाँव तले का घास ॥२९॥

ऐ कबीर ! सन्तोंका सेवक दासोंका भी दास होता है।
अब तो ऐसा होके रहो जैसे पग नीचेकी घास ॥ २९ ॥

रोडा ह्वै रहु बाट का, तजि आपा अभिमान ।
लोभ मोह तृष्णा तजै, ताहि मिले भगवान ॥३०॥

स्वत्वका सर्वथा अहंकार त्यागकर रास्तेका रोड़ा हो जावो जिसमें लोग पगसे ठुकराया करें। जो लोभ, मोह और तृष्णाको त्यागता है उसीको भगवान मिला व मिलता हे ॥ ३० ॥

रोडा ह्वै तो क्या भया, पंथी को दुख देइ ।
साधू ऐसा चाहिये, जस पैंड़े की खेह ॥३१॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागे अंग।
साधू ऐसा चाहिये, जैसा नीर निपंग ॥३२॥

रोड़ा हुआ तो क्या हुआ ! उलटे राहीको दुखदाई बना। सन्तको तो ऐसा होना चाहिये जेसे रस्तेकी धूल । परन्तु धूल भी उड़कर अङ्ग पर पड़ती है अतएव साधुको विना पैरके जलके सदृश होना चाहिये ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

नीर भया तो क्या भया, ताता सीरा होय ।
साधू ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय ॥३३॥
हरी भया तो क्या भया, करता हरता होय ।
साधू ऐसा चाहिये, हरि भजि निरमल होय॥३४॥

नीर भी कभी कभी अत्यन्त गर्म और ठण्ढा हो जाता है। अतः साधुको परमेश्वर रूपही होना चाहिये । लेकिन

उसमें भी गुञ्जायश नहीं क्योंकि हरिमें कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्तापनेका अहंकार रहता है। और साधुको हरि सुमिरनसे निर्मल होना चाहिये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

निरमल भया तो क्या भया, निरमल माँगै ठौर।
मल निरमल सों रहित हैं, ते साधू कोइ और ॥३५॥

निर्मल होनेमें भी ठीक नहीं, क्योंकि उसके लिये श्रेष्ठ भूमिका चाहिये। इसलिये मल और निर्मल पनेके अहंकारसे जो रहित हैं वे कोई विरले सन्त हैं ॥ ३५ ॥

जिन पाँवन भुँई बहु फिरा, देखा देस विदेस।
तिन पाँवन थिति पकड़िया, आँगन भया विदेस॥३६॥

जिन पगोंसे बहुतेरे रास्ते तय करके देश और विदेशको देख डाला। अब गुरु कृपासे उन्हीं पगोंसे जब स्थिति हो गई तब घरका आँगन भी विदेश हो गया ॥ ३६ ॥

मन उलटी दरिया मिला, लागा मल मल न्हान।
थाहत थाह न पावई, तूँ पूरा रहमान ॥३७॥

तरंग रूप मन उलट कर आत्मरूप सागरमें मिल गया और खूब मल मलकर नहाने लगा। अरे! तू पूरे अथाह दयासागर है तेरी थाहको कोई नहीं पा सकता ॥ ३७ ॥

अजहूँ तेरा सब मिटे, जो जग मानै हार।
घर में झगरा होत है, सो घर डारो जार ॥३८॥

अभी भी तेरा सब फेरा मिट जाय यदि तू जगतसे हार माने। उस घरको जला दो जिस घरमें अहो रात्र कलह कल्पना हुआ करती है ॥ ३८ ॥

अजहूँ तेरा सब मिटे, जो मन राखै ठौर ।
गम हो ते सब छोड़ दे, अगम पंथ कूँ दौर ॥३९॥

तेरा चोरासी फेरा अभी पल भरमें मिट जाय जो तू मनको तनमें स्थिर रक्खे। बस! गम ज्ञान हो उसे छोड़के अगम (सद्गुरु) की राह ले ॥ ३९ ॥

मैं मेरा घर जालिया, लिया पलीता हाथ ।
जो घर जारो आपना, चलो हमारे साथ ॥४०॥

मैंने अपने कलह घरको ज्ञान पलीता हाथमें लेके स्वयं जला दिया ऐसही अब जो कोई अपना घर जलायगा वह हमारे साथ चलेगा अथवा हमारे साथ चलने वालेको मोह-घर जलाना होगा ॥ ४० ॥

कबीर मिरतक देख कर, मति धारो विश्वास ।
कबहूँ जागे भूत होय, करे पिंड को नास ॥४१॥

ऐ कबीर! इस मनको मृतक देखकर विश्वास मत कर। यह कभी कभी भूत होकर जाग उठता और शरीरको सत्यानाश कर डालता है ॥ ४१ ॥

मिरतक तो तब जानिये, आपा धरे उठाय ।
सहज सुन्न में घर करे, ताको काल न खाय ॥४२॥

मृतक तब समझना जब नखसे शिखा पर्यन्त अहंकारको उठाकर ताखेमें डाल दे। और निरालम्ब स्वरूपमें स्थिति कर ले। फिर और की तो क्या कथा उसे काल भी नहीं खाता ॥४२॥

सहज सुन्न में पाइये, जहँ मरजीवा मन ।
कबीर चुनि चुनि ले गया, भीतर राम रतन ॥४३॥

ऐ कबीर ! अन्दर सहज शून्यमें निरालम्ब रामरत्नके चुनकर वही मन ग्रहण करता है जो जीते जी मरजीवा बना है ४३

पाँचौ इन्द्री छठा मन, सत संगति सुचंत।
कहैं कबिर जम क्या करैं, सातों गाँठि निचंत ॥४४॥

कबीर गुरु कहते हैं कि उसे यम क्या करेगा ? जिसने सुचित्त होकर पाँचो इन्द्रियोंको वश करके और छठवाँ मनको सातवें सत्स्वरूपमें दृढ़ गाँठ लगा दी है और बेफिक्र है ॥ ४४ ॥

सब्द विचारी जो चले, गुरुमुख होय निहाल।
काम क्रोध व्यापै नहीं, कबू न ग्रासे काल ॥४५॥

गुरमुख शब्दको विचारकर जो व्यवहार करता है वह कृतकृत्य होता है। न तो कभी उसे काम क्रोधही व्यापता न कालही ग्रासता है॥ ४५ ॥

सूर सती का सहल है, घड़ी इक का घमसान।
मरै न जिवै मरजीवा, धमकत रहै मसान ॥४६॥

शूर और सतीका काम इसलिये सरल है कि वह एक घण्टामें फैसला हो जाता है। और मरजीवाका काम इसलिये कठोर है कि न वहाँ मरना है न जीना है किन्तु काम क्रोधादि रूप श्मशान जो सदा धधकता रहता है उसीको सहन करना है ॥ ४६ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
जीवत मृतकको अङ्ग ॥ ४२ ॥

—⁂—

अथ सजीवनको अङ्ग ॥ ४३ ॥

जरा मीच व्यापै नहीं, मुआ न सुनिये कोय।
चल कबीर वा देश को, वैद रमैया होय ॥१॥

ऐ कबीर ! उस देशको चल चलो जहाँ रमैया राम वैद्य है। उस देशमें जरा, मौत नहीं व्यापी और किसीको मरनेका तो नाम तक भी नहीं सुना जाता है ॥ १ ॥

भौसागर ते यौं रहो, ज्यौंजलकमल निराल।
मनुवाँ वहाँ ले राखिया, जहाँ नहीं जम काल ॥२॥

संसार सिन्धुसे पृथक् ऐसे रहो जैसे कमल जलसे। और मनोवृत्तिको उस आत्मस्वरूपमें लगा रक्खो जहाँ मृत्यु और काल की गति नहीं ॥ २ ॥

कबीर जोगी बन बसा, खनि खाया कंद मूल।
ना जानौं किस जड़ी से, अमर भया अस्थूल ॥३॥

ऐ कबीर ! योगी जंगलमें रहने लगा और कन्द, मूल खन कर खाने लगा। कुछ पता नहीं कि किस जड़ीसे स्थूल शरीर अमर हो गया। भावार्थः—सन्तोंके सत्संगमें सत्संगी जन मुक्तिको ज्ञान युक्ति पा जाते हैं ॥ ३ ॥

कबीर तो पिव पै चला, माया मोह सें तोरि।
गगनमंडलआसनकिया, कालरहा मुख मोरि ॥४॥

सत्संगियोंकी वृत्ति संसार-मोहसे निवृत्त होकर प्रभुके प्रति चली और वहाँ निरालम्ब स्वरूपमें दृढ़ आसन जमा ली फिर काल मुख मोड़के रह गया ॥ ४ ॥

कबीर मन तीखा किया, लाय विरह खरसान।
चित चरनों सों चपटिया, (का)करै कालका बान॥५॥

सत्संगियोंने ज्ञान विरह रूपी खरशानको लेकर मनको ऐसा तीक्ष्ण बनाया कि एकदम सद्गुरु चरणोंमें चित चिपट गया। अब उसपर कालका बाण क्या करे ॥ ५ ॥

काची रति तूँ मति करै, दिन दिन बढ़ै बियाध।
राम कबीरा रुचि भई, याही औषधि साध ॥६॥

कच्ची प्रीति मत करो, उससे प्रति दिन दुखदाई व्याधि बढ़ती है। ऐ कबीर! उसी औषधिको साधो जिससे रमैया राममें प्रेम बढ़े ॥ ६ ॥

मनुवाँ भया दिसन्तरी, बोलै शब्द रसाल।
बात दिसावर की कहै, तहाँ नहीं जमकाल ॥७॥
ऐसी तीखी सुरति है, फोड़ि गई ब्रह्मंड।
राम निराला देखिया, सात द्वीप नव खंड ॥८॥

सत्संगियोंका मन परदेशी बन गया, प्रेम उत्पादक मधुर शब्द बोलता है उसी देशावरकी बात भी करता है जहाँ मृत्यु रूप काल नहीं है। उनकी वृत्ति ऐसी तीव्रतर हो गई कि सात द्वीप और नव खण्ड ब्रह्मण्डको फोड़कर निकल गई और उसने निराला रामका दर्शन कर लिया ॥ ७ ॥ ८ ॥

राम रमत अस्थिर भया, ज्ञान कथत भय लीन।
सुरति शब्द एकै भया, जल ही ह्वैगा मीन ॥९॥

मनीराम, राममें रमते २ स्थिर हो गये और ज्ञान कथते २ ज्ञानमें ऐसे लीन हो गये जैसे सुरति शब्द स्वरूप और मीन जल रूप हो गई ॥ ९ ॥

राम मरै तो हम मरैं, नातर मरै बलाय।
अविनासी के चेटवा, मरै न मारा जाय ॥१०॥

अब तो मेरे राम मरैं तब हम मरैं नहीं तो मेरी बला मरे है। अविनाशीके बच्चा न स्वयं मरता न मारा जाता है ॥१०॥

कबीर संशय दूरि कर, जनम मरन अरु भरंम।
पंच तत्त्व तत्त्वों मिला, सुन्न समाना मरंम ॥११॥

ऐ कबीर! जन्म, मरण और भ्रम ये संशयोंको दूर कर दे। पाँच तत्त्वोंमें सब तत्त्व मिल गये और शून्यमें शून्य समा गया। और बाकी तू स्वयं रहा बस! उसीको जान ले। यही मर्म है।

जम जोरा तो है नहीं, सबै राम का रूप।
संसै खाई पिरथिवी, रहा कबीरा कूक ॥१२॥
तरुवर तासु बिलंबिया, बारह मास फलंत।
सीतल छाया सघन फल, पंछी केलि करंत ॥१३॥

अब यमका जोरा नहीं रहा, सब रामको स्वरूप हो गया। और संशय शोकको पृथ्वीको खाईमें डालके जिज्ञासु कोकिल वनके गुरु शब्दमें कूकने लगे। और उस श्रेष्ठ वृक्ष पर जा बैठे जिसमें बारह महीने सुन्दर शीतल छाया और सघन फल लगे हैं। पक्षीगण मनमाना आनन्द ले रहे हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

मुक्ता बाँये दाहिने, मुक्ता आगे पीठि।
मुक्ता धरनि अकास में, मुक्ता मेरी दीठि ॥१४॥
मुक्ता पैंड़ा जब भया, प्रान मुक्ति निरवान।
रूप मुक्ति तब जानिये, देखे दृष्टि पिछान ॥१५॥

बाँये, दहिने और आगे पीछे तथा पृथ्वी, आकाश एवं सर्वत्र मेरी निगाहमें मुक्तिही मुक्ति है। जब मुक्तिका मार्ग हुआ तब प्राण भी मुक्त हो निर्वन्ध पद पा गया। तबही मुक्तिका स्वरूप जानो जब विवेक दृष्टिसे उस स्वरूपको पहिचान ले॥

इति श्री सजीवनको अङ्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

अथ वेहदको अङ्ग ॥ ४४ ॥

हद छोड़ा वेहद गया, लिया ठीकरा हाथ।
भया भिखारी राम का, दरसन पाय सनाथ ॥१॥

कुल मर्यादा आदि हदको छोड़ दिया वेहद सद्गुरु की शरणमें आके ठीकरा हाथमें उठा लिया। और रामके भिक्षुक बनके दर्शन कर परम सनाथ हो गया ॥ १ ॥

हद वेहद दोऊ तजी, अवरन किया मिलान।
कहैं कबिर ता दास पर, वारौं सकल जहान ॥२॥

फिर हद-वर्ण और वेहद-आश्रम इन दोनोंकी मर्यादाको त्यागकर जिसमें कोई चीन्ह नहीं ऐसे अलिंग स्वरूपमें मिल गया। कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसे दास पर सर्वस्व निछावर है ॥ २ ॥

हद छाँड़ी वेहद गया, अवरन किया मिलान।
दास कबीरा मिलि रहा, सो कहिये रहिमान ॥३॥

वही रहम करने वाला, दयालु रहमान कहलाता है जो हद और वेहदको त्यागकर अवरन (सर्वात्म रूप) से मेल किया है।

हद छाँड़ी वेहद गया, सुंन किया अस्थान।
मुनिजन महल न पावहीं, तहाँ लिया विसराम ॥४॥

क्यों न धन्यवाद हो जब कि हद और वेहद दोनोंको छोड़ कर उस निरालम्ब स्थानमें आसन लगाके विश्राम लिया जहाँ श्रेष्ठ मुनिजन भी एकाएक नहीं पहुँचते ॥ ४ ॥

हद छाँड़ी बेहद गया, रहा निरंतर होय।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय ॥५॥

हद छोड़कर बेहद में जाके पद्दा रहित बेफिक्र हो गये। और वहाँ अचिन्त निद्रा लेने लगे " निर्भय भये तहाँ गुरुकी नगरियाँ, सुख सोवे दास कबीरा हो" इत्यादि बीजक ॥ ५ ॥

हद छाँड़ी बेहद गया, तासों राम हजूर।
पारब्रह्म परिचै भया, अब नियरै तब दूर ॥६॥

जो हदको छोड़कर बेहद में पहुँचता है उसके राम समीप हो जाते और वह पारब्रह्मसे भी परिचय कर लेता है। क्योंकि अब सब नज़दीक हैं पहिले दूर था ॥ ६ ॥

हद में पीव न पाइये, बेहद में भरपूर।
हद बेहद की गम लखै, तासों पीव हजूर ॥७॥

हद-वर्णाश्रम कुल पंथके झगड़ेमें प्रभु नहीं मिलते जो इस फन्देको तोड़ता है वही सम्पूर्ण स्वामीको पाता है। जो हद बेहदको भलीभाँति पहिचानता है उसीसे प्रभु समीप होते हैं।

हद में बैठा कथत है, बेहद की गम नाँहि।
बेहद की गम होयगी, तब कछु कथना नाँहि ॥८॥

जिसे बेहदका ज्ञान नहीं है वही हदमें बैठा हुआ कथनी कथा करता है। बेहदके ज्ञान होतही कथनी मिट जाती है॥८॥

हदिया सेती हद रहो, बेहदिया बेहद।
जो जैसा जहँ रोगिया, तहँ तैसी औषद ॥९॥

जो हदमें रहने वाला है वह हदके व्यवहारमें रहो और बेहदिया बेहद में। क्योंकि रोगके अनुसार ही औषधि योग्य होती है ॥ ९ ॥

कबीर हद के जीव सों, हित करि मुखे न बोल।
जो राचै बेहद सों, तिनसों अंतर खोल ॥१०॥

ऐ कबीर ! जो लोग लोकलाजमें पड़े हैं उनसे आन्तरिक प्रेमवार्ता मत बोलो। अन्तःकरणसे प्रीति उनसे करो जो हदके फन्देसे बाहर हैं ॥ १० ॥

बेहद विचारु हद तजो, हद तजि मेलो आस।
सबै अलिंगन मेटि के, करो निरन्तर बास ॥११॥

बेहद (आत्मस्वरूप) का विचार करो, हदकी आशा छोड़ दो। सब आलिंगन (अवलम्बन) को त्याग कर निरालम्ब हो निरन्तर स्वरूपमें निवास करो। बस ! यही सुख, श्रेयकी सीमा है ॥ ११ ॥

निरंतर बासी निरमला, सुंन थूल सों न्यार।
गंग पुरब पच्छिम बहै, पेखै बहु उजियार ॥१२॥

जो आत्मस्वरूपमें निरन्तर निवास करता है वह स्थूल सूक्ष्मसे अलग निर्मल रहता है। उसके श्वासारूप गंगाका प्रवाह पूर्व (सामने) से पश्चिम (मेरुदण्ड) को बहता है और वह खूब प्रकाश देखता है ॥ १२ ॥

बेहद अगाधी पीव है, ये सब हद के जीव।
जो नर राते हद सों, कभी न पावै पीव ॥१३॥

बेहद स्वरूप प्रीतममें रमनेवाले सन्त अगाध हैं। और इतर जीव सब जो हदमें रचे पचे हैं वे स्वामीको कभी नहीं पाते ॥ १३ ॥

काँसै ऊपर बीजुरी, पड़ै अचानक आय।
तातै निरभय ठीकरा, सतगुरु दिया बताय ॥१४॥

फाँसेके ऊपर सहसा बिजुली पड़ जाती और ठीकरा पर नहीं अतः सद्गुरुका बताया हुआ ठीकरा सर्वथा ठीक व निर्भय कारक है। सांसारिक सुख सदा दुखमय है और वैराग्य सदा निर्भय है ॥ १४ ॥

अगह गहै रु अकह कहै, अनहद भेद लहाय।
अनभै बानी अगम की, ले गई संग लगाय ॥१५॥

जो सद्गुरु सत्संगसे अगहको ग्रहण और अकहको कथन करता है। वही बेहदका भेद पाता है। क्योंकि अनुभवकी वाणी अपने संग अगमकी गम करा देती है ॥ १५ ॥

जहाँ सोक व्यापै नहीं, चल हंसा उस देस।
कहैं कबिर गुरुगम गहो, छाँड़ि सकल भ्रम भेस ॥१६॥

कबीर गुरु कहते हैं कि ऐ हंस! उस देशको चल चलो जहाँ शोक, मोह नहीं है। और सर्वभ्रम भेषको छोड़कर एकही सद्गुरुकी गम (ज्ञान) ग्रहण करो। सारांश यह है कि ईश्वर का स्वरूप और सृष्टि रचना सिद्धान्तका निर्णय करनेके बखेड़ेमें न पड़कर श्रद्धाभक्ति पूर्वक केवल सद्गुरुका बताया हुआ एकही मार्गको पकड़ कर आगे बढ़ना आरम्भ करना चाहिये। ज्यों ज्यों आगे बढ़ा जायगा, रहस्य आपही खुलता जायगा। जो मनुष्य चलना आरम्भ न कर, व्यर्थही निर्णयमें लगे रहते हैं तो वे अवश्य किसी न किसीके मतके आग्रही बनकर नर जीवनको लड़ाई झगड़ेमेंही व्यर्थ खो देते हैं। इस बातको अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि तत्वकी प्राप्ति शास्त्रार्थसे नहीं होती, गुरुदेवकी सेवा और उनके बतलाये हुए मार्ग पर श्रद्धापूर्वक चलनेसे ही होती है।

अगम पंथ को मन गया, सुरति भई अगुवान।
तहाँ कबीरा मँडि रहा, बेहद के मैदान ॥१७॥

जब वृत्ति आगे चली फिर मन भी अगम पंथको चल पड़ा। और सत्संगी जन बेहदके मैदानमें जाके अडिग आसन जमा दिये ॥ १७ ॥

कबीर चाला जाय था, पूछि लिया इक नाम।
चलता चलता तहँ गया, गाँव नाम नहिं ठाम ॥१८॥

सत्संगी जन सद्गुरुसे एक नाम पूछकर रास्ते लग गये और ठीक उसी ठामको पहुँच गये जहाँ नाम और ग्राम नहीं।

कहा बरनौं कांति छवी, बरनत बरनि न जाय।
चिकुरन के उजियार ते, विधु कोटिक सरमाय ॥१९॥

उसकी शोभाका क्या कोई वर्णन करे; नहीं हो सकता। जहाँ एक बालके प्रकाशमें करोड़ों चन्द्रमा लजाते हैं ॥ १९ ॥

जहाँ पुरुष सत भाव है, तहँ हंसन को बास।
नहीं जमन को नाम है, नहिं तृस्ना नहिं आस॥२०॥

जहाँ सत्यकी भावना और सत्य पुरुष विराजते हैं, वहाँ हंसोंका निवास होता है। वहाँ पुनः जन्म लेनेका नाम तक भी नहीं तो आशा, तृष्णाकी क्या कथा? ॥ २० ॥

हरष सोक का घर नहीं, नहीं लाभ नहिं हान।
हंसा परमानन्द में, धरें पुरुष को ध्यान ॥२१॥

उस धाम पर हर्ष, शोक, हानि लाभ कुछ नहीं। हंस लोग पुरुषके ध्यान ही में मग्न हैं ॥ २१ ॥

नहिं देवी नहिं देव है, नहिं षट करम अचार।
नहिं तीरथ नहिं बरत है, नहीं वेद उचार ॥२२॥
उतपति परलै उहँ नहीं, नहीं पुन्य नहिं पाप।
हंसा परमानन्द में, सुमिरें सतगुरु आप ॥२३॥

न वहाँ देवी न देव न षट्कर्म न आचार न तीर्थ न व्रत न वेद न उच्चार न उत्पत्ति न प्रलय न पुण्य न पाप। बस! स्वयं सद्गुरुके ध्यानही में हंस आनन्दित हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥

नहिं सागर संसार है, नहीं पवन नहिं पानि।
नहिं धरती आकास है, नहिं ब्रह्मा न निसानि ॥२४॥
चन्द्र सूर वा घर नहीं, नहीं करम नहिं काल।
मगन होय नामहि गहै, छूटि गयो जंजाल ॥२५॥

न वहाँ संसार है न सिन्धु न वायु न जल न ज़मीं न आसमान न ब्रह्मा न उसकी निशानी। उस धाम पर चन्द्र सूर्य नहीं प्रकाशता न वहाँ काल, कर्मकी गति है। वहाँ जगत् जाल विमुक्त हंस सद्गुरु-ज्ञानमें मस्त हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

देही माँहि विदेह है, साहब सुरति सरूप।
अनँत लोक में रमि रहा, जाको रंग न रूप ॥२६॥
कबीर गुरु है हद का, बेहद का गुरु नाँहि।
बेहद आपै ऊपजै, अनुभव के घर माँहि ॥२७॥

देहमें ही साहब विदेह हैं, स्वरूपको वृत्तिसे समझो। जिसे कोई रंग रूप नहीं और अनन्त लोकमें रम रहा है। ऐ कबीर! गुरु हद्दका है बेहदका नहीं। चित्स्वरूपका अनुभव स्वयं प्रकाशित और स्वसंवेद्य है ॥ २६ ॥ २७ ॥

बुद्धि कहै सुन माहुला, घट भीतरही देख।
दोय तीन मिल पाँच ले, सब्द ब्रह्म ही पेख ॥२८॥

निश्चयात्मक बुद्धि कहती है; ऐ माहुला! जीव! सुन, घर हीमें अन्तर्दृष्टि कर देख और दोय नाम सगुण निर्गुण तथा तीन-त्रिगुण माया एवं पंच ज्ञानेन्द्रिये मिलाके शब्द ब्रह्मको समझ ले ॥ २८ ॥

अर्धे पवन चढ़ाय ले, ऊर्धे आन मिलाय।
अष्ट कमल की राह से, मूल कँवल लव लाय ॥२९॥
गगन महल भाठी रुपी, चुवै अगर की धार।
जिन रहनी माथे रहै, पीवत संत सुधार ॥३०॥

नीचेकी वायु चढ़ाके ऊपरकी वायुमें मिला दे। और अष्ट कमलकी राहसे मूल कमलमें ध्यान लगावे। और गगन महलमें जो भट्ठी लगी है वहँसे अमृतकी धारा बह रही है। जो इस रहनीसे सन्त रहते हैं वे उस सुधाको पान करते हैं ॥२९॥३०॥

गंगा जमुना सुरसती, हो तिरबेनी तीर।
साहिबकबिर बेहद छके, अम्मर होत शरीर ॥३१॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जो इङ्गला पिङ्गला और सुषुम्णा इन तीनों त्रिवेणीको पार करके जो बेहद चितिस्वरूपमें छकेंगे वेही अमर होंगे ॥ ३१ ॥

सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करु ज्ञान।
निरगुन सरगुन के परे, तहाँ हमारा ध्यान ॥३२॥

सद्गुरु सगुणकी सेवा करके निर्गुण माया रहित निर्गुणका ज्ञान प्राप्त करो फिर निर्गुण सगुणसे परे चिति मात्रका चिन्तन करो वही हमारा ध्येय है ॥ ३२ ॥

निरालंब की खोज में, सब जग पड़ो भुलाय।
जब सतगुरु दाया करै, तबही पड़ै लखाय ॥३३॥

उस निरालम्बकी खोजमें सब जग भूले पड़े हैं। विना सद्गुरु कृपाके उसे कोई नहीं लख सकता ॥ ३३ ॥

इति श्री बेहदको अङ्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

अथ अविहड़को अङ्ग ॥४५॥

अविहड अखँडित पीव है, ताका निरभय दास।
तीनों गुन को मेलि के, चौथे किया निवास ॥१॥

अविहड़ और अखण्डित एक स्वामी हैं। और त्रिगुण मायाको तिरस्कार कर चौथे चैतन्य पदमें निवास करने वाले उन्हींके दास निर्भय हैं ॥ १ ॥

कबीर साथी सोइ किया, दुख सुख जाहि न कोय।
हिल मिल के सँग खेलई, कबहु बिछोह न होय ॥२॥

सत्संगी जन उसीका साथ किये व करते हैं जिसमें सुख दुःखादि द्वन्द्व नहीं है। उसीमें रलमिलके आनन्द लेते हैं कभी भी अलग नहीं होते ॥ २ ॥

आदि अन्त अरु मध्य लौं, अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करतार का, कभी न छाड़ै संग ॥३॥

आदि, मध्य और अन्त तक अविचल स्वामी सदा एक रस हैं। उसीके संग सत्संगीजन सदा रहते कभी संग नहीं छोड़ते हैं ॥३॥

कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोय।
गुन औगुन बेड़ै नहीं, स्वारथ बंधा लोय ॥४॥

ऐ कबीर! मालिक बिना संसारमें अपना हितकर कोई नहीं। संसारी लोग सब स्वार्थमें बन्धाय हैं गुण अवगुण नहीं समझते॥

अनहद बाजे निझर झरै, उपजे ब्रह्म गियान।
अविगति अन्तर परगटै, लागे परम धियान ॥५॥

सन्तोंके सत्संगमें अनहद ध्वनि तथा निझरका झरना एवं ब्रह्म क्या वस्तु है इन सबोंका ज्ञान होता है। और परम ध्यान लगनेसे भीतर ही अविचल प्रत्यक्ष होता है ॥ ५ ॥

इति श्री अविहड़को अंग समाप्त ॥ ४५ ॥

मन मक्का दिल द्वारिका, काया कासी जान।
दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछान॥१८॥

मनको मक्का मदीना और दिलको द्वारिका तथा कायाको काशी समझ लो और इसी दश दरवाजेवाले नरदेहरूप देवालयमें स्वयं प्रकाशरूप चिदात्म देवकी पहिचान कर लो ॥१८॥

काँकर पाथर जोरि के, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय॥१९॥
मुल्ला चढ़ि किलकारिया, अलह न बहिरा होय।
जिहि कारन तूँ बाँग दे, दिल ही अंदर जोय॥२०॥

मुस्लिम मुल्लाओंने कंकर, पत्थर जोड़के मसजिद बना ली और ऊपर चढ़के कानमें उँगली डालके उच्च स्वरसे आवाज़ देने लगा। ऐ मुल्लाओं! क्या खुदा बहिरा है? अरे! नहीं, खुदा बहिरा नहीं है; जिसके लिये तुम किलकारते व बाँग देते हो वह तेरे हृदयमें है, उसे दिलके अन्दरही खोजो ॥ १९ ॥ २० ॥

तुरक मसीते देहरै हिन्दू, आप आपको धाय।
अलख पुरुष घट भीतरै, ताका पार न पाय॥२१

तुर्क मसजिदमें और हिन्दू देवालयमें निज निज देवको दौड़ रहे हैं। और जो अलख पुरुष सबके दिलमें बसा है गुरु बिना उसका पार (ज्ञान) कोई नहीं पाता ॥ २१ ॥

पूजा सेवा नेम व्रत, गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिव परसै नहीं, तब लग संसै मेल॥२२॥

पत्थर पूजा और नियम व्रतादि सब गुड़ियनका खेल यानी बालक्रीड़ा है। जब तक स्व स्वरूप स्वामीसे परिचय नहीं होता तब तक यह संशय भी दूर नहीं होता ॥ २२ ॥

कबीर या संसार को, समझायो सौ बार ।
पूँछ जु पकड़ै भेड़ की, उतरा चाहै पार ॥२३॥

हे कबीर ! इन संसारियोंको मैंने सैकड़ों बार समझाया; परन्तु ये क्यों समझने लगे। ये तो भेड़की पूँछ पकड़के भवसिन्धु तरना चाहते हैं। यह कैसे हो सकता है ? ॥ २३ ॥

जप तप दीखै थोथरा, तीरथ व्रत विश्वास ।
सूआ सेंमल सेइया, यौं जग चला निरास ॥२४॥

सद्गुरु सत्संगीकी दृष्टिमें स्वरूप ज्ञान विना केवल जप, तप निःसार है और तीर्थ, व्रत भी विश्वासही मात्र है। संसारी लोग उसके फलसे ऐसे विमुख होते हैं जैसे सेमलके सेवने वाला सूगा ॥ २४ ॥

तीरथव्रत करि जग मुआ, जूड़े पानी न्हाय ।
राम नाम जाने विना, काल जुगन जुग खाय॥२५॥

तीर्थ, व्रत करके और ठण्डे जलमें नहा नहाके जगज्जीव सब मर गये। रामका नाम जाने विना उन्हें युगोंयुगसे काल कवल करता आ रहा है ॥ २५ ॥

न्हाये धोये क्या भया, जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय ॥२६॥

जो अन्तःकरणका पाप दूर नहीं हुआ तो नहाने, धोनेसे क्या ? यों तो 'मछली सदा जलहीमें रहती है। क्या धोनेसे गन्धी जाती है, हर्गिज़ नहीं ॥ २६ ॥

मछरी तुरकै पकड़िया, बसै गंग के तीर ।
धोय कुलाधि न भाजहीं, राम न कहै सरीर ॥२७॥

हैं। वे पार तो नहीं हुये किन्तु उल्टे पानीमें भींजके नदी-प्रवेश करते ही मारे बोझके डूब मरे ॥ ८ ॥

कबीर दुनिया देहरै, सीस नवावन जाय।
हिरदे माँहीं हरि बसै, तूँ ताही लौ लाय ॥९॥

ऐ कबीर! संसारी लोग देवालयमें शिर झुकाने जाते हैं तो उन्हें जाने दो, तुम तो जो हृदयमें हरि है उसीमें चित्त लगाओ ॥ ९ ॥

कबीर जेता आतमा, तेता सालिग राम।
बोलन हारा पूजिये, नहि पाहन सो काम ॥१०॥

ऐ कबीर! जितने जीवात्मा हैं वे सब शालग्राम हैं। उन्हीं बोलतेको पूज लो, पत्थरसे कोई प्रयोजन नहीं ॥ १० ॥

कबीर सालिग राम का, मोहि भरोसा नाँहि।
काल कहर की चोट में, बिनसि जाय छिनमाँहि ॥११॥

ऐ कबीर! मुझे शालग्राम पर ऐसा विश्वास नहीं है कि वह कठिन कालकी चोटसे बचा सके। वह तो स्वयं पल भर में नष्ट हो जायगा ॥ ११ ॥

पूजै सालिगराम को, मनकी भ्रांति न जाय।
सीतलता सपनै नहीं, दिनादिन अधिकीलाय ॥१२॥

शालग्राम की पूजासे मनका संशय दूर नहीं होता। और शान्ति तो स्वप्न में भी नहीं, बल्कि प्रति दिन अशान्ति (जलन) अधिक होती है ॥ १२ ॥

सेवै सालिगराम को, माया सेती हेत।
पहिरै काली कामली, नाम धरावै सेत ॥१३॥

अज्ञानी लोग शालग्राम को सेवा और, माया से प्रेम करते हैं। देखो इनकी उल्टी रीति ! पहिनते तो काली कमली और नाम धराते हैं श्वेताम्बरी ॥ १३ ॥

काजर केरी कोठरी, मसिके किये कपाट।
पाहन भूली पिरथवी, पंडित पाड़ी वाट ॥१४॥

काजल (अविद्या) की कोठलीमें स्याही (कुबुद्धि) के कपाट लगाये हैं। अतः पृथ्वी अर्थात् अज्ञानी लोग सब पाहन पूजामें भूले हैं; पोथोंके पण्डितोंने यह मार्ग चलाया है ॥ १४ ॥

हम भी पाहन पूजते, होते बनके रोझ।
सतगुरु की किरपा भई, डारा सिरका बोझ ॥१५॥

यदि सद्गुरुको कृपा न होती तो हम भी पत्थर पूजते पूजते जंगली नील गाय बन जाते। परन्तु सद्गुरुकी दया हुई शिरकी बला डाल (पटक) दी ॥ १५ ॥

मूरति धरि धंधा रचा, पाहन का जगदीस।
मोल लिया बोलै नहीं, खोटा बिसवा बीस ॥१६॥

पत्थरका जगदीश्वर बनाके उनकी मूर्ति स्थापन कर गोरख धन्धा रचा है। वह मोल खरीदो मूर्ति नहीं बोलती, क्योंकि वह सर्वथा असत्य है ॥ १६ ॥

धरि गिरिवर करता किया, सो क्यों रहै अपूज।
पाहन फोड़ि देवल रचा, परमेश्वर सों दूज ॥१७॥

ऐ अज्ञानी लोग ! जो बड़े पर्वतको धारण कर संसारका उद्धार किया क्या वह अपूज्य रहेगा ? कि पत्थर फोड़कर देवालय बनाते और परमेश्वरको बैठाते हो ? ॥ १७ ॥

हैं। वे पार तो नहीं हुये किन्तु उल्टे पानीमें भीजके नदी-प्रवेश करते ही मारे बोझके डूब मरे ॥ ८ ॥

कबीर दुनिया देहरै, सीस नवावन जाय।
हिरदे माँही हरि बसै, तूँ ताही लौ लाय॥९॥

ऐ कबीर! संसारी लोग देवालयमें शिर झुकाने जाते हैं तो उन्हें जाने दो, तुम तो जो हृदयमें हरि है उसीमें चित्त लगाओ ॥ ९ ॥

कबीर जेता आतमा, तेता सालिग राम।
बोलन हारा पूजिये, नहि पाहन सो काम॥१०॥

ऐ कबीर! जितने जीवात्मा हैं वे सब शालग्राम हैं। उन्हीं बोलतेको पूज लो, पत्थरसे कोई प्रयोजन नहीं ॥ १० ॥

कबीर सालिग राम का, मोहि भरोसा नाँहि।
काल कहर की चोट में, बिनसि जाय छिनमाँहि॥११॥

ऐ कबीर! मुझे शालग्राम पर ऐसा विश्वास नहीं है कि वह कठिन कालकी चोटसे बचा सके। वह तो स्वयं पल भर में नष्ट हो जायगा ॥ ११ ॥

पूजै सालिगराम को, मनकी भ्रांति न जाय।
सीतलता सपने नहीं, दिनादिन अधिकी लाय॥१२॥

शालग्राम की पूजासे मनका संशय दूर नहीं होता। और शान्ति स्वप्न में भी नहीं, बल्कि प्रति दिन अशान्ति (जलन) होती है ॥ १२ ॥

... सालिगराम को, माया सेती हेत।
... नाम धरावै सेत॥१३॥

पाहन पानि न पूजिये, सेवा जासी बाद।
सेवा कीजै साधु की, राम नाम कर याद ॥४॥

कल्याण हित पत्थर, पानीको सेवा मत करो, सेवा निष्फल होगी। यदि कल्याण चाहिये तो सन्तोंकी सेवा और राम नाम का सुमिरण करो ॥ ४ ॥

पाहन ही का देहरा, पाहन ही का देव।
पूजनहारा आँधरा, क्यौं करि मानै सेव ॥५॥

देवालय और देव दोनों पत्थरके हैं। पूजने वाले अन्धे हैं; वह जड़ सेवा कैसे स्वीकार करे ? ॥ ५ ॥

पाहन पानी पूजि के, पचि मूआ संसार।
भेद अलहदा रहि गया, भेदवंत सो पार ॥६॥

पत्थर, पानीको पूज २ के संसारी लोग मर मिटे। सद्गुरु ज्ञान बिना ज्ञातव्य भेद अलग रह गया। जो भेदी हुये उनका बेड़ा पार हो गया ॥ ६ ॥

पाहन ले देवल चुना, मोटी मूरति, माँहि।
पिंड फूटि परबस रहै, सो ले तारै काहि ॥७॥

पत्थरोंका देवालय बनाके उसमें बड़ी मूर्तिकी प्रतिष्ठा कर दी। कुछ कालमें वह स्वयं फूटकर पराधीन हो गया फिर कहो वह कैसे किसीको तारे ? ॥ ७ ॥

कबीर पाहन पूजि के, होन चहै भौ पार।
भींजि पानि बेधै नदी, बूड़ै जिन सिर भार ॥८॥

ऐ कबीर ! जो पत्थर पूजके भवसिन्धु पार होना चाहते

मन मक्का दिल द्वारिका, काया कासी जान।
दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछान॥१८॥

मनको मक्का मदीना और दिलको द्वारिका तथा कायाको काशी समझ लो और इसी दश दरवाजेवाले नरदेहरूप देवालयमें स्वयं प्रकाशरूप चिदात्म देवको पहिचान कर लो॥१८॥

काँकर पाथर जोरि के, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय॥१९॥
मुल्ला चढ़ि किलकारिया, अलह न बहिरा होय।
जिहि कारन तूँ बाँग दे, दिल ही अंदर जोय॥२०॥

मुस्लिम मुल्लाओंने कंकर, पत्थर जोड़के मसजिद बना ली और ऊपर चढ़के कानमें उँगली डालके उच्च स्वरसे आवाज़ देने लगा। ऐ मुल्लाओं! क्या खुदा बहिरा है? अरे! नहीं, खुदा बहिरा नहीं है; जिसके लिये तुम किलकारते व बाँग देते हो वह तेरे हृदयमें है, उसे दिलके अन्दरही खोजो॥ १९ ॥ २० ॥

तुरक मसीते देहरै हिन्दू, आप आपको धाय।
अलख पुरुष घट भीतरै, ताका पार न पाय॥२१

तुर्क मसज़िदमें और हिन्दू देवालयमें निज निज देवको दौड़ रहे हैं। और जो अलख पुरुष सबके दिलमें बसा है गुरु बिना उसका पार (ज्ञान) कोई नहीं पाता॥ २१ ॥

पूजा सेवा नेम व्रत, गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिव परसै नहीं, तब लग संसै मेल॥२२॥

पत्थर पूजा और नियम व्रतादि सब गुड़ियनका खेल यानी बालक्रीड़ा है। जब तक स्व स्वरूप स्वामीसे परिचय नहीं होता तब तक यह संशय भी दूर नहीं होता॥ २२ ॥

कबीर या संसार को, समझायो सौ बार ।
पूँछ जु पकड़ै भेंड़ की, उत्तरा चाहै पार ॥२३॥

ऐ कबीर! इन संसारियोंको मैंने सैकड़ों बार समझाया; परन्तु ये क्यों समझने लगे। ये तो भेंड़को पूँछ पकड़के भवसिन्धु तरना चाहते हैं। यह कैसे हो सकता है? ॥ २३ ॥

जप तप दीखै थोथरा, तीरथ व्रत विश्वास ।
सूआ सेमल सेइया, यौं जग चला निरास ॥२४॥

सद्गुरु सत्संगोंकी दृष्टिमें स्वरूप ज्ञान विना केवल जप, तप निःसार है और तीर्थ, व्रत भी विश्वासही मात्र है। संसारी लोग उसके फलसे ऐसे विमुख होते हैं जैसे सेमलके सेवने वाला सूगा ॥ २४ ॥

तीरथ व्रत करि जग मुआ, जूड़े पानी न्हाय ।
राम नाम जाने विना, कालजुगन जुग खाय॥२५॥

तीर्थ, व्रत करके और ठण्ढे जलमें नहा नहाके जगजीव सब मर गये। रामका नाम जाने विना उन्हें युगोंयुगसे काल कवल करता आ रहा है ॥ २५ ॥

न्हाये धोये क्या भया, जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय ॥२६॥

जो अन्तःकरणका पाप दूर नहीं हुआ तो नहाने, धोनेसे क्या? यों तो 'मछली सदा जलहीमें रहती है। क्या धोनेसे गन्धी जाती है, हर्गिज़ नहीं ॥ २६ ॥

मछरी तुरकै पकड़िया, बसै गंग के तीर ।
धोय कुलाधि न भाजहीं, राम न कहै सरीर ॥२७॥

जैसे तुर्कोंने मछली पकड़ली और गंगा किनारे रहने लगा। धोने पर भी उसकी दुर्गन्ध न मिटी। तैसेही केवल राम कहने हीसे शरीर शुद्ध न होगा॥ २७॥

तीरथ काँठे घर करै, पीवै निरमल नीर।
मुक्ति नहीं हरिनाम बिन, यौं कथि कहैं कबीर॥२८॥

कबीर गुरु इस प्रकार कहते हैं कि कोई तीर्थके समीप निवास करके निर्मल जलही क्यों न पिया करे किन्तु सर्वात्म स्वरूप हरिके ज्ञान बिना मुक्ति न होगी॥ २८॥

निरमल गुरुके नाम सों, निरमल साधू भाय।
कोइला होय न ऊजला, सौ मन साबुन लाय॥२९॥

सद्गुरुके निर्मल ज्ञानसे सन्तहो निर्मल होते हैं। असन्त नहीं, *यथाः—कोयलामें सैकड़ों मन साबुन क्यों न लगाओ;* सुफेद नहीं हो सकता॥ २९॥

मनहीं में फूला फिरै, करता हूँ मैं धर्म।
कोटि करम सिर पर चढ़ै, चेति न देखै मर्म॥३०॥

मैं धर्म करता हूँ ऐसा मनमें अभिमान करके फूला फिरता है। मिथ्या अभिमानरूप करोड़ों दुष्कर्म शिर पर सवार है। इस भेदको समझकर नहीं देखता॥ ३०॥

और धरम सब करम है, भक्ति धरम निहकर्म।
नदि हतियारी को कहै, कुवा बावरी भर्म॥३१॥

जितने फलासक्ति धर्म हैं वे सब बन्धन कर्मरूप हैं और सद्गुरु-भक्ति धर्म कर्म नहीं है। नदीको हतियारी कौन कहै? कुवा, बावली सबही भ्रम है॥ ३१॥

करम हमारे काटिहैं, कोइ गुरुमुख कालि माँहि।
कहै हमारी वासना, गुरुमुख कहियत नाँहि ॥३२॥

जो हमारे कर्म बन्धनको काटे; ऐसे कलियुगमें कोई गुरु है? हमारी वासना कहती है। गुरुमुखी वैसे नहीं कह सकते॥

अहिरन मारै काँख में, करै सूई का दान।
ऊँचै चढ़ि के देखई, केतिक दूर विमान ॥३३॥

निहाईको चोराकर बगलमें दाब लिया और सूईको दान दिया। इतनेही पुण्यमें ऊँचे चढ़के स्वर्गसे विमान आनेकी राह देखती है। क्या अजब दुनिया है? पाप पहाड़को नहीं देखती तिल पुण्यको गाती है ॥ ३३ ॥

मरती विरियाँ दान दे, जीवत बड़ा कठोर।
कहैं कबिर क्यों पाइये, खाँड़ा का वै चोर ॥३४॥

जो मरते वक्त दान देता है और जीतेजी महा मूँजी है। कबीर गुरु कहते हैं कि वह तलवारका चोर सुई दानका फल कैसे पायगा ॥ ३४ ॥

बहुत दान जो देत हैं, करि करि बहुतै आस।
काहू के गज होयँगे, खैहैं सेर पचास ॥३५॥

जो बहुत आशा करके बहुत दान देते हैं। वे बड़े भारी हाथीका शरीर धरके सवा मन भुगतेंगे ॥ ३५ ॥

मुफ्त दान जो देत हैं, मुफ्त ही लेत असीस।
ऊँट काहू के होयँगे, लादेंगे मन बीस ॥३६॥

जो मुफ्तके दान देके मुफ्तका आशीर्वाद लेते हैं। वे किसी के ऊँट होंगे और उनपर बीस मन बोझ लादे जायँगे ॥ ३६ ॥

सब बन तो तुलसी भई, परबत सालिगराम।
सब नदियें गंगा भईं, जाना आतम राम ॥३७॥

जिसने रमैयारामको यथार्थ रूपसे जान लिया। बस! उनके लिये समग्र वन तुलसी रूप और सर्व पर्वत शालग्राम एवं सर्व नदियाँ गंगा ही हो गईं ॥ ३७ ॥

पाँच तत्त्व का पूतरा, रज बीरज की बूँद।
एकै घाटी नीसरा, ब्राह्मन क्षत्री सूद ॥३८॥

रज, वीर्यकी एकही बूँदसे पाँच तत्त्वकी पुतली पहनके सब एकही रास्तासे निकले हैं। अब इनमें किसे ब्राह्मण, क्षत्री वैश्य और शूद्र कहना? ॥ ३८ ॥

अकिल बिहूना आदमी, जानै नहीं गँवार।
जैसे कपि परबस पर्यो, नाचै घर घर बार ॥३९॥

विना बुद्धि मनुष्य गँवार होता है। हित, अहित नहीं जानता। बन्दरोंकी तरह परवश हो घर घर नाचता फिरता है।

अकिलबिहूना सिंघ ज्यूँ, गयो ससा के संग।
अपनी प्रतिमा देखि के, कीयो तन को भंग ॥४०॥
अकिल बिहूना आँधरा, गज फंदे पड़ो आय।
ऐसे सब जग बँधिया, काहि कहूँ समझाय ॥४१॥

जैसे विना बुद्धिका सिंह खरहेके साथ जाके कूपमें अपना प्रतिबिम्ब देखके स्वयं शरीरको नष्ट किया और जैसे शृगाल के साथ विना बुद्धिके हस्ती फन्देमें आ पड़ा ऐसेही सारे संसार विवेक विना बन्धाया है किसे समझाया जाय? ॥ ४० ॥ ४१ ॥

पंख होत परवस पर्यो, सूआ के बुधि नाँहि ।
अकिल विहूना आदमी, यौं बँधा जग माँहि ॥४२॥

देखो, बुद्धि विना शुक पक्षी पाँख होते हुए भी परवश हो गया। ऐसे विवेक हीन मनुष्य जगत-बेड़ीमें जकड़े पड़े हैं ॥४२॥

अकिल अरस सों ऊतरी, विधना दीन्ही बाँट ।
क अभागी रहि गया, एक न लई उछाँट ॥४३॥

भाग्य अनुसार बुद्धि सबको मिली है और अन्यसे विधाता विभाग भी कर दिया है। परन्तु उसे उपयोग न करके एक अभागा योंही रह गया। और एकने उसे उपयोग कर छाँट लिया अर्थात् सत्संगीने सत्संग द्वारा स्वच्छ करके कृत कृत्य हुआ।

अलख अकिल जानै नहीं, जीव जहद्दम लोय ।
हरदम हरि जाना नहीं, भिस्त कहाँ ते होय ॥४४॥

अज्ञानी बुद्धिके उपयोग करना नहीं जानता इसी कारण नरकका दुख भोगता है। क्योंकि हर श्वासमें हरिको नहीं जाना तो स्वर्ग सुख कहाँसे मिले ? ॥ ४४ ॥

विना वसीले चाकरी, विना बुद्धि की देह ।
विना ज्ञान का जोगना, फिरै लगाये खेह ॥४५॥

जैसे विना वसीले नौकरी नहीं लगती ऐसे विना बुद्धि नर देहका उपयोग नहीं होता। इसी प्रकार विना ज्ञानका योगी खाक लगाय भले फिरे किन्तु उनको प्रतिष्ठा नहीं होती ॥४५॥

दुविधा जाके मन बसै, दयावंत जिय नाँहि ।
कबीर त्यागो ताहि को, भूलि देह जनि बाँहि ॥४६॥

जिसके हृदयमें सदा संशय रहता है और जीवों पर दया नहीं है। ऐ कबीर! उसे शीघ्र त्यागो भूलकर भी हाथ मत दो।

रामनाम कडुआ लगे, मीठा लागै दाम।
दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम ॥४७॥

जिन्हें राम नाममें अरुचि और दाम (द्रव्य) में रुचि है। वे दुविधामें पड़के दोनों दीनमे गये हैं। न तो उन्हें माया ही मिली न राम ही ॥ ४७ ॥

चिऊँटी चावल ले चली, बिचमें मिलि गई दाल।
कहैं कबिर दो ना मिलै, इक ले दूजी डाल ॥४८॥

चिऊँटी (वृत्ति) ने चावल (परमार्थ स्वरूप) को लेकर चली, रस्तेमें दाल (माया) मिल गई, उसने विचार किया इसे भी ले लँ। कबीर गुरु बोल उठे, दोनों लेना नहीं बनेगा एकही ले दूसरेको डाल दे ॥ ४८ ॥

आगा पीछा दिल करै, सहजै मिलै न आय।
सो वासी जमलोक का, बाँधा जमपुर जाय ॥४९॥

जिसका मन परमार्थ विषे आगा पीछा कर रहा है, वे धड़क सद्गुरुसे आकर नहीं मिलता, वह जमलोक वासी है जमपुर में बाँधा जायगा ॥ ४९ ॥

कै तूँ लोरै मुकदमी, कै तूँ साहिब लोर।
दो दो घोड़ा मति चढ़ै, तेरे घर है चोर ॥५०॥

या तो व्यवहार होकी चाहना कर या परमार्थ को। दो घोड़े पर मत चढ़ अर्थात् दुविधामें मत पड़ तेरे घटमें दुविधा रूप चोर बैठा है, शीघ्र चेत ॥ ५० ॥

पढ़ा सुना सीखा सभी, मिटी न संसै . सूल ।
कहैं कबिर कासों कहूँ, यह सब दुखका मूल ॥५१॥

सब कुछ पढ़, सुन, सीख करके भी संशय रूपी काँटा नहीं निकला तो कबीर गुरु कहते हैं कि पढ़ना, सुनना ये सब दुख रूप है ये मैं किससे कहूँ ॥ ५१ ॥

नगर चैन तब जानिये, एकै राजा होय ।
याहि दुराजी राज में, सुखी न देखा कोय ॥५२॥

जैसे व्यवहारमें एकही राजासे नागरिक (प्रजा) सुखी रहते हैं तैसेही एकात्म निःसंशय ज्ञानसे सत्संगी जन सुखी होते हैं । दो राजाओंके राज्यमें सुखी नहीं देखा गया है ॥५२॥

तेरे हिरदै राम है, ताहि न देखा जाय ।
ताको तो तब देखिये, दिलकी दुविधा जाय ॥५३॥

तेरे हृदयमें ही रमैया राम रमा करता है, लेकिन तुम उसे यों नहीं देख सकते । क्योंकि तुम्हारे हृदयमें दुविधा रूपी पड़दा पड़ा हे उसे हटा दो; फिर देख लो ॥ ५३ ॥

देह निरंतर देहरा, तामें परतछ देव ।
राम नाम सुमिरन करो, कह पाथर की सेव ॥५४॥

नरदेहरूप देवालयमें निरन्तर निवासी नारायणरूप देवका प्रत्यक्ष दर्शन करलो । और रामको याद करो, पत्थरकी सेवासे क्या काम है ॥ ५४ ॥

पाथर मुख ना बोलही, जो सिर डारी कूट ।
राम नाम सुम्मिन करो, दूजा सबही झूठ ॥५५॥

पत्थर मुखसे कभी न बोलेगा कि तुम क्यों शिर पटकते हो? चाहे तुम शिर फोड़ डालो। अतएव राम नाम स्मरण करो दूसरे झूठोंको छोड़ दो ॥ ५५ ॥

कुबुधी को सूझै नहीं, उठि उठि देवल जाय।
दिल देहराकी खबर नहिं, पाथर ते कह पाय ॥५६॥

विवेक बुद्धि रहित नरजीव अन्धा है उसे हानि लाभ नहीं दीखता। नित उठि देवालयमें जाया करता है। उसे दिल देवालयके देवकी कुछ खबर नहीं। पत्थरसे क्या मिलेगा?॥५६॥

सिदक सबूरी बाहिरा, कहा हज्ज को जाय।
जिनका दिल साबित नहीं, तिनको कहाँ खुदाय॥५७॥

जिसे सत्य पर सन्तोष नहीं है, वह बावरा मक्के मदीनेकी हज्ज करके भी क्या करेगा? जिनका हृदयही स्थिर नहीं है उनके लिये कहीं भी खुदा नहीं ॥ ५७ ॥

आतम दृष्टि जानै नहीं, न्हावै प्रातहि काल।
लोक लाज लीया रहै, लागा भरम कपाल॥५८॥
जप तप तीरथ सब करै, घड़ी न छाड़ै ध्यान।
कहैं कबीरा भक्ति बिन, कबहु न है कल्यान॥५९॥

प्राणियों पर आत्म दृष्टि तो है नहीं और नित उठि सवेरेही नहाते हैं, लोक लज्जा छूटती नहीं, भ्रम शिर पर सवार है। हजारों मालाका जप, पंच या चौरासी धुनीका तप और ध्यान भी खूबही लगाते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि सब कुछ करते हुये भी सद्गुरु-भक्ति बिना कल्याण कदापि नहीं ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

सुख को सागर मैं रचा, दुख सुख मेला पाय।
थिति ना पकड़े आपनी, चले रंक औ राव ॥६०॥

सुखका सागर सद्गुरुका सत्संग मैंने कायम कर दिया है और दुःख सुखको पाँव तले मेल दिया। लेकिन नरजीव अपनी आत्म स्थिति नहीं पकड़के माया प्रवाहमें राजा, रंक सबही वह चले तो कोई क्या करे ॥ ६०॥

लिखा पढ़ी में सब पड़े, यह गुन तजै न कोय।
सबै पड़े भ्रम जाल में, डारा यह जिय खोय ॥६१॥

सब लिखा पढ़ीमें पड़े हैं, गुरु सत्संग विमुख कोई इस मायाजालको नहीं छोड़ते। सब भ्रमजालमें पड़के नरदेहमें जीवरूप पाहुने को तिरस्कार कर दिया ॥ ६१ ॥

राम नाम निज मूल है, कहैं कबिर समुझाय।
दोइ दीन खोजत फिरै, परम पुरुष नहिं पाय ॥६२॥

कबीर गुरु समझा कर कह रहे हैं कि अपने मोक्षका मूल कारण राम नाम सत्य है। हिन्दू, मुस्लिम दोनों खोजते फिरते हैं; कहीं भी परम पुरुष नहीं पाते। दोनों मजहबी झगड़ेमें पड़े हैं कोई क्या करे ॥ ६२ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
भ्रम विध्वंसको अङ्ग ॥ ४६ ॥

अथ सारग्राहीको अङ्ग ॥४७॥

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, देइ असार बहाय ॥१॥

जैसे सुन्दर सूप सार वस्तुको ग्रहण कर असारको फेंक देता है। ऐसेही सन्तोंको सारग्राही होना चाहिये ॥ १ ॥

सत संगति है सूप ज्यौं, त्यागै फटकि असार।
कहैं कबिर गुरु नाम ले, परसै नाँहि विकार ॥२॥

असद्वस्तुका त्याग और सत्यको ग्रहण करनेमें सन्तोंका सत्संग सूपके समान हैं, कबीर गुरु कहते हैं कि जो सद्गुरुके नाम स्मरण करै तो उसे विकार छू भी नहीं जाता ॥ २ ॥

पहिले फटकै छाज के, थोथा सब उड़ि जाय।
उत्तम भाँड़े पाइया, जो फटकै ठहराय ॥३॥

पहिले सूपसे पैसे पछोड़े कि निःसार सब उड़ जाये। फिर फटकनसे बचे हुये सारको उत्तम पात्रमें रख दे ॥ ३ ॥

औगुन को तो ना गहै, गुनही को ले बीन।
घट घट महकै मधुप ज्यौं, परमातम ले चीन ॥४॥

दुर्गुणको कभी नहीं सदा सद्गुणको ग्रहण करै। जैसे भँवरा सर्वत्रसे दुर्गन्धको छोड़ सुगन्धको लाता है इसी प्रकार अनात्मको त्यागकर आत्मतत्त्वको पहिचान ले ॥ ४ ॥

हंसा पय को काढ़ि ले, छीर नीर निरुवार।
ऐसै गहै जु सार को, सो जन उतरै पार ॥५॥

जैसे हंस दूधको जलसे जुदा करके ग्रहण करता है ऐसेही जो पुरुष निर्णय द्वारा असारसे सारको निकालकर ग्रहण करता है वही संसारसे पार उतरता है ॥ ५ ॥

छीर रूप हरि नाम है, नीर रूप व्योहार।
हंस रूप कोइ साधु है, तत का छानन हार ॥६॥

दूधरूप हरिनाम अर्थात् आत्मज्ञान है और जलरूप जगत व्यवहार है। तत्त्वको निर्णय करनेवाले हंसरूप कोई सन्त हैं जो असारसे सार आत्म तत्त्वको निकालते हैं ॥ ६ ॥

पारा कंचन काढ़ि ले, जो रे मिलावै आन।
कहैं कबीरा सार मत, परगट किया बखान ॥७॥

पारा सोना को निकाल लेता है, चाहे जो कुछदूसरा मिला हो। कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसे सार मतको प्रत्यक्ष वर्णन कर दिया ॥ ७ ॥

चुंबक काढ़ै सार कूँ, जो रे मिलावै रेत।
साधू काढ़ै जीव को, उर अन्तर के हेत ॥८॥

जैसे रेतमें मिले हुए लोहेको चुम्बक निकाल लेता है; तैसे हृदयमें प्रेमके कारण सन्तजन जीवको संसार सागरसे निकाल लेते हैं ॥ ८ ॥

रक्त छाँड़ि पय को गहै, ज्यौंरे गउ का बच्छ।
औगुन छाड़ै गुन गहै, सार गिराही लच्छ ॥९॥

जैसे गौका बछड़ा रुधिरको छोड़कर दुग्धको ग्रहण करता

है। इसी प्रकार सार ग्राही पुरुष अवगुण त्यागकर गुण ग्रहण करते हैं ॥ ६ ॥

वसुधा वन बहु भाँति है, फूले फूल अगाध।
मिष्ट वास कबिरा गहै, विषम गहै कोइ साध॥१०॥

संसार बागमें बहुत प्रकारके पुष्प खिले हैं। मधुर गन्ध (विश्वराग) तो इतर जीव सब ग्रहण करते हैं और विषम (वैराग्य) कोई सन्तजन ॥ १० ॥

कबीर सब घट आतमा, सिरजी सिरजनहार।
राम कहै सो राम सम, रहता ब्रह्म विचार ॥११॥

ऐ कबीर! "तदेव सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस श्रुतिके अनुसार वही परमात्मा सब घटको रचकर स्वयमात्म रूपसे सबमें रमा है। जो राम कहता है वह राम सम है और ब्रह्म ब्रह्म सम ॥ ११ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित सारग्राहीको अंग समाप्त ॥ ४७ ॥

१ अर्थ —वह परमेश्वर ही शरीर आदि की सृष्टि करके आभास द्वारा शरीरादिमें जीवात्म रूपसे प्रवेश किया है ऐसे वेदवादी सब कहते हैं।

अथ असारग्राहीको अङ्ग ॥४८॥

कबीर कीट सुगंध तजि, नरक गहै दिन रात।
असार गिराही मानवा, गहै असारहि बात ॥१॥

ऐ कबीर! जैसे नरकका कीड़ा सुगन्धको त्यागके सदा दुर्गन्धको ग्रहण करता है वैसे असार ग्राही मनुष्य सदा असत्य वार्ताको चाहता है ॥ १ ॥

मच्छी मल को गहत है, निरमलवस्तुहि छाँड़ि।
कहैं कबीर असार मत, माड़ि रहा मन माँड़ि ॥२॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जैसे मछली स्वच्छ पदार्थको छोड़कर गलीज़को ग्रहण करती है। इसी प्रकार मनमती जीव असार मतमें मँड (लग) रहा है ॥ २ ॥

आटा तजि भूसी गहै, चलनी देखु निहारि।
कबीर सारहि छाँड़ि के, गहै असार असार ॥३॥

ऐ कबीर! चलनीको देख लो शुद्ध आटाको छोड़कर भूसी चोकरको ग्रहण करती है। ऐसे कुसंगी सार तत्त्वको त्याग कर असार ग्रहण करता है ॥ ३ ॥

रस छाँड़ै छूटी गहै, कोल्हू परगट देख।
गहै असार असार को, हिरदै नाँहि विवेक ॥४॥

प्रत्यक्ष कोल्हूको देख लो, रसको छोड़के निरस सीठीको ग्रहण करता है। ऐसेही विवेकहीन लोग चित्स्वरूप सारको त्यागकर देहेन्द्रिय असारमें लिपटे हैं ॥ ४ ॥

दूध त्यागि रक्तहि गहै, लगी पयोधर जोंक।
कहैं कबीर असार मति, छलना राखे पोक ॥५॥

जैसे महीष आदिके स्तनमें लगी हुई जोंक अमृत तुल्य दूध को त्यागकर रुधिरको पीती है। तैसेही कुटिल मनुष्य पोष नहीं मानते सदा दुर्गुण देखते हैं ॥ ५ ॥

लोहू गहि दूधै तजै, जोंक सुभाव परख।
ऐसा ही नर आँधरा, सार मे जाय सरक ॥६॥

जैसे जोंकका स्वभाव है दूधको त्यागकर रुधिर पीनेका। तैसेही विवेक दृष्टि हीनकी आदत है कि सद्मार्गसे भ्रष्ट हो कुमार्गको ग्रहण करता है ॥ ६ ॥

बूटी वाटी पान करै, कहै दुःख जो जाय।
कहैं कबिर सुख ना गहै, यही असार सुभाय ।७॥

कबीर गुरु कहते हैं कि यही असार ग्राहीका स्वभाव है जो मद्य, मांसादि सेवनसे दुःखकी निवृत्ति कहते हैं। वे दुखके सिवा सुख कदापि न पाते ॥ ७ ॥

पापी पुन्न न भावई, पापहि बहुत सुहाय।
माखि सुगंधी परिहरै, जहँ दुरगंध तहँ जाय ॥८॥

पाप संस्कारसे पापियोंको पाप छोड़कर पुण्य कर्म कभी नहीं सुहाता जैसे मक्खी सुगन्धको त्यागकर दुर्गन्ध पर जा बैठती है ॥ ८ ॥

निरमल छाँडै मल गहै, जनम असारे खोय।
कहैं कबीर सार तजी, आपन गये विगोय ॥९॥

कबीर गुरु कहते हैं कि असारग्राही लोग निर्मल आत्मस्वरूप सार तत्त्वको त्यागके विषय विकार असारमें नर जन्म अपनो गमाये व गमाते हैं। सद्गुरु सत्संगमें नहीं आये न आते हैं।

इति श्री असारग्राहीको अङ्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

अथ पारखको अङ्ग ॥ ४६ ॥

कबीर देखी परखि ले, परखी के मुहँ खोल।
साधु असाधू जानि ले, सुनिसुनि मुखका बोल॥१॥

हे कबीर! पदार्थको प्रथम देखकर परख ले फिर वचन मुखसे निकाल। और वार्तालापसे सन्त और असन्तको भी परीक्षा कर ले फिर संग और त्याग कर ॥ १ ॥

कबीर देखी परखि ले, परखि के मुखाँ बुलाय।
जैसी अन्तर होयगी, मुख निकसैगी आय ॥२॥

हे कबीर! मनुष्योंको भली भाँति देखकर परीक्षा कर ले। पुनः उन्हें मुखसे बोला। बोलनेसे अन्तःका रहस्य मुखकी वार्त्तासे निकल आयगा ॥ २ ॥

पहिले शब्द पिछानिये, पीछै कीजै मोल।
पारख परखै रतन को, शब्द का मोलन तोल॥३॥

प्रथम शब्दको पहिचान करो फिर उसकी कीमत करो। पारखी रत्नकी परीक्षा करते हैं। शब्दका मोल तोल नहीं है ॥

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँ खोटी है हाट।
कसि करि बाँधो गाँठरी, उठिकरि चालो बाट॥४॥

आत्म ज्ञान रूप हीराको वहाँ पर मत खोलो जहाँ ज़ोहरी विनाके झूठी बाज़ार लगी है। कस कर गाँठमें हीराको बाँधो और उठकर अपने रास्ते लग जाओ। अर्थात् अनधिकारियोंके आगे सद्गुरु-ज्ञानकी चर्चा मत करो ॥ ४ ॥

हीरा परखै जौहरी, शब्दहिं परखै साध।
कबीर परखै साधु को, ताका मता अगाध ॥५॥

जौहरी हीराको परखता है और सन्त शब्दको। ये कबीर! जो सन्तकी परीक्षा करते हैं उनका मत अथाह है ॥ ५ ॥

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले माँडी हाट।
जब रे मिलेगा पारखी, तब हीरा की साट ॥६॥

जौहरी (भक्त) जन हरि रूप हीराको लेकर संसार,बाज़ार में घड़ी घण्ट बजा २ कर बेंच रहे हैं। परन्तु हीराका मोल तोल तो तबही होगा जब पारखी मिलेंगे ॥ ६ ॥

हरि हीरा मन जौहरी, परखि निरखि हियलेय।
लै लुहार करि गहन में, ज्ञान चोट घन देय ॥७॥

हरि रूप हीराको मन रूप जौहरीसे भीतर खूब लोहारको गहनमें लेके ज्ञान घनसे चोट लगा लगाकर देख परख कर लेवे।

हरि हीरा सन मेहटा, पट्टन प्रान सुभट्ट।
गाहक बिना न खोलिये, हीरा केरी हट्ट ॥८॥

हरि रूप हीराको सनकी मेहटा रस्सीसे प्राणके साथ खूब कस कर बाँधे रहो। हीराकी बाज़ार ग्राहक बिना कभी मत खोलो ॥ ८ ॥

हरि मोतियनकी माल है, पोई काचै धाग।
जतन करो भटका घना, टूटेगी कहुँ लाग ॥९॥

हरि बेश कीमती मोतियोंकी माला, कच्चे शरीररूप धागामें परोया है। इसे अनेकों भटके हैं जरा झटके निगहवानी करो ज़रासी लगी नहीं कि टूटी नहीं ॥ ९ ॥

राम रतन धन मोटरी, गाहक आगे खोल ।
जबही मिलेगा पारखी, लेगा महँगे मोल ॥१०॥

रामरत्न धनकी मोटरीको ग्राहकके आगे खोलो। जब उसका पारखी मिलेगा तब 'बहुमूल्य देकर लेगा यानी कदर करेगा ॥ १० ॥

राम रसायन प्रेम रस, अमृत शब्द अपार ।
गाहक बिना न नीकसै, मानिक कनक कुठार ॥११॥

सब रसोंका ज़खीरा राम हैं और प्रेम यही रस है अखण्ड स्वरूप बोधक शब्दरूप अमृत है। नरदेहरूप स्वर्णके भण्डारमें मानिककी तरह भरे हैं परन्तु ग्राहक (जिज्ञासु) बिना नहीं निकलता ॥ ११ ॥

तन संदूक मन रतन है, चुपकी दे हट ताल ।
गाहक बिन नहिं खोलिये, पूँजी शब्द रसाल ॥१२॥

शरीररूप सन्दूकमें मनरूप रत्नको मौनरूप मज़बूत ताला लगा दो। ग्राहक (जिज्ञासु) बिना मधुर शब्दरूप पूँजीको हर्गिज़ न खोलो ॥ १२ ॥

जो जैसा उनमान का, तैसा तासों बोल ।
पोता को गाहक नहीं, हीरा गाँठि न खोल ॥१३॥

जो जैसा प्रमाणमें हो उसके साथ वैसही बोलो। जहाँ काचका ग्राहक नहीं है तो वहाँ हीराकी गाँठ मत खोलो। बेकदरी होगी॥

जब गुन को गाहक मिलै, तब गुन लाख बिकाय।
जब गुन को गाहक नहीं, कौड़ी बदले जाय ॥१४॥

जब गुण ग्राहक मिलेंगे तब लाखोंमें बिक जायँगे। और नहीं तो ग्राहक बिना गुण कौड़ी बदले जाते हैं ॥ १४ ॥

एकही बार परखिये, ना वा बारम्बार।
बालू तौहू किरकिरी, जो छानै सौ बार ॥१५॥

वस्तुकी परीक्षा एकही बारमें हो जाती है बारम्बारकी जरूरत नहीं है। चाहे बालूको सैकड़ों बार छान देखो किर-किराहट नहीं जायँगी ॥ १५ ॥

ज्ञानी जन हैं जौहरी, करमी सकल मजूर।
देह भार का टोकरा, लिये सीस भरपूर ॥१६॥

ज्ञानी पुरुष जौहरी हैं और सकाम कर्मी सब मज़दूर हैं जो शरीररूपी टोकरामें त्रिविधि ईषणारूप भार भरके शिर पर लिये फिरते हैं ॥ १६ ॥

कबीर जग के जौंहरी, घट की आँखी खोल।
तुला सम्हारि विवेक की, तोलै शब्द अमोल ॥१७॥

ऐ कबीर! जगत्के जौहरी (पारखी सन्त) भीतरकी दृष्टि फैलाके,विवेकरूपी तुला पर अमूल्य शब्दको तौलते हैं ॥ १७ ॥

गाहक मिले तो कुछ कहूँ, ना तर झगड़ा होय।
अन्धों आगे रोइये, अपना दीदा खोय ॥१८॥

ग्राहक (जिज्ञासु) मिले तो कुछ भी कहूँ नहीं तो व्यर्थकी तकरार होती है। क्योंकि अन्धों आगे रोना अपना नैन खोना है ॥ १८ ॥

जो हंसा मोती चुगै, काँकर क्यों पतियाय।
काँकर माथा ना नवै, मोती मिले तो खाय ॥१९॥

जो हंस एक बार भी मोतीको चाख लिया है वह कँकर पर क्यों विश्वास करने लगा ? कदापि नहीं। मोती बिना कँकड़ पर शिर भी नहीं झुकायगा ॥ १६ ॥

मोती है बिन सीप का, जगर मगर उजियार।
कहैं कबिर जब पावई, भोजन मिले हमार ॥२०॥

वह आत्म ज्योति रूप मोती बिना सीपका है जिसके प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि वही भोजन मिले तो हमारे हँस ग्रहण करते हैं। अन्य नहीं ॥

हंसा देश सुदेश का, पड़े कुदेसा आय।
जाका चारा मोतिया, घोंघे क्यों पतियाय ॥२१॥

हँस सुन्दर देश मानसरोवरके निवासी जिसका भोजन मोती है वह किसी अभाग्य वश कुदेशमें आ पड़ा है। तौ भी वह गड़हीके घोंघे पर कैसे विश्वास कर सकता ? हर्गिज़ नहीं।

हंसा बगुला एक सा, मान सरोवर माँहि।
बगा ढिंढोरै माछरी, हंसा मोती खाँहि ॥२२॥

यद्यपि संसार मानसरमें हंस (साधु) और बगुला (असाधु) एकही रूप दीखता है। तथापि वहाँ भोजनसे पहिचान हो जाती। बगुला मछली टटोलता है और हंस मोती चुगता है।

गावनिया के मुख बसूँ, स्रोता के मैं कान।
ज्ञानी के हिरदै बसूँ, भेदी का निज प्रान ॥२३॥

मैं वक्ताके मुखमें और श्रोताके कानमें तथा ज्ञानी पुरुषके हृदयमें, एवं भेदी नरको जानमें रहता हूँ ॥ २३ ॥

किरतनिया से कोस विस, संन्यासी सों तीस।
विरही के हिरदै बसूँ, वैरागी के सीस ॥२४॥

केवल कीर्त्तन करनेवालोंसे वीस कोश और मुड़िया मात्र सन्यासीसे तीस कोश दूर रहता हूँ। और ज्ञान विरहीके हृदयमें तथा विरागीके शीश पर बसता हूँ ॥ २४ ॥

जो कछु है तो कुछ कहूँ, कहौं तो झगड़ा सोइ।
दो अन्धों का नाचना, कहिये काको मोइ ॥२५॥

जो कहने योग्य वस्तु होय तो कुछ कहा जाय। और यदि किसी तरह कुछ इशारा भी किया जाय तो अनधिकारियोंसे व्यर्थकी तकरार होती है। यह दो अन्धोंका नृत्य है कहो कौन किस पर मोहे ? ॥ २५ ॥

उत्तर दच्छिन पूरब पच्छिम, चारौं दिसा प्रमान।
उत्तम देस कबीर का, अमरापुर अस्थान ॥२६॥

"पूरब दिशा हरिको बासा। पश्चिम अल्लह मुकामा" इत्यादि बीजक। अपने मतके अनुसार उत्तरादि चारों दिशाको प्रमाणित किये हैं। परन्तु कबीरका वह अमरापुर उत्तम देश व स्थान है जहाँसे फिर आना नहीं होता है ॥ २६ ॥

हद्दी मारि हीरा लहा, नौ करोड़ को हीर।
जा मारग हीरा लहा, सो क्यों तजै कबीर ॥२७॥

नव द्वारे शरीरकी लालचको मारके जिस सत्संग मार्गसे आत्मरूप हीरा प्राप्त किया है ऐ कबीर! उस मार्गको क्यों छोड़ता है ॥ २७ ॥

संसै नहिं साधू मिलै, मिलि मिलि करै विचार।
बोला पीछै जानिये, जो जाको व्यवहार ॥२८॥

सन्तोंसे मिलकर परस्पर विचार करनेसे किसी प्रकारका संशय नहीं रह जाता। जो जिसका व्यवहार है वह बोलनेसे ज्ञात हो जाता है ॥ २८ ॥

पारख कीजै साधु की, साधुहि परखै कौन।
गगन मंडल में घर करै, अनहद राखै मौन ॥२६॥

साधुकी परीक्षा कीजिये कि साधु क्या परखते हैं। गगन गुफामें घरके अनाहत्‌को गुप्त रखते हैं ॥ २६ ॥

चन्दन गया विदेसरे, सब कोय कहै पलास।
ज्यौं ज्यौं चूल्है झोंकिया, त्यौंत्यौं अधिक सुवास॥३०॥

निज स्थान छोड़नेसे बेकदरी ज़रूर होती है परन्तु गुणसे फिर पूज्य हो जाता है। जैसे चन्दन विदेशमें गया सब लोग पलास मानके जलाने लगे किन्तु ज्यों ज्यों जलाया त्यों त्यों अधिक सुगन्धी देने लगा। परीक्षासे गुण प्रगट होता है। इसलिये सन्त परीक्षासे प्रसन्न रहते हैं ॥ ३० ॥

चन्दन रोया रात भरि, मेरा हितू न कोय।
जिसको राख्या पेट में, सो फिर वैरी होय ॥३१॥

चन्दन रात भर रोया कि मेरा कोई भी हित नहीं। जिस सुगन्धीको मैंने पेटमें रक्खी वही फिर शत्रु बन गई। जिसके मारे मैं काटा, छाटाँ और जलाया गया ॥ ३१ ॥

चन्दन काटा जड़ खनी, बाँधि लिया शिर भार।
कालि जो पंछी वासि गया, तिसका यह उपकार ॥३२॥

जड़ खोदकर चन्दनको काट लिया और शिरका बोझ बाँध लिया। यह उपकार उसी पत्तोका है जो फल यहाँ रह गया था ॥ ३२ ॥

पाँय पदारथ पेलिया, काँकर लीन्हा हाथ।
जोड़ी बिछुरी हंस की, चला बुगाँ के साथ ॥३३॥

हीरा स्वरूप पदार्थको तिरस्कार कर कंकररूप मायिक वस्तुको हाथ लिया। हंसको जोड़ी बिछुड़ गई अतः बगुलेके साथ हो लिया ॥ ३३ ॥

हंसा तो महा रान का, आया थलियाँ माँहि।
बगुला करि करि मारिया, मरन जु जानै नाँहि ॥३४॥

महारानका हंस किसी कारण वश भूमि पर आ गया। तो सबने बगुला समझ कर मारना शुरू किया, क्योंकि उसे कोई पहिचाना ही नहीं ॥ ३४ ॥

हंस बुगाँ के पाहना, कोइ एक दिन का फेर।
बगुला काहे गरबिया, बैठा पंख बिखेर ॥३५॥
बगुला हंस मनाय ले, नीराँ रुकाँ बहोर।
या बैठा तूँ ऊजला, तासों प्रीति न तोर ॥३६॥

समयके परिवर्त्तनसे हंसने किसी दिन बगुलाको प्राप्त हुआ। ऐ बगुला! तू क्यों पंख फैलाकर गर्विष्ट बना है। अरे! हंसको बार बार निराजना (आरति सत्कार) करके मना ले जिससे तू श्वेत बनके बैठा है उससे प्रीति मत तोड़। भावार्थः— नीच जिससे बड़ाई पाता है उसीको नाश करनेको तैयार होता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

एक अचंभो देखिया, हीरा हाट बिकाय।
परखनहारा बाहिरो, कौड़ी बदलें जाय ॥३७॥

मैंने एक आश्चर्य ऐसा देखा कि हीरा हाटमें विक रहा है! और परखने वाला ऐसा वेहुदा है कि कौड़ीके बदले ले दे रहा है ॥ ३७ ॥

पायो पर पायो नहीं, हीरा हड्डी मार।
कहैं कबिर यों ही गयो, परखै बिना गँवार ॥३८॥

हरिरूप हीराको पा करके भी मायाकी लालचमें पड़के गया वैठा। कबीर गुरु कहते हैं कि गमार परीक्षा विना योंही बरबाद हुआ व होता है ॥ ३८ ॥

कबिरा चुनता कन फिरै, हीरा पाया बाट।
ताको मरम न जानिया, ले खलि खाई हाट ॥३९॥

दाना बिनते हुये किसी अभागेको रास्तेमें हीरा हाथ लग गया। उसने उसका मर्म समझा नहीं तो बाज़ारमें उसके बदले खरी लेकर खाली भावः—नर जन्म विषयमें गमा दिया ॥ ३९ ॥

हीरा का कछु ना घटा, घटा जु बेचनहार।
जनम गँवायो आपनो, अन्धे पसू गँवार ॥४०॥

हीराका तो कुछ घटा नहीं, क्योंकि उसको कीमत तो पारखी फिर करही लेगा, घाटा हुआ बेचनेवालेका। ऐसे विवेकहीन अन्धे पशुवत् अपना नरजन्म व्यर्थमें गमाये व गमाते हैं ॥ ४० ॥

हिरदे हीरा ऊपजै, नाभि कँवल के बीच।
जो कबहूँ हीरा लखै, कदै न आवै मीच ॥४१॥

हृदय व नाभि कमलके मध्यमें आत्मस्वरूप हीरा प्रत्यक्ष होता है। यदि उस हीराको सद्गुरु सत्संगसे कभी पहिचान ले तो फिर मौत कभी नहीं आसक्ती ॥ ४१ ॥

हीरा साहिब ज्ञान है, हिरदै भीतर देख।
बाहर भीतर भरि रहा, ऐसा आप अलेख ॥४२॥

हीरा साहिबका ज्ञान है, हृदयमें देख लो। यद्यपि बाहर भीतर भरपूर हैं तथापि विना भेदीके बहुत दूर है सबको प्रत्यक्ष नहीं होते ऐसे वो स्वयं गुप्त हैं ॥ ४२ ॥

बाद बकै दम जात है, सुरति निरति ले बोल।
नित प्रति हीरा शब्दका, गाहक आगे खोल ॥४३॥

व्यर्थके बाद विवादमें श्वास खाली हो जा रहा है। अतः वृत्तिको स्थिर कर बोलो। और ध्यान रक्खो, विना ग्राहक (जिज्ञासु) इस शब्दरूप हीराको कभी मत खोलो ॥ ४३ ॥

मान उनमान न तोलिये, शब्द न मोल न तोल।
मूरख लोग न जानसी, आपा खोयो बोल ॥४४॥

इस रत्नको कल्पित मापसे मत तोलो शब्दका मोल, तौल नहीं है मूर्ख लोग इसे नहीं जानते उनके आगे बोलकर क्यों अपनी इज्ज़त गमाते हो ? ॥ ४४ ॥

कबीर गुदरी बीखरी, सौदा गया विकाय।
खोटा बाँधा गाँठरी, खरा लिया नहिं जाय ॥४५॥

ऐ कबीर ! हाट लगी और सौदा भी विक गया। जिसकी गाँठमें खोटा दाम है उससे खरा सौदा नहीं लिया जाता। "खोटा दाम गाँठि लिये डोले, बड़ी २ वस्तु मोलावे। बोये बबूल द्राक्ष फल चाहै, सो फल कैसे क पावै" ॥ इति ॥ ४५ ॥

कबीर खाँड़हि छाँड़ि के, कांकर चुनिचुनि खाय।
रतन गँवाया रेत में, फिर पाछे पछिताय ॥४६॥

सत्संग बिना अज्ञानी लोग आत्मस्वरूप खाँड़को छोड़कर अनात्म रूप कंकर चुन २ कर खा रहे हैं। और ज्ञान रूप रत्न को विषय रेतमें गमाके पीछे पछुता भी रहे हैं ॥ ४६ ॥

कबीर ये जग आँधरा, जैसी अंधी गाय।
बछरा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाय ॥४७॥

हित अहित ज्ञान शून्य जगजीव सब ऐसे अन्धे हैं जैसे गाय। उसको बछड़ा तो मर गया अब भूस भरी खालको चाट कर खड़ी हो दूध दिया करती है ॥ ४७ ॥

पप्पा सों परिचै नहीं, दद्दा रहिगा दूर।
लल्ला लौ लागी रहे, नन्ना सदा हजूर ॥४८॥

पप्पा पुरुष सद्गुरुसे परिचय किया नहीं अतः उनके दद्दा-ज्ञान दानसे दूर रह गया। और लल्ला-मायिक लालचमें लौ लगी रही वह भी सदा हजूर नन्ना-नहीं रहो ॥ ४८ ॥

पैड़े मोती बीखरा, अंधा निकसा आय।
जोति बिना जगदीसकी, जगत उलाँड़ा जाय ॥४६॥

सन्तोंके मार्गमें ज्ञान रूप मोती बिखरा पड़ा है विवेक चक्षु हीन कोई अन्धा उस रास्ते आ निकला पर क्या करे? ऐसे प्रभुकी ज्योति बिना जगजीव उलटा जा रहा है ॥ ४६ ॥

सागर में मानिक बसै, चीन्हत नाहीं कोय।
या मानिक कूँ सो लखै, जाको गुरु गम होय ॥५०॥

नर शरीर रूप सागरमें चित्स्वरूप मानिकका निवास है

मैं जानूँ हरि दूर है, हरि है हिरदै माँहि।
आड़ी टाटी कपट की, तासे दीसत नाँहि ॥५५॥

सद्गुरु सत्संग विना हरिको मैं दूर जानता था परन्तु हरि तो निज हृदयमें ही है। कपटकी टट्टीसे आड़ होनेके कारण वह नहीं दीखता ॥ ५५ ॥

कोइ एक ज्ञानी पारखी, परखै खरा रु खोट।
कहैं कबिर तब बाँचही, रहै नाम की ओट ॥५६॥

कोई एक ज्ञानी सत्य और असत्यकी परीक्षा करने वाले होते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि वे तबही बचते हैं जब सद्गुरु नाम रामकी शरण लेते हैं ॥ ५६ ॥

वक्ता ज्ञानी जगत में, पंडित कवि अनंत।
सत्य पदारथ पारखी, बिरला कोई संत ॥५७॥

यों तो संसारमें शास्त्र, ग्रन्थके वक्ता, ज्ञानी, पण्डित और कवि असंख्य हैं। परन्तु सत्य वस्तुकी परीक्षा करने वाले कोई विरले सन्त हैं ॥ ५७ ॥

ज्ञान जीव को धर्म है, भर्म त्रास जो मेट।
साँच पंथ पावै परखि, जब तिहि सतगुरु भेट॥५८॥

जीव धर्मी और ज्ञान मात्र इसका धर्म है। जब भ्रम भय इसका मिट जाता है तब यह सच्चा मार्गकी परख पाता है परन्तु यह सब सद्गुरुके मिलने पर होते हैं, विना सद्गुरुके नहीं ॥ ५८ ॥

हीरा पड़ा जु गैल में, दुनियाँ जामें डोल।
जहँ हीरा का पारखी, तहँ हीरा का मोल ॥५९॥

हीरा (विवेकी सन्त) रास्ते (संसार) में पड़ा है अज्ञानी लोग परीक्षा विना पगसे कुचलकर इधरसे उधर डोला करते हैं। हीराकी कीमत तो वहाँ होती है जहाँ पारखी हैं ॥ ५६ ॥

अंधे औघट जात हैं, चारों लोचन नाँहि।
संत उपकारी ना मिला, छोड़े बस्ती माँहि ॥६०॥

बाहर, भीतरके चारों चक्षु रहित अन्धे सब कुघाटमें जा रहे हैं। उन्हें कोई उपकारी सन्त ही नहीं मिले जो बस्तीमें पहुँचा दें ॥ ६० ॥

गौ को अंधी मति कहो, गौ है स्याम सुफेत।
बछुआ था सो मरि गया, तऊ न छाड़े हेत ॥६१॥

गोको अन्धी मत कहो वह शुद्ध तमोगुण है। देखो, उसका बछड़ा मर गया तौ भी मोह नहीं छोड़ती। मोह तमोगुणका धर्म है ॥ ६१ ॥

रंक कनक चुनता फिरै, वस्तू आई हाथ।
ताका मरम न जानिया, ले देखाया हाट ॥६२॥

कंकड़ी बीनते हुए दरिद्रको कहींसे अमूल्य वस्तु हाथ लग गई। वह उसके गुणको न जानकर बाज़ारमें बेच खाया ॥६२॥

जबलग लाल समुद्र में, तबलगिलरुपोन ज़ाय।
निकसिलालबाहिरभया, महँगे मोल बिकाय ॥६३॥

जब तक संसार रूप समुद्रमें सन्त रूप रत्न पड़े हैं तब तक उनकी ठीक तौरसे पहिचान नहीं होती। जब वे पक्षपात बन्धनसे बाहर निकलते हैं तब बहु मूल्य मोतीकी कीमत बिकते हैं ॥ ६३ ॥

हीरा बनिजै जौहरी, ले ले माँड़ा हाट।
जबहि मिलेंगे पारखी, तब हीरों की साट ॥६४॥

हीरोंको जौहरी खरीदके बाज़ार लगाते हैं। परन्तु उसकी क़ीमत तबही होती है जब पारखी मिलते हैं ॥ ६४ ॥

लाखों में दीसै नहीं, कोटिन में जा देख।
कोटिन में कोइ एक है, जो जानै कोइ लेख ॥६५॥

पारखी पुरुष लाखोंमें तो हैं नहीं, करोड़ोंमें जाके देखो तो शायद कोई एक मिल जायँ जो इस लेखको जानते हों अर्थात् जो हृदयनिवासी हीराको परखते हों ॥ ६५ ॥

साधु परखिये शब्द में, रहनी तैसी भास।
नाना विधि के पुहुप हैं, फूलै तैसी बास ॥६६॥

अनेक प्रकारके वेप धारियोंमेंसे साधु पुरुष शब्द और रहस्यसे ऐसे परखे जाते हैं। जैसे नाना प्रकारके पुष्प हैं परन्तु फूलने पर उनकी वासनासे गुलाब, केवड़ादिकी परीक्षा हो जाती है ॥ ६६ ॥

इति श्री परम श्रद्धेय अनन्त श्री आचार्य रामविलास साहिब का शिष्य पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित पारखको अङ्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

—:०:—

अथ वेलीको अङ्ग ॥५०॥

आँगन वेलि अकास फल, अनव्याही का दूध।
ससा सिंग के धनुस को, खैंच बाँझ सुत सूध ॥१॥

मनुष्योंके अन्तःकरणरूप आँगनमें सद्गुरु सत्संगसे सुबुद्धि रूपी वेली तैयार होती है। जिसमें आकाशके समान निर्मल अनव्याही नाम आत्म स्वरूपका दूध ज्ञान, फल दर्शन मिलता है। कब मिलता है ? जब कि जिज्ञासु सिंगके नाम सन्तोष करके सद्गुरूका शसा सार शब्दमें धनुषको नाम ध्यान को खेंचे यानी लगावे तब बाँझ सुत सूध यानी अजन्मा व विशुद्ध चैतन्य स्वरूपका दर्शन होता है ॥ १ ॥

आँगन बेली अलख है, फल करता अभिलाख।
गगन मंडल में सोधि ले, सतगुरु बोलै साख ॥२॥

सद्गुरु साखी कह रहे हैं कि सद्गुरु सत्संगकी अभिलाषी बनके अन्तःकरणकी सुबुद्धिसे हृदय आकाशमें अलख पुरुषको शोधो और दर्शनरूप फल प्राप्त करो ॥ २ ॥

अनव्याही आकास है, सुषमनि सुरति विलोय।
अहनिसि तो तारी लगी, प्रेम दूध झरि होय ॥३॥

आकाशके सदृश अगाध व निर्मल अनव्याही आत्मस्वरूप है उसे सुषुम्णामें वृत्तिको स्थिर करके अखण्ड ध्यान लगाओ फिर प्रेमसे शुद्ध ज्ञानरूप दूधका झरना देख लो ॥ ३ ॥

छाया माया रहित है, सुच्छम है अनसूत।
आव गवन सों रहित है, सोइ बाँझ का पूत ॥४॥

"अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्यादि श्रुतिके अनुसार छाया, माया रहित और अति सूक्ष्म सर्वमें अनुस्यूत जो आत्म-स्वरूप है वही गमनागमन मुक्त वाँझका पूत है ॥ ४ ॥

ससा सिंघ के धनुस का, पाया शब्द विवेक ।
भय छूटा निरभय भया, सब घट देखा एक ॥५॥

शशा सिंहके धनुषका मतलब सन्तोष पूर्वक सद्गुरुके सार शब्दका विचार द्वारा जन्मादि भयसे निर्भय हो सब घटमें एकात्म स्वरूपका दर्शन ज्ञान प्राप्त होना है ॥ ५ ॥

सहज सुन्न में खर पड़ी, बन में लागी लाय ।
कबीर दाधा होय तब, आस पास मिटि जाय॥६॥

अन्तःकरण रूप बनमें ज्ञान विरहरूपी अग्निको लगतेही काम क्रोधादि रूप माया खर पड़ी यानी निवृत्त हो गई और वृत्ति सहज शून्य अर्थात् निरालम्ब स्वरूपमें लीन हो गई। ऐ कबीर ! अब कुछ आस पास होवे तो वह भी जल जाय पर है नहीं जले क्या ? ॥ ६ ॥

पारधिया बन लाइया, जला जु बन खंड घास ।
बीज जला बेली जली, नहिं ऊगन की आस ॥७॥

पारधिया रूप सद्गुरुने ज्ञान विरह रूप अग्नि जिज्ञासुके अन्तर्वनमें ऐसी लगाई कि घास सहित बीज बेली सब ही जल गई फिर ऊगनेकी आशा ही न रही ॥ ७ ॥

मूल जला बेली जली, हुआ बीज का नास ।
सुरति समानी शब्द में, नहिं ऊगन की आस ॥८॥

मूल सहित बेलीको जल जानेसे बीजकी उद्भवता नष्ट हो

गई। अतः मुमुक्षुकी वृत्ति गुरुज्ञानमें लीन हो गई। पुनर्जन्मकी आशा न रही ॥ ८ ॥

जो ऊगै तो ब्रह्म में, अन्त कहूँ नहिं जोय।
हरिरस सींची बेलड़ी, कधी न कड़वी होय ॥९॥

अब जो ऊगे भी तो सबल ब्रह्म में, अलग नहीं। गुरुज्ञान से पोषित बुद्धि रूप बेलड़ी कभी न कड़वी हुई न होती है अर्थात् जन्मादिका हेतु न हुई न हो सकती है ॥ ९ ॥

जो मन में तो ब्रह्म में, अनत न कहूँ समाय।
हरिरस सींची बेलड़ी, कदै न निस्फल जाय ॥१०॥

जो कहीं बीज वासना होय भी तो ब्रह्मके अहंकारोके मनमें और कहीं नहीं। सद्गुरु ज्ञान रससे पुष्ट सुबुद्धि रूपी बेलड़ी कधी भी मुक्ति फलसे निष्फल नहीं होती ॥ १० ॥

सिद्ध सहज ही खिर पड़ी, अगन जु लागी माँहि।
सिद्धि बेलि दोऊ जरी, अब फिर ऊगै नाँहि ॥११॥

सद्गुरु की ज्ञानाग्नि के लगतेही जिज्ञासु ऐसे सिद्ध हो जाते हैं कि उनकी सिद्धि नाम भोग वासना तथा वपुरूपी बेली दोनों सहजही खिर पड़ी और जल गई। फिर जन्मने की आशाही न रही ॥ ११ ॥

बिना बीज का वृक्ष है, बिन धरती अंकूर।
बिन पानी का रंग है, तहाँ जीव का मूर ॥१२॥

अब हंस जीव उस अमर ज्ञानरूप वृक्ष पर मुक़ाम किया जो विना बीज और विना धरतीके अंकुरका है। तथा विना जल मायाके उसका रंग है ॥ १२ ॥

इति श्री वेलीको अङ्ग ॥ ५० ॥

—❦—

अथ कथनीको अङ्ग ॥५१॥
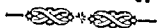
कथनी कथै तो क्या हुआ, करनी ना ठहराय।
कलाबून का कोट ज्यौं, देखत ही ढहि जाय ॥१॥

जो करनीमें स्थित नहीं है तो केवल कथनी मात्रसे कुछ नहीं हो सकता। देखतही उसका ऐसा अधःपतन होगा जैसे कालबूत (कागज़) के कोटका ॥ १ ॥

कथनी काची है गई, करनी करी न सार।
स्रोता वक्ता मरि गया, मूरख अनँत अपार ॥२॥

उसकी कथनी कच्ची होगई जिसने कर्त्तव्यको नहीं साधा। ऐसे मूढ़ श्रोता, वक्ता असंख्यों मर गये और मर जायँगे ॥ २ ॥

कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी विष की लोय।
कथनी से करनी करै, विष से अमृत होय ॥३॥

केवल कथनी खाँड़ सो मीठो लगती है परन्तु करनी तो विष का गोला है जो कहीं कथनी के अनुसार करनो करै तो वह विषसे अमृत हो जाता है ॥ ३ ॥

कथनी बदनी छाँड़ दे, करनी सों चित लाय।
नरको जल प्याये विना, कबहूँ प्यास न जाय ॥४॥

केवल कथनीको छोड़कर करनीमें चित्त लगाओ। क्योंकि जबतक प्यासे मनुष्यको जल नहीं पिलाओगे तब तक जल जल कहनेसे उसकी प्यास कदापि नहीं जा सकती ॥ ४ ॥

कथनी कथि फूला फिरै, मेरे हियै उचार ।
भाव भक्ति समझै नहीं, अंधा मूढ गँवार ॥५॥

बहुतेरे वाक्योंकी रचनामें फूले फिरते हैं; कहते हैं कि मेरे हृदयसे सुन्दर उच्चारण होता है । ऐसे मूढ़, गँवार भाव भक्ति नहीं समझते विवेक नेत्र रहित अन्धे हैं ॥ ५ ॥

कथनी थोथी जगत में, करनी उत्तम सार ।
कहैं कबिर करनी भली, उतरै भौजल पार ॥६॥

संसारमें केवल कथनी निःसार है सार उत्तम करनी हैं । कबीर गुरु कहते हैं कि उत्तम करनीसे लोग संसार सिन्धुको तर गये व तर जाते हैं ॥ ६ ॥

कथनी कूँ धीजूँ नहीं, करनी मेरा जीव ।
कथनि करनी दोउ थकी, महल पधारे पीव ॥७॥

मैं केवल कथनीको विश्वास नहीं करता और कर्त्तव्य मेरे प्राणकी स्थिति है । कथनी और करनी दोनोंकी समाप्ती तब हो जाती है जब स्वामी अमरधामको पधार जाते हैं ॥ ७ ॥

कथनी के सूरे घने, थोथे बाँधे तीर ।
बिरह बान जिनके लगा, तिनके विकल सरीर ॥८॥

कथन मात्रका शूर निःसार वाणिरूप बाण बाँधे बहुतेरे हैं । किन्तु जिनको ज्ञान विरह बाण लगे हैं तिनके शरीर तो विकल हैं ॥८॥

कथते हैं करते नहीं, मुँह के बड़े लबार ।
मुँह काला तो होयगा, साहिब के दरबार ॥९॥
कथते हैं करते सही, साँच सरोतर सोय ।
साहिब के दरबार में, आठ पहर सुख होय ॥१०॥

जो कहके करते नहीं हैं ये मुँहके बड़े लफन्दर हैं। सद्गुरु साहेबके दरबारमें उनका मुँह स्याह हो जायगा। और जो कथनके अनुसार करते भी हैं वे सीधे सच्चे हैं। वे साहिबके दरबारमें आठों पहर सुखी हुए व होंगे ॥ ६ ॥ १० ॥

कूकस कूटै कन बिना, बिन करनी का ज्ञान।
ज्यों बंदुक गोली बिना, भड़क न मारै आन ॥११॥

करनी विना ज्ञान कथन मानो विना कनके तुस कूटना है। वह ऐसे निःसार है जैसे बिना गोलीका बन्दुक। गोली विना बन्दुक भड़का नहीं मारता ॥ ११ ॥

आप राखि परमोधिये, सुनै ज्ञान अकराथि।
तुस कूटै कन बाहिरी, कछू न आवै हाथि ॥१२॥

अपने आपको रखके अर्थात् स्वयं ज्ञान निष्ठ होके उपदेश कीजिये श्रोता बहुत ज्ञान सुनेंगे। और केवल कथन तो बिना दानाका चोकर कूटना है। जिससे कुछ हाथ नहीं आता ॥१२॥

पद जोरै साखी कहै, साधन पड़ि गइ रोस।
काढ़ा जल पीवै नहीं, काढ़ि पीवनकी हौंस ॥१३॥

जो खुद पद जोड़ता और साखी बना २ कहा करता है वह अवश्य साधनसे सूखा रह जाता है। क्योंकि सन्तोंका निर्मल ज्ञान कुँयेसे निकाले हुये जलके सदृश है उसे वह अभागा नहीं पीता खुद निकालकर पीनेकी महत्त्व आकांक्षा रखता है ॥१३॥

साखी लाय बनाय के, इत उत अच्छर काटि।
कहैं कबिर कबलगिजिये, जूठी पत्तर चांटि ॥१४॥

जो इधर उधरसे अक्षर, वाक्योंको काट कपटकर साखी,

शब्द बना लेना है। कबीर गुरु कहते हैं कि यह जूठी पत्तल चाटकर कब तक जीवेगा ? ॥ १४ ॥

पढ़ि पढ़ि के समुझावई, मन नहि धारै धीर।
रोटी का संसै पड़ा, यौं कहै दास कबीर ॥१५॥

जो पढ़ गुणके दूसरोंको समझाते हैं और स्वयं मनमें धैर्य, सन्तोष नहीं रखते तो जिन्हें स्वतः उदर पोषणकी चिन्ता लगी है वे क्या ज्ञान करेंगे ? ॥ १५ ॥

पानी मिलै न आप को, औरन बकसत छीर।
आपनमन निह्चलनहीं, और बँधावत धीर ॥१६॥
चतुराई चूल्हे पड़ै, ज्ञान कथै हुलसाय।
भाव भक्ति जानै बिना, ज्ञान पनो चलि जाय ॥१७॥

अपनेको जलकी मुसीबत है और दूसरेको दूधकी दूआ देते हैं। इसी प्रकार अपना मन तो वश नहीं और दूसरेको बड़े २ लम्बे ज्ञान कथके धीरज बँधाते हैं। ऐसी चतुराई चूल्हे पड़ो जो भाव, भक्ति ज्ञान बिना कथन मात्र है, क्योंकि यह ज्ञान भी नहीं ठहरता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
कथनीको अङ्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

अथ करनीको अङ्ग ॥ ५२ ॥
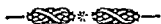
कबीर करनी आपनी, कबहुँ न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा पड़े, मिलै अगाऊ आय ॥१॥

ऐ कबीर ! अपना शुभाशुभ कर्त्तव्य जन्य भोग निष्फल कभी नहीं जाता। सप्त सागरकी ओट क्यों न हो वह आगेही आके मिलता है ॥ १ ॥

कबीर करनी क्या करै, जो गुरु नहीं सहाय।
जिहिजिहि डारीपगुधरै, सों सों निवनिव जाय ॥२॥

ऐ कबीर ! सद्गुरुकी सहायता विना केवल करनीसे कुछ नहीं हो सकता गुरुकी कृपा विना जिस २ डालीपर पग धरता है वह सब झुक जाती है ॥ २ ॥

करनी विन कथनी कथै, गुरु पद लहै न सोय।
बातों के पकवान से, धीरा नाहीं कोय ॥३॥

गुरु भक्ति करनी विना केवल कथनीसे गुरु पदकी प्राप्ति किसीको ऐसे नहीं होती। जैसे पकवानकी वार्त्ता मात्रसे कोई तृप्त नहीं होता ॥ ३ ॥

करनी विन कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात।
कूकर सम भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात ॥४॥

विना करनीके अज्ञानी लोग रात दिन सुनी सुनाई बात को ऐसे कथन किया करते हैं. जैसे कूकरको देख कूकर भूँकता फिरता है ॥ ४ ॥

करनी का रजमा नहीं, कथनी कथै अपार।
इन बातन क्यों पाइये, साहिब का दीदार ॥५॥

शुभ करनी तो रज मात्र भी नहीं है और कथनी अगाध कथते हैं। तो कहो भला इन बातोंसे मालिकका दर्शन कैसे प्राप्त होये? ॥ ५ ॥

करनी का रजमा नहीं, कथनी मेरु समान।
कथता बकता मरि गया, मूरख मूढ़ अजान॥६॥

सद्गुरु विषयक श्रद्धा भक्तिरूप करनी तो किञ्चित् मात्र नहीं और कथनी मेरु पर्वतके समान कथते बकते हैं तो ऐसे स्वरूप ज्ञान शून्य मूर्ख बहुतेरे मर गये ॥ ६ ॥

करनी करनी सब कहै, करनी माँहि विवेक।
वा करनी बहि जान दे, जो नहिं परखै एक ॥७॥

करनी करनी सब कहते हैं परन्तु उसमें भी विवेक है। उस करनीको बहि जाने दो जिससे एक अखण्डात्म स्वरूपका ज्ञान नहीं होता ॥ ७ ॥

करनी गर्व निवारनी, मुक्ति स्वारथी सोय।
कथनी तजि करनी करै, तब मुक्ताहल होय ॥८॥

मुक्तिरूप स्वार्थ सिद्धिके लिये कर्त्तव्य करो पर उसके अहंकारको त्याग दो जब ऐसे कथन व अहंकारको त्यागपूर्वक कर्त्तव्य होता है तब ही मुक्ति होती है ॥ ८ ॥

जैसी मुख ते नीकसै, तैसी चाले नाँहि।
मनुष नहीं वे स्वान गति, बाँधे जमपुर जाँहि ॥९॥

जैसे मुखसे कहते हैं वैसे जो स्वयं नहीं चलते हैं तो वे मनुष्य नहीं हैं किन्तु कुत्ते हैं उसीकी तरह बाँधे यमपुर जायँगे।

जैसी मुख ते नीकसै, तैसी चाले चाल।
साहब संग लागा रहै, पल में करै निहाल ॥१०॥

जो कथनके अनुसार चलते हैं और सद्गुरुके संगमें लगे रहते हैं उनको साहिब पल भरमें सुखी कर देते हैं ॥ १० ॥

चोर चोराई तूँबरी, गाड़ै पानी माँहि।
वह गाड़ै तौ ऊछलै, करनी छानी नाँहि ॥११॥

जैसे चोरने तुम्बरी चोरा लाई और उसने उसे जलमें गाड़ना चाहता है। परन्तु तुम्बरी ऊपर उछल आती है ऐसे शुभाशुभ करनी छिपानेसे छीपी नहीं रहती ॥ ११ ॥

जैसी करनी जासु की, तैसी भुगतै सोय।
बिन सतगुरुकी भक्तिके, जनम जनम दुख होय ॥१२॥

जैसा जिसका कर्त्तव्य है वैसे उसे भुगतने पड़ते हैं। सद्गुरुको भक्ति विना प्राणी वार वार जन्म लेके दुःखी होता है ॥ १२ ॥

बानी तो पानी भरै, चारों वेद मजूर।
करनी तो गारा करै, रहनी का घर दूर ॥१३॥

रहनीका घर (स्वरूपात्मकी स्थिति) वहुत दूर है। वहाँ तक वाणी वेद और करनीको पहुँच नहीं है। यथाः—'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि श्रुतिः ॥ १३ ॥

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस।
कहैं कबिर बैठा रहै, ता सिर करड़े कोस ॥१४॥

महापुरुषोंसे निर्दिष्ट विशुद्ध मार्ग पर चलते हुये जो किसी कारणसे गिर भी जाये तो उनका कोई दोष नहीं। कबीर गुरु कहते हैं कि दोष तो उसका है जो जान बूझकर बैठा है। उसके शिर पर तो कठिन कोश सब पड़ेही हैं ॥ १४ ॥

स्रोता तो घरही नहीं, वक्ता बकै सो वाद।
स्रोता वक्ता एक घर, तब कथनी का स्वाद ॥१५॥

जहाँ श्रोता अपने लक्ष्य पर नहीं हैं वहाँ वक्ताका कथन व्यर्थ है। जब श्रोता और वक्ताका एक लक्ष्य होता है तब कथनमें रस पड़ता है ॥ १५ ॥

कथते बकते पचि मुये, मूरख कोटि हजार।
कथनी काची पड़ि गई, रहनि रहै सो सार ॥१६॥

यों तो कहते कहाते करोड़ों मूर्ख मर गये। और उनकी कथनी भी रहनी बिन कच्ची पड़ गई। जो रहनी पर ठहरता है वही प्रयोजन सिद्ध करता है ॥ १६ ॥

कुल करनी छूटै नहीं, ज्ञानहि कथै अगाध।
कहैं कबिर वा दास को, मुख देखै अपराध ॥१७॥

जो परम्परा कुल करनीको नहीं छोड़कर उच्च स्थितिको ज्ञान केवल कथन ही करता है। कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसोंका मुख देखना भी पाप है ॥ १७ ॥

रहनी के मैदान में, कथनी आवै जाय।
कथनी पीसै पीसना, रहनी अमल कमाय ॥१८॥

जहाँ रहस्यका अखाड़ा है वहाँ केवल कथन व्यर्थ है। बका बकते रह जाते और रहस्य वाले प्रयोजन सिद्धकर लेते हैं ॥१८॥

जैसी करनी आपनी, तैसी ही फल लेय।
क्रूरे करम कमाय के, साँई दोष न देय ॥१९॥

अपने कर्त्तव्यके अनुसार ही फल मिलता है। हिंसादि क्रूर कर्म करके स्वामीका दोष देना व्यर्थ है ॥ १९ ॥

राम झरूखे बैठि के, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसी तिनको देय ॥२०॥

कर्मोंका साक्षी रमैया राम स्वयं डेउढ़ी पर बैठिके सबका मुजरा लेता और नोकरोंके मुताबिक मजदूरी देता है ॥ २० ॥

साहेब के दरबार में, क्यों करि पावै दाद।
पहिले बुरा कमाय के, बाद करै फरियाद ॥२१॥

जो पहिले गुनाह करके पीछे साहिबके दरबारमें अर्जी पेश करता है वह लाभका इन्साफ कैसे पायगा? हर्गिज़ नहीं ॥२१॥

दाता नदिया एक सम, सब काहू को देत।
हाथकुंभजिसका जिसा, तैसाही भरि लेत ॥२२॥

दाता और नदी एक समान हैं; सबको देते हैं। जैसा जिसका पात्र है वैसा वह भर लेता है ॥ २२ ॥

कबीर हमने घर किया, गलकट्टों के पास।
करेगा सोइ पायगा, तुम क्यूँ भये उदास ॥२३॥

ऐ कबीर! हमने तो गलकट्टोंके पास घर किया है। जो जैसा करेगा वो वैसा पायगा तू क्यों उदास होता है? ॥ २३ ॥

---

१ मुजरा —प्रणाम, नमस्कार। "मुजरा" वेश्या के गाना को भी कहते हैं। यहाँ पर हिसाब या निरीक्षण से मतलब है।

एक हमारी सीख सुन, जो तूँ हूआ सीष।
करूँ करूँ तो क्या करै, कीया है सो दीख ॥२४॥

यदि तू हमारा शिष्य हुआ है तो एक शिक्षा भी सुन ले। "यह करूँ, वह करूँ" यह तू क्या करता है? जो कुछ किया है उसीको भली भाँति देख ॥ २४ ॥

जब तू आया जगत में, लोग हँसे तूँ रोय।
ऐसी करनी ना करो, पीछे हँसे सब कोय ॥२५॥

जब तू जगत्में जन्म लिया, लोग खुशी मनाने लगे और तू रोने लगा। फिर ऐसी करनी मतकर कि पीछे सब कोई हँसे और तू रोया करे ॥ २५ ॥

जैसी कथनी मैं कथी, तैसी कथै न कोय।
करनी सें साहिब मिलै, कथनी झूठी होय ॥२६॥

जैसा मैंने कथन किया वैसा कोई नहीं। यह अभिमान छोड़ दे। करनी बिन कथनी व्यर्थ है, ध्यान रख साहिब करनीसे मिलते हैं ॥ २६ ॥

पसु की होती पनहिया, नरका कछू न होय।
नर उत्तम करनी करै, नर नारायण होय ॥२७॥

पशु-चामकी पनही भी होती है; नरका निरर्थक है। हाँ, नर उत्तम करनीसे नारायण हो सकता है ॥ २७ ॥

स्रमही ते सब कुछ बनै, बिनस्रम मिलै न काहि।
सीधी अँगुली घी जम्यो, कबहूँ निकसै नाँहि ॥२८॥

पुरुषार्थसे सब सिद्ध होते हैं, पुरुषार्थ बिना कुछ नहीं। देख लो, जमा हुआ घी सीधी अँगुलीसे कभी नहीं निकलता ॥२८॥

कैसा भी सामर्थ्य हो, बिन उद्यम दुख पाय।
निकटअसन बिनकरचले, कैसे मुख में जाय ॥२९॥

कोई कैसा भी समर्थ क्यों न हो, उद्योग बिना अवश्य दुःख पाता है। पासमें रखा हुआ भी भोजन बिना कर चलाय मुखमें कैसे आ सकता? हर्गिज़ नहीं ॥ २९ ॥

दाता के घर सम्पति, आठो पहर हजूर।
जैसे गारा राज को, भर भर देत मजूर ॥३०॥

दानीके घरको लक्ष्मी सम्पत्तिसे इसप्रकार सदा मालामाल किये रहती है, जिस प्रकार मज़दूर गारा, ईंटसे राज अर्थात् कारीगर को ॥ ३० ॥

स्रमहीं ते सब होत है, जो मन राखै धीर।
स्रम ते खोदत कूप ज्यूँ, थल में प्रगटै नीर ॥३१॥

धैर्य पूर्वक पुरुषार्थसे सब कुछ प्राप्त होते हैं। उद्योगीको देख लो परिश्रमसे कूप खोदकर पातालका जल थल पर ले आते हैं ॥ ३१ ॥

करनी करै सो पूत हमारा, कथनी कथै सो नाती।
रहनी रहै सो गुरू हमारा, हम रहनी के साथी ॥३२॥

कर्त्तव्य करने वाला हमारा पुत्र है, केवल कथन करने वाला नाती। और रहस्य धारण करने वाले गुरु है क्योंकि हम रहस्यके संगी हैं ॥ ३२ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित करनीको अङ्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

अथ लगनीको अङ्ग ॥५३॥

लौ लागी तब जानिये, छूटि न कबहूँ न जाय।
जीवत लौ लागी रहे, मूये तहाँ समाय ॥१॥

मालिकसे लगन ऐसी लगनी चाहिये कि जीवन पर्यन्त कभी छुटेही नहीं और शरीर पातानन्तर भी लौ उसीमें लीन हो जाये ॥ १ ॥

लौ लागी तो डर किसा, आप विसरजन देह।
अमृत पीवै आतमा, गुरु सों जुड़ै सनेह ॥२॥

लगन लगी फिर भय कैसा? वहाँ तो शरीरका अध्यासही स्वयं छूट जाता है। और सद्गुरुसे स्नेह होनेके कारण आत्मा अमृत पानकर अमर हो गई ॥ २ ॥

लौ लागी तब लौ लगूँ, कहूँ न आऊँ जाँव।
लै बूडूँ तो लै तरूँ, लै लै तेरा नाँव ॥३॥

जब लगन लगी तब उसीमें ऐसे लीन हो गया कि और कहीं आना जाना सब छुट गये। ऐ गुरु! तेराही नामको लगन लेकर बूड़ता और तरता हूं ॥ ३ ॥

जैसी लौ पहिले लगी, तैसी निबहै ओर।
अपने देह को को गिनै, तारै पुरुष करोर ॥४॥

जैसी लगन आदिमें लगी यदि अन्त तक निबह जाय तो अपने एक शरीरकी क्या कथा वह करोड़ोंको तार सकता है ॥४

लै पाऊँ तो लै रहूँ, लेन कहूँ नहिं जाँव।
लै बूड़े सो लै तिरै, लै वै तेरो नाँव ॥५॥

यदि गुरुकी लगन कहीं पा जाऊँ तो उसीमें रह जाऊँ और कहीं भी न जाऊँ। ऐ गुरु! तेरी लगनमें जो डूबा वह तेरे नाम लेकर तर भी गया व जाता है ॥ ५ ॥

जैसी लौ प्रथमहि लगी, तैसी ही रहि जाय।
जाके हिरदै लौ वसै, सो मोंहि माँहि समाय॥६॥

जिसके हृदयमें आदि, अन्त एक रस लगन निबहती है वह अवश्य मेरेको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

लागी लागी क्या करै, लागी बुरी बलाय।
लागी सोई जानिये, वार पार है जाय ॥७॥

लौ लागी लागी क्या करता है? अरे! लौ लागी बड़ी बुरी बला है। लागी उसीको जानो जो एक दम वार पार हो जाय॥

लागी लागी क्या करै, लागी नाहीं एक।
लागी सोई जानिये, पड़े कलेजे छेक ॥८॥

लगन लगी लगी ऐसा सब कहते हैं पर लगी एक भी नहीं। अरे! लगी तो उसीको कहते हैं, जो हृदय बिंध जाय ॥ ८ ॥

लागी लागी क्या करै, लागी सोइ सराह।
लागी तब ही जानिये, उठे कराह कराह ॥९॥

लगन लगी वही प्रशंसनीय है। जिसके लगनेसे कराह कर उठे और कराह कर बैठे ॥ ९ ॥

लगी लगन छूटै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय।
मीठा कहा अंगार में, जाहि चकोर चबाय ॥१०॥

लगन लगी कभी छूटती नहीं चाहे जीभ और चोंच क्यों न जल जाय। देखो, अग्नि कहाँ मीठी है? जिसे चकोर चबाता है ॥ १० ॥

सोऊँ तो सुपनै मिलूँ, जागूँ तो मन माँहि।
लोयन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाँहि ॥११॥

ऐ प्रभु! सोऊँ तो स्वप्नमें और जागूँ तो मनमें मिलते रहूँ। नेत्र रक्त वर्ण हो गया, तोभी तेरी सुधि कभी नहीं भूलती॥

और सुरति बिसरी सकल, लौ लागी रहै संग।
आव जाव कासों कहूँ, मन राता हरि रंग ॥१२॥

और ध्यान सब छूट गया एक तेरी लगन लगी है। मेरेसे किसीको आव, जाव यह भी नहीं कहा जाता। ऐ प्रभु! तेरे संग ऐसा मन लगा है ॥ १२ ॥

जब लग कथनी हम कथी, दूर रहा जगदीस।
लौ लागी कल ना पड़ै, अब बोलै न हदीस ॥१३॥

जब तक हम कथनीमें थे, तब तक मालिक बहुत दूर था। बस! ऐसी लगन लगी कि शान्ति नहीं मिलती अब हदीस (कुरान) बोलनेको होस नहीं ॥ १३ ॥

ग्रंथन माहीं अर्थ है, अर्थ माँहि है भूल।
लौ लागी निरभय भया, मिटि गया संसै सूल ॥१४॥

ग्रन्थोंमें अर्थ है, अर्थमें भूल होती है। प्रभुसे लगन लगी निर्भय हो गया और संशय जन्य पीड़ा भी जाती रही॥

गंग जमुन के बीच में, सहज सुन्न लौ घाट।
तहाँ कबीरा मठ रचा, मुनिजन जोवै बाट ॥१५॥

इंगला, पिंगलाके मध्य सहज शून्यमें लगनकी स्थिति है। वहीं कबीराने स्थान बनाया है। मुनिजन रास्ता देख रहे हैं ॥

जिहि वन सिंघ न संचरै, पंछी उड़ि ना जाय।
रैन दिवस की गम नहीं, तहँ कबिर लौ लाय ॥१६॥

जिस जंगलमें प्राकृत जीव रूप सिंहका संचार नहीं और वहाँ मन रूप पक्षी भी नहीं पहुँच सकता, और जहाँ सूर्य चन्द्र का प्रकाश नहीं वहाँ जिज्ञासुओंने लगन लगाई है ॥ १६ ॥

काया कमंडल भरि लिया, ऊजल निरमल नीर।
पीवत तृषा न भाजई, तिरषावंत कबीर ॥१७॥

प्रेमियोंने काया कमण्डलमें विशुद्ध प्रेम जल खूब भर लिया। प्यासे जिज्ञासु जन पीते जाते हैं फिर भी तृषा नहीं जाती ॥१७॥

सुरति ढीकुली लेज लौ, मन नित ढोलनहार।
कमल कूप में ब्रह्म जल, पीवै बारंबार ॥१८॥

सुरतिकी ढेंकलीसे लौकी लेजुर मन रूप डोलमें लगाके हृदय कमल निवासी ब्रह्मात्म रूप जलको निकालकर जिज्ञासु जन नितःप्रति बार २ पान किया करते हैं ॥ १८ ॥

मन उलटा दरिया मिला, लागा मलिमलिन्हान।
थाहत थाह न पावई, सो पूरा रहमान ॥१९॥

मन उलटकर ऊर्ध्व मुख सागरमें जा मिला और खूब मल२ कर नहाने लगा। जिसकी थाह लगाने पर भी थाह नहीं लगी वही पूरा रहमान है ॥ १९ ॥

सीख भई संसार सो, चला जु साँई पास।
अविनासी मोहि ले चला, पुरई मेरी आस ॥२०॥
इन्द्रलोक अचरज भयो, ब्रह्मा पड़ा विचार।
कबीर चाला राम पै, कौतिकहार अपार ॥२१॥

सद्गुरुकी शिक्षा लेकर संसारसे चल पड़ा स्वामीके पास जाकर विनय करने लगा ऐ अविनाशी! मुझे ले चल और मेरी आशाको पूर्णकर। यह देखकर इन्द्रलोकमें आश्चर्य हुआ और ब्रह्मा भी बड़े विचारमें पड़ गये। इसीप्रकार राम धाम जाते हुये कबीरको देखनेके लिये तमाशाइयोंके ठट्ठ लग गये ॥२०॥२१॥

अब तो मैं ऐसा भया, निरमोलिकानिजनाम।
पहिले काच कबीर था, फिरता ठामहि ठाम ॥२२॥

प्रथम मे काँच कथीरकी तरह इधर उधर मारा मारा फिरता था। और अब तो सद्गुरुकी शरणमें स्वस्वरूप ज्ञान प्राप्त होनेसे ऐसा अविचल अमूल्य हो गया कि आना ही जाना छूट गया ॥ २२ ॥

भौसागर जल विष भरा, मन नहि बाँधै धीर।
सबल सनेही हरि मिला, उतरा पार कबीर ॥२३॥

संसार सागरमें विषय रूप जल भरा है, मनमें धैर्य नहीं होता। परम स्नेही सद्गुरु समर्थ मिल गये तो उनके सहारे दास पार उतर गया ॥ २३ ॥

भला सुहेला ऊतरा, पूरा मेरा भाग।
रामनाम बाँका गहा, पानी पग नहि लाग ॥२४॥

मेरे पूर्ण सौभाग्यका सितारा चमक गया। उस छैल छबीलें

रामकी शरण ग्रहणसे पग पानीको स्पर्श भी नहीं किया और पार उतर गया ॥ २४ ॥

सुपना में साँई मिला, सोवत लिया जगाय।
आँखि न मीचौं डरपता, मति सुपना ह्वै जाय ॥२५॥

स्वप्नमें स्वामीका दर्शन हुआ वे सोतेसे जगा लिये। ऐसा न हो कि फिर स्वप्न हो जाय इस भयसे अब आँख भी नहीं मींचता अर्थात् बन्द करता हूँ ॥ २५ ॥

कबीर केसो की दया, संसै मेला खोय।
जोदिनगयाहरिभजनबिन, सो दिन सालै मोय ॥२६॥

बस! अब प्रभुकी दयासे संशय सब निवृत्त हो गये। परन्तु वे दिन अभी भी मुझे दुख देते हैं जो प्रभुके भजन बिना यों ही बीत गये ॥ २६ ॥

कबीर जाँचन जाय था, आगे मिला अजाँच।
आप सरीखा करलिया, भारी पाया साँच ॥२७॥

मैं याचक रूपमें जा ही रहा था कि आगे अयाचक मिल गये। बस! अपने समान बना लिये और वहीं अमूल्य पदार्थ सत्यको पा लिया ॥ २७ ॥

लौ लागी निरभयभया, भरम भगा सब दूर।
बन बनमें कहँ ढूँढ़ता, राम इहाँ भरपूर ॥२८॥

ऐसी लगन लगी कि एकदम निर्भय हो गया, सर्व भ्रम भी दूर हो गये। यद्यपि राम इहाँ ही घटमें परिपूर्ण है और मैं जंगलों जंगल ढूंढ़ता फिरता था ॥ २८ ॥

इति श्री लगनीको अङ्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

अथ निजकर्त्ताको अङ्ग ॥५४॥

अछै पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये, पात भया संसार ॥१॥

अक्षय पुरुष एक वृक्ष है, निरंजन उसके स्कन्ध और ब्रह्मादि त्रिदेव उसकी शाखायें तथा संसार सब पत्ते हैं भाव— पुरुष अमर है, प्रकृतिका आना जाना नाशमान है ॥ १ ॥

नादबिंदु ते अगम अगोचर, पाँच तत्त्व ते न्यार।
तीन गुनन ते भिन्न है, पुरुष अलेख अपार ॥२॥

अलेख और अपार जो पुरुष हैं वह शब्द और शरीरका अविषय है इसी प्रकार पाँच तत्त्व और तीन गुणसे भी रहित शरीर संघातमें साक्षी स्वरूप है ॥ २ ॥

तीन गुनन की भक्ति में, भूलि पड़ा संसार।
कहैं कबीर निज नाम बिन, कैसे उतरै पार ॥३॥

त्रिगुणकी सेवामें सारे संसार भूले पड़े हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि निज स्वरूपके ज्ञान बिना ये संसारके पार कैसे जा सकते? कदापि नहीं ॥ ३ ॥

हरा होय सूखै सही, यौं तिरगुन विस्तार।
प्रथमहिं ताको सुमिरिये, जाका सकल पसार ॥४॥

उत्पन्न और नाश होना त्रिगुणात्मक संसारका स्वभाव है। अतः प्रथम स्मरण उसीको करना चाहिये जिसकी सत्ता मात्रसे ये सम्पूर्ण विस्तृत हुये हैं ॥ ४ ॥

सब्द सुरति के अन्तरै, अलख पुरुष निरवान।
लखनेहारै लखि लिया, जाको है गुरु ज्ञान ॥५॥

शब्द और सुरतिके मध्यमें अलख पुरुष मुक्त है। जिन्हें सद्गुरुका ज्ञान मिला है ऐसे लखनेवाले लख लिये व लखते हैं।

राम कृस्न औतार है, इनकी नाहीं माँड।
जिन साहिब सृष्टि किया, किनहु न जाया राँड ॥६॥

राम, कृष्ण अवतारिक पुरुष हैं, ये रचनाके अन्दर हैं यह रचना इनकी नहीं है। जिस पुरुषकी सत्तासे सृष्टि होती है वह स्वयं अजन्मा है उसे किसी स्त्रीने पैदा नहीं किया ॥ ६ ॥

राम किस्न को जिन किया, सो तो करता न्यार।
अन्धा ज्ञान न बूझई, कहैं कबीर विचार ॥७॥

शरीरधारी राम, कृष्णको जिनने पैदा किये वे कर्त्ता और हैं। कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि अज्ञानी लोग अन्धे हैं, वास्तविक ज्ञान न स्वयं समझते न किसी ज्ञानीसे बूझते हैं ॥७॥

संपुट माँहि समाइया, सो साहिब नहिं होय।
सकल माँडमें रमि रहा, मेरा साहिब सोय ॥८॥

"साहिब सो जो आवे न जाय। सदा सनातन नहिं विनशाय" इति पंचग्रन्थी। जो माताके गर्भाशयमें प्रवेश करता है वह मालिक नहीं। मेरा मालिक वही है जो साक्षीरूपके सम्पूर्ण रचनामें रम रहा है। जल कमलकी नाईं "सबते दूर पूर सब-हीनमें ज्यों जल कमल विचारो। ऐसो सन्तनको बलिहारो।" ८

साहेब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहिब जो कहूँ, साहेब खरा रिसाय ॥९॥

मेरे सद्गुरु साहिब एक है, दूसरा नहीं कहा जाता। यदि दूसरा कहूँ तो सद्गुरु सच्चे कोप करेंगे ॥ ६ ॥

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पुहुप वास ते पातलो, ऐसा तत्त्व अनूप ॥१०॥
बूझो करता आपना, मानो बचन हमार।
पाँच तत्त्व के भीतरे, जाका यह संसार ॥११॥

जिसके मुख, मस्तक और रूप, रेखा नहीं है। और पुष्प गन्धसे भी अति सूक्ष्म हैं ऐसा परम तत्त्व उपमा रहित साहिब-का स्वरूप है। वही स्वरूप अपना कर्ता समझो और इस हमारे वचनको मान लो। पाँच तत्त्वके अन्दर जिसकी यह सृष्टि है ॥

निबल सबल जो जानिके, नाम धरा जगदीस।
कहैं कबिर जनमै मरै, ताहि धरूँ नहिं सीस ॥१२॥

मनुष्योंने जिसे दुर्बलसे सबल अर्थात् विशेष सामर्थ्य देखा बस! उसीको संसारका मालिक मान लिया। कबीर गुरु कहते हैं कि जो स्वयं जन्मादिके आधीन है वह सबका शिर मौर नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

जनम मरन से रहित है, मेरा साहिब सोय।
बलिहारी वहि पीव की, जिन सिरजा सब कोय ॥१३॥

जो जन्मादि बन्धनसे रहित है वह मेरा मालिक है। धन्य हैं वे स्वामी जो सत्ता मात्रसे सृष्टि करके सबसे पृथक् रहते हैं ॥

समुँद पाटि लंका गयो, सीता को भरतार।
ताहि अगस्त अचै गयो, इनमें को करतार ॥१४॥

जिस समुद्रको पाटके सीतापति रामजी लंकाको गये।

तिसे अगस्त ऋषि आचमन कर गये; कहो! इनमें कौन श्रेष्ठ हैं? ॥ १४ ॥

गिरिवर धार्यो कृस्नजी, द्रोना गिरि हनुमन्त ।
सेसनाग धरनी धरी, इनमें को भगवन्त ॥१५॥

गोवर्द्धन पर्वतको श्रीकृष्णजी और द्रोणाचलको हनुमानजी तथा सारे पर्वत सहित पृथ्वीको शेषनागजी धारण किये हुये हैं तो कहो इनमें बड़े भगवान् कौन? ॥ १५ ॥

अविगति पीसै पीसना, गौसा बिनै खुदाय ।
निरँजन तो रोटी करै, गैबी बैठा खाय ॥१६॥

अविगति-माया पीसना पीस रही है और खुदा कपड़े बिन रहे हैं तथा निरंजन ब्रह्म रोटी पका रहा है और गैबी पुरुष साक्षीरूपसे खा रहा है ॥ १६ ॥

तीन देवको सब कोइ ध्यावै, चौथे देवको मर्म न पावै।
चौथा छोड़ पंचम चित लावै, कहैं कबीर हमरे ढिग आवै।

ब्रह्मादि त्रिदेवका सब कोई ध्यान धरते हैं। अतः चौथे मनोमय देवके मर्म नहीं पाते हैं। कबीर गुरु कहते हैं चौथे मनका विस्तार छोड़कर जो पंचम आत्मस्वरूपमें वृत्ति लगावे वह अवश्य हमारे समीप आ जावे ॥ १७ ॥

जो ओंकार निश्चय किया, यह करता मति जान।
साचा सब्द कबीर का, परदे में पहिचान ॥१८॥

जो ॐकारको सृष्टिकर्ता करके निश्चय किया है, उसे कर्त्ता मत समझो। कबीरके सच्चे शब्दोंको विचारो और पंचकोशादिके पड़देमें कर्त्ताको पहिचानो ॥ १८ ॥

अलख अलख सब कोउ कहै, अलख लखै नहिं कोय।
अलख लखा जिन सब लखा, लखा अलख नहिं होय॥

सब अलख अलख कहते हैं परन्तु लखते कोई भी नहीं। सद्गुरु द्वारा जिसने अलखको लख लिया बस! उसका काम होगया, लखा अलख नहीं होता ॥ १९ ॥

कथत कथत जुग थाकिया, थाकी सबै खलक।
देखत नजरि न आइया, हरि को कहा अलख ॥२०॥

कहते कहते युगों बीत गये और सब लोग भी थक गये। जब दृष्टिमें नहीं आये तब हरिको अलख कह दिये ॥ २० ॥

तीन लोक सब राम जपत, जानि मुक्ति को धाम।
रामचन्द्र के वसिष्ठ गुरु, काह सुनायो नाम ॥२१॥

तीनों भुवनके लोग सब मुक्तिका स्वरूप समझकर दाशरथी रामके नामको जपते हैं। हम पूछते हैं कहो उनके गुरु वशिष्ठजी उन्हें कौनसा नाम सुनाये थे? ॥ २१ ॥

जग में चारों राम हैं, तीन राम व्यौहार।
चौथा राम निज सार है, ताका करो विचार ॥२२॥

संसारमें राम चार हैं, तिनमें तीनका व्यवहार है। और चौथा राम सबका तत्त्व स्वरूप है उसीका विचार करो ॥२२॥

एक राम दसरथ घर डोलै, एक राम घट घट में बोलै।
एक रामका सकल पसारा, एक राम तिरगुन ते न्यारा॥

एक राम दशरथके घरमें विचरते हैं। दूसरे घट २ में बोलते हैं तीसरेका सम्पूर्ण पसारा है और चौथा त्रिगुणसे न्यारा है ॥ २३ ॥

कौन राम दशरथ घर डोलै, कौन राम घट घटमें बोलै।
कौन रामका सकलपसारा, कौनराम तिरगुन ते न्यारा ॥
आकाररामदसरथघरडोलै, निराकार घट घटमें बोलै।
पिंड रामका सकल पसारा, निरालंब सबही ते न्यारा ॥

कहिये कौन राम दशरथके घरमें डोलते, व कौन घट २ में बोलते तथा कौनके सकल पसारे और कौन त्रिगुणसे न्यारे हैं? सुनिये! शरीरधारी दाशरथी राम दशरथके घरमें फिरते हैं। निराकार पवन रूपसे घट २ में बोलते हैं। पिन्ड रामका सम्पूर्ण विस्तार है और निराधार चैतन्यमात्र सबसे न्यारे हैं॥

जाकी थापी मांड है, ताकी करहू सेव।
जो थापा है मांड का, सो नहिं हमरा देव ॥२६॥

इस शरीर, संसारको रचना जिसकी सत्तासे स्थिर है उसीको शरण लो। और जो रचनाके अन्दर अस्ति, वृद्धि, अपक्षय आदिको प्राप्त हो रहा है वह हमारा ध्येय नहीं है॥२६॥

रहै निराला मांड ते, सकल मांड तिहि माँहि।
कबीर सेवै तासु को, दूजा सेवै नाँहि ॥२७॥

जल कमलकी नाईं जो सम्पूर्णमें रहते हुये भी उनसे पृथक हैं। उसी साक्षी स्वरूपकी सेवामें हमारी वृत्ति लगी है दूसरे की नहीं॥ २७॥

चार भुजाके भजन में, भूलि पड़े सब संत।
कबीर सुमिरै तासु को, जाके भुजा अनंत ॥२८॥

सद्गुरु सत्संग विना चार भुजाके भजनमें वेषधारी सब भूले पड़े हैं। सद्गुरु सत्संगी उनको स्मरण करते हैं जिनको अनन्त भुजायें हैं॥२८॥

काटे बंधन विपति में, कठिन किया संग्राम।
चीन्हो रे नर प्रानिया, गरुड़ बड़े की राम ॥२९॥

नाग फाँस बन्धन रूप विपत्ति कालमें गरुड़ने कठिन संग्राम कर रामचन्द्रको बन्धनसे विमुक्त किया। ऐ प्राणियों! विचार करो, राम या गरुड़ कौन बड़े हैं? ॥ २९ ॥

कहैं कबिर चित चेतहु, सब्द करो निरुवार।
रामहि करता कहत हैं, भूलि पर्यो संसार ॥३०॥

कबीर गुरु कहते हैं, सावधान हो, शब्दका निर्णय करो। बिना सत्संग संसारी लोग रामको मालिक मानके भूले पड़े हैं।

जाहि रोग उत्पन्न भया, औषधि देय जु ताहि।
वैद्य ब्रह्म बाहिर रहा, भीतर धसा जु नाहि ॥३१॥

ठीक, जिसे जो रोग उत्पन्न हुआ हो उसे वही औषधि देनी चाहिये। ब्रह्मज्ञानी वैद्य बाहर रह गये ब्रह्मज्ञान औषधि अन्दर प्रवेश हुई नहीं। फिर रोगी जन्मादि रोगसे निवृत्त होये तो कैसे? ॥ ३१ ॥

असुर रोग उतपति भया, औतार औषधि दीन्ह।
कहैं कबीर या साखिको, अरथ जु लीजो चीन्ह ॥३२॥
कबीर कारज भक्ति के, भुक्तिहि दीन्ह पठाय।
कहैं कबीर विचारि के, ब्रह्म न आवै जाय ॥३३॥

रावणादिको राक्षसी रोग उत्पन्न हुआ रामादि अवतार रूप औषधि दे दी। कबीर गुरु कहते हैं कि इस साखीका अर्थ यों समझ लो। संसारियोंके भोग निमित्त भक्ति भेजी है। ब्रह्मको तो आना जाना होता नहीं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

हम कर्ता सब सृष्टि के, हम पर दूसर नाँहि ।
कहैं कबिर हमही चीन्हे, नहि चौरासी माँहि ॥३४॥

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते" इस वचनके अनुसार कबीर गुरु कहते हैं कि जोवात्मा कर्म रूप सृष्टिका कर्त्ता है उसपर दूसरा कोई नहीं। जो उसे जान ले फिर वह कभी चोरासीमें न पड़े ॥ ३४ ॥

अनँत कोटि ब्रहमंड का, एक रत्ती नहि भार ।
साहब पुरुष कबीर है, कुलका सिरजनहार ॥३५॥

कर्त्तापनका अभिमान रहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका भार धारण करने पर भी रत्ती भर भार नहीं। ऐसा कुलका सर्जनहार वह समर्थवान् पुरुष है ॥ ३५ ॥

साहब सबका बाप है, बेटा किसीका नाहि ।
बेटा होकर ऊतरा, सो तो साहिब नाहि ॥३६॥

मालिक सबका पालक है, बालक किसीका नहीं। जो किसी का स्तन पायो बालक बनके आया है वह मालिक नहीं हो सकता है ॥ ३६ ॥

पिंड प्रान नहि तासु के, दम देही नहि सीन ।
नाद बिन्द आवै नहीं, पाँच पचीस न तीन ॥३७॥

उस मालिक को न पिण्ड है न प्राण, न स्वाँस है न देह, न सीना है। और न वह नाद बिन्दसे आता है इसीप्रकार न उसे पाँच तत्व व पचीस प्रकृति है न तीन गुण है ॥ ३७ ॥

राम राम तुम कहत हो, नहि सो अकथ सरूप ।
वह तो आये जगत में, भये दशरथ घर भूप ॥३८॥

जिस रामका नाम तुम कहते हो वह मालिक स्वरूप नहीं है। मालिकका स्वरूप तो अकथनीय है। वह राम तो राजा दशरथके घरमें अवतार लेकर संसारमें आये हैं ॥ ३८ ॥

रेख रूप बिनु वेद में, औ कुरान बेचून।
आपस में दोऊ लड़ै, जाना नहिं दोहून ॥३९॥

विना रेख रूपके वेदमें और बेचून बेनमूनके कुरानमें वर्णन करके परस्पर दोनों युद्ध करते हैं उसका भेद कोई नहीं जाने।

सहज सुन्न में साँइया, ताका वार न पार।
धरा सकल जग धरिरहा, आप रहा निरधार ॥४०॥

वार, पार रहित स्वभाविक निरालम्ब स्वामी हैं। सम्पूर्ण जगतको अपनी सत्ता मात्रसे धारण करके भी स्वयं निराधार स्थिर हैं ॥ ४० ॥

देखन सरिखी बात है, कहने सरखी नाँहि।
अद्भुत खेला पेखि के, समुझि रहो मनमाँहि॥४१॥

यह बात ज्ञान चक्षुसे देखने योग्य है, कहने योग्य नहीं। और वह आश्चर्य दृश्य देख समझ कर भी मन ही मन चुप चाप रहो ॥ ४१ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित निजकर्त्ताको अङ्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

अथ कसौटीको अङ्ग ॥५५॥

संत सरवस दे मिले, गुरू कसौटी खाय।
राम दोहाइ सत कहूँ, फेरि न उदर समाय ॥१॥

शमदमादि युक्त ज्ञान निष्ठ सन्त गुरुके चरणोंमें सर्वस्व समर्पण करके शिष्यत्व भाव स्वीकार करे और उनके समीप रहके उनकी शिक्षा रूपी कसनी भी सहन करे। तो रामकी सौगन्द, मैं सत्य कहता हूँ ऐसा जिज्ञासु पुनः गर्भमें नहीं आ सकता ॥ १ ॥

खरी कसौटी राम की, काचा टिकै न कोय।
राम कसौटी जे सहै, जीवत मिरतक होय ॥२॥

रामकी सच्ची कसौटी है उस पर कच्चा कोई नहीं टिक सकता। रामकी सच्ची कसनी तो वही सहन करता है जो जीते जी मर गया हो ॥ २ ॥

खरी कसौटी तोलताँ, निकसि गई सब खोट।
सतगुरु सेना सब हनी, सब्द बान की चोट ॥३॥

सच्ची कसनी पर कसनेसे झुठाई सब निकल गई। सद्गुरु ने शब्द बाणकी चोटसे अविद्या जन्य कामादि सर्व सेनाओंको परास्त कर दिया ॥ ३ ॥

हीरा पाया पारखी, घन महँ दीन्हा आन।
चोट सही फूटा नहीं, तब पाई पहिचान ॥४॥

किसीने हीरा पाया, जौहरीके पास ले आया। उसने घन पर चढ़ा दिया। चोट खा करके भी नहीं फूटा, बस! हीराकी सच्ची पारख हो गई ॥ ४ ॥

सोने रूपे धाह दइ, उत्तम हमरी जात।
बन ही में की घूँघची, तोली हमरे साथ ॥५॥
तोल बराबर घूँघची, मोल बराबर नाँहि।
मेरा तेरा पटतरा, दीजै आगी माँहि ॥६॥

सोना, चाँदीको लेकर सोनारने अग्निमें डालके तपाया, उनकी उत्तम जाति (प्रकार) निकली। सोना कहता है यह सब कुछ ठीक हुआ परन्तु एक यही हमारा भारी अपमान हुआ कि जंगली घूँघचीके साथ हमें तौला॥ क्योंकि घूँघची तौल बराबर ज़रूर है परन्तु मोल बराबर नहीं है? हमारी, तुम्हारी समानता तो तबही होगी जब अग्निमें छोड़ा जाय ॥ ५ ॥ ६ ॥

विपतिभलि हरिनाम लेत, काय कसौटी दूख।
नाम बिना किस कामकी, माया संपति सूख ॥७॥

जो विपत्ति कालमें भी प्रभुका नाम लेता है वही कायाकी कसनी सहने वाला सच्चा हरिभक्त है। और यों मालिकके नाम बिना माया, सम्पत्ति और सुख किस कामका? सब बेकाम है॥

काँच कथीर अधीर नर, ताहि न उपजै प्रेम।
कहैं कबिर कसनी सहै, कै हीरा कै हेम ॥८॥

काँच, कथीरके समान जो अधीर मनुष्य हैं तिन्हें सच्चा प्रेम नहीं होता, विपत्तिमें वे घबड़ा उठते हैं। कबीर गुरु कहते हैं, कि सच्ची कसोटी पर तो सच्चे हीरा और सोना हो ठहरते हैं और नहीं। ऐसे हमारे शब्द कसोटी पर जो ठहरते हैं वेही हमारे हंस हैं और सब बगुले हैं ॥ ८ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
कसौटीको अङ्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

अथ सूक्ष्म मार्गको अङ्ग ॥५६॥

कबीर मारग कठिन है, रिषि मुनि बैठे थाक।
तहाँ कबीरा चढ़ि गया, गा सतगुरु की साक॥१॥

ऐ कबीर! यह मार्ग बहुत बारीक है इस पर चलनेमें इतनी कठिनाइयाँ है कि ऋषि मुनि भी हार बैठे। वहाँ तो सद्गुरुका यश गान, स्मरण करनेवाले जिज्ञासुही चढ़ गये व चढ़ते हैं॥१॥

सुर नर थाके मुनिजना, तहाँ न कोई जाय।
मोटा भाग कबीर का, तहाँ रहा लौ लाय॥२॥

वहाँ कोई कैसे जा सके? जहाँ सुर नर मुनि सब थाके बैठे हैं। और सद्गुरु सत्संगियोंका भाग्य तो बड़ा ज़बरदस्त हैं कि तहाँही उनको लगन लग रही है॥ २॥

सुर नर थाके मुनिजना, थाके बिस्नु महेस।
तहाँ क़बीरा चढ़ि गया, सतगुरु के उपदेस॥३॥

जहाँ सुर नर मुनि और ब्रह्मा विष्णु महेश ये सब जिस मार्गमें थके हैं। उसमें सद्गुरु उपदेशके सहारे केवल सत्संगी ही पहुँचे व पहुँचते हैं॥ ३॥

अगमहुँ ते जो अगम है, अपरम पार अपार।
तहँ मन धीरज क्यौं धरै, पंथ खरा निरधार॥४॥

जहाँका अथाह और अगम्य वार पार रहित ऐसे निरालम्ब मार्ग है वहाँ विना सद्गुरुके सहारे कोई मनमें धीरज कैसे धरै॥

अगम पंथ मन थिर करै, बुद्धि करै परवेस।
तन मन धन सब छाँड़ि कै, तब पहुँचै वा देस॥५॥

जब उस अगम्य ज्ञान मार्गमें मनको स्थिर करके चढ़ाने और शुद्ध बुद्धिसे प्रवेश करके तन मन धनकी सब आशाओंको छोड़े तब उस देशको पहुँचे ॥ ५ ॥

अगम हता सो गम किया, सतगुरु दिया बताय।
कोटि कल्प का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥६॥

जब सद्गुरुने अगम्यको गम करनेकी युक्ति बतला दी तब करोड़ों कल्पके रास्तेको तय करके पल भरमें जा पहुँचा ॥ ६ ॥

अब हम चले अमरापुरी, टारै टूरै टाट।
आवन होय सो आइयो, सूली ऊपर बाट ॥७॥

अब हम सर्व प्रपंचरूप टाटको टार टूर (त्याग) के अमर धामको चले। जिसे आना होय वह इसी प्रकार इस सूक्ष्म (कठिन) मार्ग पर आ जावे ॥ ७ ॥

सूली ऊपर घर करै, विप का करै अहार।
ताको काल कहा करै, आठ पहर हुसियार ॥८॥

इस बारीक मार्ग पर वृत्ति स्थिति करके जो शमदमादि कठिन साधनरूप विषको अहार करे। तो इस प्रकार हरवक्त सावधान जिज्ञासुको काल क्या कर सकता? कुछ नहीं ॥ ८ ॥

गागर ऊपर गागरी, चोली ऊपर हार।
सूली ऊपर साथरा, जहाँ बुलावै यार ॥९॥

जहाँ वृत्तिरूपी माशूक़को आत्मारूप आशिक यार बुलावे हैं, वहाँ वृत्तिरूप माशूक़को स्थितिके लिये आत्मारूप आशिकका आसन, शमादि साधन युत कठिन ज्ञान मार्गरूपी शूली ऊपर है। माशूक़को इस प्रकार शृङ्गार करके वहाँ जाना चाहिये कि प्रथम तो पिण्डरूप गागरके ऊपर ब्रह्माण्डमें वृत्तिरूपी गागरीको

सजावट (स्थिर) करे फिर विशुद्ध हृदयरूपी चोलीको पहिर ले बादमें उसके ऊपर (हृदयमें) सात्त्विक विचाररूप हारको धारण करे तदनन्तर प्रीतमके पास चले ॥ ६ ॥

यार बुलावै भाव सौं, मो पै गया न जाय।
धनि मैलि पिव ऊजला, लागि न सकिहै पाय ॥१०॥

प्रभु बड़े भावसे बुलाते हैं, वृत्ति कहती है मेरेसे नहीं जाय जाती है। कारण कि मैं (धनि-वृत्ति) मैली हूँ और स्वामी शुद्ध हैं अतः मैं उनके चरणोंको स्पर्श नहीं कर सकती ॥ १० ॥

जिस कारन मैं जाय था, सो तो मिलिया आय।
साँई तो सनमुख खड़ा, लाग कबीरा पाय ॥११॥

जिस वास्ते मैं जाती थी, वह स्वामी स्वयं कृपा करके आ मिले। ऐ कबीर! स्वामी सम्मुख खड़े हैं, जा शीघ्र, चरणोंमें लिपट जा ॥ ११ ॥

जो आवै तो जाय नहिं, जाय तो कहँ समाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कैसे बूझी जाय ॥१२॥

आने पर तो जाती नहीं, जाने बाद फिर कहाँ स्थिति करें। इस अलौकिक प्रेमकी अकथ कहानीको कोई कैसे समझे १२॥

जो आवै तो जाय नहिं, जाय तो आवै नाँहि।
अकथ कहानी प्रेम की, समुझि लेहु मनमाँहि॥१३॥

जिसको लगन लगी है उसकी वृत्ति एक बार भी स्थिर हो आत्म स्वरूप स्वामीका आनन्द अनुभवकी है। फिर वह बाहर कभी नहीं जाती। और जो बाह्य वृत्ति हो गई है उसे वह आनन्द कभी आतही नहीं यही प्रेमकी अकथ कहानी है मनै मन समझ लो ॥ १३ ॥

क़ौन देस कहाँ आइया, जानै कोई नाँहि।
वह मारग पावै नहीं, भूलि परे जग माँहि ॥१४॥

कोन देशसे कहाँ आगये हैं? यही कोई नहीं जानता। सांसारिक सुखमें भूल गये, वह प्रेमीका मार्ग अब नहीं पाते।१४

नाँव न जानै गाँव का, बिन जानै कहँ जाँव।
चलता चलता जुग भया, पाव कोस पर गाँव ॥१५॥

आत्मतत्त्व गामका नाम जाने बिना कोई कहाँ जावे? यद्यपि पावकोश (माया) के परेही अति सन्निकट आत्मरूप अमरधाम है तथापि सद्गुरु भेदो बिना चलते चलते युगों बीत गये, नहीं पहुँचे ॥ १५ ॥

सतगुरु दीन दयाल है, दया करि मोहि आय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥१६॥

जब दयालु सद्गुरुने दया करी और आ मिले तब करोड़ों जन्मका मार्ग तय कर पल भरमें मुक़ाम पर पहुँचा दिये ॥१६॥

उत ते कोई न आइया, जासों बूझूँ धाय।
इत ते सब कोय जात हैं, भार लदाय लदाय ॥१७॥

संसारसे कर्मादि भार लिये हुये सब कोई जाते हैं। परन्तु उधरसे तो कोई आते दीखते नहीं जिनसे कुछ हाल समाचार पूछा जाय ॥ १७ ॥

उतते सतगुरु आइया, जाकी बुधि है धीर।
भौसागर के जीव को, खेइ लगावै तीर ॥१८॥

उधरसे गम्भीर बुद्धिवाले सद्गुरु आये और आते हैं। क्या करने? संसार सिन्धुसे संसारी लोगोंको तारनेके लिये।१८

सबको पूछत मैं फिरा, रहनि कहै नहिं कोय।
प्रीन न जोड़ै नाम सों, रहनि कहाँ से होय ॥१९॥

सबसे मैं पूछता फिरता हूँ परन्तु रहनी गहनी-कोई नहीं बतलाता? जो आत्म स्वरूप ज्ञानसे प्रेमही नहीं करता वह रहस्य कहाँसे पावे और कहे ॥ १९ ॥

चलन चलन सब कोय कहै, मोहि अंदेसा और।
साहिब सों परिचै नहीं, पहुँचेंगे किस ठौर ॥२०॥

चलो चलो सब कोई कहते हैं पर इसमें मुझे अन्देशा है। मालिकसे परिचय बिना ये लोग रहनेको स्थिति कहाँ करेंगे ॥

जाने को तो गम नहीं, रहन को नहिं ठौर।
कहैं कबिर सुन साधवा, अविगति की गति और॥२१॥

सद्गुरु बिना लोगोंको न तो जानेकी सुधि है न रहनेकी कहीं स्थिति है। कबीर गुरु कहते हैं हे सन्तो! सुनो, मायाकी गति औरही विचित्र है ॥ २१ ॥

जहाँ न चिऊँटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
मनुवा तहाँ ले राखिया, सोई पहुँचा जाय ॥२२॥

जहाँ वृत्तिरूपी चिऊँटीकी गति और बुद्धिरूपी राईकी स्थिति नहीं है। वहाँ (आत्मामें) मनको लेकर जो स्थिर (वश) करते हैं वेही अमर धामको पहुँचते हैं ॥ २२ ॥

वह मारग कित को गया, मारग पहुँचे साद।
मैं तो दोऊ गहि रहा, लोभ बड़ाई बाद ॥२३॥

उस परम तत्त्व मार्ग पर कब, कहाँ, कौन गया? उस मार्गसे तो केवल सन्तही निज देशको पहुँचते हैं और जो मेरी तेरी, लोभ बड़ाई वाद विवादमें पड़े हैं वे कदापि नहीं ॥ २३ ॥

विन पाँवन की राह है, विन बस्ती का देस।
विना पिंड का पुरुष है, कहैं कबिर सन्देस ॥२४॥

कबीर गुरु उस देशके सन्देश कह रहे हैं जहाँका मार्ग विना पाँव (साधन) का और देश विना बस्तीका तथा पुरुष विना पिण्डको है ॥ २४ ॥

घाटहि पानी सब भरै, औघट भरै न कोय।
औघट घाट कबीर का, भरै सो निरमल होय॥२५॥

घाट नाम वर्ण और आश्रमकी मर्यादा उसीमें सब अपना अपना पानी व्यवहार भरै यानी कर रहे हैं। औघटमें कोई नहीं। औघट घाट यानी वर्णाश्रम पक्षसे रहित स्थिति परमार्थ विचार जिज्ञासुओंका है जिसके अवगाहनसे वे निर्मल हो जाते हैं ॥

चलते चलते पगु थकै, निपट करारी कोस।
विन दयाल झलका परै, काको दीजे दोस ॥२६॥

बिलकुल कठिन अन्नमयादि पंचकोश मार्ग पर चलते चलते संसारी लोगोंके आयुः रूप पाँव थक गये। शुद्ध मार्गदर्शक दयालु सद्गुरुके विना अब इनके पाँवमें झलके पड़ते हैं और मुकाम पर भी नहीं पहुँचे तो इसमें दोष किसको दें ?॥ २६ ॥

जहाँ चतुर की गम नहीं, तहाँ मुरख किमि जाय।
वाह विधाता नाथ है, काग कपूरहि खाय ॥२७॥

जहाँ बड़े बूढ़े सयानोंकी गति नहीं तो कहो, तहाँ मूर्ख कैसे जा सकता ?, धन्य हैं विधाता मालिक ! चाहे तू कागहीको कपूर खिला दे ? समर्थको क्या कमी अर्थको ॥२७॥

पहुँचेगे तब कहैंगे, वाहि देस की सीच।
अबहीं कहाँ तिगाड़िये, बेड़ी पायन बीच ॥२८॥

जब वहाँ पहुँचेंगे तब उस देशकी सुख शान्ति कहेंगे। अभी तो प्रपंच बेड़ी पहिने मध्य मार्गमें हैं, विशेष कहना व्यर्थ है। अर्थात् "विन देखे उस देशकी बात कहे सो कूर" इत्यादि वचनके अनुसार विना प्रत्यक्ष किये लम्बो चौड़ी बातें बढ़ा चढ़ाकर कहना फ़िज़ूल है ॥ २८ ॥

करता की गति अगम है, चल गुरु के उनमान।
धीरे धीरे पाँव दे, पहुँचेगो परमान ॥२६॥

मालिककी गति अथाह है अतः सद्गुरुकी छत्र छायामें चलते चलो थको मत, शनैः शनैः पाँव उठाते रहनेसे अवश्य पहुँचोगे॥

पहुँचेंगे तब कहेंगे, अब कछु कहा न जाय।
सिंधु समाना बुँद में, दरिया लहर समाय ॥३०॥

उस तत्त्व देशमें प्रवेश किये बिना अभी कुछ कहा जा सकता अभी तो सिन्धु बुन्दमें और सागर लहरमें समाया है ॥ ३० ॥

प्रान पिंडको तजि चला, मुआ कहै सब कोय।
जीव छता जामै मरै, सूच्छम लखै न कोय ॥३१॥

प्राण, पिण्डको छोड़कर चल दिया बस। इस मरणको सब ही जानते और कहते भी हैं। परन्तु जीव छता यानी प्राण पिण्डके संयोगहीमें अहोरात्र जो वासना सन्तानकी उत्पत्ति होती है और उसके अध्यासमें बारम्बार प्राण वियोग रूप जो मरण हुआ करता है उस सूक्ष्म तत्त्वको गुरु सत्संग विमुख कोई नहीं जानता। अतः जन्म मरण चक्कर खाया करता है ॥ ३१ ॥

प्रान पिंडको तजि चला, छूटि गया जंजार।
ऐसा मरना को मरै, दिन में सौ सौ बार ॥३२॥

स्थूल प्राण, पिण्डका वियोग रूप मरण देखके लोग कहते हैं कि फलाने सब दुःख झंझटसे छूट गये। परन्तु ऐसे नाना

प्रकारके दुःख रूप मृत्युसे वारम्बार कौन मरा करे। अर्थात् अनिग्रह मनके वशीभूत होके इष्ट, अनिष्टके वियोग संयोगसे प्रति दिन कौन दुःख सहा करे ॥ ३२ ॥

सूक्ष्म सुरतिका मरम है, जीवन जानत जाल।
कहैं कबीरा दूरि कर, आतम आदिहि काल॥३३॥

विषयादिमें वृत्तिको वासना रूपसे सूक्ष्म अध्यास होना ही दुःखका कारण है, यह रहस्य अज्ञानी लोग नहीं जानते। कबीर गुरु कहते हैं कि आत्माका काल रूप इस वासना जालको एक दम दूर कर दो ॥ ३३ ॥

अंतःकरन ही मन मही, मनहि मनोरथ माँहि।
उपजत उपजत जानिये, बिनसत जानै नाँहि ॥३४॥

अन्तःकरणकी कल्पना, वासना मनमें और मन अन्तर्मनोरथमें उत्पन्न होता है इसे सब जानते हैं परन्तु उसे नाश होते नहीं जानते ॥ ३४ ॥

साखी सैन सही करो, श्रवण सुनी ना जाय।
जैसे तेजी वाय को, नादहि कब लै जाय ॥३५॥

सद्गुरुका ईशारा किया हुआ जो साखी पद है उसे अन्तःकरणकी स्थिर वृत्तिसे दृढ पकड़कर सही करो क्योंकि चंचल कर्णकी वृत्तिसे वह शब्द ऐसे ग्रहण नहीं होता जैसे वायुकी तेजीसे उड़े हुये नाद-शब्द ॥ ३५ ॥

हती सोई सब सुन लई, सैन सुनी नहि जाय।
नैन बैन दोई थकै, सैनहि माँहि लखाय ॥३६॥

जो बाहरी बातें थीं, सब सुन ली गई परन्तु ईशारा ग्रहण नहीं होता। सैनको लखनेसे तो नैन बैन दोनों उसीमें लय हो गये ॥ ३६ ॥

सुरज किरन रोकी रहै, कुंभै नीर ठहराय।
सुरति जु रोकी ना रहै, जहाँ पुरुष तहँ जाय ॥३७॥

जैसे सूर्यकी ज्योति सूर्य बिना अन्यत्र नहीं रुकती और कुंभ पात्र विना जल कहीं नहीं ठहरता ऐसे सत्संगियोंकी वृत्ति भी कहीं रोके नहीं रुकती जहाँ पुरुष हैं वहँ जा पहुँचती है ॥३७॥

कबीर दीपक जोइये, देखा अपरं देव।
चार वेदकी गम नहीं, तहाँ कबीरा सेव ॥३८॥

सत्संगी लोग सद्गुरु सत्संग दीपकके प्रतापसे जिससे परे कोई देव नहीं ऐसे परमदेवका दर्शन कर लिये। अब वे उसी देवको सेवन करते हैं जहाँ वेदोंकी गति नहीं ॥ ३८ ॥

अगम पंथ कूँ पग धरै, सो कोइ विरला संत।
मतवाड़ा में पड़ि गये, ऐसे जीव अनंत ॥३९॥

उस निराला मार्गमें पग रखने वाले विरले सन्त हैं। और यों तो एक देशी सर्व देशी सिद्धान्त कुण्डालामें पड़े हुए असंख्यों जीव हैं ॥ ३९ ॥

मतवाड़ा में पड़ि गये, मूरख वारै वाट।
ऐसा कबहुँ ना मिले, उलटे घाटै घाट ॥४०॥

पशुवत् मत पंथ रूप घेरामें पड़के मूर्ख लोग बारा वाट हो गये। ऐसे कोई कभी वर्णाश्रम घाटसे उलट कर आत्मघाटमें नहीं मिले ॥ ४० ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
सूक्ष्ममार्गको अङ्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

अथ भाषाको अङ्ग ॥५७॥

संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सहित है, सतमत गहिर गँभीर ॥१॥

संस्कृत भाषा कूयेंके जलके सदृश है, वहाँ विना लोटा, डोरी (व्याकरणादि) के मुसाफिर प्यासे रह जाते हैं, और प्राकृत भाषा प्रवाही जलके समान है विनाप रिश्रम साधन विनाही पी ले। देखो जैसे सद्गुरुके सहित भाषा होनेसे गूढ और गम्भीरतर सत्यमतका भाव सरलतासे समझमें आ जाता है। ऐसे व्याकरणादि पढ़े विना संस्कृतका नहीं आता ॥ १ ॥

संस्कृत हि पण्डित कहै, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ़ अजान ॥२॥

बड़े अभिमान पूर्वक पण्डित लोग संस्कृत भाषाकी जो बड़ाई करते। और प्राकृत भाषाको तुच्छ जानके तर्क करते हैं वे नर मुग्ध अज्ञानी हैं ॥ २ ॥

संस्कृत हि संसार में, पण्डित करै बखान।
भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निरवान ॥३॥

संसारमें संस्कृत भाषाको केवल पण्डितही व्याख्यान करते हैं। और हिन्दी भाषा द्वारा तो बड़े बड़े सन्त महात्मा असंग मुक्त आत्मपदकी भक्ति सर्व साधारण जन समाजमें दृढ़ किये व करते हैं ॥ ३ ॥

पूरन बानी वेद की, सोहत परम अनूप।
आधी भाषा नेत्र विन, को लखि पावै रूप ॥४॥

यद्यपि वेद वाणी पूर्ण रूपेण सर्वाङ्ग परम सुन्दर है तथापि मातृ भाषान्तर विना वह काली है, तर्जुमा (उल्था) विना उसका भाव अर्थ कोई नहीं समझ पाता ॥ ४ ॥

वेद कहै मैं कछू न जानूँ, स्वाँसा के संग आय।
दरस हेत करूँ बन्दगी, गुन अनेक मैं गाय ॥५॥

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्दग्वेदो यजुर्वेदः साम-वेद" इत्यादि श्रुतिके अनुसार वेद कहते हैं हम पुरुषके श्वाससे उत्पन्न हुये हैं। हम उसका स्वरूप क्या? कैसे बतलावें, हमें कुछ नहीं मालूम। हम तो केवल अनेक प्रकारसे उसके गुणको दर्शनके वास्ते गाते हैं ॥ ५ ॥

वेद हमारा भेद है, हम वेदो के माँहि।
जौन भेद में मैं बसूँ, वेदों जानत नाँहि ॥६॥

इसलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि वेद हमारा भेद है हम उनमें रहस्य रूपसे प्रविष्ट हैं। और जिस भेदमें हम रहते हैं अर्थात् जो हमारी यथातथ्य स्थिति है उसेवेद भी नहीं जानता। यथाः—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि श्रुति ॥ ६ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
भाषाको अङ्ग ॥ ५७ ॥

अथ पण्डितको अङ्ग ॥ ५८ ॥

पंडित श्रौर मसालची, दोनौं सूझत नाँहि ।
श्रौरन को करै चाँदना, श्राप अँधेरे माँहि ॥१॥

पण्डित श्रौर मसालची ये दोनों अपने श्रापको नहीं देखते। यद्यपि श्रौरोंको प्रकाश करते हैं तथापि श्राप अन्धेरेमें रहते हैं सत्संग दीपक बिना ॥ १ ॥

पंडित केरी पोथियाँ ज्यौं तीतर का ज्ञान ।
श्रौरे सगुन बतावहीं, श्रापन फंद न जान ॥२॥

पोथियोंका ज्ञान पंडितोंका ऐसा है जैसा तीतर का। दूसरोंको शकुन बतलाते हैं पर अपना फन्दा नहीं जानते ॥२॥

पंडित पोथी बाँधि के, दे सिरहाने सोय ।
वह अच्छर इनमें नहीं, हँसि दे भावै रोय ॥३॥

ऐ पण्डितो ! अपनी पोथीको बाँधके शिरहाने बना लो श्रौर सो जाश्रो । तुम्हारी पोथीमें वह अक्षर नहीं है जिसको देखतेही हंस दे, चाहे वह रोता क्यों न हो ? ॥ ३ ॥

पंडित बोड़ौ पातरा, काजी छाँड़ कुरान ।
वह तारीख बताय दे, थे न जिमीं असमान ॥४॥

ऐ पण्डित श्रोर काजी ! मुझे वह तारीख बतला दे, किस दिन भूमि श्रौर श्राकाश नहीं थे ! श्रौर नहीं तो वेद, कितेब दोनों पानीमें डाल दे ॥ ४ ॥

पढ़ि पढ़ि तो पत्थर भया, लिखिलिखिभयाजुचोर।
जिस पढ़ने साहिब मिले, सो पढ़ना कछु और ॥५॥

पुस्तक पढ़ पढ़के पत्थर (जड़, संगदिल) और लिख लिखके चोर बन गये जिस अक्षरके पढ़नेसे मालिक मिलते हैं वह अक्षर और प्रकारका है ॥ ५ ॥

पढ़ै गुनै सीखै सुनै, मिटी न संसै सूल।
कहैं कबिर कासों कहूँ, येही दुख का मूल ॥६॥

पढ़, गुन और सीख, सुनके भी दुःखदाई संशयसे निवृत्त नहीं हुआ। कबीर गुरु कहते हैं, यह दुःखका कारण जिज्ञासा विना किससे कहा जाय ॥ ६ ॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
एकै अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय ॥७॥

सब पोथी पढ़के मर गये कोई पण्डित नहीं हुआ। जो प्रेमका एक अक्षर पढ़ लिया बस! वही पण्डित हुआ और है॥

कबीर पढ़ना दूर करु, पोथी देहु बहाय।
बावन अच्छर सोधि के, राम नाम लौ लाय ॥८॥

ऐ कबीर! पढ़ना छोड़दे और किताबें डाल दे। बावन अक्षरोंका शुद्ध सार भूत जो राम नाम है उसीमें लो लगा ॥८॥

कबीर पढ़ना दूर करु, अति पढ़ना संसार।
पीर न उपजै जीव की, क्यौं पावै करतार ॥९॥

ऐ कबीर! तू पढ़ना छोड़ दे, संसारियोंको बहुत पढ़ने दे। केवल पढ़नेसे जीवको दया, प्रेम नहीं होता, तो वह प्रभुको कैसे पावेगा

मैं जानौं पढ़ना भला, पढ़ने ते भल जोग।
रामनाम सों प्रीति कर, भावे निन्दो लोग ॥१०॥

मैं प्रथम जानता था कि पढ़ना अच्छा है परन्तु उससे चित्त वृत्तिका निरोधरूप योगही श्रेष्ठ है। चाहे लोग निन्दाही क्यों न करें तुम रामनामसे प्रेम करो ॥ १० ॥

नहिं कागद नहिं लेखनी, निहअच्छर है सोय।
याँचहीं पुस्तक छोड़ि के, पंडित कहिये सोय ॥११॥

वह अक्षर विना कागज क़लमका है अर्थात् वह क़लमसे कागज पर नहीं लिखा जाता है। पुस्तक छोड़के जो उस अक्षर-को वाँचता है वही पण्डित है ॥ ११ ॥

धरती अम्बर ना हता, को पंडित था पास।
कौन मुहूरत थापिया, चाँद सूरज आकास ॥१२॥

जब ज़मीं आसमान नहीं थे, तो वहाँ कौन पण्डित थे? और कौन मुहूर्तमें चन्द्र; सूर्य और आकाशको स्थापना किये?

कबीर ब्राह्मण की कथा, सो चोरन की नाव।
सब अंधे मिलि बैठिया, भावै तहँ ले जाव ॥१३॥

ऐ कबीर! ब्राह्मणोंकी कथा, चोरोंकी नौका है। और बैठनेवाले सब अन्धे हैं चाहे जहाँ ले जाओ ॥ १३ ॥

कबीर ब्राह्मण बूड़िया, जनेऊ केरे जोर।
लख चौरासी माँगि लइ, सतगुरु सेंती तोर ॥१४॥

ऐ कबीर! जनेऊके अहंकारमें पड़के ब्राह्मण बूड़ गये। सद्गुरुसे नाता तोड़के चोरासी लक्ष योनियोंका सम्बन्ध जोड़ लिया ॥

ब्राह्मन गुरु है जगत का, संतन के गुरु नाँहि।
अरुझि परुझि के मरि गये, चारौं वेदौं माँहि ॥१५॥

ब्राह्मण जगत्के गुरु हैं सन्तोंके नहीं। वे स्वयं चारों वेदोंके अर्थवाद फन्देमें उलझ पुलझके मर गये। अपने आप नहीं सुधरे॥

ब्राह्मन ते गदहा भला, आन देव ते कुत्ता ।
मुलना ते मुरगा भला, सहर जगावै सुत्ता ॥१६॥

उन ब्राह्मण, देव और मौलानासे तो ये गदहा, कुत्ता और मुर्गे अच्छे हैं जो मेहनत करके खाते और शहर जगाते हैं ॥१६॥

कलिं का ब्राह्मन मसखरा, ताहि न दीजै दान ।
कुटुंब सहित नरकै चला, साथ लिया यजमान ॥१७॥

दिल्लगीबाज़ कलियुगी ब्राह्मणको दान मत दो । क्योंकि वे कुटुम्ब सहित नरक चलते वक्त यजमानको भी साथमें ले लेते हैं॥

पढ़ै पढ़ावै कछु नहीं, ब्राह्मन भक्ति न जान ।
ब्याहे श्राद्धे कारनै, बैठा सूँड़ा तान ॥१८॥

प्रायः कलियुगी ब्राह्मण पढ़ना, पढ़ाना और भक्ति भाव कुछ नहीं जानते । बस ! ये तो विवाह, श्राद्धके प्रसंगमें सूँड़ा तानके बैठते हैं अर्थात् अपने ब्राह्मणत्वे का अभिमान करते हैं ॥१८॥

पारोसी सूँ रूठना, तिल तिल सुख की हान ।
पंडित भया सरावगी, पानी पीवै छान ॥१९॥

पड़ोसियोंके विरोधसे सुखमें क्षण २ बाधा होती है । कलियुगी पण्डित लोग श्रावक बन गये और पानी छान छान पीने लगे॥

चारि अठारह नव पढ़ी, छौ पढ़ि खोया मूल ।
कबीर मुल जानै बिना, ज्यौं पंछी चण्डूल ॥२०॥

सत्संग विमुख नर जीव चार वेद, अठारह पुराण, नव व्याकरण और छैः शास्त्र पढ़के भी मूल आत्म स्वरूपका विचार खो दिये । ऐ कबीर ! मूल भेद जाने विना ये केवल मधुर भाषी मानों चण्डूल पक्षी बन गये ॥ २० ॥

लिखना पढ़ना चातुरी, यह संसारी जेव।
जिस पढ़ने सों पाइये, पढ़ना किसी न सेव ॥२१॥

लिखना, पढ़ना और चातुर्य ये सब संसारको सजावट है। जिससे प्रभु मिलते हैं उस पढ़नाको किसीने नहीं सेवन किया॥

चारि वेद पढ़बो करै, हरि से नाहीं हेत।
माल कबीरा ले गया, पंडित ढूँढ़ै खेत ॥२२॥

भाग्यकी बात है प्रभुके प्रेमी भक्तोंने माल मार लिया और हरिसे हेत बिना चार वेद पढ़के भी पण्डित लोग खेत टटोल रहे हैं ॥ २२ ॥

पढ़ी गुनी पाठक भये, समुझाया संसार।
आपन तो समुझै नहीं, वृथा गया अवतार ॥२३॥

पढ़ गुनके पाठक बन गये, संसारको समझाने लगे। और अपने आपको समझे बिना नर जन्म व्यर्थमें खो दिये ॥ २३ ॥

पढ़ी गुनी ब्राह्मण भये, कीर्ति भई संसार।
वस्तू की तो समुझ नहिं, ज्यूँ खर चंदन भार ॥२४॥

पढ़ गुनके ब्राह्मण पण्डित बन गये, संसारमें कीर्ति फैल गई। आत्मतत्त्व वस्तुको तो पहिचान नहीं तो "जस खर चन्दन लादेउ भारा। परिमल वास न जाने गमारा" इत्यादि भार वाही गदहेके समान हुये ॥ २४ ॥

पढ़त गुनत रोगी भया, बढ़ा बहुत अभिमान।
भीतर ताप जु जगत का, घड़ी न पड़ती सान ॥२५॥

पढ़ते गुनते इतना अभिमान रोग बढ़ा कि भारी रोगी बन गये। और अन्दर जगतको मान, मर्यादाका सन्ताप होने लगा

घड़ी भर भी शान्ति नहीं मिलती क्योंकि विद्वानोंको सदा विवादका भय रहता है, सिवा वैराग्यके अमय कहीं कोई नहीं॥

पण्डित पढ़ते वेद को, पुस्तक हस्ती लाद।
भक्ति न जाने राम की, सबे परीक्षा वाद ॥२६॥

पण्डित लोग हस्तीके बोझ भर वेद ग्रन्थ पढ़ते हैं। परन्तु रमैया रामकी भक्ति नहीं जानते अतः उनकी परीक्षा (परिश्रम) सब व्यर्थ है ॥ २६ ॥

पढ़ते गुनते जनम गया, आसा लागी हेत।
बोया बीजहि कुमति ने, गया जु निर्मल खेत ॥२७॥

मायिक पदार्थोंकी आशामें पढ़ते गुनते जन्म चला गया। अन्तःकरण खेतमें कुमतिने ऐसा गन्दा बीज बोया कि उसकी निर्मलता भी न रही ॥ २७ ॥

पढ़ि पढ़ि और समुझावइ, खोजि न आप सरीर।
आपहि संशय में पड़े, यूँ कहि दास कबीर ॥२८॥

जो लोग पढ़के औरोंको समझाते हैं, अपनी वस्तुको अपने हृदयमें नहीं खोजते। कबीर गुरु कहते हैं कि वे सदा स्वयं संशयमें पड़े रहते हैं ॥ २८ ॥

चतुराई पोपट पढ़ी, पड़ि सो पिंजर माँहि।
फिर परमोधे और को, आपन समुझै नाँहि ॥२९॥

पढ़के दूसरोंको समझाना यह चतुराई तो पिंजरामें तोता भी सीख लेता है और दूसरोंको बोध करने लगना है परन्तु क्या कहता है वह स्वयं नहीं समझता है ॥ २९ ॥

हरि गुन गावे हरषि के, हिरदय कपट न जाय।
आपन तो समुझै नहीं, औरहि ज्ञान सुनाय ॥३०॥

गुरु सत्संग विमुख लोग भी हरिगुनको आनन्दमें मग्न होके गाते हैं परन्तु हृदयका कपट नहीं जाता। समझनेकी वस्तु तो स्वयं समझते नहीं और दूसरेको ज्ञान दृढ़ाते हैं ॥३०॥

ज्ञानी ज्ञाता बहु मिले, पण्डित कवी अनेक।
राम रता इन्द्री जिता, कोटी मध्ये एक ॥३१॥

ज्ञानी, ज्ञाता, पण्डित और कवि ये तो अनेकों मिलते हैं। परन्तु राम स्नेही और इन्द्रिय जीत करोड़ोंमें कोई एक हैं॥३१॥

कुल मारग छोड़ा नहीं, रह माया में मोह।
पारस तो परसा नहीं, रहा लोह का लोह ॥३२॥

कुल रीति मर्यादा छूटी नहीं, जन्म भर मायामें मुग्ध रहे। आत्मस्वरूप पारस मणिसे स्पर्श तो कभी किया नहीं तो ज्यों का त्यों लोहाही बने रह गये ॥ ३२ ॥

आत्म तत्व जानै नहीं, कोटिक कथे जु ज्ञान।
तारे तिमिर न भागहीं, जब लग उगै न भान ॥३३॥

यथार्थरूपसे आत्मतत्वके दृढ़ बोध विना करोड़ों ज्ञान कथनसे अविद्या अन्धकार ऐसे दूर नहीं होता जैसे सूर्य विना ताराओंसे तिमिर नहीं भागता ॥ ३३ ॥

अजहूँ तेरा भय मिटे, गुरु मुख पावै भेद।
पण्डित पास न बैठिये, बैठि न सुनिये वेद ॥३४॥

गुरुमुख द्वारा यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेसे अबी भी तेरा सम्पूर्ण भ्रम मिट जायँगे परन्तु वेदुआ पण्डितोंके पास बैठके उनके गपाष्टक अर्थवाद वेद न सुनो तो ॥ ३४ ॥

इति श्रीपण्डितको अङ्ग समाप्त ॥ ५८ ॥
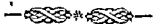
अथ निन्दाको अङ्ग ॥८६॥

निंदक एकहु मति मिलै, पापी मिलै हजार।
इक निंदक के सीस पर, लाख पापका भार ॥१॥

चाहे पापी हज़ारों मिले कोई हर्ज नहीं परन्तु छिद्रान्वेषी एको मत मिले क्योंकि एक निन्दक के शिर पर लाख पापका बोझ रहता है ॥ १ ॥

निंदक ते कुत्ता भला, हट कर मांडै रार।
कुत्ते से क्रोधी बुरा, गुरू दिलावै गार ॥२॥

निन्दकसे तो कुत्ता अच्छा है दूरही दूरसे भूकता है। और क्रोधी तो कुत्तेसे भी बुरा है क्योंकि गुरुको भी गाली दिलवाता है॥२॥

निंदक तो है नाक बिन, सोहै नकटों माँहि।
साधूजन गुरु भक्त जो, तिनमें सोहै नाँहि ॥३॥

निन्दक विना नाक (मर्यादा) का है उसकी शोभा नकटों में होती है। सन्तों और गुरु भक्तों में नहीं ॥ ३ ॥

निंदक तो है नाक बिन, निसदिन विष्ठा खाय।
गुन छाँड़ै औगुन गहै, तिसका यही सुभाय ॥४॥

विना आबरू के निन्दक प्रति दिन निन्दा रूप गलीज खाया करता है। उसका स्वभावही ऐसा बन गया है कि सद्गुण को छोड़कर दुर्गुण को ग्रहण करै ॥ ४ ॥

निंदक नेरै राखिये, आँगन कुटी छवाय ।
बिन पानी साबुनबिना, निरमल करै सुभाय ॥५॥

छिद्रान्वेषी को अति समीप कुटी बनाके रखिये । क्योंकि वह बिना साबुन पानीके दुर्गुण रूप मेल को निकाल कर साफ कर देगा ॥ ५ ॥

निंदक दूर न कीजिये, कीजै आदर मान ।
निरमल तनमन सबकरै, बकै आनही आन ॥६॥

मान प्रतिष्ठा देके निन्दक को समीप रखो दूर मत करो। क्योंकि वह औरकी ओर कहके तन,मन सबको स्वच्छ कर देगा।

निंदक हमरा जनि मरो, जीवो आदि जुगादि ।
कबीर सतगुरु पाइया, निंदक के परसादि ॥७॥

ऐ हमारे निन्दक ! तुम मत मरो, शतंजीव ! तेरे बदोलत हमने सद्गुरु को तालाश किया और पाया ॥ ७ ॥

कबीर निंदक मरि गया, अब क्या कहिये जाय।
ऐसा कोई ना मिले, बीड़ा लेय उठाय ॥८॥

ऐ कबीर ! सद्गुरु शरण आनेसे निन्दक मर गया । अब क्या किससे कहाँ जाके कहें । और ऐसा कोई नहीं मिलता कि, निन्दक का बीड़ा उठा ले ॥ ८ ॥

सातो सागर मैं फिरा, जंबुदीप दै पीठ ।
परनिंदा नाहीं करै, सो कोय बिरला दीठ ॥९॥

जम्बुद्वीप के और आगे सप्त सागर पर्यन्त मैंने फेरा लगा दिया परन्तु ऐसा कोई नहीं मिला जो परनिन्दा को न करता हो यानी परनिन्दा से रहित कोई बिरलाही देखने में आता है ।

दोष पराया देखि करि, चले हसन्त हसन्त ।
अपना याद न आवई, जाका आदि न अन्त ॥१०॥

दूसरे का यत्किञ्चित भी दूषण को देखके हंस हँसके चलते हैं । और अपने दुर्गुणों को याद नहीं करते जिनके आदि अन्त भी नहीं हैं ॥ १० ॥

तिनका कबहुँ न निन्दिये, पाँव तले जो होय ।
कबहूँ उड़ि आँखों पड़ै, पीर घनेरी होय ॥११॥

अरे ! पाँवके तले क्यों न हो उस तृण को भी कभी निन्दा मत करो । वह भी कभी उड़कर आँख में पड़ जायगा और बहुत दुख देगा ॥ ११ ॥

माखी गहै कुबास को, फूल बास नहि लेय ।
मधु माखी है साधुजन, गुनहि बास चित देय॥१२॥

मक्खी बदबू को ग्रहण करती है सुन्दर पुष्पकी खुशबूको नहीं लेती । और मधुमक्खी के सदश सुन्दर सन्तजन हैं जो सदा सद्गुण सुवास की ओर चित्त देते हैं ॥ १२ ॥

कबीर मेरे साध की, निंदा करो न कोय ।
जो पै चंद्र कलंक है, तउ उजियारी होय ॥१३॥

ऐ कबीर ! मेरे सन्तकी निन्दा कोई मत करो । यद्यपि चन्द्रमा कलङ्क युत हे तो भी अहलाद और प्रकाशही करता है ।

जो कोय निन्दै साधको, संकट आवै सोय ।
नरक जाय जनमै मरै, मुक्ति कबहुँ नहि होय॥१४॥

जो कोई साधुकी निन्दा करता है, उसके ऊपर आपत्ति

अवश्य आती है। छमी, कोट योनिमें जाके जन्म लेना व मरता है, मुक्ति कदापि नहीं होती ॥ १४ ॥

जो तूँ सेवक गुरुन का, निंदा की तज बान।
निंदक नेरे आय जब, कर आदर सनमान ॥१५॥

जो तू सद्गुरु का शिष्य है तो निन्दा की आदत छोड़ दे। जब कोई निन्दक तेरे नज़दीक आवे तो उसे आदर,सत्कार कर।

काहू को नहि निन्दिये, चाहै जैसा होय।
फिर फिर ताको वन्दिये, साधु लच्छ है सोय ॥१६॥

किसी की निन्दा मत करो चाहे जैसा जो हो। वल्कि बार-म्बार उसकी स्तुति, प्रशंसा करो उससे उदासीन रहो यही सन्त का लक्षण है ॥ १६ ॥

ऐसा कोइ जन एक है, दूजे भेष अनेक।
निन्दा बन्दा क्या करै, जो नहि हिरदा एक॥१७॥

ऐसा कोई एक पुरुष है, और दूसरे अनेकों वेषधारी हैं। हृदय में एक स्वरूपात्म की ज्ञान स्थिति नहीं है तो स्तुति, निन्दा सब व्यर्थ है ॥ १७ ॥

निन्दा कीजै आपनी, बंदन सतगुरु रूप।
औरन सों क्या काम है, देखो रंक न भूप ॥१८॥

निन्दा योग्य अपने दोषको देखो और सद्गुरु स्वरूप की स्तुति करो वेही स्तुत्य हैं। और इतर भूप, भिखारी से क्या . प्रयोजन ? ॥ १८ ॥

आपन को न सराहिये, पर निन्दिये नहि कोय।
चढ़ना लंबा धौंहरा, ना जानै क्या होय ॥१९॥

अपनी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दा कदापि न करो। अभी आचरणके बहुत लम्बे मोनार पर चढ़ना है। न जाने क्या हो जाय।

आपन पौ न सराहिये, और न कहिये रंक।
क्या जानौं किहि रुखतर, कूरा होय करंक ॥२०॥

अपने को भाग्यशाली मानके दूसरे को दरिद्र मत गिनो। क्या जाने किस वृक्षतर कूड़ा करंक हो जाय अर्थात् हीन दशा वाले उच्च स्थिति को प्राप्त हो जायँ यह किसको मालूम है? ॥

लोग विचारा निन्दही, जिनहु न पाया ज्ञान।
रामनाम जानै नहीं, बकै आनही आन ॥२१॥

स्वरूप ज्ञान शून्य लोग पर की निन्दा करते हैं। रामका यथार्थ स्वरूप को न जानकर और की ओर बकते हैं ॥ २१ ॥

निन्दक न्हाय गहन कुरुखेत, अरपै नारि सिंगार समेत
चौंसठ कूवा बाय दिवावै, तौभी निंदक नरकहि जावै।

ऐसे निन्दक चाहे कुरुक्षेत्रमें जाके सूर्य ग्रहण स्नान क्यों न करै और शृङ्गार आभूषण सहित स्त्री दान क्यों न देवै, चाहे परमार्थ हेत चौंसठ कूप बावली खुदवाके दान क्यों न देवे दिवावे तौ भी निन्दक नरकहीमें जावै है ॥ २२ ॥

अड़सठ तीरथ निंदक न्हाई, दहे पलोसे मैल न जाई।
छप्पन कोटिधरतीफिरिआवै, तौभी निंदक नरकहिजावै

चाहे निन्दक अड़सठ तीर्थमेंही जाके प्रत्यङ्ग क्यों न पखारें, परन्तु उसके मनका मैल नहीं जा सकता। और छप्पन कोटि धर्तीकी परिक्रमा भी क्यों न कर आवे तोभी निन्दकका उद्धार नरकसे नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

काहू को नहिं निंदिये, सबको कहिये सन्त।
करनी अपनी से तरे, मिलि भजिये भगवन्त ॥२४॥

सबकी प्रशंसा करो, निन्दा किसीकी भी मत करो। "अपनी करनी पार उतरनी" बस! सब हिल मिलकर प्रभुका नाम लो ॥ २४ ॥

कंचन को तजबो सहल, सहल त्रिया को नेह।
निन्दा केरो त्यागबो, बड़ा कठिन है येह ॥२५॥

कंचन और कामिनीका प्रेम तोड़ना सरल है परन्तु पर निन्दाका एकदम त्याग करना बड़ाही कठिन है ॥ २५ ॥

कबीर यह तो राम है, निंदबे को कछु नाँहि।
कोइ विधि गोविंद सेविये, राम बसा सब माँहि ॥२६॥

ऐ कबीर! सब राम स्वरूप है निन्दाकी कोई चीज़ नहीं। किसी प्रकार प्रभुकी सेवा करो रमैया राम सबमें रमा है ॥२६॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
निन्दाको अङ्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

अथ आनदेवको अङ्ग ॥६०॥

आन देव को आस करि, मुख मेले मद मांस।
जाके जन भोजन करै, निश्चय नरक निवास ॥१॥

दूसरे देवोंको आशा करके या अर्पण करके जो मुखमें मांस, मद्य रखता यानी खाता है। तिसके यहाँ जो कोई भोजन करता है वह भी निश्चय नरकमें जाता है ॥ १ ॥

होम कनागत कारनै, साकुट राँधा खाय।
जीवत विष्ठा स्वान की, मूआ नरकै जाय ॥२॥

होम और श्राद्ध प्रसंगमें भी जो निगुराका पकाया हुआ भोजन खाता है। वह जीतेजी श्वान विष्ठा तुल्य और मूये नरकमें जाता है ॥ २ ॥

साकुत हित कूँ जाय के, सरमा सरमी खाय।
कोटि जनम नरके पड़े, तऊ न पेट अघाय ॥३॥

किसी शाक्त (निगुरा) कुटुम्बीके यहाँ जाके जो भक्त शर्माशर्मी भोजन करता है। वह करोड़ों जन्म नरकरूप कृमी, कीट योनिमें पड़ेगा तो भी पेट नहीं भरेगा ॥ ३ ॥

कन्या, घल अरु कारनै, आन देव को खाय।
सो नर ढोले बाजते, निश्चय नरकै जाय ॥४॥

वर, कन्या या और किसी कारणसे जो दूसरे देवको बलि (अर्पण) खाता है। वह मनुष्य डंका बजते हुए नरकमें चला जाता है ॥ ४ ॥

कामी तिरै क्रोधी तिरै, लोभी की गति होय ।
सलिल भक्त संसार में, तरत न देखा कोय ॥५॥

कामी, क्रोधी और लोभी इन्हें भी उद्धार होता है । परन्तु सलिल भक्त यानी मद्यपी भक्तको पार होते नहीं देखा गया ॥५॥

सौ वर्षहिं गुरु भक्ति करि, एक दिन पूजे आन ।
सो अपराधी आत्मा, परे चौरासी खान ॥६॥

सौ वर्ष जो गुरु भक्ति करके एक दिन भी दूसरेको सेवामें चित्तको लगाता है वह इस अपराधसे चौरासी योनिमें भ्रमण किया करता है ॥ ६ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित आनदेवको अङ्ग ॥ ६० ॥

अथ प्रकृति गुणको अङ्ग ॥६१॥

पहिले सेर पचीस का, सन्तो करो अहार ।
गुरु सब्दै लागे रहो, दुःख न होय लगार ॥१॥

हे सन्तो ! प्रथम सेर पचीस अर्थात् पाँच तत्त्व पचीस प्रकृतिको अहार (वश) करो फिर सद्गुरुके सार शब्दका विचारमें लग जाओ, ज़रा भी दुःख न व्यापेगा ॥ १ ॥

सुषमन डिब्बी पोत करि, दीन्ही आगि चढ़ाय ।
सेर पाँच को राँधि करि, सन्त होय सो खाय ॥२॥

सुषुम्णा डिब्बीको शुद्ध कर योगाग्नि पर चढ़ा दिया है ।

अब जो सन्त होय सो सेर पाँच-पंच ज्ञानेन्द्रियको राँध (वश-कर) के आत्म चिन्तनरूप भोजन करे ॥ २ ॥

सेर पाँच को खाय करि, सेर तीन को खाय ।
सेर तिन खाइ ना सकै, सेर दुई को खाय ॥३॥

ज्ञानेन्द्रिय पंचकको वश करके त्रिगुणा वृत्तिको भी वश करे। यदि त्रिगुणा वृत्ति वश न कर सके तो राग, द्वेषरूप या दुविधा वृत्तिकोही वश करे ॥ ३ ॥

सेर दुई को खाय करि, पाया अगम अलेख ।
सतगुरु सब्दै यौं कहा, जाके रूप न रेख ॥४॥

कबीर गुरु इस प्रकार कहते हैं कि जिसके रूप रेखा नहीं है ऐसा अगम और अलेख पुरुष, अविद्याजन्य रागद्वेषके मिट जानेसे अवश्य मिले व मिल जाते हैं ॥ ४ ॥

दुक्ख महल को ढाहने, सुक्ख महल रहु जाय।
अभि अन्तर है उनमुनी, तामें रहो समाय ॥५॥

दुःखरूप संसार हवेलीको तोड़के सुखरूप सत्संग महलमें जा बसो। फिर संसारसे उदासीन होके अभ्यन्तर आत्मस्वरूप में प्रवेश करो ॥ ५ ॥

काजल तजे न श्यामता, मुक्ता तजे न स्वेत ।
दुर्जन तजै न कुटिलता, सज्जन तजै न हेत ॥६॥

जैसे काजल श्यामताको और मोती सुफेदीको तथा सज्जन प्रेमको नहीं त्यागते तैसेही कुटिल लोग कुटिलताको नहीं त्यागते ॥

दुर्जन की करुणा बुरी, भलो सज्जन को त्रास ।
सूरज जब गरमी करै, तब बरसन की आस ॥७॥

दुर्जनकी दयासे साधुका भय भला है। क्योंकि सूर्य जब तपता है तब अवश्य वर्षा होती है ॥ ७ ॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग।
पत्थर डारे कीच में, उछलि बिगाड़े अंग ॥८॥

कुछ कहके कुटिलको मत छेड़ो, उसका संग भला नहीं है। क्योंकि कीचड़में पत्थर फेंकनेसे उसका छींटा उलटकर अपने अङ्गको बिगाड़ता है ॥ ८ ॥

चंदा सूरज चलत न दीसे, बढ़त न दीसे बेल।
हरिजनहरि भजताना दिसे, ये कुदरत का खेल ॥६॥

यह मायाका विचित्र चरित्र है कि सूर्य, चन्द्रको चलते और लताको बढ़ते कोई नहीं देखता। इसी प्रकार भगवानको भजते प्रेमी भक्तको भी कोई नहीं देखता है ॥ ६ ॥

जो जाको गुन जानता, सो ताको गुन लेत।
कोयल आमही खात है, काग लिंबोरी लेत ॥१०॥

जो जिसके गुणका ग्राहक है वह उसे लेता है। देखो, कोकिला आम खाती है और काग लिम्बोरीको ॥ १० ॥

इश्क खुन्नस खाँसि जो, औ पीवे मद पान।
ये छूपाया ना छुपे, परगट होय निदान ॥११॥

यह प्रकृतिका स्वभाव है कि, प्रेम, क्रोध, खाँसी और मद्य पान ये छिपानेसे नहीं छिपते अन्तमें अवश्य प्रगट हो जाते हैं ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित प्रकृति गुणको अङ्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

—※—

अथ कामको अङ्ग ॥६२॥

कामी का गुरु कामिनी, लोभी का गुरु दाम।
कबीर का गुरु सन्त है, संतन का गुरु राम ॥१॥

विषयीका इष्टदेव सुन्दरी और लालचीका द्रव्य है। एवं जिज्ञासुओंका सन्त और सन्तोंका ध्येय गुरु राम हैं ॥ १ ॥

कामी कबहुँ न गुरु भजै, मिटै न संसै सूल।
और गुनह सब बख्शिहैं, कामी डाल न मूल ॥२॥

कामातुर सद्गुरुको कभी नहीं भजता इसीलिये अदृश्य काँटाके समान दुखदाई भ्रान्ति उसकी नहीं निकलती। और अपराध सब मुआफ़ होता है परन्तु कामीके लिये कोई जगह नहीं ॥ २ ॥

कामी कुत्ता तीस दिन, अन्तर होय उदास।
कामी नर कुत्ता सदा, छह रितु बारह मास ॥३॥

कुत्ता भी कामातुर एक ही महीना रहता है बादमें उदासीन हो जाता है। परन्तु नर-कुत्ता ऐसा कामातुर है कि बारह महीने छैः ही ऋतुमें कूकर लेंड़ लगाया करता है ॥ ३ ॥

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोय सूरमा, जाति बरन कुल खोय ॥४॥

कामी, क्रोधी और लोभी इनसे गुरु-भक्ति नहीं हो सकती। गुरु भक्ति तो कोई शूरमा करता है जो वर्णाश्रम परम्पराको मर्यादासे रहित होता है ॥ ४ ॥

कामी लज्जा ना करै, मन माहीं अहलाद।
नींद न माँगै साथरा, भूख न माँगै स्वाद ॥५॥

कामातुरको भय, लज्जा नहीं होती मने मन विनोद किया करता है। तथाहि निद्रा बिछौना और भूँख स्वाद नहीं चाहती ॥ ५ ॥

कामी तो निरभय भया, करै न काहू संक।
इन्द्री केरे बसि पड़ा, भुगतै नरक निसंक ॥६॥

कामातुर किसीकी शंका नहीं करता, भय लज्जा रहित ऐसा निःशंक हो इन्द्रियोंके वशमें पड़ा है कि नरक भुगतनेमें भी शंका नहीं ॥ ६ ॥

कामी अमी न भावई, विष को लेवै सोध।
कुबुधि न भाजै जीवकी, भावै ज्यौं परमोध ॥७॥

कामातुरको ज्ञानामृत नहीं सुहाता विषय रूप विषको ही ढूंढता फिरता है। चाहे किसी प्रकार प्रबोध करो प्राणधारियों का स्वभाव नहीं बदलता ॥ ७ ॥

कामी करम की कँचुली, पहिरि हुआ नर नाग।
सिर फोड़ै सूझै नहीं, कोइ पूरबला भाग ॥८॥

किसी पूर्व मन्द संस्कारसे कामातुर जीव कर्म रूप कँचुली पहिर कर नरसे अन्धा नाग बन गया उसे हित अहित कुछ नहीं सूझता व्यर्थमें शिर पटक कर फोड़ा करता है ॥ ८ ॥

सह कामी दीपक दसा, सोखै तेल निवास।
कबीर हीरा संत जन, सहजै सदा प्रकास ॥९॥

कामातुर नर जीवकी दशा दीपकके सदृश है। जो अपने

आधार भूत तेल हीको चूसा करता है। और साधु पुरुष हीरा के समान स्वाभाविक स्वतः प्रकाश रूप सदा प्रकाशते हैं ॥९॥

दीपक सुन्दर देखि करि, जरि जरि मरे पतंग।
बढ़ी लहर जो विषय की, जरत न मोरै अंग ॥१०॥

जैसे दीपकको देखि पत्तंग कोई सुन्दर फल समझके उस पर जल मरता है। तैसेही विषयी पामर जीवोंको भी जब विषयकी लहर उठती है फिर वे जीवन मरणको नहीं देखते, विषय अग्निमें जल ही मरते हैं ॥ १० ॥

भक्ति बिगाड़ी कामिया, इन्द्रिन केरे स्वाद।
हीरा खोया हाथ सों, जनम गँवाया वाद ॥११॥

इन्द्रियोंके स्वादमें पड़के विषयी पामरोंने स्वरूपात्म अनु-सन्धान रूप भक्तिको सत्यानाश कर दिया। और आत्म रूप हीरा हाथका गमाके नरजिन्दगी भी बरबाद कर डाली ॥११॥

काम काम सब कोय कहै, काम न चीन्है कोय।
जेती मन की कलपना, काम कहावै सोय ॥१२॥

सब कोई केवल कहा करते हैं की काम बुरा है उसे जीतना चाहिये परन्तु उसे भलीभाँति परीक्षा कोई भी नहीं करते, वह है क्या चीज़? ऐ भाइयो! सुनो, आत्मविमुख मनकी जितनी कल्पनायें हैं वे सब काम रूप हैं उसे अवश्य जीतो ॥ १२ ॥

जहँ काम तहँ नाम नहिं, जहँ नाम नहिं काम।
दोनों कबहू ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम ॥१३॥

जहाँ कल्पना है वहाँ गुरु-नाम व स्वरूपका ज्ञान नहीं और जहाँ गुरु-नाम व स्वरूप ज्ञान है वहाँ दूसरी कल्पना नहीं। क्योंकि सूर्य और अन्धकार ये एक जगह कभी हो ही नहीं सकते ॥ १३ ॥

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
कबीर मूरख पंडिता, दोनों एक समान ॥१४॥

अन्तःकरणमें काम, क्रोधादिका आवेश जबतक बना है तब तक मूर्ख और पण्डित दोनों एक समान हैं ॥ १४ ॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, मानै नहीं गँवार।
बैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥१५॥

बहुत कुछ कह दिया, और भी कहते जाता हूँ, यही बात गँवार लोग नहीं मानते। ध्यान रखो चाहे विरागी हो या अनुरागी कामातुरोंको कहीं भी ठिकाना नहीं है ॥ १५ ॥

काम कहर असवार है, सब को मारै धाय।
कोइ एक हरिजन ऊबरा, जाके नाम सहाय ॥१६॥

कामना रूप बवाल सबके शिरपर सवार होके मार रहा है। जिसे राम सहायक है ऐसा कोई एक हरिजन ही काम क़हरसे बचा व बचता है ॥ १६ ॥

कबीर कामी पुरुष का, संसै कबहु न जाय।
साहिब सों अलगा रहै, वाके हिरदै लाय ॥१७॥

ऐ कबीर! कामी पुरुषका हृदय कामाग्निसे जलता रहता है। शान्ति कभी नहीं मिलती। और आत्मविमुख होनेसे संशय भी कभी निवृत्त नहीं होता ॥ १७ ॥

कामी से कुत्ता भला, रितु सर खोलै काछ।
राम नाम जाना नहीं, बाबी जाय न बाच ॥१८॥

कामी मनुष्योंसे तो कुत्ता ही अच्छा है क्योंकि "ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा" इस मनु वचनके अनुसार

ऋतु आले परही वह कामातुर होता है। अन्यथा नहीं, तथापि रमैया रामके ज्ञान विना वह भी काल बलीसे नहीं बँचता तो विषयी, पामरोंकी क्या कथा ? ॥ १८ ॥

बुंद खिरी नर नारि की, जैसी आतम घात।
अज्ञानी मानै नहीं, योंहि बात उतपात ॥१६॥

वीर्य पातान्तर स्त्री, पुरुष ऐसे दीखते है जैसे आत्मघाती। तौ भी अज्ञानी लोग इसे बुरा नहीं मानते,यही भारी उपद्रव है॥

भग भोगै भग ऊपजै, भगते बचै न कोय।
कहैं कबिर भगते बचै, भक्त कहावै सोय ॥२०॥

भग भोगके फिर भगसे उत्पन्न होता है उससे कोई नहीं बचता। कबीर गुरु कहते हैं कि जो इस भोगसे बचता है वही भक्त कहलाता है ॥ २० ॥

तन मन लज्जा ना रहे, काम बान उर साल।
एक काम सब वश किये, सुर नर मुनि बेहाल ॥२१॥

उसके तन मनमें लज्जा नहीं रहती जिसके हृदयमें दुःखदाई मदन बाण प्रवेश करता है। अकेले ही कामने सुर, नर, मुनि सबको वश करके तंग कर दिया ॥ २१ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित कामको अङ्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

अथ क्रोधको अङ्ग ॥६३॥

क्रोध अगनि घर घर चढ़ी, जलै सकल संसार।
दीन लीन निज भक्त जो, तिनके निकट उबार ॥१॥

गुरु सत्संग विमुख नरजीवोंके हृदयमें क्रोध अग्नि सुलग रही है। उसीसे सारे संसार जल रहे हैं। इससे बचनेके लिये वही एक स्थान है जहाँ निज स्वरूपमें लीन, और दीन भक्त रहते हैं ॥ १ ॥

कोटि करम लागे रहै, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया हंकार ॥२॥

एकही क्रोधके संगमें करोड़ों दुष्कर्म लगे रहते हैं। क्योंकि अहंकार चण्डालके आनेसे किया, कराया सबही धर्म भग जाते हैं॥

जगत माँहि धोखा घना, अहं क्रोध अरु काल।
पौरि पहुँचा मारिये, ऐसा जम का जाल ॥३॥

संसारमें अहंकार, क्रोध और कल्पनासे अनेकों धोखा खा जाते हैं। ऐसे चण्डालको तो द्वार पर पहुँचतेही मार डालना चाहिये ॥ ३ ॥

दसौं दिसा से क्रोध की, उठी अपरबल आग।
सीतल संगति साध की, तहाँ उबरिये भाग ॥४॥

जब दशों दिशासे क्रोधरूप प्रबल अग्नि उठती है। तब सिवा सद्गुरु सन्तकी सत्संग शरणके और कहीं शीतलता नहीं मिलती। सन्तप्त संसारियोंको वहँ उद्धार होता है। और कहीं नहीं ॥४॥

यह जग कोठी काठकी, चहुँदिस लागी आग।
भीतर रहै सो जलि मुये, साधू उबरे भाग ॥५॥

यह संसार काष्ठकी कोठी है और चारों ओर से क्रोधाग्नि लगी है। जो इसके अन्दर रहे वे जल मरे, सन्त इससे भागके बच गये ॥ ५ ॥

गार अंगार क्रोध झल, निन्दा धूवाँ होय।
इन तीनौं को परिहरै, साधु कहावै सोय ॥६॥

गालीरूपी अग्निके क्रोधरूप आँचमें निन्दारूपी धूवाँ होता है। इन तीनोंको जो त्याग करता है वही साधु कहलाता है॥६॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित क्रोधको अङ्ग ॥ ६३ ॥

अथ लोभको अङ्ग ॥६४॥

जब मन लागा लोभ सों, गया विषय में भोय।
कहैं कबीर विचारि के, केहि प्रकार धन होय ॥१॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि जब मन लोभमें लीन होता है। तब वह लोभ विषयमें अपने आपको ऐसा भूल जाता है कि अहोरात्र यही सोचा करता है कि धन (द्रव्य) किस प्रकार मिले। और धर्म अधर्म कुछ नहीं सोचता ॥ १ ॥

जोगी जंगम सेवड़ा, ज्ञानी गुनी अपार।
षट दरसन से क्या बनै, एक लोभ की लार ॥२॥

"लोभश्चेदगुणेन किम्" अर्थात् जिसे लोभ है उसे और दुर्गुणोंकी क्या ज़रूरत। इसके अनुसार एक लोभाकर्षित चित्तवाले चाहे जोगी, जंगम, जैन, परम ज्ञानी, गुणी तथा षड्दर्शनही कथनेवाले क्यों न होवें परमार्थ पुरुषार्थ नहीं सिद्ध कर सकते ॥ २ ॥

कबीर औंधी खोपड़ी, कबहूँ धापे नाँहि।
तीन लोक की संपदा, कब आवै घर माँहि ॥३॥

ऐ कबीर! औंधी खोपड़ीरूप लोभको कभी भी हृदयमें जगह न दे। इसके आनेसे, ऐसी तृष्णा बढ़ती है कि तीनों लोककी सम्पत्ति कब घरमें आ जाय यही हाय लग जाती है यह कभी भी नहीं भरती क्योंकि औंधी है ॥ ३ ॥

सूम थैली अरु स्वान भग, दोनों एक समान।
घालत में सुख ऊपजै, काढ़त निकसै प्रान ॥४॥

मुंजीकी थैली और कुत्तीकी योनि ये दोनों एक समान हैं। उसमें डालतेही समय सुख और निकालते वक्त तो प्राण जाता है ॥ ४ ॥

बहुत जतन करि कीजिये, सब फल जाय नसाय।
कबीर संचै सूम धन, अन्त चोर ले जाय ॥५॥

लोभीका प्रयत्न सब निष्फल जाता है। सूमको देख लो, न स्वयं खाता है न किसीको खिलाता है केवल धनको संग्रह करता है और अन्तमें सब चोर ले जाता है ॥ ५ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित लोभको अङ्ग ॥ ६४ ॥

अथ मोहको अङ्ग ॥६५॥

मोह फंद सब फंदिया, कोय न सकै निवार।
कोइ साधू जन पारखी, विरला तत्त्व विचार ॥१॥

सद्गुरु सत्संग विमुख लोग सब मोह फन्देमें फँसे हैं उसे कोई दूर नहीं कर सकता। आत्मतत्त्वके विचारसे कोई विरलेही पारखी सन्त बचते हैं ॥ १ ॥

मोह मगन संसार है, कन्या रही कुमारि।
काहु सुरति जो ना करी, ताते फिरि औतारि ॥२॥

संसारी लोग ऐसे मोहमें मग्न हैं कि उनकी वृत्ति रूपी कन्या कुमारी ही रह गई। निजात्म पतिदेवसे मिलानेका किसी ने ख्याल नहीं किया इसी कारण बार २ जन्म लेते हैं ॥ २ ॥

मोह सलिल की धार में, बहि गये गहिर गंभीर।
सूच्छम मछली सुरति है, चढ़ती उलटी नीर ॥३॥

बड़े बड़े सयाने लोग मोह रूप जल प्रवाहमें बह गये। जल धारामें तो सूक्ष्म वृत्ति रूपी मछली ही उलटी चढ़ती है, अन्य नहीं। अर्थात्-जिसकी वृत्ति शुद्ध और निरोधित है वही निज पतिको पाता है ॥ ३ ॥

जब घट मोह समाइया, सबै भया अँधियार।
निर्मोह ज्ञान विचारिके, साधू उतरे पार ॥४॥

जब स्त्री पुत्रादि विषयक मोह हृदयमें प्रवेश होता है, एक

दम अन्धकार छा जाता है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। इस मोह प्रवाहका पार कोई सन्तही निर्मोहज्ञान विचारसे पाजाता है।

जहँ लगि सब संसार है, मिरग सबनको मोह।
सुर नर नाग पताल अरु, ऋषिमुनिवर सबजोह ॥५॥

जहाँ तक शरीरादि संसारमें अध्यास है तहाँ तक मोह मृग सबके पीछे लगा है। तीनों लोक निवासी श्रेष्ठ सुर नर ऋषि मुनि आदि सब मोहका मूँ जोह (देख) रहे हैं ॥ ५ ॥

अष्टसिद्धि नव निद्धिलौं, तुम सों रहै निनार।
मिरगहि बाँधि बिडारहू, कहैं कबीर बिचार ॥६॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि जब तक मोह मृगको विचार डोरीसे बाँध कर दूर नहीं करोगे। तब तक अष्ट सिद्धि और नव निधि तुमसे कोशों दूर रही व रहेगी ॥ ६ ॥

प्रथम फंदे सब देवता, बिलसै स्वर्ग निवास।
मोह मगन सुख पाइया, मृत्युलोक की आस ॥७॥

मोह फन्दामें प्रथम सात्विक देव लोग फँसके स्वर्ग विलास में निवास करने लगे। और मोह सुखमें ऐसे निमग्न हुये कि कल्याणार्थ मृत्युलोककी आशा करने लगे ॥ ७ ॥

दूजे ऋषि मुनिवर फँसे, तासों रुचि उपजाय।
स्वर्गलोक सुख मानही, धरनि परत हैं आय ॥८॥

उनको देखकर दूसरे ऋषि मुनिको भी रुचि उत्पन्न हुई, बस! ये भी फँस गये स्वर्ग सुखको ध्येय बनाते हैं, और भोगानन्तर भूमि पर आ गिरते हैं ॥ ८ ॥

सुरनरऋषिमुनिसबफँसे, मृग त्रिस्ना जग मोह।
मोह रूप संसार है, गिरे मोह निधि जोह ॥९॥

मोह वश सुर, नर, मुनि सबही मृग तृष्णामें फँस गये। संसार मोह रूप है जो मोह निधिमें गिरा सो गिरा उसे कहीं भी स्थिति नहीं होती ॥ ६ ॥

कुरुक्षेत्र सब मेदिनी, खेती करै किसान।
मोहमिरग सबचरिगया, आस न रहिखलिहान॥१०॥

पृथ्वी सब कुरुक्षेत्र है, धानालु किसान हैं, याना रूप खेती कर रहे हैं। परन्तु विचार द्वारा मोह मृगको नहीं मारते अतः उनके ज्ञान रूप खेत सब चर गया। मोक्ष फल रूप खलिहान की उन्हें आशाही न रही ॥ १० ॥

काहु जुगति ना जानिया, किहिविधि बचै सुखेत।
नहिं बंदगी नहिं दीनता, नहिं साधू संग हेत ॥११॥

किसीने रक्षाकी युक्ति नहीं जानी फिर कहो ? किसप्रकार खेत बचे ? न विनय है न दीनता और न सन्तोंके सत्संगमें प्रेम है ॥ ११ ॥

अष्टासिद्धि नव निद्धि लौं, सबही मोह की खान।
त्याग मोह की वासना, कहैं कबीर सुजान ॥१२॥

अष्ट सिद्धि और नव निधि ये सबही मोहका आकार है। कबीर गुरु कहते हैं कि श्रेष्ठ ज्ञानी वही है जो सबको मोह वासनाको त्याग करता है ॥ १२ ॥

अपना तो कोई नहीं, हम काहू के नाँहि।
पार पहूँची नाव जब, मिलि सब बिछुड़े जाँहि॥१३॥

१—मरुदेशमें रेतेली जगह पर सूरजकी किरणोंमें मृगको जल प्रतीत होता है ऐसा मालूम होनेपर मृग वहाँ जाते हैं और पानी न मिलनेपर निराश होके लौट आते हैं इसी दौड़ धूपमें कितने मर भी जाते हैं।

प्रासंगिक सम्बन्धको ज्ञानी पुरुष नदी नाव संयोग समझते हैं। न अपना करके किसीको मानते हैं न अपने किसीको बनते हैं। जैसे नौका पार होने पर सब अलग २ हो जाते हैं तद्वत्॥

अपना तो कोई नहीं, देखा ठोकि बजाय।
अपना अपना क्या करै, मोह भरम लपटाय ॥१४॥

मैंने खूब जाँच बूझकर देख लिया अपना कोई नहीं है। ऐ नरजीव! भ्रमसे मोहमें फँसकर क्या अपना २ करता है?

मोह नदी विकराल है, कोइ न उतरै पार।
सतगुरु केवट साथ ले, हंस होय जम न्यार ॥१५॥

मोह नदी बड़ा भयंकर है, इससे विवेक बिना कोई भी पार नहीं होता। सद्गुरु कँड़िहारके साथमें लेके कोई हंस ही इसे पार होता है ॥ १५ ॥

एक मोह के कारनै, भरत धरी दो देह।
ते नर कैसे छूटिहैं, जिनके बहुत सनेह ॥१६॥

देख लो एक हरिनके ऊपर मोह होनेसे भरतने दो शरीर धारण किया। तो कहो भला वे नर कैसे छूटेंगे? जिन्हें अनेकों स्नेहरूप मोह हैं। हर्गिज नहीं ॥ १६ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित मोहको अङ्ग ॥ ६५ ॥

अथ मदको अङ्ग ॥६६॥

अहं अगनि हिरदै जरै, गुरु सों चाहै मान।
तिनको जम न्यौता दिया, हो हमरे मिहमान ॥१॥

जिसका हृदय अभिमान अग्निसे जल रहा है और जो गुरुसे भी प्रतिष्ठा चाहता है उसे मृत्युने मानो निमन्त्रण दे दिया कि हमारे मिहमान शीघ्र हो जाओ ॥ १ ॥

जहाँ आपा तहाँ आपदा, जहाँ संसै तहाँ सोग।
कहैं कबिर कैसे मिटै, चारौं दीरघ रोग ॥२॥

जहाँ अहंकार है वहाँ अवश्य आपत्ति हैं और जहाँ संशय हैं वहाँ शोक भी है। कबीर गुरु कहते हैं कि ये चारों असाध्य रोग बिना सत्संग कैसे मिटे ? ॥ २ ॥

अहं भई जो इस्तरी, माया हूआ मान।
यौं वासि पड़े खटीक के, पकड़ी आनी कान ॥३॥

अहन्ता स्त्री हुई है और प्रतिष्ठा माया बनी है। आत्मविमुख नरजीवोंको अहन्ता, ममताने ऐसे वशमें किया है जैसे चिक कान पकड़के बकरीको ॥ ३ ॥

हरिजन हरि तो एक है, जो आपा मिट जाय।
जा घट में आपा बसै, साहिब कहाँ समाय ॥४॥

यदि मध्यमें अभिमान व्यवधान न हो तो हरि और हरिजन एकही हैं। परन्तु जिस हृदयमें अभिमान मिहमान है तो वहाँ मालिक कहाँ प्रवेश करै ? ॥ ४ ॥

अहंता नहिं आनिये, हरि सिंहासन देय।
जो दिल राखै दीनता, साँइ आप करि लेय ॥५॥

प्रभु हमें मान दें ऐसा अभिमान मनमें मत लाओ। दिलमें यदि दीनता गरीबी रक्खोगे तो स्वामी स्वयंही अपना कर लेगा५

कबीर गर्व न कीजिये, रंक न हँसिये कोय।
अजहूँ नाव समुद्र में, ना जानौं क्या होय ॥६॥

ऐ कबीर! धनादिकका अहंकार मत करो एवं किसीको दरिद्र कहके मज़ाक मत उड़ावो। अभी जीवनका जहाज़ संसार सिन्धुमें है न जाने कब क्या हो जाय ॥ ६ ॥

आपा सबही जात है, किया कराया सोय।
आपा तजि हरि को भजै, लाखन मध्ये कोय ॥७॥

अहंकार चण्डालके आनेसे शुभ कर्म, धर्मादि सबही किये कराये चले जाते हैं। ऐसे लाखोंमें कोई एक है जो निराभिमान हो प्रभुको भजता हो ॥ ७ ॥

दीप कूँ झोला पवन है, नरकूँ झोला नारि।
ज्ञानी झोला गर्व है, कहैं कबीर पुकारि ॥८॥

कबीर गुरु विचारकर कहते हैं कि दीपकका नाशक वायु और नरको नारी व ज्ञानीको गर्व है। इनसे सदाही इन्हें बचना चाहिये॥

अभिमानी कुंजर भये, निज सिर लीन्हा भार।
जम द्वारे जम कूटहीं, लोहा घड़ै लुहार ॥६॥

जिसने अभिमानका बोझा शिर पर लिया वह अभिमानी मरके बड़ा हाथी हुआ। वह यम द्वारे ऐसा कूटा जायगा जैसा लोहारके यहाँ लोहा कूटा जाता है ॥ ६ ॥

मद अभिमान न कीजिये, कहैं कबिर समुझाय।
जा सिर अहं जु संचरै, पड़ै चौरासी जाय ॥१०॥

कबीर गुरु समझा कर कहते हैं कि अभिमान रूप मदका पान कभी मत करो। जिसके शिर अभिमानरूप नशा चढ़ेगा वह अवश्य चौरासीमें पड़ेगा ॥ १० ॥

इति श्रीमदको अङ्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

अथ मानको अङ्ग ॥६७॥

मान बड़ाई कूकरी, धर्मराय दरबार।
दीन लकुटिया बाहिरे, सब जग खाया फार॥१॥

मान, बड़ाई ये दोनों कुत्ती यमराजके दरबारमें रहनेवाली दरबारी हैं। जिनके हाथमें गरीबी लकड़ी नहीं है तिन सबोंको फाड़ खाई ॥ १ ॥

मान बड़ाई कूकरी, सन्तन खेदी जान।
पांडव जग पावन भया, सुपच विराजे आन॥२॥

सन्तोंने मान, बड़ाईको कुत्ती जानकर हँकाल दिया है। पाण्डवोंका यज्ञ तबही पवित्र हुआ जब इन दोनों कुत्तीसे रहित सुपच भक्त आ पधारे ॥ २ ॥

मान बड़ाई जगत में, कूकर की पहिचान।
प्यार किये मुख चाटई, बैर किये तन हान॥३॥

संसारमें कूकुरकी यही पहिचान है, कि मान करनेसे मुख चाटता और बैरसे काट खाता है। यही मानी, अभिमानी मनुष्योंका भी स्वभाव है ॥ ३ ॥

मान बड़ाई ऊरमी, ये जग का व्यवहार।
दीन गरीबी बन्दगी, सतगुरु का उपकार॥४॥

संसारमें मान, बड़ाई का व्यवहार ये बड़ेही दुःख दाई हैं। इनसे बचनेके लिये सद्गुरुका उपकार मानना और गरीबी धारण कर दीनता पूर्वक उनके चरणोंमें शिर झुकाना है ॥ ४ ॥

मान बड़ाई देखि कर, भक्ति करै संसार।
जब देखै कछु हीनता, अवगुन धरै गँवार ॥५॥

भक्तोंकी मान बड़ाई देखके आडम्बरी लोग भी भक्ति करने लगते हैं। परन्तु जहाँ कहीं कुछ घटी न्यूनता दीख पड़ी कि गँवार लोग प्रभुमेंही अवगुण स्थापन करने लगते हैं। अपनी ओर नहीं देखते ॥ ५ ॥

मान दिया मन हरषिया, अपमाने तन छीन।
कहैं कबिर तब जानिये, माया में लौ लीन ॥६॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जो प्रतिष्ठासे खुश और अप्रतिष्ठासे दुःखी जबतक होते हैं तब तक उन्हें मायामेंही लीन समझो, उन्हें प्रभुमें लगन नहीं है ॥ ६ ॥

मान तजा तो क्या भया, मनका मता न जाय।
संत बचन मानै नहीं, ताको हरि न सुहाय ॥७॥

यदि मन मत नहीं गया तो मान त्यागनेहीसे क्या हुआ। जो सन्तोंके सदुपदेश नहीं मानते तिन्हें प्रभु भी नहीं सुहाते हैं॥

कंचन तजना सहज है, सहज तिरियाका नेह।
मान बड़ाई ईरषा, दुरलभ तजनी येह ॥८॥

कनक और कामिनीका स्नेह त्यागना सहज है। परन्तु मान, बड़ाई और ईर्षा (डाह) इन्हें त्यागना सर्व साधारणके लिये कठिनही नहीं किन्तु असम्भव सा है ॥ ८ ॥

माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहि जाय।
मान बड़े मुनिवर गले, मान सबनको खाय ॥९॥

जो प्रतिष्ठाकी चाह नहीं छूटी तो मायाका त्याग व्यर्थ है।

क्योंकि बड़े बड़े ऋषि, मुनि भी मानमें गलित हुये हैं। मान चण्डाल सबको खा डालता है ॥ ६ ॥

काला मुख कर मान का, आदर लावो आग।
मान बड़ाई छाँड़ि के, रहौ नाम लौ लाग ॥१०॥

ऐ सत्संगियो! मानके मुखमें श्याही पोतके सत्कारको अग्नि लगा दो। बस इन दोनोंसे रहित हो सद्गुरु नामसे लगन लगाय रहो॥ १० ॥

कबीर अपने जीवते, ये दो बाँता धोय।
मान बड़ाई कारनै, अछता मूल न खोय॥११॥

ऐ कबीर! अपने मनसे इन दोनों कालिमाओंको धो डालो। क्योंकि क्षणिक मान बड़ाईके वास्ते अक्षय मोक्ष मूलको मत खो डालो ॥ ११ ॥

खंभा एक गयंद दो, क्यौं करि बाँधू बारि।
मान करूँ तो पिव नहीं, पिव तो मान निवारि॥१२॥

मनरूप खम्भा एक है और प्रतिष्ठा व प्रभु ये दो बड़े हस्ती हैं। कौन ओसरोंसे कैसे बाँधू? जो प्रतिष्ठा चाहता हूँ प्रभु नहीं और प्रभुको चाहूँ तो मान कहाँ ॥ १२ ॥

बड़ी बड़ाई ऊँट की, लादे जहँ लग साँस।
मुहकम सलिता लादि कै, ऊपर चढ़ै फरास ॥१३॥

भारी बड़ाई ऊँटकी है इसलिये श्वास पर्यन्त लादा जाता है। और खूब मुहकम यानी मजबूत सलिता नाम काठी लादके ऊपरसे फरास (ऊँट लादनेवाला) चढ़ लेता है ॥ १३ ॥

बड़ा बड़ाई ना करै, बड़ा न बोलै बोल।
हीरा मुख से ना कहै, लाख हमारा मोल ॥१४॥

बड़े लोग अपनी बड़ाई कभी न करते न अभिमान सूचक बोली बोलते हैं। देख लो, हीरा कभी नहीं कहता कि हमारा लख कीमत है ॥ १४ ॥

बड़ी बिपति बड़ाई है, नन्हा करम से दूर।
तारे सब न्यारे रहैं, गहै चंद औ सूर ॥१५॥

विचार दृष्टिसे देखो तो बड़ाईमें बड़ी आपत्ति है और दीनतासे विपत्ति कोसों दूर रहती है। दृष्टि फैलाकर देख लो, राहु, केतु तारे सबको न्यारे करके सूर्य, चन्द्रको ही ग्रस्ते हैं ॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर ॥१६॥

लम्बे खजूर वृक्षके सदृश बड़े हो भी गये तो क्या? न तो उससे मुसाफिरको छाया मिलती है न फल। क्योंकि फल और बहुत दूर लगे हैं। भावार्थः—अभिमानीसे किसीको कुछ प्राप्त नहीं होता ॥ १६ ॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जोरे बड़ मति नाँहि।
जैसे फूल उजाड़ का, मिथ्या ही झड़ जाँहि ॥१७॥

यदि बड़ा विचार नहीं है तो केवल ऊँच खानदान आदिमें होनेसे कुछ नहीं। जैसे जंगलका पुष्प, खिला और उपयोग बिना व्यर्थमें झड़ गया ॥ १७ ॥

हरिजन को ऊँचा नवै, ऊँट जनम का होय।
तीन जगह टेढ़ा भया, ऊँचा ताकै सोय ॥१८॥

जो हरि भक्तोंको अकड़के साथ नमस्कार करता है वह पुनः जन्म लेके ऊँट होगा। और तीन जगह कुबड़ा होके ऊँचा देखा करेगा ॥ १८ ॥

ऊँचे कुल में जनमिया, देह धरी अस्थूल।
पार ब्रह्म को ना चढ़े, वास विहूना फूल ॥१६॥

सेमर वृक्षके सदृश यदि ऊँचे कुलमें सुन्दर शरीर भी धारण किया तो क्या ?। जैसे खुशबू रहित सेमरादिका पुष्प प्रभुको नहीं चढ़ता तैसे ये मनुष्य भी विनय, शील गुण विना व्यर्थ हैं ॥ १६ ॥

ऊँचे कुल नीचा मता, नाहीं हरि सों हेत।
हीन गिनै हरि भक्त को, खासी खता अनेक ॥२०॥

ऊँच कुलमें जन्म लेकर भी जिसकी बुद्धि नीच है और प्रभु से प्रेम नहीं। हरिभक्तोंको नीच समझता है। ऐसे अनेकों साफ अपराध करने वाला है ॥ २० ॥

ऊँचै कुल के कारनै, भूलि रहा संसार।
तब कुल की क्या लाज है, जब तन होगा छार ॥२१॥

उच्च खानदान होनेके सबब मारे अभिमानके संसारमें भूल रहा है। उस वक्त कौन कुलकी लज्जा रहेगी जब शरीर खाकमें मिल जायगा ॥ २१ ॥

ऊँचै कुल की कामिनी, भजै न सारंग पान।
कुलहि लजावन औतरी, सूधी सापिन जान ॥२२॥

जो पर्देनशीन होनेसे उच्च कुलकी स्त्रियाँ लज्जाके मारे भगवान्को नहीं भजती। वह मानो कुलको कलंकित करनेके वास्ते ही अवतार ली है, उसे सूधि सर्पिणी ही जानो ॥ २२ ॥

कबीर ऊँची नाक को, ऐंठत है संसार।
जाते हरि हाथी किया, नाक दिया गज चार॥२३॥

ऐ कबीर! संसारमें ब्राह्मण आदि ऊँची नाकको ऐंठते यानी बड़ेपनका अभिमान करते हैं। इसीसे भगवानने उन्हें दूसरे जन्ममें हाथी बनाके चार गज़की नाक दी है॥ २३॥

हाथी चढ़ि के जो फिरै, ऊपर चँवर ढुराय।
लोग कहैं सुख भोगवै, सीधे दोजख जाय॥२४॥

मोह वश जो अभिमान रूप हस्ती पर सवार होके ऊपरसे चँवर ढुरवाते अर्थात् सब पर हुकूमत चलाते हैं। यद्यपि लोग उन्हें सुख भोगी कहते हैं तथापि विचार दृष्टिसे वे सीधे अहंकार वश नरक जा रहे हैं॥ २४॥

कबीर हरि जाना नहीं, जाना कुल परिवार।
गदहा है करि औतरै, भाँड़ा लादि कुम्हार॥२५॥

ऐ कबीर! जो प्रभुको न जानकर कुलपरिवारमेंही आसक्त रहा। वह गदहा योनिको प्राप्त हो कुम्हारका बर्त्तन ढोते जन्म गमाया॥ २५॥

ऊँचा देखि न राचिये, ऊँचा पेड़ खजूर।
पंखि न बैठे छाँयड़े, फल लागा पै दूर॥२६॥

ऊँचा देख अनुरक्त मत हो। ऊँचा तो खजूरका वृक्ष है। न उसकी छायामें पक्षी बैठता न ऊँचाईके कारण किसीको फलही प्राप्त होता है॥ २६॥

ऊँचै पानी ना टिकै, नीचै ही ठहराय।
नीचा है सो भरि पिये, ऊँच पियासा जाय॥२७॥

ऊँचे भीट्टा पर पानी नहीं टिकता, नीची जमीनमें ठहरता है। जो नीचा होता है वह भर कर पीता है, ऊँच निवासी प्यासे जाता है ॥ २७ ॥

नर मूरख ते खर भला, जिहि मुख नाहीं राम।
सुकुन बतावै और को, पंथ चलंता गाम ॥२८॥

उस मनुष्यसे तो गदहा अच्छा है। जिसके मुखसे रामका नाम नहीं उच्चारण होता है। क्योंकि गदहा तो दूसरे मुसाफ़िरों को शकुन भी बतलाता है ॥ २८ ॥

प्रभुता को सबकोइ भजै, प्रभु को भजै न कोय।
कहैं कबिर प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ॥२९॥

शक्तिकी पूजा सब कोई करते हैं प्रभुकी कोई नहीं। कबीर गुरु कहते हैं यदि प्रभुको भजे तो प्रभुता स्वयं दासी बन जाय।

लघुता में प्रभुता बसै, प्रभुता से प्रभु दूर।
कीड़ी सो मिसरी चुगै, हाथी के सिर धूर ॥३०॥

लघुतामें बड़ी शक्ति रहती है। प्रभुतासे प्रभु बहुत दूर रहते हैं। देखो, चींटी तो मिश्री चुँगती और हाथी शिर पर धूल डालता है ॥ ३० ॥

जौन मिला सो गुरु मिला, चेला मिला न कोय।
चेला को चेला मिलै, तब कछु है तो होय ॥३१॥

अभिमानी बहुतेरे मिलते हैं, विनयावनत शिष्य कोई नहीं। जब गुण ग्राहीको गुण ग्राही मिलता है, तबही कार्य सिद्धिकी सम्भावना होती है ॥ ३१ ॥

बड़ा बड़ाई ना करै, छोटा बहु इतराय।
ज्यों प्यादा फरजी भया, टेढ़ा टेढ़ा जाय ॥३२॥

बड़े पुरुष अपनी प्रशंसा कभी नहीं करते। छोटे बड़े घमण्डी होते हैं। जैसे सिपाही जब वज़ीर हो जाता है तब मारे अभिमानके टेढ़े २ चलता है॥ ३२॥

बग ध्यानी ज्ञानी घने, अरथी मिले अनेक।
मान रहित कबीर कहैं, सो लाखन में एक ॥३३॥

बगुलेकी तरह ध्यान लगाने वाले ध्यानी और द्रव्यके लिये ज्ञान कथने वाले ज्ञानी बहुतेरे मिलते हैं। परन्तु कबीर गुरु कहते हैं कि जो अभिमानरहित है वह कोई लाखोंमें एक है॥३३॥

भक्त रु भगवत एक है, बूझन नहीं अजान।
सीस नवाँवत संत को, बड़ा करै अभिमान ॥३४॥

भगवान् और भक्त एक ही हैं इस भेदको गँवार नहीं समझता। अतः सन्तोंको नमस्कार करनेमें भी बड़ा अभिमान करता है॥ ३४॥

लेने को हरिनाम है, देने को अँनदान।
तरने को है दीनता, बूड़न को अभिमान ॥३५॥

लेनेके लिये प्रभुका नाम और देनेके लिये अन्नका दान है। ऐसे संसारसे उद्धारके लिये दीनता और डूबनेके लिये अभिमान है॥ ३५॥

इति श्री मानको अङ्ग समाप्त॥ ६७॥

१—शतरंजके खेलमें वज़ीरकी चाल टेढ़ी और सिपाहीकी सीधी होती है। जब वज़ीरके घरमें जानेसे सिपाही वज़ीरको मारकर वज़ीर बन जाता है तब वह सीधी चाल बदलकर टेढ़ी चाल चलने लगता है। यही नीचोंका स्वभाव है।

अथ आशा तृष्णाको अङ्ग ॥ ६८ ॥

आसा तो गुरुदेव की, दूजी आस निरास।
पानी में घर मीन का, सो क्यौं मरै पियास ॥१॥

दूसरी आशाओंसे निराश होना पड़ता है और गुरुदेवकी आशा अवश्य पूर्ण होती है। क्योंकि जलमें रहने वाली मछली कभी प्यासे नहीं मर सकती ॥ १ ॥

आस एक गुरुनाम की, दूजि आस निवार।
दूजी आसा मारसी, ज्यौं चौपर की सार ॥२॥

दूसरी आशाओंको छोड़ कर एक गुरु नाम ही की आशा रक्खो। दूसरी आशा ऐसे दाव पाकर मारेगी जैसे चौपड़ की गोटी ॥ २ ॥

आसा एक हि नामकी, जुग जुग पुरवै आस।
ज्यौं पंडल कोरो रहै, बसैं जु चंदन पास ॥३॥

केवल एक गुरुनामका ही सहारा सर्वदा सर्व मनोर्थोंको पूर्ण कर सकता है। अन्य नहीं, जैसे पण्डल वृक्ष चन्दनके पास रहने पर भी ज्योंका त्यों कोराही रह जाता है ॥ ३ ॥

आसा जीवै जग मरै, लोग मरै मरि जाँहि।
धन संचै ते भी मरै, उबरै सो धन खाहि ॥४॥

संसारमें मनुष्य मर जाते हैं किन्तु सांसारिक आशा, तृष्णा नहीं मरती। और जो धन संग्रह करते हैं वे भी मरते हैं, जीने वाले उसे भोगते हैं ॥ ४ ॥

आस वास जग फंदिया, रहै उरध लपटाय।
नाम आस पूरन करै, सकल आस मिटिजाय॥५॥

आशा, वासनां फाँसमें जगज्जीव सब फँसके ऊँधे लटक रहे हैं यदि उन्हें सांसारिक आशायें सब छूट जायें तो गुरुका नाम सर्व आशाओंको पूर्ण कर देवें ॥ ५ ॥

आसा बेली करम बन, गरजै मन के साथ।
तृस्ना फूल चौगान में, फल करता के हाथ॥६॥

कर्म रूपी वनमें आशा रूपी लता मन रूपी हस्तीके साथमें खूब गरज (फैल) रही है। और तृष्णा रूपी पुष्प भी मैदानमें खूब खिले हैं परन्तु फल उसका मालिकके हाथमें है कि विना मालिकसे प्रेम किये वह फल पा नहीं सकता ॥ ६ ॥

आसा तृस्ना सिंधु गति, तहाँ न मन ठहराय।
जो कोइ आसा में फँसा, लहर तमाचा खाय॥७॥

आशा, तृष्णा समुद्रकी धारा है, तहाँ मन स्थिर नहीं होता। जो कोई आशा समुद्रमें फँसता है वह लहर रूपी तमाचा खूब खाता है ॥ ७ ॥

आसा तृस्ना दो नदी, तहाँ न मन ठहराय।
इन दोनों को लंघ करि, चौड़े बैठे जाय॥८॥

आशा और तृष्णा ये दोनों प्रवाही नदी हैं तहाँ मन स्थिर नहीं रहता। इस वास्ते इन दोनोंके पारकर निरालम्ब स्वरूप में जाके स्थिति करै ॥ ८ ॥

चौड़े बैठे जाय के, नाँव धरा रनजीत।
साहेब न्यारा देखिया, अन्तर गति की प्रीत॥९॥

जो चौड़े निरालम्ब स्वरूपमें जाके स्थिति करेगा वही रण विजयी नाम धरायगा। और अभ्यन्तरके प्रेमसे मालिकको निराला देखा व देखेगा ॥ ६ ॥

आसा तरकस बाँधिया, नै नै गये सुजान।
घने पखेरू मारिया, भ्राँभरि जोरि कमान॥१०॥

आशा रूपी भाथाको बाँधके बहुतेरे सुजान झुक २ के चले गये। और इस आशा रूपी पुराने कामानसे घने नरजीव रूप पखेरू मारे गये ॥ १० ॥

आसा को ईंधन करूँ, मनसा करूँ भभूत।
जोगी फिरि फेरी करूँ, यों बनि आवै सूत॥११॥

अतः आशाको ईन्धन करके मनोरथको भभूत बना लूँ। और अंगमें भस्म रमाके योगी बन जाऊँ फिरफेरी लगाया करूँ यदि इस प्रकार भी कार्य सिद्ध हो जाय ॥ ११ ॥

कवीर जोगी जगत्त गुरु, तजै जगत की आस।
जो जगकी आसा करै, जगत गुरू वह दास॥१२॥

ऐ कवीर! योगी तब ही संसारका गुरु हो सकता है जब यह जगतकी आशा छोड़ दे। यदि जगत्‌की आशा करेगा तब तो वह दास बन जायगा और जगत लोग गुरु हो जायँगे॥१२॥

जोगी है जग जीतता, बहिरत है संसार।
एक अँदेसा रहि गया, पीछै पड़ा अहार॥१३॥

योगी बन जगतको जीतके संसारमें निर्द्वन्द्व विचरा करता। लेकिन एक ही अन्देसा लगा रहता है कि पेट आहार पीछे पड़ा है अथवा योगी होकर जगत-जीतनेके लिये संसारसे निकलते हैं किन्तु पेट पापीका अहार जो पीछे लगा है, जीतने नहीं देता।

बहुत पसारा जनि करै, कर थोड़े की आस।
बहुत पसारा जिन किया, तेई गये निरास ॥१४॥

अधिक उपाधि मत करो थोड़ेहीमें सन्तोष कर लो "यथालाभसन्तुष्ट" जिसने अधिक उपाधि बढ़ाई वे सबसे निराश होके चल धरे ॥ १४ ॥

आसन मारे कह भयो, मरी न मनकी आस।
तेली केरे बैल ज्यों, घरही कोस पचास ॥१५॥

यदि मनकी आशा तृष्णा न मरी तो आसन मारने हीसे क्या हुआ जैसे तेलीके बैल घरहीं पचासों कोशके चक्कर खाया करता है ॥ १५ ॥

सब आसन आसा तनै, निवरत कोई नाँहि।
निवृत्ति को जानै नहीं, प्रवृति प्रपंचहि माँहि॥१६॥

यदि सांसारिक तृष्णाओंसे मनको निवृत्ति नहीं है तो स्वस्तिक, मयूरादि चौरासी आसन सब पेसाके वास्ते है। निवृत्ति मार्गको वे कुछ नहीं जानते सम्पूर्ण समय उनका प्रवृत्ति प्रपंचमें ही जाता है ॥ १६ ॥

बाढ़ चढ़न्ती बेलरी, उरझी आसा फंद।
टूटै पर जूटै नहीं, भई जो बाचा बंध ॥१७॥

शमदमादि बाड़ पर चढ़ती हुई वृत्ति रूपी लता जब मायिक आशा फाँसमें फँस जाती है तब टूट जाती है पर पुनः शमादिमें नहीं जूटती, क्योंकि चित्स्वरूपकी ओरसे उसको वाचाबन्ध अर्थात् वह मुर्दा हो गई है ॥ १७ ॥

कबीर जग को कह कहूँ, भौजल बूड़े दास।
सतगुरुसम पति छाँड़िके, करै मनुष की आस ॥१८॥

ऐ कबीर ! जगज्जीवोंको क्या कहूँ जब कि आशा रूप भव-सिन्धुमें भगवान भक्त भी गोता खा रहे हैं। सद्गुरु सदृश स्वामीको छोड़के प्राकृत मनुष्यकी आशा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

आस आस घर घर फिरै, सहै दुखारी चोट ।
कहै कबिर भरमत फिरै, ज्यौं चौसर की गोट ॥१६॥

"आशाके वश भटकत डोलें निशि वासर भऊ मारी । छल प्रपंच कपट फैलावत उमर गमाई सारी" इत्यादि के अनुसार आशा लगा के घर २ फेरी देते हैं और दुखदाई दुर्वचन ठोकर खाया करते हैं। और ऐसे भ्रमण किया करते हैं जैसे चौसर की गोटी ॥ १६ ॥

आसा तो गुरुदेव की, और गले की फाँस ।
चंदन ढिग चंदन भये, देखौ आक पलास ॥२०॥

सद्गुरु देवकी आशाके सिवा और सब गलेकी फाँसी है। देख लो चन्दनके समीप आक, पलास भी चन्दन हो गये ॥२०॥

कबीर सो धन संचिये, जो आगे को होय ।
सीस चढ़ाये गाठरी, जात न देखा कोय ॥२१॥

ऐ कबीर ! उस धनको संग्रह करो जो आगे मुक्ति राहका संमल हो। मायिक धनकी गठरी तो शिर पर लेके जाते किसी को भी नहीं देखा है ॥ २१ ॥

रामहि छोटा जानि के, दुनिया आगे दीन ।
जीवन को राजा कहै, तृस्ना के आधीन ॥२२॥

ऐ नरजीव ! रामका भरोसा भारी है उसे छोटा समझके दुनियाके आगे क्यों दीन होता है? तृष्णाके अधीन होके प्राकृत नरजीवोंको भी राजा मानता है ॥ २२ ॥

कबीर तृस्ना पापिनी, तासों प्रीति न जोर।
पैंड़ पैंड़ पाछै पड़े, लागै मोटी खोर ॥२३॥

ऐ कबीर! तृष्णा बड़ी डाँकिनी है, उससे प्रेम कभी मत जोड़। यह पग २ में पीछे पड़ेगी और उसके चलते फिर बड़ीसे बड़ी बुराइयाँ होने लगेंगी ॥ २३ ॥

तृस्ना सींची ना बुझै, दिन दिन बढ़ती जाय।
जावासा का रुख ज्यौं, घन मेहा कुम्हिलाय ॥२४॥

जैसे जवासका पेड़ वर्षा जलसे सूख जाता है तैसे तृष्णा लता द्रव्यादि रूप जल सेचनसे शान्त नहीं होती बल्कि और दिन दूनी बढ़ती जाती है यथाः—"नित प्रति लाभ लोभ अधिकाई" इत्यादि ॥ २४ ॥

आस आस जग फंदिया, गले भरम की फाँस।
जन्म जन्म भरमत फिरै, तबहु न छूटी आस ॥२५॥

संसारी लोगोंके गलेमें ऐसी भ्रम फाँसी लगी है कि हजारों आशा उलझनमें उलझे हैं। चौरासी लक्ष योनियोंका चक्कर खाया करते हैं फिर भी विना स्वरूप ज्ञान आशा नहीं छूटती।

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित आशातृष्णाको अङ्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

अथ कपटको अङ्ग ॥ ६९ ॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ कपट का हेत ।
जानो कली अनार की, तन राता मन सेत ॥१॥

ऐ कबीर! वहाँ मत जाओ जहाँ कपटकी प्रीति है। जिसके तनमें तथा मनमें और है उसे मुख पर सफेदी लिये हुए अनारकी कली समझो ॥ १ ॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ न चोखा चीत।
परपूटा औगुन घना, मुँहड़े ऊपर मीत ॥२॥

ऐ कबीर! वहाँ हर्गिज़ न जाओ धोखा खा जावोगे जहाँ निर्मल चित्त नहीं है। और सिर्फ मुँह परही मित्रता है पीठ पीछे घने अवगुण हैं ॥ २ ॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ जु नाना भाव।
लागे ही फल ढहि पड़े, बाजै कोइ कुबाव ॥३॥

ऐ कबीर वहाँ कभी मत जाओ जहाँ एक इष्ट देवका भाव नहीं है। अर्थात् एकसे प्रेम नहीं है। जरा सा किसी कुभाव पवनके लगनेसे प्रेम फल बिखर पड़ेगा ॥ ३ ॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ कपट को हेत ।
नौ मन बीज जु बोय के, खाली रहिगा खेत ॥४॥

ऐ कबीर! जहाँ कपटका व्यवहार है वहाँ कभी मत जाओ। जैसे ऊपर खेतमें बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है ऐसेही कपटी चित्तकी नौ मन बीज यानी नवधा भक्ति भी विफल होती है ॥

हेत प्रीति सों जो मिले, तासों मिलिये धाय।
अन्तर राखी जो मिलै, तासों मिलै बलाय ॥५॥

जो आन्तरिक प्रेमसे मिले उससे दौड़कर मिलो। और अन्तरमें कपट रक्खे उससे कदापि न मिलो। उसे बला जानके टाल दो ॥ ५ ॥

चितकपटी सबसों मिलै, माँहीं कुटिल कठोर।
इक दुरजन इक आरसी, आगे पीछे और ॥६॥

कपटी लोग भीतर मनमें कठिन कुटिलता रखके केवल बाहरी प्रेम ज़ाहिर करके सबसे मिलते हैं। दर्पण व दुर्जनका एकही स्वभाव होता है। इनके सामनेमें सफाई और पीठ पीछे मैला पना बुराई रहती है इसी कारण सफाई के वास्ते मूँः पर राख मला जाता है ॥ ६ ॥

दिलही परजो दिलमिलै, तो दिल दगा न होय।
सो दिल कबहुँ न बीसरै, कोटि करै जो कोय ॥७॥

जब शुद्ध हृदय वालोंसे शुद्ध हृदय मिलते हैं तब किसी प्रकारकी दगा नहीं होती। चाहे कोई करोड़ों उपाय करे परन्तु उनके परस्परके आन्तरिक प्रेम को नहीं भुला सकता ॥ ७ ॥

ढिंकली का नमना कहा, यह ना बहुरै बीर।
पहिले चरनौं लागि के, पीछे सोखै नीर ॥८॥

ऐ वीर! ढिकुलीका झुकना क्या है? इसे भला न मानो यह खाली पीछे न फिरेगी। यह प्रथम नमस्कार करके पीछे जल शोषण करेगी यही नमन दुर्जनका है ॥ ८ ॥

नमन नँवा तो क्या हुआ, सूधा चित्त न ताहि।
पारधिया दूना नँवै, मिरग हि दूकै जाहि ॥९॥

यदि सीधा, झुकही कर नमस्कार किया तो क्या ? जब कि सरल चित्त नहीं है। यों तो मैतलब साधनेके लिये शिकारी दूना नमता है परन्तु उसके नमनेसे क्या ? उलटे बेचारे मृगे मारे जाते हैं, भला नहीं होता ॥ ९ ॥

नमन नमन बहु अन्तरा, नमन नमन बहु बान।
ये तीनौं बहुतै नँवै, चीता चोर कमान ॥१०॥

झुकने झुकनेमें भी बहुत भेद और विचित्र आदत है। देखो, चीता, चोर और कमान ये तीनों बहुते ही नमते हैं परन्तु इनसे भलाई किसीकी नहीं होती ॥ १० ॥

केसूँ भँवर न बैठही, जो अति फूले फूल।
खार कपट हिरदै बसै, मधुकर तजै समूल ॥११॥

चाहे कितनेहूँ पलास फूल फूलें परन्तु उस पर सद्गुण ग्राही भँवरा नहीं बैठ सकता। क्योंकि जिसके हृदयमें क्षार-कपट रहता है उसे गुण ग्राही समूल त्याग देते हैं ॥ ११ ॥

कहा बनावै बाहिरै, भीतरिया सों काम।
छाने छिप कै तूँ करै, सारा जानै राम ॥१२॥

बाहरी देखाओंसे कुछ नहीं, भीतरसे मतलब है। तू बुराई कोने में छिप कर करता है परन्तु राम सब जान लेता है। यथाः-" दुनियाँ की दोनों आँखमें तो धूल डालते। आँखें हजार उसकी बचावोगे किस तरे " इति ॥ १२ ॥

आगे दरपन ऊजला, पीछै विषम विकार।
आगे पीछै आरसी, क्यौं न पड़ै मुख छार ॥१३॥

दर्पणके सामने साफ और पीछे बड़ा विकार रहता है। इसी कारण उसके मुखमें सफाईके लिये क्षार लगाया जाता है।

आगे पीछे चोरकी ओर करने वाले ऐसे कपटियोंकी मुखमें धूल डालना उचितही है ॥ १३ ॥

कपटी कधी न ऊधरे, सौ साधुन के संग।
मुंज पखालै गंग में, ज्यौं भीजै त्यौं तंग ॥१४॥

चाहे सैकड़ों साधुओंके संग क्यों न किया करे, कपटीका उद्धार कदापि नहीं होता। क्योंकि मुञ्ज-शणकी डोरी चाहे गंगाही जलमें क्यों न धुवो ज्यों २ धुवोगे त्यों २ और तंग ही होती जायगी ॥ १४ ॥

कपटी मित्र न कीजिये, पेट पैठि बुधि लेत।
आगे राह दिखाय के, पीछे धक्का देत ॥१५॥

कपटी दोस्त हर्गिज़ न करो, पेट-भीतर पैठके बुद्धि हर लेगा। और आगे रास्ता बताके पीछेसे धक्का देगा यानी दगा करेगा ॥ १५ ॥

कपटी के मन कपट है, साधू के मन राम।
कायर तो सब भगि चले, सूरा के मैदान ॥१६॥

जैसे कपटीका मन कपटमें लीन है तैसे ही सन्तोंका मन राम में। शूरोंके मैदानसे कायरोंको भग जाना उचित ही है क्योंकि वहाँ वह क्या करेगा ? ॥ १६ ॥

अंत कतरनी जीभ रस, नैनौं उपला नेह।
ताकी संगति रामजी, सपनेहु मति देह ॥१७॥

कपटी नरकी जिह्वा होमें अमृत है, भीतर तो विष भरा है। नयनमें भी ऊपर २ का प्रेम है। ऐ प्रभु ! ऐसोंकी संगति भूठ मूठ स्वप्नमें भी मत दिखला ॥ १७ ॥

हिये कतरनी जीभरस, मुख बोलन का रंग।
आगे भल पीछे बुरा, ताको तजिये संग ॥१८॥

जिसके हृदयमें कपट कतरनी और जिह्वामें सुधा रस तथा केवल वचनों हीमें आनन्दका रंग है। ऐसोंका संग त्याग ही अच्छा है जो सामनेमें भलाई और पीछे बुराई करनेवाले हैं ॥१८॥

ऊजल वस्तर सिर जटा, एक चित्त सूँ ध्यान।
फूँकि फूँकि पाँव उठिधरै, तामें कपट निदान ॥१६॥

जो बगुलेकी तरह सुफेद वस्त्र और सिर पर जटा तथा एकाग्र चित्तसे ध्यान लगायें हों और फूँक २ कर चलते हों ध्यान रक्खो उनमेंसे कपट अन्तमें अवश्य निकलेगा ॥ १६ ॥

सरस सखा ऊजल बरन, एक पगा मूँ ध्यान।
मैं जाना कुल हंस है, कपटी मिला निदान ॥२०॥

सारसके मित्र बगुलाको श्वेत वरण और एक पग पर ध्यान मग्न देखके मुझे हंस कुलका ज्ञान हुआ परन्तु संग करने से अन्तमें कपटी बगुला निकला ॥ २० ॥

ज्ञानी नामि गुरुमुख नमै, नमै चतूर सुजान।
दगाबाज दूना नमै, चित्ता चोर कमान ॥२१॥

ज्ञानी पुरुष, गुरुमुख भक्त तथा व्यवहार दक्ष मनुष्य भी नमस्कार करते हैं परन्तु इन सबसे दगाबाज़ और चीता, चोर, कमान ये दूना नमते हैं। इनके द्विगुण नमनाही दूसरा भाव प्रगट करता है। ऐसे नमस्कारसे मनुष्यको होशियार रहना चाहिये ॥ २१ ॥

इति श्री कपटको अङ्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

अथ दुखको अङ्ग ॥७०॥
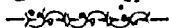
जा दिन ते जिव जनमिया, कबहूँ न पाया सुख।
डाले डाले मैं फिरा, पाते पाते दूख ॥१॥

जिस दिनसे जीव जन्म लिया, सुख कभी न पाया। त्रिविधि दुःखोंके मारे मैं जिस जिस शाखाकी शरण लेता हूँ दुःख वहाँ पत्ते पत्तेमें हाज़िर रहता है ॥ १ ॥

कबीर सुख कूँ जाय था, बिच में मिलि गया दुख।
सुख जाहू घर आपने, मैं अरु मेरा दुःख ॥२॥

ऐ कबीर! सुख भोगके वास्ते जा रहा था कि बीचेहीमें दुःख मिल गया। बस! ऐ सुख तू अपने घर चला जा, अब तो मैं और मेरा दुःख दोनों संगी होगये ॥ २ ॥

सुखिया ढूँढ़त मैं फिरूँ, सुखिया मिलै न कोय।
जाके आगे दुख कहूँ, पहिले ऊठै रोय ॥३॥

मैं सुखियाको ढूँढ़ते फिरता हूँ पर कोई सुखिया नहीं मिलता। जिसके आगे दुःख कहता हूँ वह मारे दुखके प्रथमही चिल्ला उठता है ॥ ३ ॥

जाके आगे इक कहूँ, सो कहवे इकवीस।
एक एक ते दाझिया, कहाँ ते काढ़ूँ बीस ॥४॥

जिसके आगे मैं एक दुःख कहता हूँ वह एकैस(२१) कहता है। भला बताइये, एक एकसे तो सब जल रहे हैं अब मैं उसके बीस कैसे निकालूँ ॥ ४ ॥

विष का खेत जु खेड़िया, विष का बोया झाड़ ।
फल लागे अंगार से, दुखिया के गलहार ॥५॥

जोत हैंगा कर संसाररूप विषका खेत तैयार किया और विष-वृक्षका बीज बोया और उसमें त्रिविध तापरूप फल लगे जो दुखियोंके गलेका हार हुआ ॥ ५ ॥

झल बाँयें झल दाहिने, झलहीं में व्यवहार ।
आगे पीछे झलहि है, राखै सिरजन हार ॥६॥

दहिने, बाँयें ज्वालाही ज्वाला है और उसीमें व्यवहार हो रहा है। आगे पीछे जहाँ देखो तहाँ त्रिविधि तापाग्नि लहक रही है प्रभु समर्थ रखनेवाले हैं दूसरे का क्या वश ? ॥ ६ ॥

मैं रोऊँ संसार कूँ, मुझै न रोवै कोय ।
मुझको रोवै सो जना, राम सनेही होय ॥७॥

मैं संसारकी स्थिति देखकर रोता हूँ पर मेरी ओर किसीका ध्यान नहीं। मेरे लिये वही रोता है जो राम स्नेही है ॥ ७ ॥

संख समूंदा बीछुरा, लोग कहैं बाजन्त ।
प्रीतम आपन कारनै, घर घर धाह दयन्त ॥८॥

शंख बेचारेका तो जीवन स्थान समुद्र छूट गया इसलिये चीख मारता है और लोग कहते हैं कि खूब बजता है। क्या करे, अपने स्वामीके वास्ते घर घर गोहार कर रहा है ॥ ८ ॥

करनि बिचारी क्या करै, हरि नहिं होय सहाय।
जिहि जिहि डाली पग धरूँ, सो सो नमि नमि जाय॥६

मालिक की सहायता बिना करनी बेचारी क्या करे ? जिस जिस डाली पर पग धरता हूँ, झुक झुक जाती हैं अर्थात् भाग्य बिना उद्योग सब निष्फल होते हैं ॥ ६ ॥

सात दीप. नौ खण्ड में, तीन लोक ब्रह्मंड।
कहैं कबिर सबको लगै, देह धरे का दंड ॥१०॥

कबीर गुरु कहते हैं कि ब्रह्माण्डके सात द्वीप, नव खण्ड और तीनों लोकमें शरीर धरेका दण्ड सबको लगे व लगते हैं१०।

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, अज्ञानी भुगतै रोय ॥११॥

क्योंकि देह धरेका दण्ड सबहीको होता है। उसे ज्ञानी पुरुष ज्ञानसे और अज्ञानी लोग रोके भुगतते हैं ॥ ११ ॥

भूप दुखी अवधूत दुखि, दुखी रंक विपरीत।
कहैं कबिर ये सब दुखी, सुखी संत मन जीत॥१२॥

कबीर गुरु कहते हैं कि संसारमें मनके वशीभूत भूप और अवधूत तथा दरिद्र व धनी सबही दुखी हैं। केवल जिसने मनको जीता बस! वेही सन्त सुखी हैं ॥ १२ ॥

बासर सुख नहिं रैन सुख, ना सुख धूप न छाँह।
कै सुख सरनै राम के, कै सुख सन्तों माँह ॥१३॥

न तो सुख दिनमें है न रातमें और न तपरूप धूपमें न योगरूप छायामें। सुख तो रामकी शरण या सन्तोंके सत्संगमें है, अन्यत्र कहीं नहीं ॥ १३ ॥

स्वर्ग मृत्यु पाताल में, पूर तीन सुख नाँहि।
सुख साहिब के भजन में, अरु संतन के माँहि ॥१४॥

स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन तीनों पुरीमें सुख नहीं। सुख केवल सद्गुरुके भजन और सन्तोंके सत्संगमें है ॥ १४ ॥

संपति देखि न हरषिये, विपति देखि मति रोय।
संपति है तहँ विपति है, करता करै सो होय॥१५॥

चंचला सम्पत्तिको देखके हर्ष मत बढ़ाओ और आपत्ति देखके कभी रोवो मत। क्योंकि जहाँ सम्पत्ति वहाँ विपत्तिका होना स्वभाव है यह सब मालिकका खेल है जहाँ जल तहाँ कीचड़ होता है ॥ १५ ॥

संपति तो हरि मिलन है, विपति जु राम वियोग।
संपति विपति राम कहु, आन कहै सब लोग ॥१६॥

हरि दर्शन सम्पत्ति और रामका वियोग यही विपत्ति है। अज्ञानी लोग और की कल्पना करते हैं तो करने दो तुम दोनों अवसर पर रामका नाम लो ॥ १६ ॥

लछमी कहै मैं नित नवी, किसकी न पूरी आस।
किते सिंहासन चढ़ि चले, कितने गये निरास ॥१७॥

लक्ष्मी कहती है मैं नित् नयी हूँ, मैं किसको आशा पूरी नहीं की? अर्थात् सबकी पूरी की। देखो कितने तो सिंहासन पर चढ़के चले और कितने निराश होके। आखीर चले सबही॥

दुख नहिं था संसार में, नहिं था सोग वियोग।
सुखही में दुख लादिया, बोली बोले लोग ॥१८॥

अनादि संसारमें दुःख न था न है। न यह किसीके शोकका हेतु है न वियोगका। स्त्री, पुत्रादिरूप मनोमय सृष्टि रचके उसीमें सुख बुद्धिसे दुःख भी भोग रहे हैं अज्ञानी लोग बिना समझे औरकी और कल्पना कर रहे हैं उन्हें क्या कहा जाये ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
दुखको अङ्ग ॥ ७० ॥

अथ कर्मको अङ्ग ॥७१॥

करम कचोई आतमा, निज कनखाया सोधि।
अंकुर विना न ऊगसी, भावै ज्यौं परमोधि ॥१॥

जैसे घुन खाया हुआ कन (दाना) बोनेसे अंकुर विना नहीं जमता तैसेही कर्म रूपी कचोई जब आत्माको एक दम छा जाती है तब चाहे जिस तरह उसे प्रबोध करो पर वह ज्ञान की ओर ध्यान ही नहीं देता तो समझे कैसे ॥ १ ॥

मोह कुटीमें जलि मुआ, करम किंवाड़ी यारि।
कोइ एक हरिजन ऊबरा, भागा राम पुकारि ॥२॥

गुरु सत्संग विमुख लोग मोह रूपी कुटियामें कर्म किंवाँड़ी लगाके अन्दर ही जल मरे। कोई एक हरिजन उससे भागके बचा जो रामको पुकारा ॥ २ ॥

काया खेत किसान मन, पाप पुन्न दो बीव।
बोया लूनै आपना, काया कसकै जीव ॥३॥

काया रूप खेत है और मन किसान है, तथा शुभाशुभ कर्म दो बीज हैं। जो जीव जैसा बीज काया खेतमें बोता है वैसा फल काटता है ॥ ३ ॥

काला मुँह करूँ करम का, आदर लावूँ आग।
लोभ बड़ाई छाँड़ि के, राचो गुरु के राग ॥४॥

यदि कर पाऊँ तो कर्मका मुँह काला करके सत्कारमें आग

लगा दूँ। और लालच प्रतिष्ठाको विष्टावत त्यागके सद्गुरुके ही राग अलापूँ ॥ ४ ॥

जीव करम में जालि गया, कहैं कहाँ ते राम।
कंचन जला कथीर में, जाको ठौर न ठाम ॥५॥

सकाम कर्मके वशमें पड़के जीव ऐसे जल मरा, जैसें कथीर के संग कंचन। जिसको कहीं स्थिति नहीं वह राम कहाँसे कहै।

भरम करम की जेवरी, वल बंधा संसार।
वे क्यौं छूटे बापुरे, जो बाँधे करतार ॥६॥

भ्रम, कर्मकी रस्सीसे संसारी लोग खूब मज़बूत बँधा गये हैं। वो वेचारे कैसे छूटे जिन्हें खास कर्म करीमाने ही बाँध रक्खा है ॥ ६ ॥

कबीर सजड़ै ही जड़ा, झूठा मोह अपार।
अनेक लुहारे पचि मुये, उभड़त नहीं लगार ॥७॥

ऐ कवीर! कुसंगी लोग ऐसे अथाह मिथ्या मोहमें दृढ़ चन्वाय हैं कि अनेकों लुहार रूप उपदेशक थक गये पर ज़रा सा भी नहीं खुले न खुलते हैं ॥ ७ ॥

कबीर चंदन पर जला, तीतर बैठा माँहि।
हमतो दाझत पंख बिन, तुम दाझत हो काहि ॥८॥
कबीर कमाई आपनी, कबहु न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा पड़े, मिले अगाड़ी आय ॥९॥

ऐ कबीर! चन्दन वृक्षमें अग्नि लग गई और जलने लगा, उसपर भाग्य हत कोई तीतर पक्षी भी बैठे २ जल रहा था। चन्दनने कहा भाई! तुम क्यों जलते हो? मैं तो पत्र बिना जल

रहा हूँ। तीतरने उत्तर दिया कि अपना कर्तव्य, भोगे बिना नष्ट नहीं होता चाहे सात समुद्रकी आड़ क्यों न हो वह जहाँ का भोग तहाँ आगे ही उपस्थित रहता है ॥ ८ ॥ ६ ॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय।
रोपै पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते होय ॥१०॥

जो दुखदाई बुरा कर्म करता है वह सुख भोग कैसे पायगा? कदापि नहीं। जो बबूरका वृक्ष लगायगा वह आम्र फल हर्गिज़ न पायगा ॥ १० ॥

पूरब का रवि पश्चिमै, गर जो उगै प्रभात।
लिखा मिटै नहिं करमका, लिखा जु हरिके हाथ ॥११॥

चाहे पूर्वका सूर्य सवेरे पश्चिममें क्यों न उदय हो जाय। किन्तु मालिकके हाथों लिखा हुआ कर्म रेखा भोगे बिना नहीं मिट सकती ॥ ११ ॥

बूँद पड़ी जा पलक में, उस दिन लिखिया लेख।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूट अनेक ॥१२॥

जिस समय पिताका वीर्य माताके गर्भाशयमें पड़ा उसी दिन कर्म भोग लिख गया। अब कोई कितनोंही शिर क्यों न पटके उसमें से न मासा भर घट सकता न तिल भर बढ़ सकता है॥

जहँ यह जियरा पगु धरै, बखत बरावर साथ।
जो है लिखा नसीब में, चलै न अविचल बात ॥१३॥

यह जीव जहाँ कहाँ जाय, इसका नसीब बराबर साथ में रहता है। नसीबका लेख अचल है वह टल नहीं सकता ॥१३॥

जाको जित(ना)निर्मानकिय,ताको तितना होय।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटो कोय ॥१४॥

जिसको जितना कर्म भोग निर्माण हो चुका है उतनेही उसे मिलता है। चाहे कोई शिर क्यों न फोड़े, उसमें मासा व तिल भर भी कमी वेसी नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

परारब्ध पहिले बना, पीछै बना सरीर।
कबीर अचंभा है यही, मन नहि बाँधे धीर ॥१५॥

यद्यपि प्रारब्ध भोग शरीर निर्माणके प्रथम ही तैयार हो जाता है। तथापि ऐ कबीर! मन धैर्य नहीं धरता यही भारी आश्चर्य है ॥ १५ ॥

कबीर रेखा करम की, कबहु न मिटि है राम।
मेटनहार समर्थ है, समझि किया है काम ॥१६॥

ऐ कबीर! कर्म रेखा राम भी कभी नहीं मेट सकते। क्योंकि मेटने वाले समर्थ हैं बड़ी समझके साथ काम (रेखा) किये हैं ॥ १६ ॥

कबीर घट में राम है, रजक मौत जिव साथ।
कहा जु चारा मनुषका, कलम धनी के हाथ ॥१७॥

ऐ कबीर! राम घट२में रमा है, जीविका और मौत जीवके साथ है इसमें मनुष्यको क्या वश है? जब कि लेखनी मालिक के हाथमें है ॥ १७ ॥

बखत कहो या करम कहु, नासिब कहो निरधार।
सहस नाम है करम के, मनही सिरजनहार ॥१८॥

समय कर्म या नसीब चाहे जिस नामसे निश्चय कर पुकार लो। हज़ारों कर्मके नाम हैं, कर्त्ता मन ही है ॥ १८ ॥

बाहिर सुख दुख देन को, हुकुम करै मन माँय।
जब ऊठे मन बखत को, बाहिर रूप धरि आय ॥१६॥

बाहर सुख दुख देनेको भीतर हीसे मन हुक्म किया करता है। जब नसीबके अनुसार भोग उपस्थित होता है तब मन या नसीब अपना स्वरूप धारण करके आता है ॥ १६ ॥

बखत बलै भौजल तिरै, निर्बल भया विकार।
यह सब किया नसीबका, रह निश्चय निरधार ॥२०॥

समयके परिवर्तनसे विकार (दुष्कर्म) सब दुर्बल हो जाता है। और मनुष्य भवसिन्धुको तर जाता है। ये सब भाग्यका चक्र है निश्चय कर मान लो ॥ २० ॥

करम आपना परखि ले, मन नहि कीजै रीस।
हरि लिखिया सोइ पाइये, पाथर फोड़े सीस ॥२१॥

यदि कोई आपत्तिका सामना हो तो अपने भाग्यकी परीक्षा करो, मनमें क्रोध मत करो। जो प्रभुने निर्माण किया है वही होगा चाहे कोई पत्थरसे शिर क्यों न फोड़े ॥ २१ ॥

कीन्हे बिना उपाय कछु, देव कबहु नहि देत।
खेत बीज बोवै नहीं, तो क्यौं जामै खेत ॥२२॥

स्वयं कोई उद्योग किये विना देव कभी कुछ नहीं देता। यदि कोई खेतमें बीज नहीं बोवे तो खेत क्यों जमने लगा?॥२२॥

दुख लेने जावै नहीं, आवै आचा बूच।
सुख का पहरा होयगा, दुख करेगा कूच ॥२३॥

कोई दुखको लेने नहीं जाता वह स्वयं एकाएक टूट पड़ता है। परन्तु जब सुखका पहरा होता है व होगा तब दुःख आप हो रफूचकर हो जाता व-हो जायगा ॥ २३॥

होनहार सोइ होत है, विसर जात सब सुद्ध।
जैसी लिखी नसीब में, तैसी उफलत बुद्ध ॥२४॥

जो होने वाला है सोई होता है, उस वक्त सब सुधि भूल जाती है। जैसा नसीबमें निर्माण हुआ है उसीके अनुसार बुद्धि भी फुरती है ॥ २४ ॥

रेमन भाग्य ही भूल मत, जो आया मन भाग।
सो तेरा टलता नहीं, निश्चय संसै त्याग ॥२५॥

ऐ मन ! भाग्यको मत भूल जो तेरे भाग्यमें आया है। वह कदापि नहीं टल सकता, यह निश्चय कर संशयको त्याग दे ॥२५॥

मन की संका मेटि कर, निसंक रहु निरधार।
निश्चय होय सो होयगा, जो करसी करतार ॥२६॥

मनको शंका मिटाके सदा निःशंक रहो। जो मालिक चाहेगा वह अवश्य करेगा, उसमें किसीका वश नहीं ॥ २६ ॥

दुनी कहै मैं दो रंगी, पल में पलटि जु जाउँ।
सुख में जो सूता रहै, वाको दुखी बनाउँ ॥२७॥

दूरंगी दुनियाँ कहती है कि मैं पल भरमें पलट जाऊँ। और सुख नींदसे सोयेको दुखी कर दूँ। परन्तु यह सब मनोराज्य है।

तेरा बैरी कोइ नहीं, तेरा बैरी फैल।
अपने फैल मिटाय ले, गली गली कर सैल ॥२८॥

अपने कर्त्तव्यके सिवा तेरा कोई शत्रु नहीं है। कर्त्तव्यको सँभाल कर गली २ में विहार कर, कोई नहीं रोक सकता ॥२८॥

चढ़ै अकास पताल जा, फोड़ि जाहु ब्रह्मंड।
कहैं कबिर मिटिहै नहीं, देह धरे का दंड ॥२९॥

आकाश जावो या पाताल, चाहे ब्रह्माण्ड फोड़के क्यों न निकल जाओ। देह धरेका दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ २९॥

लिखा मिटै नहि करमका, गुरु कर भज हरिनाम।
सीधे मारग नित चलै, दया धर्म विसराम ॥३०॥

कर्म रेखा नहीं मिट सकती, अतः सद्गुरुकी शरण ले और प्रभुका नाम भज। तथा प्रति दिन सीधे मार्ग चल दया धर्मके प्रभावसे विश्राम मिल जायगा ॥ ३० ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
कर्मको अङ्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

अथ स्वादको अङ्ग ॥ ७२ ॥

खट्टा मीठा चरपरा, जिभ्या सबरस लेय।
चोरों कुतिया मिलिगई, पहरा किसका देय ॥१॥

खट्टा, मीठा और कड़ुवा सबही रसको रसना चखती है। जब इन्द्रियाँ रूपी कुतियाँ विषय रूप चोरसे जा मिलीं तब कहो किसका पहरा कौन देवे ॥ १ ॥

खट्टा मीठा देखिके, रसना मेलै नीर।
जबलग मन पाको नहीं, काचो निपट कथीर ॥२॥

खट्टा, मीठाको देखत ही रसना रस टपकाने लगती है। जबतक मन वशमें नहीं हुआ है तबतक मानो सब काम कच्चा कथीरके समान है ॥ २ ॥

जीभ स्वाद के कूप में, जहाँ हलाहल काम।
अंग अविद्या ऊपजै, जाय हिये ते नाम ॥३॥

जब तक जिह्वा स्वाद रूप कूँयेंमें गिरी है और विष रूप विषय रसको पान कर रही है। तबतक अविद्याके अङ्ग स्मिता, राग, द्वेषादि सबही उत्पन्न होंगे और हृदयसे ज्ञान चला जायगा ॥ ३ ॥

अहार करै मन भावता, जिभ्या केरे स्वाद।
नाक तलक पूरन भरै, क्यौं कहिये वे साध ॥४॥

जो स्वादिष्ट आहार मनमाना नाक तलक हूँस२ कर किया करते हैं तो कहो भला उन्हे साधु कैसे कहिये ? ॥ ४ ॥

माखी गुड़ में गड़ि रही, पंख रहा लपटाय।
तारी पीटै सिर धुनै, लालच बुरी बलाय ॥५॥

स्वादके मारे मक्खी गुड़ (चासनी) में जाकर गड़ गई और पाँख भी लपट गया। अब हाथ मींजती और शिर धुनती है, ध्यान रक्खो, लालच बुरी बला है ॥ ५ ॥

मुंड मुँडाया मुक्ति को, सालन कूँ पछिताय।
गोड़ा फूटै जोग बिन, लोगन सों सिथलाय ॥६॥

करवा कोपीन लेकर कल्याणके लिये साधु हुआ और स्वादिष्ट भोजनके लिये पछता रहा है। मनोवृत्तिके योग बिना लोगोंको देखानेके लिये चौरासी आसनोंसे व्यर्थमें गोड़ तोड़ रहा है ॥ ६ ॥

रूखा सूखा खाय के, ठंढा पानी पीव।
देखि पराई चूपड़ी, मत ललचावै जीव ॥७॥

प्रारब्ध भोग रूप रूखा सूखा टूका खाके ऊपरसे सन्तोष रूप शीतल जल पीलो। और दूसरेको चिकनी चूपड़ी चपाती देखके जीको मत ललचावो ॥ ७ ॥

आधी औ रूखी भली, सारी सोग सँताप।
जो चाहैगा चूपड़ी, बहुत करेगा पाप ॥८॥

अपनी आधी और रूखी अच्छी है दूसरेकी सारी शोक और सन्ताप कारक है। ध्यान रहे, जो कहीं तू चूपड़ी पर जी ललचाया तो बहुत पाप करेगा ॥ ८ ॥

कबीर साँई मुझ को, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, मत रूखी छिन लेय ॥९॥

ऐ स्वामिन्! तू मुझे सूखी ही रोटी देय मैं इससे चूपड़ी माँगनेसे डरता हूँ कि कहीं रूखी भी न छिन ले ॥ ६ ॥

अँन पानी का हार है, स्वाद संग नहिं जाय।
जो चाहै दीदार को, चुपड़ी चरै बलाय ॥१०॥

अन्न, जलका अहार है, स्वादसे कोई मतलब नहीं। जो प्रभुका दर्शन चाहे तो चूपड़ी चपातीको बलाकी तरह टाल दे।

जिभ्या कर्म कछोटरी, तीनों गृह में त्याग।
कबीर पहिले त्यागि के, पीछै ले बैराग ॥११॥

जिज्ञासुओंको उचित है कि जिह्वाका स्वाद और दुष्कर्म तथा विषय इन तीनोंको प्रथम घर हीमें त्यागके पीछे वैराग ले॥

जिभ्या कर्म कछोटरी, जो तीनों बस होय।
राजा परजा जमपुरी, गंजि सकै नहिं कोय ॥१२॥

स्वाद, दुष्कर्म और विषय ये तीनों यदि वशमें होय तो राजा, प्रजाकी क्या कथा? यमपुरीमें भी कोई कुछ नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

खाटा मीठा खाय कर, करे इन्द्रियाँ भोग।
सो कैसे जा पहुँचही, साहिबजी के लोग ॥१३॥

जो खट्टा, मीठा खूब खाके सर्वेन्द्रियोंके भोग भोगते हैं। वे मालिकके देशमें कैसे पहुँचेंगे, हर्गिज़ नहीं ॥ १३ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
स्वादको अङ्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

अथ मांसाहारको अङ्ग ॥७३॥

मांसाहारी मानवा, परतछ राछस अंग ।
ताकी संगति मति करो, पड़न भजन में भंग ॥१॥
मांसाहारी मानवा, परतछ राछस जान ।
ताकी संगति मति करै, होय भक्ति में हान ॥२॥

हे प्रिय ! मांसाहारी मनुष्यको प्रत्यक्ष राक्षस ही जानो । उसकी संगति कदापि न करो भजन भक्ति और विचारमें विघ्न और हानि होगी ॥ १ ॥ २ ॥

मांस खाय ते ढेड़ सब, मद पीवै सो नीच ।
कुल की, दुरमति परिहरै, राम कहै सो ऊँच ॥३॥

मांस खानेवाले सब ढेढ़ (चमार) और मद्यपीनेवाले सब अधम हैं । मांस भक्षणादि कुलकी कुरीति और मद्यपानादि कुबुद्धिको त्यागके जो रामका विचार करता है वही उत्तम है॥

मांस भखै मदिरा पिवै, धन वेस्वा सों खाय।
जुआ खेलि चोरी करै, अन्त समूला जाय ॥६॥

जो मांस भक्षण, मद्य पान और वेश्यासे धन लेकर या वेश्या व भाँड़ कर्मसे धन कमाके खाते हैं। तथा जुवा खेलके और चोरी करके जीविका चलाते हैं वे अन्तमें समूल नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

मांस मांस सब एक है, मुरगी हिरनी गाय।
आँख देखि नर खात हैं, ते नर नरकहि जाय ॥७॥

मुर्गी, मृगी और गौ ये सबोंके मांस एकही समान है। ऐसे आँखोंसे देखते हुये भी जो मनुष्य उसे खाता है वह अवश्य नरक जाता है ॥ ७ ॥

यह कूकर को भक्ष है, मनुष देह क्यों खाय।
मुख में आमिष मेलिहैं, नरक पड़े सो जाय ॥८॥

यह भक्ष्य नख, पंजाधारी कुत्ता, स्यार, शेरादिका है नर तन धारी उसे क्यों खाता है? जो ऐसा जानके मुखमें मांस डालेगा वह अवश्य नरकमें पड़ेगा ॥ ८ ॥

ब्राह्मन राजा बरन का, औरों कौम छतीस।
रोटी ऊपर माछली, सबही बरन खवीस ॥९॥

वर्णोंका राजा ब्राह्मण तथा और भी जितने छत्तीस क़ौमें हैं। जो रोटी ऊपर मछली धरके खाते हैं वे सब जातियाँ खवीस-मुर्देखोर हैं ॥ ९ ॥

कलियुग केरे ब्राह्मना, मांस मछलियाँ खाय।
पाँय लगे सुख मानही, राम कहे जरि जाय ॥१०॥

कलियुगी ब्राह्मण जो मांस, मछली खानेवाले हैं। वे पाँय लगीसे खुशी और रामराम कहनेसे बड़े दुःखी होते हैं ॥ १० ॥

पाँव पुजावै बैठि के, भखै मांस मद दोय।
तिनकी दीच्छा मुक्ति नहिं, कोटि नरक फल होय॥११

कलियुगी ब्राह्मण जो मांस, मद्य दोनों खाते पीते हुये भी सिंहासन पर बैठके दूसरोंसे पाँय पुजवाते हैं। सो यजमानको उनकी दीक्षासे मुक्ति तो नहीं हो सकती बल्कि करोड़ों नरकका फल होगा ॥ ११ ॥

सकल बरन एकत्र है, सक्ति पूजि मिलि खाँहि।
हरि दासनकी भ्रांति करि, केवल जमपुर जाँहि ॥१२

सब जातियाँ एकट्ठी होके शक्तिको पूजती तथा मिलके खाती हैं। और हरिजनोंसे घृणा करती हैं। यह मानों यमपुर जाने का प्रयत्न कर रही हैं ॥ १२ ॥

बिष्ठा का चौका दिया, हाँड़ी सीझै हाड़।
छूत बरावै चाम की, ताका गुरु है राँड़ ॥१३॥

जो विष्ठासे चौका पोतके हाँड़ीमें हाड़ राँधते हैं। और चाम (जाति) की छूत बराते हैं, तिनके गुरु राँड़ हैं। सद्गुरु नहीं॥

जीव हनै हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
पाप सबन जो देखिया, पुन्न न देखा कोय ॥१४॥

जो जीवके प्राण वियोग रूप हिंसा करते हैं उन्हें प्रत्यक्ष शिर पर पाप सवार होता है। हिंसा रूप पाप सब देखते हैं पुण्य कोई भी नहीं ॥ १४ ॥

जीव हनै हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
निगम सुनी, अस, पाप ते, भिस्त गया नहिं कोय ॥१५॥

जीव हिंसा रूप प्रत्यक्ष पाप करके उसकी निवृत्तिके लिये आगम पुराणकी कथा सुनते हैं पर ऐसे पापसे निवृत्त हो उन्हें स्वर्ग जाते कोई भी नहीं देखा ॥ १५ ॥

तिल भर मछली खांयके, कोटि गऊ दे दान ।
कासी करवट ले मरै, तौभी नरक निदान ॥१६॥

तिल भर भी मछली खाके जो प्रायश्चित्तके लिये गौका दान दे और काशी करवट ही लेके क्यों न मरे परन्तु आखीरमें उसे नरक अवश्य होगा ॥ १६ ॥

काटा कूटी जो करै, ते पाखंड को भेष ।
निश्चय राम न जानहीं, कहैं कबिर संदेस ॥१७॥

जो मांसको टुकड़ा २ करता है वह भी पाखण्डी, हिंसक हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि वह रामको नहीं जानता ॥ १७ ॥

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल ।
जो बकरी को खात है, तिनका कौन हवाल ॥१८॥

ऐ नरजीव ! जो बकरी पत्ती खाती है तिसकी तो खाल छिल डाली । और जो खाश बकरीको खाते हैं उनकी क्या दशा होगी ? ॥ १८ ॥

आठ बाट बकरी गई, मांस मुलाँ गय खाय ।
अजहूँ खाल खटीक के, भिस्त कहाँ ते जाय ॥१९॥

आठ रस्तेसे बकरी गई अर्थात् मनु भगवानने एक बकरीके

१—"अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रय विक्रयी ।
संस्कर्त्ताचोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातका" ॥

दिसक* आठ जनेको बताये हैं। और मुल्लाने मांस खा लिया। और उसकी खाल अभी खटीकके घरमें पड़ी है कहो! स्वर्ग कहाँ से कैसे होगा ॥ १६ ॥

थंटाकिनबिसमिलकिया, धुनकिनकियाहलाल।
मछली किन जबहै करी, सब खानेका ख्याल॥२०॥
अंडे किन बिसमिल किये, मछली किया हलाल।
जिभ्या के रस स्वाद में, यह नर भया बेहाल॥२१॥

मुसलमान लोग कहते हैं कि हम कुर्वानी करके खाते हैं अतः इसमें कोई दोष नहीं तहाँ ग्रन्थ कर्ता कहते हैं कि कहो, अण्डाको किसने बिस्मिल किया? और घुनको किसने हलाल किया? तथा मछलीको ज़ब्यह किसने करी? सबोंने खानेके मतलबसे एक एक ढंग निकाल लिया है। ये नरजीव रसनाके रस स्वाद में पड़के बेहाल हो रहा है, धर्माधर्मका विचार नहीं करता। केवल धर्मका नाम लेता है ॥ २० ॥ २१ ॥

मुलना तुझै करीम का, कब आया फ़रमान।
दया भाव हिरदै नहीं, जबह करै हैवान॥२२॥
काजी तुझै करीम का, कब आया फरमान।
घट फोड़ा घर घर किया, साहिब का नसिान॥२३॥

ऐ मुलना! तेरे पास करीमका हुक्म पशु मारनेका कब आया?। ऐ हैवान! नादान! ज़रा भी तेरे हृदयमें दया नहीं।

---

* सम्मति देने वाला, टुकड़ा २ करने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, लाने ले जाने वाला और खाने वाले ये आठ पशु घातक कहलाते हैं।

स्वयं जबरदस्ती जुब्वह करता है और झूठ मूठ मालिकका फ़र्मान बतलाता है। और मालिकके बनाये हुये शरीर रूप घड़ा को घर घरमें हिंसा रूप घट फोड़ा कर रहा है॥ २२ ॥ २३ ॥

काजी का बेटा मुआ, उरमें सालै पीर।
वह साहेब सबका पिता, भला न मानै बीर ॥२४॥

ऐ भाइयो! जब काजीका बेटा मर गया तब तो उसे मर्म छेदी दुःख हुआ और वह मालिक जो सबके पिता हैं तो उसके फर्जिन्दको तुम मारोगे तो वह कैसे खुश होगा? कदापि नहीं।

पीर सबन को एकसी, मूरख जानै नाँहि।
अपना गला कटाय के, भिस्तबसै क्यौंनाँहि ॥२५॥

दुःख सुख सब जीवोंके समान हैं, मूर्ख लोग नहीं जानते। यदि ऐसा है तो मुल्ला और पांडे अपना गला कटाके स्वर्गमें क्यों नहीं जाते? ॥ २५ ॥

मुरगी मुलना सों कहै, जबह करत है मोहि।
साहिब लेखा माँगसी, संकट पड़ि है तोहि ॥२६॥

मुर्गी मुल्लासे कहती है, तू जबरदस्ती मुझे जुब्वह करता है तो कर ले। उस वक्त तुझे नौबत आयेगी जब मालिक हिसाब माँगेगा ॥ २६ ॥

कबीर काजी स्वाद बस, जीव हनत है सोय।
चढ़ि मसीत एकै कहै, दरगह साँचा होय ॥२७॥

ऐ कबीर! काजीको तो देखो जिह्वा स्वादके वास्ते तो जीव की हिंसा करता है और दरबारको सच्चा मानके वहाँ जाता है तथा एक ही खुदाका नूर भी सबको बतलाता है ॥ २७ ॥

काजी मुलना भरमिया, चले दुनी के साथ।
दिल सों दीन निवारिया, करद लई अब हाथ ॥२८॥

काजी और मौलाना दोनों भ्रममें पड़के दुनियांके संग चल रहे हैं। दिलसे दीन यानी दया धर्मको निकाल दिया और हाथ में छूरी ले ली ॥ २८ ॥

काला मुँह करि करदका, दिल सों दुई निवार।
सबही रूह सुभान की, अहमक मुला न मार॥२९॥

ऐ अहमक़ मुल्ला! छूरीका मुँह काला करके दिलसे दुविधा (द्वैत) भावको निकाल दे। सबही जीव खुदाके हैं ऐसा जान के उन्हें मत मार ॥ २९ ॥

जोर करी जबहै करै, मुख सों कहै हलाल।
साहिब लेखा माँगसी, होसी कौन हवाल॥३०॥

ज़बरदस्ती ज़ब्यह करके मुखसे हलाल (पाक) कहता है ऐ हरामीका बच्चा! जिस वक्त मालिक हिसाब पूछेगा उस वक्त कौनसी दशा होगी? होश कर ॥ ३० ॥

जोर किये ते जुलुम है, माँगै ज्वाब खुदाय।
खालिक दर खूनी पड़ा, मार मुँहीं मुँह खाय॥३१॥

इस ज़बरदस्ती जुलमका ज्वाब खुदा ज़रूर माँगेगा। मालिक के दरबारमें खूनी पड़े हैं और मुँहे मुँह तमाचा खा रहे हैं॥३१॥

गला काटि कलमा भरै, कीया कहै हलाल।
साहिब लेखा माँगसी, तबही कौन हवाल॥३२॥

मूक पशुओंका गला काटके क़लमा पढ़ता है। और स्वयं किये को पाक खुदाका बतलाता है। अरे उस वक्त तेरी कौनसी दशा होगी? जिस वक्त मालिक हिसाब माँगेगा ॥ ३२ ॥

गला काटि बिसमिल करै, ते क़ाफिर बे बूझ।
औरन को क़ाफिर कहै, अपना कुफ़र न सूझ॥३३॥

जो प्राणीका गला काटके बिसमिल करता है वही बेवकूफ

व क़ाफ़िर है उलटे दूसरेको क़ाफ़िर कहता है अपनी शैतानी नहीं दीखती ॥ ३३ ॥

गला गुसा को काटिये, मियाँ कहर को मार।
जो पाँचौं बिसमिल करै, तब पावै दीदार ॥३४॥

ऐ मियाँ! महाशय! गुस्सेका गला काटके जुल्मको मार डाल। और जो कहीं पंच ज्ञानेन्द्रियोंको बिसमिल कर डाले तो अवश्य मालिकका दर्शन पा जाये ॥ ३४ ॥

यह सब झूठी बंदगी, बिरिया पाँच निमाज।
साँचहि मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥३५॥

पाँच वक्त निमाज़ पढ़ना ये सब झूठी वन्दगी है। साँच जीवको झूठे नमाज़ पढ़के मारता है तो काज़ी जीवका भारी अकाज करता है ॥ ३५ ॥

सेख सबूरी बाहिरा, हाँका जम के जाय।
जिनका दिल साबुत नहीं, तिनको कहाँ खुदाय ॥३६॥

जिन शेख़ोंको धीरज नहीं है वे जहन्नममें ढकेले जायँगे। और जिनके दिलमें सचाई (सफाई) नहीं तिनके लिये खुदा कहीं नहीं ॥ ३६ ॥

कबीर तेई पीर हैं, जे जानैं पर पीर।
जे पर पीर न जानहीं, ते काफिर बेपीर ॥३७॥

ऐ कबीर! वेही श्रेष्ठ पीर (गुरु) हैं जो परकी पीड़ा जानते हैं। और जो पराया दुःख नहीं जानते वेही वेदर्द काफ़िर हैं ॥ ३७ ॥

खुश खाना है खीचड़ी, माँहि पड़ा टुक लौन।
मांस पराया खाय के, गला कटावै कौन ॥३८॥

अरे! उस खीचड़ी खानेमें बड़ा मजा है, ज़रा उसमें कहीं नमक पड़ गया तो और अच्छा। और कहो भला! दूसरेके मांस खाके अपना गला कौन कटावे? ॥ ३८ ॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, कहा जु मान हमार।
जाका गल तुम काटिहो, सो फिर काटि तुम्हार॥३६॥

बहुत कुछ कह दिया, यदि मेरी कही मानें तो और भी कुछ आते २ कहे देता हूँ। ध्यान रक्खो, जिसका गला तुम काटते हो वह भी अवसर पाके पीछे तुम्हारा काटेगा॥ ३६ ॥

हिन्दू के दाया नहीं, मिहर तुरक के नाँहि।
कहैं कबिर दोनौं गये, लख चौरासी माँहि॥४०॥

न तो हिन्दूमें दया है और न तुरकोंमें मिहरवानी। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि दोऊ चोरासी चक्रमें चले गये॥ ४० ॥

मुसलिम मारै करद सों, हिन्दू मार तरवार।
कहैं कबिर दोनौं मिली, जैहैं जम के द्वार॥४१॥

मुसलमान छूरीसे मारते और हिन्दू तलवार से। कबीर गुरु कहते हैं कि इसी पापसे दोनों जने साथै जहन्नममें जायँगे॥

अजामेध गोमेध जग, अश्वमेध नरमेध।
कहैं कबीर अधर्म को, धर्म बतावै वेद॥४२॥

कबीर गुरु कहते हैं कि संसारमें अजामेध, गोमेध, अश्वमेध और नरमेध जो महा पाप हिंसा रूप अधर्म्म है उसीको वेद और वेदीवादी धर्म बतलाता है॥ ४२ ॥

इति श्री मांसाहारको अङ्ग समाप्त॥ ७३

अथ नशाको अङ्ग ॥ ७४ ॥

कालियुग काल पठाइया, भाँग तमाखू फीम।
ज्ञान ध्यानकी सुधि नहीं, बसै इन्हीं की सीम ॥१॥

कालने कलियुग में भाँग, तमाखू और अफीम को भेज दी है। अमलियों को ज्ञान, ध्यान की खबर तो है नहीं सदा इन्हीं के नजदीक रहते हैं ॥ १ ॥

भांग तमाखू छूतरा, आफू और सराब।
कौन करेगा बंदगी, ये तो भये खराब ॥२॥

भंग, तमाखू, छूतरा अफीम और शराब पीके सब खराब हो गये, इन्हें वन्दगी अब कौन करे? या ये मालिक को वन्दगी कैसे करेंगे ॥ २ ॥

अमल माँहि औगुन कहा, कहो मोहि समुझाय।
उत्तर प्रश्नहि में सुनो, मनकी संसै जाय ॥३॥

मुझे समझाकर बतलाइये अमल में कौन से अवगुण हैं? तुम्हारे प्रश्नही में उत्तर देता हूँ, सुनो मनका संशय दूर हो जायगा।

भाँग भखै बल बुद्धि को, आफू अहमक होय।
दोय अमल औगुन कहा, ज्ञानवंत नर जोय ॥४॥

भंग खाने वाले का बल और विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा अफीमची अहमक-[नादान] बन जाता है। दो अमल के अवगुण कह दिया ज्ञानी नर इन्हें समझ लें ॥ ४ ॥

औगुन कहूँ सराब का, ज्ञानवंत सुनि लेय।
मानुष सों पसुवा करै, द्रव्य गाँठि का देय ॥५॥

हे समझदारो! अब शराबकी खराबी सुनो। शराब जो पीता है वह मनुष्य से साक्षात् पशु बन जाता है। और गाँठका द्रव्य भी गमा बैठता है ॥ ५ ॥

काम हरकत बल घटै, तृस्ना नाहीं ठौर।
ढिग है बैठे दीन के, एक चिलम भर और ॥६॥

तमाखू पीनेसे व्यवहार, परमार्थ दोनों कार्यमें हर्ज होता है शरीर से दुर्बल और तृष्णा अधिक बढ़ जाती है। दूसरे के नज़दीक दीन होके बैठता है, दुःखी होके कहता है, एक चिलम और भरो ॥ ६ ॥

पानी पिरथी के हते, धूँवा सुनि के जीव।
हूके में हिंसा घनी, क्यौं करि पावै पीव ॥७॥

हुक्का का जल पृथ्वी [शरीर] को नाश करता है, और धूँवा जीवों [ज्ञान] को। हुक्के में हिंसा बहुत है, वह कैसे प्रभु को पायगा ?। कदापि नहीं ॥ ७ ॥

छाजन भोजन हक्क है, और अनाहक लेय।
आपन दोजख जात है, औरों दोजख देय ॥८॥

मनुष्यों को अन्न वस्त्र वाजिब और ग्रहण नावाजिब है। मादक पदार्थों को ग्रहण कर अपने साथ २ दूसरों को भी दोज़ख ले जाते हैं ॥ ८ ॥

गउ जो विष्ठा भच्छई, विप्र तमाखू भंग।
सस्तर बाँधै दरसनी, यह कालियुग का रंग ॥९॥

गाय माता विष्ठा खाती है और ब्राह्मण देव तमाखू, भंग पीते हैं। तथा दर्शनी जोगी, जंगम, संन्यासी आदि हथियार बाँधते हैं, यही कलियुग का रंग [शोभा] है ॥ ९ ॥

अमल अहारी आतमा, कबहुँ न पावै पार।
कहैं कबीर पुकारि के, त्यागो ताहि विचार ॥१०॥

कबीर गुरु पुकार के कहते हैं कि अमल अहारी जीव कभी नशा से तृप्त नहीं होता। अतः ऐसा विचार कर इस महा पाप को अवश्य त्यागना चाहिये ॥ १० ॥

मद तो बहुतक भाँतिका, ताहि न जानै कोय।
तनमद मनमद जातिमद, माया मद सब लोय॥११॥
विद्यामद औ गुनहिमद, राज मद उन मद।
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद ॥१२॥

मद बहुत प्रकार के हैं अज्ञानी कोई नहीं जानता, सुनिये, शरीर सौन्दर्य का मद, मनका, जातिका, मायाका, विद्याका, गुणका, राज्यका, और उनमादका, इतने मद हैं, इन सबों को जब रद्द करै तब अनहद आत्म स्वरूप का ज्ञान सुनै ॥११॥१२॥

भाँग तमाखू छूतरा, जन कबीर जे खाँहि।
योग यज्ञ जप तप किये, सबै रसातल जाँहि ॥१३॥

भाँग, तमाखू और छूतरा जो जीव खाता पीता है, उसके किये हुये योग, यज्ञ, जप, तप सबही जहन्नम में चले जाते हैं ॥१३॥

भाँग तमाखू छूतरा, सुरापान लै घूँट।
कहैं कबिर ता जीव का, धर्मराय सिर कूट ॥१४॥

जो भंग, तमाखू, छूतरा तथा शराब का पान करता है। कबीर गुरु कहते हैं कि उस जीवका यमराज खूब शिर कूटता है॥

भाँग तमाखू छूतरा, इनसे करै पियार।
कहैं कबिर सो जीयरा, बहुत सहै सिर मार ॥१५॥

भाँग तमाखू छूतरा, पर निंदा पर नार।
कहैं कबिर इनको तजे, तब पावै दीदार ॥१६॥

योंही भंगादि से प्रेम करने वाले भी खूब मारे जाते हैं। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि भंगादि नशा तथा परनिन्दा और पर स्त्री इन सबको त्यागे तब दर्शन पावे ॥ १५ ॥ १६ ॥

भाँग तमाखू फीम को, दौड़ दौड़ करि लेहि।
कहैं कबिर हरि नाम को, पीछे ही पग देहि ॥१७॥

कबीरगुरु कहते हैं कि भंग, तमाखू और अफ़ीम को तो लोग आगे दौड़ कर लेते हैं और प्रभु नाम लेनेको पग पीछे मोड़ते हैं॥१७॥

भाँग तमाखू गाहक का, राम नाम के नाँहि।
कहैं कबिर जनमैं मरै, लख चौरासी माँहि ॥१८॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जो भंग, तमाखू के ग्राहक हैं और रामनाम के नहीं हैं वे चौरासी लक्ष योनिमें भ्रमेंगे ॥ १८ ॥

सुरापान अचवन करै, पिवै तमाखू भंग।
कहैं कबिरा राम जन, तामें ढंग कुढंग ॥१९॥

जो शराब को अँचवन करता और तमाखू भंगको पीता है वह कुढंगा है उसमें कोई ढंग (फ़ायदा) नहीं ॥ १९ ॥

सुरापान अचवन करै, पिवै तमाखू भंग।
कहैं कबीरा राम जन, ताको करो न संग ॥२०॥

ऐ राम भक्तो! शराब, तमाखू और भंग पीने वालों का संग कभी मत करो ॥ २० ॥

राखें बरत एकादसी, करै अन्न को त्याग।
भाँग तमाखू ना तजै, कहैं कबीर अभाग ॥२१॥

कबीरगुरु कहते हैं वे बड़े अभागे हैं जो एकादशी व्रत रखते

अन्न को त्याग करते और भंग, तमाखू का त्याग नहीं करते॥२१॥

हरिजन को सोहै नहीं, हुक्का हाथ के माँहि ।
कहैं कबीरा राम जन, हुक्का पीवै नाँहि ॥२२॥

हरिजन को हुक्का हाथ में नहीं शोभता, क्योंकि हरिजन कभी हुक्का नहीं पीते हैं ॥ २२ ॥

हुक्का तो सोहै नहीं, हरिदासन के हाथ ।
कहैं कबीर हुक्का गहै, ताको छोड़ो साथ ॥२३॥

हरिभक्तों को हाथ में हुक्का नहीं शोभता । अतः हुक्केबाज़ का साथ छोड़ दो ॥ २३ ॥

अमली के बैठो मती, एक पलकहू पास ।
संग दोष तोहि लागि है, कहैं कबीरा दास ॥२४॥

"संसर्ग तो दोष गुणा भवन्ति" इस वचन प्रमाण से एक क्षण भी अमली के संगमें मत बैठो, बैठने से संग दोष अवश्य होगा।

अमली हो वहु पाप से, समुझत नाहीं अंध ।
कहैं कबीरा अमलि को, काल चढ़ावै कंध ॥२५॥

पूर्विले महापाप से अमली होता है, अन्धा इसे नहीं समझता । कबीरगुरु कहते हैं कि अमली को मृत्यु अपने कन्धे पर चढ़ाती है ॥ २५ ॥

जहँ लग अमल हराम सब, दोउ दीन के माँहि ।
कहैं कबीरा राम जन, अमली हूजै नाँहि ॥२६॥

हिन्दू, मुसलिम दोनों दीनके लिये "जहाँ लों अमल सो सबै हरामा" इत्यादि कबीर गुरु कहते हैं, ऐ रामभक्तो! अमली मत बनो। ये सब हराम हैं ॥ २६ ॥

भाँडी आवै वास मुख, हिरदा होय मलीन।
कहैं कबीरा राम जन, माँगि चिलम नहिं लीन ॥२७॥

नशेबाजों को चित्तमें घूमरी और मुखसे दुर्गन्ध तथा हृदय मलीन हो जाता है। अतएव ऐ रामभक्तो! किसी से चिलम माँग कर भी मत लो ॥ २७ ॥

मुख में थूकन दे नहीं, मूहर कोइ जन देहि।
कहैं कबीर या चिलम को, जूठ जगत मुख लेहि ॥२८॥

हुक्के बाजों को देखो, यदि उन्हें कोई मूहर-गिन्नी देवे और कहे कि मुँहमें थूकने दो तो वे कदापि नहीं थूकने देंगे और सारे संसार की जूठी चिलम मुखमें लेते हैं ॥ २८ ॥

आन अमल सब त्यागि के, रामअमल जबखाय।
जन कबीर भाजै भरम, और न कछू सुहाय ॥२९॥

और सब अमलों को त्याग के जब राम अमल खावे तब राम-भक्तों के भ्रम सब भग जावें फिर दूसरी कुछ अच्छी न लगे॥२९॥

नाम अमल को छोड़ि के, और अमल जो खाय।
कहैं कबिर तेहि परिहरो, गुरु के शब्द समाय ॥३०॥

गुरु नाम अमल को छोड़के जो और अमल खाते हैं, कबीर गुरु कहते हैं उन्हें त्यागदो और सद्गुरुके सारशब्दमें स्थिर रहो।

कबीर प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय ॥३१॥

ऐ कबीर! जिसने प्रेम का प्याला हृदय में लगा लिया। बस! उसे वही प्रत्यंग को मस्त कर दिया अब वह और अमल खाय तो क्या खाय? ॥ ३१ ॥

इति श्री नशाको अङ्ग समाप्त ॥७४॥

अथ विवेकको अङ्ग ॥७५॥

फूटी आँख विवेक की, लखै न संत असंत।
जाके संग दस बीस हैं, ताका नाम महंत ॥१॥

गुरु सत्संग विमुखोंको विवेककी आँखें फूट गई सन्त और असन्तकी पहिचान नहीं करते जिसके संग दश बीस हैं बस! उन्हींको महन्त कहते हैं॥ १ ॥

जबलग नहीं विवेक मन, तब लग लगै न तीर।
भौसागर नामी तिरै, सतगुरु कहैं कबीर ॥२॥

जब तक अन्दर मनमें विवेक नहीं है, तब तक पार नहीं जा सकते। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि भव सिन्धु नामी अर्थात् गिने गुथे कोई २ तरते हैं ॥ २ ॥

प्रगटे प्रेम विवेक दल, अभय निसान बजाय।
उग्र ज्ञान उर आवतै, जगका मोह नसाय ॥३॥

विवेक फौजके सहित जब प्रेम उत्पन्न होता और अभय निशान बजाता है तब हृदयमें तीव्र ज्ञान आतेही जगतकी मोह माया नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

गुरु पसु नर पसु नारि पसु, वेद पसू संसार।
मानुष ताको जानिये, जाको विमल विचार ॥४॥

संसारमें विना विचारके सब पशु हैं कोई गुरुके कोइ नरके कोई नारीके और कोई वेदके। मनुष्य वेही हैं जिनके निष्पक्ष, निर्मल विचार हैं ॥ ४ ॥

कहैं कबीर पुकारि के, सन्त विवेकी होय।
जामें शब्द विवेक है, छत्र धनी है सोय ॥५॥

इस बातको कबीर गुरु पुकार २ कर कह रहे हैं कि वेही सन्त

विवेकी और छत्रपति हैं जिनके हृदयमें सार शब्दका विचार है॥

जीव जन्तु जल ह्र बसै, गये विवेक जु भूल।
जल के जलचर यौं कहै, हम उडगन सम तूल ॥६॥
प्रात काल के जाल में, आय गये तिहि माँहि।
जल के जलचर यौं कहैं, उडगन पति जु नाँहि ॥७॥

जीव जन्तु सब काया कसार या संसार सागरमें रहते २ आत्म अनात्मका विचार भूल गये। जैसे जलके जलचर सब कहने लगे कि हम ताराओंके सदृश हैं। और जब सबेरेके वक धीमरके जालमें सब फँस गये। तब कहने लगे कि ताराओंके स्वामी चन्द्र तो नहीं आये? यही हाल अज्ञानियों का है ॥६॥७॥

हरिजन ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक।
बाहर मिलता सों मिलै, अन्तर सब सों एक ॥८॥

विवेक युत ज्ञानी हरिजनोंको इस प्रकार रहना चाहिये। कि बाहर तो मिलने वाले हीसे मिलें परन्तु भीतर सबसे एकता रखें॥

राम राम सब कोइ कहै, कहने माँहि विवेक।
एक अनेकै फिर मिलै, एक समाना एक ॥९॥

यद्यपि राम राम सब कोई कहते हैं तथापि कहने २ में विवेक है। एक तो रामको कहके फिर अनेकोंमें मिल जाते और एक जैसा एक रामको कहते हैं उसी प्रकार एकमें निष्ठ होते हैं यही भेद है ॥ ९ ॥

साधू मेरे सब बड़े, अपनी अपनी ठौर।
सब्द विवेकी पारखी, सो माथे की मौर ॥१०॥

सन्त अपनी २ रहनीमें सबही बड़े हैं परन्तु जो सार शब्द विवेकी पारखी हैं वे सबके शिर मुकुट हैं ॥ १० ॥

इति श्री विवेकको अङ्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

अथ विचारको अङ्ग ॥७६॥

कबीर सोच विचारिया, दूजा कोई नाँहि।
आपा पर जब चीन्हिया, उलटि समाना माँहि ॥१॥

ऐ कबीर! सोचो और विचारकर देखो तो दूसरा कोई न है। जब दूसरा आकारको पहिचान लिया तब उलटकर अपने आपमें समा गये, बखेड़ा मिट गया ॥ १ ॥

राम राम सब कोइ कहै, कहने माँहि विचार।
सोइ राम जो सति कहै, सोई कौतिक हार ॥२॥

राम २ सब कोई कहता है परन्तु कहने २ में भेद है। देखो, उसी रामको कहके सती सत्पर चढ़ जाती और उसी रामको तमाशाई भी कहता है ॥ २ ॥

आग कहै दाझै नहीं, पाँव न दीजै माँहि।
जो पै भेद न जानहीं, राम कहा तो काहि ॥३॥

जैसे अग्निमें पग डाले बिना कहने मात्रसे नहीं जलता तैसे ही रामका असलीयत रहस्य जाने बिना राम राम चिल्लानेसे कुछ नहीं होता ॥ ३ ॥

पानी केरा पूतला, राखा पवन सँचार।
नाना बानी बोलता, जोति धरी करतार ॥४॥

शरीर रूप पानीके पुतलामें कर्त्ताने एक अजब ज्योति जगा दी है। प्राण पखेरूने इसे सँभाल रक्खा है और नाना तरहकी बाणी बोल रहा है ॥ ४ ॥

आधी साखि कबीर की, जो निरुवारी जाय।
चंचल चित निश्चल करै, ज्ञान भक्ति फल पाय ॥५॥

जिज्ञासु यदि चाहें तो उन्हें आत्म अनात्म विचारके लिये कबीरकी आधी साखी काफी है। चंचल वृत्तिको निश्चल करें और भक्ति ज्ञान का फल कल्याण प्राप्त कर ले ॥ ५ ॥

कबीर आधी साखि यह, कोटि ग्रंथ करि जान।
राम नाम जग झूठ है, सुरति सब्द पहिचान ॥६॥

यह आधी साखी करोड़ो ग्रन्थका सार तत्त्व जानो कि रमैयारामका नाम सत्य और जगत झूठ है। इसे गुरुके सार शब्दसे वृत्ति द्वारा पहिचान लो ॥ ६ ॥

राम नाम जाना नहीं, माना नहीं विचार।
कहैं कबिर वह क्या लहै, मोक्ष मुक्ति का द्वार ॥७॥

जो स्वयं रामका यथार्थ नाम नहीं जाना और गुरुका विचार वचन भी नहीं माना तो उसे मोक्षका द्वार मनुष्यका अवतार क्या करे? और वह क्या प्राप्त करे? ॥ ७ ॥

एक सब्द में सब कहा, सब ही अर्थ विचार।
भजिये निसदिन रामको, तजिये विषय विकार ॥८॥

सबही अर्थोंका विचार एकही शब्दमें कह दिया कि रात, दिन रामको भजो और विषय विकारको तजो ॥ ८ ॥

कबीर भूला दगा में, लोग कहैं यह भूल।
करमहि बाट बतावहीं, भूतल भूला भूल ॥९॥

नर जीव मायाकी दगामें अपने आपको भूल गया अब लोग

कहते हैं कि भूल हुई। और कर्म मार्गकी राह दिखलाते हैं जिसमें भूला हुआ और भी भूलता ही जाता है ॥ ६ ॥

ज्यौं आवै त्यौं ही कहै, बोलै नहीं विचार।
हते पराई आतमा, जीभ लेय तरवार ॥१०॥

गुरु सत्संग विमुखोंको जैसा मनमें आता है वैसे बकते हैं। विचारकर नहीं बोलते जिह्वामें कुबोल रूप तलवार बाँधके दूसरेकी आत्माको हनन करते हैं ॥ १० ॥

सब काहू का लीजिये, साँचा सब्द निहार।
पत्तपात ना कीजिये, कहैं कबीर विचार ॥११॥

अतः कबीर गुरु कहते हैं कि परीक्षा करके सबकी सच्ची बात लो पक्षपात कभी मत करो ॥ ११ ॥

बोली हमरी पलटिया, या तन याही देस।
खारी सों मीठी करी, सतगुरु के उपदेस ॥१२॥

सद्गुरुके उपदेश प्रभावसे इसी शरीर और इसी देशमें हमारी बोली पलट गई और जो खारी थी वह मीठी हो गई ॥

कबीर हम सबकी कहै, हमरी कही न जाय।
पूरब की बाताँ कहै, पच्छिम जाय समाय ॥१३॥

ऐ कबीर! हम तो गुरु रूपमें सबकी-कसर कहते हैं लेकिन कुसंगियोंके हृदयमें यह बात नहीं घुसती। हम सबको संमुख प्रत्यक्ष बतलाते हैं तो सब धोखा अन्धेरेमें जाके घुसते हैं ॥१३॥

अपनी अपनी सब कहै, हमरी कहै न कोय।
हम अपनी आपहि कहै, करता करै सो होय ॥१४॥

अपनी २ सब कोई कहते हैं हमारी कोई नहीं। अतः हम अपने आपही को समझाते हैं। जो मालिक करेगा वही होगा।

आजा को घर अमर है, बेटा के सिर भार।
तीन लोक नाती ठगा, पंडित करो विचार ॥१५॥

अजा-पिताओंका पिता पुराण पुरुष उसका घर अमर है। बेटा-निरंजन (मन) के शिर पर संसारका भार है। नाती-त्रिदेव तीनों लोकको ठगके दुख देते हैं। ऐ पण्डित लोग! विचार कीजिये ॥ १५ ॥

जो कछु करै विचार के, पाप पुन्न ते न्यार।
कहैं कबीर इक जानिके, जाय पुरुष दरबार ॥१६॥

जो विचार पूर्वक कार्य करता और पाप, पुण्यसे पृथक् रहता है। कबीर गुरु कहते हैं कि वही एक आत्मतत्त्व ज्ञानी सत्पुरुषके दरबारमें जाता है ॥ १६ ॥

आचारी सब जग मिला, विचारी मिला न कोय।
कोटि आचारी वारिये, एक विचारी होय ॥१७॥

संसारमें जहाँ तक मिले सब आचारी, विचारी कोई नहीं। यदि एक विचारी होय तो कोटियों आचारीका आचार उसके विचार पर निछावर है ॥ १७ ॥

सोइ अच्छर सोई भनै, सोई जन जीवंत।
अकिलमन्द कोइ कोइ मिलै, महारसअमि-पिवंत।१८॥

वही अच्छर है और वही पढ़ने वाला तथा जीवित मनुष्य है जो आत्मज्ञान रूप महा अमृत रसको पान करता है। परन्तु ऐसा अकिलमन्द कोई २ मिलता है ॥ १८ ॥

मेरा तो कोइ है नहीं, अरु मैं किसका नाँहि ।
अन्तर दृष्टि विचारताँ, राम बसै सब माँहि ॥१६॥

विचार दृष्टिसे देखनेपर न मेरा कोई दीखता है न मैं किसी का हूं सबमें रमैया राम रम रहा है वैर व प्रेम करना भी तो किससे ? ॥ १६ ॥

मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार ।
जाहि विवेक विचार नहिं, सो नर ढोर गँवार ॥२०॥

उसीको मनुष्य समझो जिसके ज्ञान, विचार निर्मल है । इससे रहित नर जीव गमार पशु है ॥ २० ॥

आधी साखि कबीर की, सीखी सुनी न जाय ।
रति इक घट में संचरै, अमर लोक ले जाय ॥२१॥

"भजिये निशि दिन रामको, तजिये विषय विकार" बस ! यह कबीरकी आधी साखी कुसंगियोंसे नहीं सुनी जाती । यदि यह कहीं रत्ती मात्र भी हृदयमें स्थिर होने पावे तो सीधे अमर लोकको पहुँचा देवे ॥ २१ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
विचारको अङ्ग समाप्त ॥ ७६ ॥

अथ धीरजको अङ्ग ॥७७॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै केवड़ा, रितु आये फल जोय ॥१॥
धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै सौ घड़ा, रितु आये फल जोय ॥२॥

ऐ मन! धैर्य रक्ख, धैर्यसे सब कुछ मिल जायँगे। समय विना कुछ नहीं होता, चाहे माली सैकड़ों घड़ासे केवड़ाको क्यों न सींचे परन्तु फल, फूल ऋतुके आनेही पर आते हैं॥१॥२॥

कबीर धीरज के धरे, हाथी मन भर खाय।
टूक एक के कारनै, स्वान घरै घर जाय ॥३॥

ऐ कबीर! देखो, धैर्य रखनेसे हाथी मन भर खाता है और अधैर्यके कारण एक टुकड़ाके वास्ते कुत्ता घरों घर डंडा खाया करता है ॥ ३ ॥

कबीर तूँ काहे डरै, सिर पर सिरजन हार।
हाथी चढ़ि करि डोलिये, कूकर भुसैं हजार ॥४॥

ऐ कबीर! मालिक रक्षक है, तू क्यों डरता है। ज्ञान हस्ती आरूढ़ होके आनन्दसे विचर, कुत्ता हज़ार भूँके तो भूँकने दे।

कबीर भँवर में बैठि के, भौचक मना न जोय।
डूबन का भय छाँड़ि दे, करता करै सो होय ॥५॥

ऐ कबीर! भौंर चक्कर में बैठके भयभीत मन मत हो। डूबने का भय छोड़ दे जो मालिक करेगा सोई होगा ॥ ५ ॥

मैं मेरी सब जायगी, तब आवेगी और।
जब यह निहचल होयगा, तब पावेगा ठौर ॥६॥

जब हृदयसे मैं, मेरी सब निकल जायगी तब और कुछ ज्ञान, विचार, धैर्यका स्थान मिलेगा। जब मन स्थिर होगा तबही स्थिति होगी अन्यथा नहीं ॥ ६ ॥

बहुत गई थोरी रही, व्याकुल मन मत होय।
धीरज सबको मित्र है, करी कमाइ न खोय ॥७॥

बहुत उम्र चली गई अब थोड़ीसी और है। ऐ मन! घबड़ाओ मत। धैर्य सबहीका मित्र है उसेही धरो, अपनी कमाई हुई वस्तु मत गमाओ ॥ ७ ॥

धीरज बुधि तब जानिये, समुझै सबकी रीत।
उनका अवगुन आप में, कबहु न लावै मीत ॥८॥

धैर्य बुद्धि तब समझो जब सबकी रीति भाँति समयानुसार समझमें आवे। ऐ मित्र! किसीका दुर्गुण अपनेमें कभी न लावे॥

साहिबकी गति अगम है, चल अपने अनुमान।
धीरे धीरे पाँव धर, पहुँचेगा परमान ॥९॥

मालिककी गति अगम्य है, अपनी शक्तिके अनुसार चल। धीरे धीरे पाँव उठाते रह। किसी न किसी दिन अवश्य पहुँचेगा।

फिकिर(तो)सबको खागई, फिकिरही सबका पीर।
फिकिर का फाका करै, ताका नाम फकीर ॥१०॥

चिन्ता सबको खा गई, सब दुःखोंका दुःख चिन्ताही है। दर असलमें वही फ़क़ीर है जो फिकिर (चिंता) को फ़ाका मारता है अर्थात् चिन्ता विषको पान करनेवालाही सन्त है १०

इति श्री धीरजको अङ्ग ॥ ७७ ॥

अथ क्षमाको अङ्ग ॥७८॥

छमा बड़न को चाहिये, छोटन को उतपात।
कहा विस्नु को घटिगयो, जो भृगु मारी लात ॥१॥

क्षुद्रोंके उपद्रवको क्षमा करना बड़ोंका कर्त्तव्य है क्योंकि क्षमाही बड़ोंमें बड़प्पन गुण है। देखिये, भृगु ऋषिने विष्णु भगवानको लात मारी तो उन्हें क्या बिगड़ा? कुछ नहीं ॥ १ ॥

छमा क्रोध को छै करै, जो काहू पै होय।
कहैं कबिर ता दास को, गंजि सकै नहि कोय ॥२॥

यदि किसीके पास क्षमा होय तो वह क्रोध को भी नाश करती है। कबीर गुरु कहते हैं कि क्षमाधारीको कोई भी कुछ नहीं कर सकता ॥ २ ॥

भली भली सब कोइ कहै, रही छमा ठहराय।
कहैं कबिर सीतल भया, गई जु अगन बुझाय ॥३॥

जिसके हृदयमें क्षमा सद्गुण स्थिर रहेगा उसे सबही भला कहेंगे। क्रोध अग्निको सान्त होने पर स्वाभाविक शीतलता आती है ॥ ३ ॥

भली भली सब कोइ कहै, भली छमा का रूप।
जाके मनहि छमा नहीं, सो बूड़ै भव कूप ॥४॥

भली भली सब क्यों न कहें? क्योंकि क्षमाका स्वरूपही भला है। जिसके हृदयमें क्षमा नहीं है, वह संसार अन्ध कुँयेमें डूबता है ॥ ४ ॥

करगस सम दुर्जन वचन, रहै संतजन टार।
बिजुली पड़े समुद्र में, कहा सकेगी जार ॥५॥

दुष्टोंका वचन आराके सदृश होता है, उसे तो धैर्ययुत सन्तजनही टाले रहते हैं। यदि बिजली समुद्रमें गिरेगी भी तो क्या जलायगी? कुछ नहीं ॥ ५ ॥

काच कथीर अधीर नर, जतन करत है भंग।
साधू कंचन ताइये, चढ़ै सवाया रंग ॥६॥

धैर्य रहित मनुष्य काँच, कथीरके समान तुच्छ है जो कि यत्नसे रखने पर भी स्थिर नहीं रहता। और धैर्यवान् सन्त स्वर्णके समान हैं जिनको आँचसे सवाई शोभा बढ़ती है ॥ ६ ॥

काँचै को क्या ताइये, होत जतन में भंग।
साधू कंचन ताइये, चढ़ै सवाया रंग ॥७॥

जो यत्नसे रखनेहीमें टूट जाता है उस काँचको क्या तपाना? तपाये जाते हैं स्वर्ण और सन्त, जिन पर सवा गुना अधिक रंग चढ़ता है ॥ ७ ॥

वाद विवादै विष घना, बोलै बहुत उपाध।
मौन गहै सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध ॥८॥

व्यर्थके वाद विवादमें अनेकों विषम भाव पैदा होते हैं। एवं अधिकारी बिना बोलनेमें भी उपाधि है। अतः मौन धारण कर सबकी सहे और रामका नाम अखण्ड स्मरण किया करे॥

सबल क्षमी निर्गर्व धनी, कोमल विद्या वंत।
भव में भूषन तीन हैं, औरों सबै अनंत ॥६॥

बलवानको क्षमा, धनीको निरहंकारता और विद्वानको कोमलता येही संसारमें तीन मुख्य भूषण हैं और सब गौण हैं ९

इति श्री क्षमाको अङ्ग ॥ ७८ ॥

अथ शीलको अङ्ग ॥७६॥
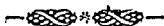
सील छमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुँचै नहीं, लाख कथै जो कोय ॥१॥

"जाको आँख शील नहिं होई। काल स्वरूप जानिये सोई"
इति जिसके हृदयमें शील और क्षमा जब उत्पन्न होती है तब उसे अलख स्वरूप लखनेकी दृष्टि हो जाती है। उस पुनरावृत्ति देशको बिना शीलके नहीं पहुँच सकता, चाहे कोई लाख कथनी क्यों न कथे ॥ १ ॥

सील गहै कोइ सावधान, चेतन पहरै जाग।
बासन बासन के खिसैं, चोर न सकई लाग ॥२॥

कोई सज्जन पुरुष शीलको धारण करता और सदा सचेत रहता है। जैसे बर्तनके परस्पर खरभर होनेसे चोर नहीं लग सकता ॥ २ ॥

सील मिलावै नाम को, जो कोइ जानै राख।
कहैं कबिर मैं क्या कहूँ, शुकदेव बोलै साख ॥३॥

शील स्वभाव रामको मिला देता यदि इसे कोई धारण करना जाने। कबीर गुरु कहते हैं कि मैंही अकेला नहीं कहता शुकदेवजी भी साक्षी दे रहे हैं ॥ ३ ॥

सीलहि राखि बिरक्त भै, हरि के मारग जाँहि।
साखी गोरखनाथ जो, अमर भये कलि माँहि ॥४॥

शील स्वभावको धारण कर कलियुगमें बड़े बड़े विरक्त, योगी, भक्त प्रभुके मार्ग जाके अमर होगये इसमें गोरखनाथ भी साक्षी हैं ॥ ४ ॥

सीलवंत सब सों बड़ा, सब रतनों की खान ।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आन ॥५॥

शीलवान पुरुष सबसे बड़े हैं क्योंकि शील सब रत्नोंका आकर है । और तीनों लोककी सम्पत्ति शीलके अन्तर्भूत है ॥

सीलवंत निरमल दसा, पाँव पड़े चहुँ खूँट ।
कहँ कबिर ता दास की, आस करे वैकुंठ ॥६॥

शीलवान् पुरुषका चरित्र ऐसा निर्मल होता है कि चारों दिशामें उसकी पाँव पूजा होती है । कबीर गुरु कहते हैं कि उसके आनेकी आशा विष्णुलोक भी करता है ॥ ६ ॥

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक ।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोइ एक ॥७॥

संसारमें ज्ञानी, ध्यानी, संयमी, दाता, शूरमा और जपिया, तपिया तो अनेकों हैं परन्तु शीलवान् कोई एकही है ॥ ७ ॥

घायल ऊपर घाव लै, टोटै त्यागी सोय ।
भर जोबन में सीलवंत, विरला होय तो होय ॥८॥

जैसे घावके ऊपर घाव लेनेवाला तथा घाटामें दान देनेवाला कोई कोई होता है तैसेही जीवन पर्यन्त शीलवान कोई विरलाही होता है ॥ ८ ॥

सुखका सागर सील है, कोइ न पावै थाह ।
संद बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहि साह ॥९॥

शील सुखका सिन्धु है इसे कोई भी थाह नहीं पाता। और इसके विना कोई सुखी ऐसे नहीं होता जैसे सार शब्द ज्ञान विना साधु और द्रव्य विना साहुकार कोई नहीं हो सकता॥

विषय पियारे प्रीति सों, सतगुरु अंतर नाँहि।
जब अंतर सतगुरु बसै, विषया सों रुचि नाँहि॥१०॥

विषयको प्रिय समझकर वही प्रीति करता है जिसके हृदयमें सद्गुरु नहीं है। और जब सद्गुरु अन्दरमें आते हैं तब विषयमें रुचि नहीं होती॥ १०॥

आव कहै सो औलिया, बैठ कहै सो पीर।
जा घर आव न बैठु है, सो काफिर बेपीर॥११॥

जो प्रेमसे बुलाते हैं वे परम हंस हैं। जो दया करके बैठाते हैं वे गुरु हैं। और जिसके हृदयमें आदर भाव भक्ति कुछ नहीं है वह निर्दयी काफ़िर विधर्मी है॥ ११॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
शीलको अङ्ग॥ ७९॥

अथ सन्तोषको अङ्ग ॥८०॥

संतोष हि सहिदान है, सब्दहि भेद विचार।
सतगुरु के परताप ते, सहज सील मत सार॥१॥

सद्गुरुकी कृपासे सहज समाधि, शील, सार शब्दका रहस्य और सार सिद्धान्तकी जो प्राप्ति है उसकी निशानी सन्तोषही है ॥ १ ॥

गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥२॥

गो, गज, वाजी ये पशु धन हैं और हीरा, पन्ना, पुखराज, नीलमादिकी खान रत्न धन हैं। परन्तु इन सब प्रकारोंके धनोंसे तृष्णारूपी क्षुधाकी तृप्ति नहीं होती। और अधिक बढ़तीही जाती है और जब असल सन्तोषरूप धन आके प्राप्त होता है तब ऊपर बताये हुए सब धन धूरिके समान तुच्छ हो जाते हैं ॥

इस साखीका अर्थ मैंने दृष्टान्त सहित व्याख्यान रूपसे सविस्तर "सद्गुरु कबीरवचनामृत" ग्रन्थमें लिखा है जिज्ञासुओंको अवश्य देखने योग्य है ॥ २ ॥

साधु संतोषी सर्वदा, जिनके निरमल बैन।
जिनके दरसन परस ते, जिय उपजै सुख चैन ॥३॥

वेही सर्वदा सन्तोषी सन्त हैं जिनके दर्शन, स्पर्शन और निर्मल वचनोंसे हृदयमें सुख, शान्ति मिलती है ॥ ३ ॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहन पति साह ॥४॥

मायिक पदार्थोंकी इच्छा दूर होनेसे चिन्ता नहीं रहती। और मन निस्प्रेही हो जाता है। जो सर्वेच्छा रहित हैं वे बादशाहोंके भी बादशाह हैं ॥ ४ ॥

निज आसन संतोष में, सहज रहनि की ठौर।
गुरु भजने आसा भई, ताते कछू न और ॥५॥

जिनकी वृत्ति सन्तोषामृत पानसे तृप्त और सहजावस्थामें स्थिर है। वे केवल सद्गुरु भजनके अधिकारी हैं और किसीके नहीं ॥ ५ ॥

जग सारा दरिद्र भया, धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सोइ जानिये, राम पदारथ होय ॥६॥

सन्तोष बिना सारा जगत दरिद्र हो रहा है, कोई भी धनवान् नहीं। जिसके पास 'राम' रत्न है उसीको धनवान् समझो॥

देनेहारा राम है, जाय जंगल में बैठ।
हरि को लेई ऊभरे, सात पताले पैठ ॥७॥

प्रभु सबको देनेवाले हैं चाहे जंगलमें जाके बैठि देखो। देखो, सात लोकके नीचे पातालमें पैठके भी बलीने हरिको संग लेकर कृतकृत्य हो गया ॥ ७ ॥

कबहुँक मंदिर मालियाँ, कबहुँक जंगल वास।
सबही ठौर सुहावना, जो हरि होवै पास ॥८॥

चाहे कभी सुशोभित मन्दिरमें निवास हो या शुन्नसान जंगलमें। यदि प्रभु संगमें है तो सब जगह सुन्दर व आनन्द है॥

साहेब मेरे मुझको, लूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, लुखी छीन नहि लेय ॥९॥

ऐ मेरे प्रभु! मुझें सूखीही रोटीमें सन्तोष दे। चुपड़ी चपाती माँगनेसे यों डरता हूँ कि कहीं सूखी भी न छीनले॥९॥

सात गाँठ कौपीन की, मन नहि मानै संक।
नाम अमल माता रहै, गनै इन्द्र को रंक ॥१०॥

सन्तोषी पुरुषके कौपीनमें चाहे सात गाँठी क्यों न लगी हो तो भी मनमें शंका नहीं मानते। और राम अमलमें ऐसे मस्त रहते हैं कि, इन्द्रको भी दरिद्र गिनते हैं ॥ १० ॥

चिंता मत कर निर्चिंत रह, पूरनहार समर्थ।
जल थल में जो जीव हैं, उनकी गाँठि न अर्थ ॥११॥

चिन्ता रहित अचिन्त रहो, पूर्ण करनेवाला समर्थ प्रभु है। देखो, जल, थल निवासी प्राणियोंके पासमें कोई भी द्रव्य नहीं है। तो भी भूखे नहीं मरते ॥ ११ ॥

चिंता ऐसी डाकिनी, काटि करेजा खाय।
बैद बिचारा क्या करै, कहाँतक दवा लगाय ॥१२॥

चिन्ता ऐसी डाकिनी है कि मर्मस्थानके मांसको काट खाती है। जिसे सन्तोष नहीं है तो वैद्य वेचारे क्या करे? कहाँ तक दवा लगावे ॥ १२ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित सन्तोषको अङ्ग ॥ ८० ॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहन पति साह ॥४॥

मायिक पदार्थोंकी इच्छा दूर होनेसे चिन्ता नहीं रहती। और मन निस्प्रेही हो जाता है। जो सर्वेच्छा रहित हैं वे बादशाहोंके भी बादशाह हैं ॥ ४ ॥

निज आसन संतोष में, सहज रहनि की ठौर।
गुरु भजने आसा भई, ताते कछू न और ॥५॥

जिनकी वृत्ति सन्तोषामृत पानसे तृप्त और सहजावस्थामें स्थिर है। वे केवल सद्गुरु भजनके अधिकारी हैं और किसीके नहीं ॥ ५ ॥

जग सारा दरिद्र भया, धनवंता नहि कोय।
धनवंता सोइ जानिये, राम पदारथ होय ॥६॥

सन्तोष बिना सारा जगत दरिद्र हो रहा है, कोई भी धनवान् नहीं। जिसके पास 'राम' रत्न है उसीको धनवान् समझो॥

देनेहारा राम है, जाय जंगल में बैठ।
हरि को लेई ऊबरे, सात पताले पैठ ॥७॥

प्रभु सबको देनेवाले हैं चाहे जंगलमें जाके बैठि देखो। देखो, सात लोकके नीचे पातालमें पैठके भी बलीने हरिको संग लेकर कृतकृत्य हो गया ॥ ७ ॥

कबहुँक मंदिर मालियाँ, कबहुँक जंगल बास।
सबही ठौर सुहावना, जो हरि होवै पास ॥८॥

चाहे कभी सुशोभित मन्दिरमें निवास हो या श्मसान जंगलमें। यदि प्रभु संगमें है तो सब जगह सुन्दर व आनन्द है॥

साहेब मेरे मुझको, लूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, लुखी छीन नहिं लेय ॥९॥

ऐ मेरे प्रभु! मुझें सूखीही रोटीमें सन्तोष दे। चुपड़ी चपाती माँगनेसे यों डरता हूँ कि कहीं सूखी भी न छीनले ॥९॥

सात गाँठ कौपीन की, मन नहिं मानै संक।
नाम अमल माता रहै, गनै इन्द्र को रंक ॥१०॥

सन्तोषी पुरुषके कौपीनमें चाहे सात गाँठी क्यों न लगी हो तो भी मनमें शंका नहीं मानते। और राम अमलमें ऐसे मस्त रहते हैं कि, इन्द्रको भी दरिद्र गिनते हैं ॥ १० ॥

चिंता मत कर निचिंत रह, पूरनहार समर्थ।
जल थल में जो जीव हैं, उनकी गाँठि न अर्थ ॥११॥

चिन्ता रहित अचिन्त रहो, पूर्ण करनेवाला समर्थ प्रभु है। देखो, जल, थल निवासी प्राणियोंके पासमें कोई भी द्रव्य नहीं हैं। तो भी भूखे नहीं मरते ॥ ११ ॥

चिंता ऐसी डाकिनी, काटि करेजा खाय।
वैद बिचारा क्या करै, कहाँतक दवा लगाय ॥१२॥

चिन्ता ऐसी डाकिनी है कि मर्मस्थानके मांसको काट खाती है। जिसे सन्तोष नहीं है तो वैद्य वेचारे क्या करे? कहाँ तक दवा लगावे ॥ १२ ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
सन्तोषको अङ्ग ॥ ८० ॥

अथ साँचको अङ्ग ॥८१॥

साँच सब्द हिरदै गहा, अलख पुरुप भरपूर।
प्रेम प्रीति का चोलना, पहिरै दास हजूर ॥१॥

जिसने सच्चा शब्दको हृदय में,धारण कर लिया,उसके लिये कोई जगह अलख पुरुपसे खाली नहीं। ऐसेही हजूरी दास प्रेम प्रीतिका चोला पहिरते हैं ॥ १ ॥

साँच विना सुमिरन नहीं, भय विन भक्ति न होय।
पारस में पड़दा रहै, कंचन किहिविधि होय ॥२॥

सचाई विना ध्यान और भयके विना भक्ति कदापि नहीं होती। पारसमें पड़दा रहनेसे लोहा सोना कैसे वन सकता? हर्गिज नहीं ॥ २ ॥

साँचै कोइ न पतीजई, झूठै जग पतियाय।
पाँच टका की धोपटी, सात टकै विक जाय ॥३॥

सच्ची वात पर विश्वास कोई नहीं करता, जगत झूठेका विश्वासी है। देखो, पाँच रुपयेकी पिछौरी झूठेके प्रतापसे सात टके में विक गई ॥ ३ ॥

साँचै कोइ न पतीजई, झूठै जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा वैठि विकाय ॥४॥

झूठेके विश्वासी सच्चोको नहीं मानता। देख लो, दूध, दही तो गली २ मारे २ फिरता है और मदिरा वैठे २ विकती है ॥४॥

साँच कहै तो मारि हैं, यह तुरकानी जोर।
वात कहूँ सतलोक की, कर गहि पकड़ै चोर ॥५॥

सच्ची कहनेवाले मारे जाते हैं यह "तुरकानी ज़ोर" कहावत सही है। देखो, मैं सत्यलोककी बात बतलाता हूँ तो चोर कहके पकड़ता है ॥ ५ ॥

साँच कहूँ तो मारिहैं, झूठे जग पतियाय।
यह जग काली कूतरी, जो छेड़ै तो खाय ॥६॥

यह दुनियाँ ऐसी अन्धी है कि सच्चेको मार और झूठेको इतवार करती है। ठीक यह जगत काली कुत्ती है इसे जो छेड़ता है उसीको काटती है ॥ ६ ॥

साँचै को साँचा मिलै, अधिका बढ़ै सनेह।
झूठे को साँचा मिलै, तड़ दे तूटै नेह ॥७॥

अधिक प्रेम सच्चेसे सच्चेहीको बढ़ता है। झूठेको सच्चा मिलनेसे तो फौरन टूट जाता है ॥ ७ ॥

साँच हुआ तो क्या हुआ, नाम न साँचा जान।
साँचा है साँचै मिलै, साँचै माँहि समान ॥८॥

सच्चा हुआ ही तो क्या? जब तक कि सच्चा सद्गुरु नामको नहीं जाना। जो सच्चा होके सच्चेसे मिलता है, वही सत्यमें समाता है ॥ ८ ॥

साँई सों साँचा रहो, साँई साँच सुहाय।
भावै लंबे केस रख, भावै घोट मुड़ाय ॥९॥

सत्य भावसे स्वामीको मिलो, उन्हें सत्यहीसे प्रेम है, शृङ्गारकी जुरूरत नहीं। चाहे केश लम्बे बढ़ाओ या घोट मुँड़ाओ।

जाकी साँची सुरति है, ताका साँचा खेल।
आठ पहर चौसठ घड़ी, है साँई सो मेल ॥१०॥

उसीका व्यवहार सच्चा है जिसका लक्ष्य सच्चा है। और उसीको सदैव स्वामीसे सम्बन्ध भी है ॥ १० ॥

जिन नर साँच पिछानिया, करता केवल सार।
सो प्रानी काहे चलै, झूठे कुल की लार ॥११॥

जिसने सत्यको पहिचानकर केवल सत्यहीको अपने जीवनका सार हृदय बना लिया है। वह नरजीव झूठे कुलके संग क्यों चलेगा? कदापि नहीं ॥ ११ ॥

कबीर लज्जा लोक की, बोलै नाहीं साँच।
जानि बूझि कंचन तजै, क्यों तू पकड़े काँच ॥१२॥

ऐ कबीर! जो मनुष्य लोकलज्जामें पड़के सत्य नहीं बोलता। वह मानो जान बूझके सोनाको त्यागकर काँचको ग्रहण करता है, ऐसा तू मत कर ॥ १२ ॥

तेरे अंदर साँच जो, बाहर नाहि जनाव।
जाननहारा जानि है, अन्तरगति का भाव ॥१३॥

यदि तेरे भीतर सत्यता है तो बाहर जनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। जाननेवाले अन्दरूनी भाव सब जान लेते हैं १३

अब तो हम कंचन भये, तब हम होते काँच।
सतगुरु की किरपा भई, दिल अपने का साँच ॥१४॥

प्रथम हम काँच थे परन्तु अब सद्गुरुकी कृपा होनेसे सोने बन गये। क्योंकि हमने अपने हृदयको सच्चा बना लिया। हृदयकी सच्चाईसे सब कुछ होता है ॥ १४ ॥

कबीर पूँजी साहु की, तू मति खोवै ख्वार।
खरी बिगुरचन होयगी, लेखा देती बार ॥१५॥

ऐ मन मुनीम! तू जीवरूप साहकी आयुःरूप पूँजी व्यर्थ विषयादिकमें मत खोय। ध्यान रक्ख हिसाब देते वक्त बड़ी बुरी दशा होगी ॥ १५ ॥

कंचन केवल हरि भजन, दूजा काच कथीर।
झूठा आल जंजाल तजि, पकड़ा साँच कबीर ॥१६॥

ऐ कबीर! सद्गुरुका ज्ञान चिन्तन यही कंचन है और व्यवहार सब काँच, कथीरवत् व्यर्थ है। अतः व्यर्थ आडम्बर-को छोड़कर सत्यको ही पकड़ ले ॥ १६ ॥

झूठ बात नहि बोलिये, जब लग पार बसाय।
अहो कबीरा साँच गहु, आवागवन नसाय ॥१७॥

"मानुष भरसक चूके नाहीं। आखिर होय दोष कछु नाहीं॥" इति। यथा शक्ति झूठी बात कभी मत बोल। ऐ कबीर! सत्यको ग्रहण कर आवागमन सब मिट जायँगे ॥ १७ ॥

साहेब के दरबार में, साँचे को सिर पाव।
झूठ तमाचा खायगा, क्या रंक क्या राव ॥१८॥

मालिकके दरबारमें सच्चेके शिरपर मुकुट शोभता है। वहाँ पर तो झूठा चाहे राजा हो या दरिद्र तमाचा खायगा १८

कबीर झूठ न बोलिये, जब लग पार बसाय।
ना जानो क्या होयगा, पलके चौथे भाय ॥१९॥

"दम दमके कोई खबरि न जाने, करि न सके निरुवारा" इति बीजक। ऐ कबीर! शक्ति भर झूठ मत बोलो। न मालूम पलकके चौथे भागमें क्या हो जायगा? ॥ १९ ॥

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप ॥२०॥

सचाईके बराबर तप, झूठाईके सदृश पाप और कोई नहीं। जिसके हृदयमें सचाई है, उसीके हृदयमें स्वयं मालिक रहता है

इति श्री साँचको अङ्ग ॥ ८१ ॥

अथ दयाको अङ्ग ॥८२॥

दया भाव हिरदै नहीं, ज्ञान कथै बेहद।
ते नर नरकहि जाहिंगे, सुनि सुनि साखी सब्द ॥१॥

जिनके हृदयमें प्राणियोंके ऊपर दयादृष्टि नहीं है और बेहदका ज्ञान कथन करते हैं। तो वे साखी, शब्द सुन सुनके भी नरकमें चले जायँगे ॥ १ ॥

दया कौन पर कीजिये, कापर निर्दय होय।
हम तो भये तमाशगी, नाटक बाजी जोय ॥२॥

किसके पर दया और किसके ऊपर कुदया करनी। हम तो बाजीगरके नाच देखनेवाले तमाशाई हैं। अर्थात् संसार दृश्यके द्रष्टा हैं ॥ २ ॥

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय ॥३॥
दाया दिल में राखिये, तूँ क्यों निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय ॥४॥

चिंटीसे हस्ती पर्यन्त सब स्वामीके जीव हैं। किस पर दया और किस पर कुदया करनी ?। यदि ऐसा है तो भी तू अपने दिलमें दया रख, तू क्यों निर्दया होता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

भावै जाओ बादरी, भावै जावहु गया।
कहैंकबीर सुनो भाइ साधू, सब ते बड़ी दया ॥५॥

कबीर गुरु कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनिये चाहै बद्रिका आश्रम जाइये चाहे गयाधाम ध्यान रहै दया धाम सब से बड़ा है ॥ ५ ॥

वैरागी है घर तजा, पग पहिरै पैजार ।
अन्तर दया न ऊपजै, घनी सहेगा मार ॥६॥

घर छोड़के विरागी बन गया और पाँवमें पैजार (जूता) पहिन अकड़कर चलने लगा । यदि उसके हृदयमें दया नहीं हुई तो वह बहुत यमकी मार खायगा ॥ ६ ॥

वैरागी है घर तजा, अपना राँधा खाय ।
जीव हते जौहर करै, बाँधा जमपुर जाय ॥७॥

घर परिवारको त्यागके वैराग्य धारण कर लिया और स्वयं-पाकी बना है । तथा जीवोंका हत्या करके शास्त्रोंकी ओप करता है तो वह यमपुर बाँधे अवश्य जायगा ॥ ७ ॥

आग जलावै अँन दहै, मोटा आरंभ येह ।
दीखै जम की जोट में, कीट पतंगा देह ॥८॥

आग जलाके अन्नको पकाना यह हिंसाका श्रीगणेश प्रथमारम्भ है । कीट पतंगादिका शरीर मृत्युकी बराबरीमें दीखता है । अर्थात् जीव हिंसा नीच योनिमें जानेका प्रयत्न है ॥ ८ ॥

पाकी तें डाकी भला, तिथि त्यौंहारा लेय ।
जीव सतावै शाम का, नित उठि चौका देय ॥९॥

रोजके स्वयं पाकीसे डाकिनी अच्छी है जो केवल त्यौहार तिथि पर ही बलिदान लेती है । और स्वपाकी तो प्रति दिन सुबह शाम आत्मारामको सताता है ॥ ९ ॥

अथ दयाको अङ्ग ॥८२॥

दया भाव हिरदै नहीं, ज्ञान कथै बेहद।
ते नर नरकहि जाहिंगे, सुनि सुनि साखी सब्द ॥१॥

जिनके हृदयमें प्राणियोंके ऊपर दयादृष्टि नहीं है और बेहदका ज्ञान कथन करते हैं। तो वे साखी, शब्द सुन सुनके भी नरकमें चले जायँगे ॥ १ ॥

दया कौन पर कीजिये, कापर निर्दय होंय।
हम तो भये तमाशगी, नाटक बाजी जोय ॥२॥

किसके पर दया और किसके ऊपर कुदया करनी। हम तो बाजीगरके नाच देखनेवाले तमाशाई हैं। अर्थात् संसार दृश्यके द्रष्टा हैं ॥ २ ॥

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय ॥३॥
दाया दिल में राखिये, तूँ क्यों निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय ॥४॥

चिंटीसे हस्ती पर्यन्त सब स्वामीके जीव हैं। किस पर दया और किस पर कुदया करनी ?। यदि ऐसा है तो भी तू अपने दिलमें दया रख, तू क्यों निर्दया होता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

भावे जाओ बादरी, भावै जावहु गया।
कहैंकबीर सुनो भाइ साधू, सब तें बड़ी दया ॥५॥

कबीर गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! सुनिये चाहे बद्रिका आश्रम जाइये चाहे गयाधाम ध्यान रहे दया धाम सब से बड़ा है ॥५॥

वैरागी हूै घर तजा, पग पहिरै पैजार।
अन्तर दया न ऊपजै, घनी सहेगा मार ॥६॥

घर छोड़के विरागी बन गया और पाँवमें पैजार (जूता) पहिन अकड़कर चलने लगा। यदि उसके हृदयमें दया नहीं हुई तो वह बहुत यमकी मार खायगा ॥ ६ ॥

वैरागी हूै घर तजा, अपना राँधा खाय।
जीव हते जौहर करै, बाँधा जमपुर जाय ॥७॥

घर परिवारको त्यागके वैराग्य धारण कर लिया और स्वयं-पाकी बना है। तथा जीवोंका हत्या करके शास्त्रोंको ओप करता है तो वह यमपुर बाँधे अवश्य जायगा ॥ ७ ॥

आग जलावै अँन दहै, मोटा आरंभ येह।
दीखै जम की ओट में, कीट पतंगा देह ॥८॥

आग जलाके अन्नको पकाना यह हिंसाका श्रीगणेश प्रथमारम्भ है। कीट पतंगादिका शरीर मृत्युको बराबरीमें दीखता है। अर्थात् जीव हिंसा नीच योनिमें जानेका प्रयत्न है ॥ ८ ॥

पाकी ते डाकी भला, तिथि त्यौहारा लेय।
जीव सतावै राम का, नित उठि चौका देय ॥९॥

रोजके स्वयं पाकीसे डाकिनी अच्छी है जो केवल त्यौहार तिथि पर ही बलिदान लेती है। और स्वपाकी तो प्रति दिन सुबह शाम आत्मारामको सताता है ॥ ९ ॥

पाका को मन पानरे, कै गोबर कै गार।
और जनम कहा पाइये, यह तो चाला हार ॥१०॥

स्वयंपाकीका मन सदो पन्हेड़ा या गोवर, गारा में लगा रहता है। इसलिये इस जन्ममें ये और क्या प्राप्त कर सकेंगे, यह तो व्यर्थमें चला गया ॥ १० ॥

चौके चिऊँटी चूल्ह घुन, किरम बहुत जो नाज।
कहैं कबिर आचार यह, जिवको होय अकाज ॥११॥

चौका लगानेमें चींटी, चूल्हेमें लकड़ाका घुन और अनाजमें अनेकों जीव जन्तु की हिंसा होती है, कबीर गुरु कहते हैं कि इस आचारसे जीवों की बड़ी हत्या होती है। अतः विचारसे काम लेना चाहिये ॥ ११ ॥

आचारी सब जग मिला, बीचारी नहिं कोय।
जाके हिरदे गुरु नहीं, जिया अकारथ सोय ॥१२॥

जगतमें आचारी बहुत मिलते परन्तु विचारी कोई नहीं। जिसके हृदयमें सद्गुरुका विचार नहीं है तो उसका जन्म व्यर्थ है।

जहाँ दया वहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध वहँ काल है, जहाँ क्षमा वहँ आप ॥१३॥

जहाँ दया है वहीं धर्म है, जहाँ लोभ है तहाँ पाप है। और जहाँ क्रोध है तहाँ काल तैयार है, इसी प्रकार जहाँ क्षमा है तहाँ स्वयं प्रभु है ॥ १३ ॥

कुंजर मुखसे कन गिरा, खुटे न वाको (आ)हार।
कीडी कन लेकर चली, पोषन दे परिवार ॥१४॥

खाते हुये हस्तीके मुखसे दाना गिर गया उसके आहारमें तो कमी न हुई और लाखों चींटियाँ उस कणको लेकर परिवार पोषने चलीं ॥ १४ ॥

दाता दाता चलि गये, रहि गये मक्खीचूस।
दान मान समुझे नहीं, लड़ने को मजबूत ॥१५॥

कर्ण, बलि आदि दाता सब चले गये, और मक्खीचूस मूँजी सब रहि गये हैं ये दान सत्कार तो समझते नहीं लड़ने को सब मज़बूत मूसरचन्द हैं ॥ १५ ॥

दया का लच्छन भक्ति है, भक्ति से होवै ध्यान।
ध्यान से मिलता ज्ञान है, यह सिद्धान्त उरान ॥१६॥

प्रभु भक्ति दयाका स्वरूप है, भक्तिसे ध्यान और ध्यानसे ज्ञान प्राप्त होता है इसी सिद्धान्तको हृदयमें लावो ॥ १६ ॥

दया दया सब कोइ कहै, मर्म न जानै कोय।
जात जीव जानै नहीं, दया कहाँ से होय ॥१७॥

दया २ सब कोई कहते हैं परन्तु सत्संग विमुख इसका भेद कोई नहीं जानते। क्योंकि जात जीव यानी प्राणी मात्रको अपना स्वरूप नहीं जानते तो दया धर्म कहाँसे होवे? ॥ १७ ॥

दया सबहि पर कीजिये, तू क्यों निर्दय होय।
जाकी बुद्धि ब्रह्म में, सो क्यों खूनी होय ॥१८॥

प्राणी मात्र पर दया करो, तू निर्दया क्यों होता है? अरे! जिसकी बुद्धि ब्रह्ममय हो गई वह खूनी कैसे होगा? हर्गिज़ नहीं॥ १६ ॥

कबीर सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो क़ाफिर बेपीर ॥१९॥

ऐ कबीर! वही श्रेष्ठ गुरु पीर है जो परकी पीड़ा जानता है। और जो दूसरेका दुःख नहीं जानता वह क़ाफ़िर क़साई है।

दया धर्म का मूल है, पाप मूल संताप।
जहाँ क्षमा तहाँ धर्म है, जहाँ दया तहाँ आप ॥२०॥

धर्मकी जड़ (नींव) दया है। दुःखकी बुनियाद पाप है। और जहाँ क्षमा है तहाँ धर्म भी है, प्रभुका स्वरूप दयामय है। अतः दया धर्मको धारण करो यही प्रभुकी भक्ति है ॥ २० ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित
दयाको अङ्ग समाप्त ॥ ८२ ॥

अथ दीनताको अङ्ग ॥ ८३ ॥

दीन गरीवी वंदगी, साधुन सों आधीन ।
ताके संग में यौं रहूँ, ज्यौं पानी संग मीन ॥१॥

जो सेवक विनयावनत दीन और सन्तोंके अधीन है। उसके संगमें मैं ऐसे रले मिले रहता हूँ जैसे पानीमें मछली ॥ १ ॥

दीन गरीवी वंदगी, सबसों आदर भाव ।
कहैं कविर सोई वड़ा, जामें बड़ा सुभाव ॥२॥

जो गरीबी धारण कर श्रद्धा सहित विनय पूर्वक सबको सत्कार सेवा करता है। कवीर गुरु कहते हैं कि ऐसा वड़ा स्वभाव वाला ही सबसे बड़ा है ॥ २ ॥

दीन गरीवी दीन को, दुंदर को अभिमान ।
दुंदर तो विष सों भरा, दीन गरीवी जान ॥३॥

सद्गुरु सत्संगीको दीनता व गरीवीमें ही शोभा है, और उपद्रवीको अभिमानमें क्योंकि उपद्रवी तो विषसे भरा है और दीन-यानी धर्म पूर्ण गरीवी है ॥ ३ ॥

दीन लखै मुख सबनको, दीनहि लखै न कोय ।
भली विचारी दीनता, नरहु देवता होय ॥४॥

गरीब सबके मुखको देखता है और गरीबका कोई नहीं। इसलिये वेचारी गरीबी अच्छी है कि गरीवीके कारण नर भी देव होता है जिससे भली भाँति भले बुरेकी परीक्षा हो जाती है ॥

इक पानी सो दीनता, सब कछु गुरु दरबार।
यही भेट गुरु देव की, संतन किया विचार ॥५॥

एक ही गरीबी धारण करलो गुरु दरबारमें सर्व पदार्थ भरे पड़े हैं। सन्तोंने विचार किया है कि गुरुदेवकी भेंट दीनता सबसे भली चीज़ है ॥ ५ ॥

जल थल जीव जिते तिते, रहे सकल भरपूर।
जो दिल आवै दीनता, साँई मिले हजूर ॥६॥

जल, थल आदि सबही जगह जीव जन्तु भरे पड़े हैं। यदि दिलमें दीनता आजाये तो स्वामी भी समीप हीमें मिलजायँ ॥६॥

नहीं दीन नहि दीनता, संत नहीं मिहमान।
ता घर जम डेरा दिया, जीवत भया मसान ॥७॥

न कोई उत्तम धर्म है न गरीबी, न घर पर सन्त मिहमान हैं। ऐसोंके घर जीतेजी यमने डेरा डाल श्मशान बना दिया है।

कबिर नवै सो आपको, पर को नवै न कोय।
घालि तराजू तोलिये, नवै सो भारी होय ॥८॥

ऐ कबीर! जो कोई नम्र होता है वह अपने लिये, दूसरेके लिये नहीं। तराजूमें डालके देख लो, जो नीचे झुकता है वही भारी कहलाता है ॥ ८ ॥

आपा मेटै पिव मिलै, पिव में रहा समाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कहै तो को पतियाय ॥६॥

जो अभिमानको दूर करता है वही प्रभुसे मिलता है और उसमें समाय रहता है। अजब प्रेमकी कहानी है, कोई कहे भी तो कौन विश्वास करता है? ॥ ६ ॥

नीचै नीचै सब तिरै, संत चरन लौ लीन।
जातिहि के अभिमान ते, बूड़े सकल कुलीन ॥१०॥
नीचै नीचै सब तिरै, जिहि तिहि बहुत अधीन।
चढ़ि बोहित अभिमानकी, बूड़े ऊँच कुलीन ॥११॥

नम्रता पूर्वक सन्तोंके चरणोंकी अधीनता स्वीकार कर गणिका, गिद्ध शेवरी आदि नीच सब तर गये। और जातिके अभिमानसे श्रेष्ठ पाण्डवादि सब गल गये। और भी अभिमान रूपी नोका पर चढ़के ऊँचे कुलीन सब बूड़ गये, कहाँ तक गिनावें ॥ १० ॥ ११ ॥

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोज्यो आपना, मुझ सा बुरा न होय ॥१२॥
कबीर सब ते हम बुरे, हमते भल सब कोय।
जिन ऐसा करि बूझिया, मीत हमारा सोय ॥१३॥

बुरा देखनेको मैं चला परन्तु कोई भी न मिला। कब? जब बुराइयोंको अपने आपमें खोज किया, फिर तो अपने समान बुरा कोई दीखाही नहीं। ऐ कबीर हम सबसे बुरे और हमसे सब कोई अच्छे हैं। ऐसा जिसने समझ लिया, बस! वही हमारा मित्र है ॥ १२ ॥ १३ ॥

दरसन को तो साधु हैं, सुमिरन को गुरु नाम।
तरबे को आधीनता, डूबन को अभिमान ॥१४॥

दर्शनके वास्ते सन्त और चिन्तनके लिये गुरु मंत्र है। इसी प्रकार संसारसे उद्धारके लिये नम्रता और बूड़ने के लिये अभिमान है ॥ १४ ॥

नमन खमन अरु दीनता, सबकूँ आदर भाव।
कहैं कबिर सोई बड़े, जामें बड़ो सुभाव ॥१५॥

यद्यपि नम्रता, क्षमा, गरीबी तथा सबको आदर भाव करना श्रेष्ठ है तथापि कबीर गुरु कहते हैं कि सबसे बड़ा वही है जिसका बड़ा उदार स्वभाव है ॥ १५ ॥

मिसरी बिखरी रेत में, हस्ती चुनी न जाय।
कीड़ी ह्वै करि सब चुनै, तब साहिब कूँ पाय ॥१६॥

जैसे धूलमें बिखरी हुई चीनीको हस्ती नहीं चुन सकता। उसे चींटी ही चुन सकती है तैसेही प्रभुको कोई अभिमान से नहीं पा सकता, साहिब तो सिर्फ़ सबूरी, ग़रीबीसे मिलते हैं ॥

इति श्री पण्डित महाराज राघवदासजी कृत टीका सहित दीनताको अङ्ग समाप्त ॥ ८३ ॥

अथ बिनतीको अङ्ग ॥ ८४ ॥
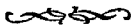
बिनवत हूँ कर जोरि के, सुन गुरु कृपानिधान।
संतन को सुख दीजिये, दया गरीबी ज्ञान ॥१॥

हे दयानिधे! सुनिये, हस्त जोड़कर मेरी यही विनय है कि सन्तोंको दया, गरीबी, ज्ञान और शान्ति दीजिये ॥ १ ॥

क्या मुख ले बिनती करूँ, लाज आवत है मोहि।
तुम देखत औगुन किया, कैसे भाऊँ तोहि ॥२॥

हे प्रभु! मुझ अकिञ्चनके पास कोई ऐसा पुरस्कार उप-

हारार्थ नहीं है कि तुम्हारे आगे करके विनय करूँ अतः विनय करनेमें भी मुझे लज्जा आती है। क्योंकि तुम्हारे देखते हुये एक, दो नहीं किन्तु लाखों अपराध किया व करता हूँ फिर तुम्हें पसन्द आऊँ तो किस तरह ? ॥ २ ॥

बनजारी विनती करै, नरियर लाई हाथ।
टाँडा था सो लदि गया, नायक नाहीं साथ ॥३॥

मन रूप नारियरको हाथमें लेकर सावधान चित्तकी वृत्ति विनय कर कहती है कि हे प्रभु ! शरीर रूप टाँडा (बैलोंका गिरोह) जो था वह लद गया और नायक साथमें नहीं था अर्थात् त्रिविध ईषणा रूप बोझ लादके वृत्ति शरीर, संसारमें फँसी रह गई और चित्स्वरूप स्वामी रूप नायकके संग नहीं गई। अतः दुखी हुई और होती है ॥ ३ ॥

औगुन किया तो बहु किया, करत न मानी हार।
भावै बंदा बख्शिये, भावै गरदन मार ॥४॥

ऐ प्रभु ! अपराध किया तो बहुतेही किया और करते २ थका भी नहीं। अब बन्दाका शिर संमुख झुका है, मारिये या उद्धार कीजिये। यह तुम्हारे अधीन है ॥ ४ ॥

औगुन मेरे बापजी, बख्शो गरीब निवाज।
मैं तो पूत कपूत हूँ, तोहि पिता को लाज ॥५॥

ऐ गरीब परवर ! मेरे मालिक ! मेरा अपराध क्षमा करो, मैं कुपुत्र हूँ या जो कुछ हूँ, तेरा हूँ, मेरी लाज तुझे ही है ॥ ५ ॥

मैं खोटा साँई खरा, मैं गाधा मैं गार।
मैं अपराधी आतमा, साँई सरन उबार ॥६॥

मैं खोटा, और स्वामी खरे हैं, मैं जो कुछ अधम गँवार हूँ। और अपराधी या महापापात्मा हूँ, मैं ही हूँ, अब तो मैं आपकी शरण हूँ उद्धार कीजिये ॥ ६ ॥

मैं अपराधी जनम का, नखसिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भंजना, मेरी करो सम्हार ॥७॥

मैं जन्मका अपराधी हूँ, नखसे शिखा पर्यन्त विकार भरे पड़े हैं। आप दीन रक्षक दाता हो मैं आपकी शरण हूँ मेरी सँभाल करो ॥ ७ ॥

सुरति करो मम साँइया, मैं हूँ भौजल माँहि।
आपे हि मरि जाऊँगा, जो नहिं पकड़ो बाँहि ॥८॥

मेरे प्रभु! मेरी सुधि लो मै भवसिन्धुमें पड़ा हूँ। मैं खुदही मर जाऊँगा यदि उद्धार न करोगे तो ॥ ८ ॥

और पतित तो कूप हैं, मैं हूँ समुँद समान।
एक टेक गुरु नाम की, सुनियो कृपानिधान ॥९॥

हे पतित पावन! और पतित सब कूप हैं और मैं तो सागर सदृश हूँ, दयानिधे! सुनिये, बस! एकही आपके नामकी आशा है ॥ ९ ॥

औसर बीता अलप तन, पीव रहा परदेस।
कलंक उतारो साँइया, भानो भरम-अँदेस ॥१०॥

नर तनके शुभ अवसर बीते जा रहे हैं, आयुः बहुत थोड़ी है प्रभु प्रदेशमें हैं। स्वामिन्! कलंक मिटाइये और भ्रान्ति चिन्ता दूर कीजिये ॥ १० ॥

सॉंई मेरा सावधान, मैं ही भया अचेत।
मनवचकरम न गुरु भजा, ताते निष्फल खेत ॥११॥

स्वामिन्! आप तो सचेत हैं मैं ही अचेत पड़ा हूँ। हे गुरो! मैं मन, कर्म वचनसे आपका नाम नहीं लिया इसलिये मेरा नर जन्म खेत निष्फल गया॥ ११॥

अबकी जो सॉंई मिले, सब दुख आखूँ रोय।
चरनौं ऊपर सिर धरूँ, कहूँ जो कहना होय ॥१२॥

अबकी बार जो कहीं स्वामी मिले तो सब दुख रो रो कर कहूँ। और उनके चरणोंमें शिर धरके जो कुछ वक्तव्य होय उन्हें सब सुना देऊँ॥ १२॥

कबीर सॉंई मिलहिंगे, पूछेंगे कुसलात।
आदि अन्तकी सब कहूँ, उर अन्तर की बात ॥१३॥

यदि स्वामी मिलें और कुशल मंगल पूछेंगे तो आदिसे अन्त तक हृदयकी सबही वार्ता उन्हें कह सुनाऊँगा॥ १३॥

कर जोरै विनती करूँ, भौसागर हि अपार।
बंदा ऊपर मिहर करि, आवा गवन निवार ॥१४॥

पे प्रभु! भवसिन्धु अपार है अतः हाथ जोड़कर विनय करता हूँ। दास पर दया करके अबकी बार तो जन्म मरणसे उद्धार करो॥ १४॥

मेरा मुझमें कछु नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर ॥१५॥

.मेरा पना मुझमें कुछ भी नहीं है सब कुछ तेरा ही है। तेरा तुझे समर्पण करनेमें मेरी क्या लागत है? कुछ नहीं॥१५॥

तेरा तुझमें कछु नहीं, जो कुछ है सो मोर।
मेरा मुझको सौंपते, दिल धड़केगा तोर ॥१६॥

गुरु वचनः—तेरा तुझमें कुछ नहीं है, मैं समझ लिया, सब कुछ मेरा ही है तो भी मेरा ही मुझे हवाले करनेमें तेरा दिल काँप उठेगा ॥ १६ ॥

दरस दान मोहि दीजिये, गुरु देवन के देव।
और नहीं कछु चाहिये, निसदिन तेरी सेव ॥१७॥

हे देवोंके देव गुरो! मुझे दर्शन भिक्षा दीजिये। बस! अहोरात्र तेरे चरणोंकी सेवाके सिवा और कुछ नहीं चाहिये॥

तुम गुरु दीन दयाल हो, दाता अपरम पार।
मैं बूडूँ मँझधार में, पकड़ि लगावो पार ॥१८॥

हे दीनबन्धु गुरो! आप ऐसे परम दानी दयालुके होते हुये क्या मैं बीच धारमें डूब जाऊँ? नहीं नहीं, गुरुजी! शरण हूँ, पकड़के उद्धार कीजिये ॥ १८ ॥

अवरन को क्या बरनिये, मो पै बरनि न जाय।
अवरन बरनै बाहिरै, करि करि थका उपाय ॥१९॥

वर्णाश्रमादि से रहित को क्या वर्णन करना? मेरे वशका नहीं है। मै यत्न कर २ के थक गया तू अवरन वरन दोनोंसे बाहर है॥

मुझमें इतनी शक्ति क्या, गावूँ गला पसार।
बन्दे को इतनी घनी, पड़ा रहूँ दरबार ॥२०॥

मुझमें इतना समर्थ कहाँ? कि आपके गुणानुवाद मुक्त कण्ठ से गाऊँ। बस! बन्दाके लिये तो इतनाही काफ़ी है कि शरण में पड़ा रहूँ ॥ २० ॥

जब का माई जनमिया, किते न पाया सूख।
डारी डारी मैं फिरूँ, पात पात में दूख ॥२१॥

जबसे माताने जन्म दिया, सुख कहीं न पाया। मैं जिस २ शाखा (मार्ग) पर पग देता हूँ उसके पत्ते२ में दुख भरे हैं॥२१॥

कबीर मैं तबही डरूँ, जो मुझही में होय।
मीच बुढ़ापा आपदा, सब काहू को जोय ॥२२॥

ऐ कबीर! मैं तो तब ही डरता जबको एक मेरे होमें दुःख होता? किन्तु मृत्यु, जरा, आपत्ति तो सबही शरीर धारीको होती है। फिर मुझे भय क्या? ॥ २२ ॥

कबीर करत है वीनति, सुनो संत चितलाय।
मारग सिरजनहार का, दीजै मोहि बताय ॥२३॥

जिज्ञासुकी विनय है कि हे सन्तो! एकाग्र चित्तसे श्रवण कीजिये। और कृपया मालिकका मार्ग मुझे दिखला दीजिये॥२३॥

कबीर यह विनती करै, चरनन चित्त बसाय।
मारग साँचा संत का, गुरु मोहि देउ बताय ॥२४॥

सद्गुरु चरणोंमें चित्त लगाके जिज्ञासुकी यही प्रार्थना है कि सन्तका सच्चा मार्ग मुझे दिखला दीजिये ॥ २४ ॥

जन कबीर बंदन करै, किस विधि कीजै सेव।
वार पार की गम नहीं, नमो नमो निज देव ॥२५॥

जिज्ञासु जन वन्दना करता है कि हे सद्गुरो! किसप्रकार आपकी सेवा की जाय। वार, पारकी गति नहीं है, अतः हे निज देव! आपके चरणोंमें यह बार बार नमस्कार है ॥ २५ ॥

जय गुरुवर जय सन्तवर, जय सत्संग अधार।
साखी अर्थ समुद्र से, कुशल कियो मुझ पार॥१॥
वन्दौं सत्य कबीर गुरु, जिहिं वाणी शिरताज।
संग करी कृतकृत्य हुइ, मम वाणी है आज॥२॥
ज्ञान ध्यान गुरु-भक्ति-नथ, सत्य बोध सुज्ञेहीन।
चौरासि-अँग सहित जू, साखि-ग्रन्थ रचि दीन॥३॥
पढ़ि गुनि अर्थ विचार करि, प्राप्त कियो निज रूप।
भाव अर्थ जिज्ञासु हित, लिख्यो सुमति अनुरूप॥४॥
प्राप्त भये जिहिं रूप को, वृत्ति न होय दुख रूप।
सबके सब दिन प्रेम सो, निज स्वरूप चिद्रूप॥५॥
अस आतम अनुभव भये, वृत्ति होत चिति शान्त।
पुनः क्षुभित घृत पूपवत्, मिले जिज्ञासु भ्रान्त॥६॥
वनवन भन भन भृंग भी, ज्यौंलों मधु नहिं पान।
गुंजत किञ्चित क्वचित चिति, प्रगट करत मद ज्ञान॥७॥
जानि जिहि ज्ञातव्य नहि, रहत शेष लवलेश।
कृपाकरि निज ओर दियो, सो 'राघव' आदेश॥८॥
पूरण ज्ञान स्वरूप गुरु, सब विधि पूरण रूप।
जानि पूरणता आपकी, भयो सुपूरण चूप॥९॥

इति श्री अनन्त आचार्य रामविलास साहिब का शिष्य
पण्डित महाराज राघवदासजी कृत सटीक
[विनतीको अङ्ग सम्पूर्ण॥ ८४॥

१—श्रेष्ठ-प्रतिभाशाली। संशय विपर्यय ज्ञान रहित यथार्थ ज्ञान युत।

॥ सद्गुरवे नमः ॥

अथ परिशिष्ट प्रश्नोत्तरको अङ्ग।

गुरु तुम्हारा कहाँ बसै, चेला कहाँ बसाय।
क्यों करिके मिलना भया, बिछुड़े आवै जाय ॥१॥
गुरु हमारा गगन में, चेला है चित माँहि।
सुरति सब्द मेला भया, बिछुड़त कबहू नाँहि ॥२॥

प्रश्नः—गुरु और शिष्यका निवास स्थान कहाँ है तथा मिलाप व वियोग किसका और कैसे हुआ? ॥ १ ॥

उत्तरः-विशुद्ध ज्ञान स्वरूप गुरु हमारे गगनमें यानी हृदयाकाश में रहते हैं और चेला चित्तमें अर्थात् पदार्थका प्रकाशक जो अन्तःकरण और अज्ञानका परिणाम है उस चित्त वृत्तिमें शिष्य रहता है। जब ज्ञान शब्द स्वरूप गुरुमें वृत्ति लय हो जाती है तब कभी भी उसका वियोग नहीं होता ॥ २ ॥

कहाँ बुंद सायर मिली, किहि बिधि कौन सनेह।
यह मन में संसै भया, समुझि अर्थ कहि देह ॥३॥
गगन बुंद सायर मिला, उत्तम परम सनेह।
मन का संसै दूर करु, समुझि अर्थ गहि येह ॥४॥

प्रश्नः—सागरको बुन्द कहाँ, किस प्रकार और किस स्नेह से मिली? मनके इस संशयको समझ अर्थ कहके निवृत्त कीजिये? ॥ ३ ॥

उत्तरः—सायरकी बुन्द सर्वोत्कृष्ट प्रेमसे आकाशमें मिल गया। इस निष्कर्ष अर्थको ग्रहण कर मनका संशय दूर करो॥४॥

सब्द कहाँ ते उठत है, कहु कहँ जाय समाय।
हाथ पाँव वाके नहीं, कैसे पकड़ा जाय॥५॥
नाभि कमल ते उठत है, सुन्न में जाय समाय।
हाथ पाँव वाके नहीं, सुरति से पकड़ा जाय॥६॥

प्रश्नः—शब्द कहाँसे उठता और कहाँ जाके प्रवेश करता है। जबकि उसे हाथ, पग नहीं है फिर पकड़ा कैसे जायगा?

उत्तरः—शब्द नाभि कमलसे उठकर आकाशमें जाके लय होता है। यद्यपि उसे हाथ पग नहीं है तथापि वह विशुद्ध वृत्ति द्वारा पकड़में आ जाता है॥ ६॥

सब्द कहाँ से आइया, कहाँ सब्द का भाव।
कहाँ सब्द का सीस है, कहाँ सब्द का पाँव॥७॥
सब्द ब्रहमंड ते आइया, मध्य सब्द का भाव।
ज्ञान सब्द का सीस है, अज्ञान सब्द का पाँव॥८॥

प्रश्नः—शब्द कहाँसे आया और उसका भाव कहाँ है? इसी प्रकार कृपा करके उसके मस्तक, और पगका भी स्थान बतलाइये?॥ ७॥

उत्तरः—शब्द ब्रह्माण्डसे आया है और मध्य स्थानमें उसका भाव है। ज्ञान उसका शिरो भाग और अज्ञान पाँव है॥ ८॥

कौन सब्द की नावरी, कौन सब्द असवार।
कौन सब्द की डोर है, कौन उतारै पार॥९

साँच सब्द की नावरी, अकह सब्द असवार।
सुरति सब्द की डोर है, तुझै उतारै पार ॥१०॥

प्रश्नः—कौन शब्द नौका रूप है और कौन सवार है? तथा डोरी रूप कौन शब्द है और किसे पार उतारता है? ॥६॥

उत्तरः—सार शब्द नौका रूप है और अकथ शब्द (चिति) सवार है। सुरति शब्द डोरी रूप है तुझे (जिज्ञासुओंको) पार उतारता है ॥ १० ॥

कौन सरोवर पानि बिन, कौन मीच बिन काल।
कौनसु परिमल बास बिन, कौन ब्रिच्छ बिन डाल॥११॥
मान सरोवर पानि बिन, नींद मीच बिन काल।
सब्दसुपरिमलबासबिन, सुरतिब्रिच्छबिनडाल॥१२॥

प्रश्नः—बिना जलके सरोवर तथा बिना मृत्युके काल कौन है? और बिना सुगन्धके खुशबूदार पदार्थ तथा बिना शाखाके वृक्ष कौन है? ॥ ११ ॥

उत्तरः—मानस तालाब (सत्संग) बिना जलके तथा बिना मृत्युका काल नींद है। एवं बिना सुगन्धका परिमल शब्द (सन्तोंका समुदाय) तथा बिना डालका वृक्ष सुरति है ॥१२॥

कौन कसै कसवाव को, कौन जु लेय छुड़ाय।
यह संसै जिय है रहा, साधु कहो समुझाय॥१३॥
काल कसै कसवावकरम, सतगुरु लिया छुड़ाय।
कहैं कबीर पुकारि के, सुनो संत चित लाय॥१४॥

प्रश्नः—कसवाव कर्मको कौन कसता है तथा उसे छोड़ाता कौन है? हे सन्तो! मेरे इस संशयको निवृत्त कीजिये ॥१३॥

उत्तरः—जीवों पर काल, कसवाव कर्मको कसता है तथा सद्गुरु उसे छुड़ा लेते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि हे जिज्ञासुओं! एकाग्र चित्तसे सुनो ॥ १४ ॥

कबीर मन मैला भया, यामें बहुत विकार।
यह मन कैसे धोइये, साधू करो विचार ॥१५॥
गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसे रंग अपार ॥१६॥
कबीर काया को भगो, साँई साबुन नाम।
रामहि राम पुकारता, धोया पाँचौं ठाम ॥१७॥

प्रश्नः—यह मन मैला हो गया तथा इसमें बहुत विकार भी भर गया है। हे सन्तो! इसे किस प्रकार धोया जाय? विचार कीजिये ॥ १५ ॥

उत्तरः—सद्गुरु धोबी हैं तथा शिष्य कपड़ा है इसे धोनेके लिये मालिकके नामको साबुन बनाकर लगाओ और समाहित चित्त वृत्ति रूपी शिला पर खूब धोवो, एक अजब रंग निकलेगा ॥ १६ ॥

ऐ कबीर! इस काया रूपी भूलकी शुद्धि अर्थ स्वामीके नाम स्मरण रूपी साबुन लगाके रामराम कहते चलो पंचकोशादि रुप पाँच टूक कपड़ा धोया जायगा। शुद्ध हो जायगा ॥

इस तनमें मन कहँ बसै, निकसि जाय किहि ठौर।
गुरु गम है तो परखि ले, नातर कर गुरु और ॥१८॥
नैनों माहीं मन बसै, निकसि जाय नौ ठौर।
गुरु गम भेद बताइया, सब संतन सिर मौर ॥१९॥

प्रश्नः—इस तनमें मन कहाँ रहता है और किधरसे निकल जाता है? गुरु ज्ञान है तो परखो नहीं तो दूसरे गुरु करो॥१८॥

उत्तरः—जाग्रदवस्थामें व्यवहारिक मनका निवास विशेष रूपसे नेत्रमें रहता है। और नव द्वारेसे निकल जाता है। नवद्वारा ये हैं:—दो कान, दो नाक, दो आँख, एक मुख, एक लिंग और एक गुदा। यह सब सन्तोंका शिरमौर गुरु गम भेद है, बतला दिया॥ १८॥ १६॥

दूध फाटि घृत कहँ गया, काँसा फूटी नाद।
तन छूटै मन कहाँ रहै, जानै बिरला साध॥२०॥
दूध फाटि घृत दूधमिला, नाद मिली आकास।
तन छूटै मन तहँ गया, जहाँ धरी मन आस॥२१॥

प्रश्नः-दूधके फट जाने पर घी और काँसा के बासन फूटने पर शब्द कहाँ गया? इसी प्रकार तन छूटने पर मन कहाँ रहता है! इसे कोई विरले सन्त जानते हैं॥ २०॥

उत्तरः-दूध फटने पर घृत दूधही में मिल जाता है और काँसा का नाद आकाश में। "जहाँ आशा तहाँ बासा होई। बाको रोकि सके नहिं कोई" इत्यादि वचन के अनुसार तन छूटने पर मन आशा में वास किया व करता है॥ २१॥

कौन पवन घर संचरै, कहाँ किया परकास।
नाद बिंद जब ना हता, तब कहँ किया निवास॥२२॥
हुलस पवन घर संचरै, पंचम किय परकास।
नाद बिंद जब ना हता, तत्त्वहि किया निवास॥२३॥

प्रश्नः-पवन कौन घरमें विहार और कहाँ प्रकाश किया व करता है? और जब नाद, विन्द नहीं थे तब निवास कहाँ किया था।

उत्तरः-प्राण पवन आनन्द घरमें विहार और पंचम घरको प्रकाश किया व करता है। और जब नाद बिन्दका शरीर नहीं था तब तत्व स्वरूपही में निवास किया था ॥ २३ ॥

सकल पसारा पवन का, सात द्वीप नौ खंड।
कौन नाम उस पवन का, जो गरजै ब्रह्मंड ॥२४॥
सकल पसारा पवन का, सात द्वीप नौ खंड।
सोहं नाम उस पवन का, जो गरजै ब्रह्मंड ॥२५॥

प्रश्नः-सप्त द्वीप व नवखण्ड पर्यन्त सम्पूर्ण विस्तार पवन का है। उस पवनका क्या नाम है जो ब्रह्माण्डमें गरजता है?॥२४॥

उत्तरः-उस पवनका नाम 'सोऽहं' है जो ब्रह्माण्डमें ध्वनि करता है ॥ २५ ॥

कौन पवन धरती बसै, कौन पवन आकास।
कौन पवन मध्ये बसै, कौन पवन परकास ॥२६॥
धीर पवन धरती बसै, अगह पवन आकास।
मधुर पवन मध्ये बसै, अगह पवन परकास ॥२७॥

प्रश्नः—कोन पवन धरती (घर) में और कोन आकाश में तथा मध्य स्थानमें कोन एवं प्रकाशमें कौन पवन रहता है?॥२६॥

उत्तरः—धीर पवन धरतीमें और अग्राह्य आकाशमें तथा मधुर पवन मध्य स्थानमें और प्रकाशमें अगर पवन रहता है २७

कौन पवन ले आवई, कौन पवन ले जाय।
कौन पवन भरमत फिरै, सो मोहि देहु बताय ॥२८॥
सहज पवन ले आवई, सुरति पवन ले जाय।
जीव पवन भरमत फिरै, कहँ कबिर समुझाय ॥२९॥

प्रश्नः—नरजीव कौन पवन लेके आता है तथा कौन पवन लेके जाता है। और कौन पवन भ्रमत फिरता है? कृपया बतलाइये ॥ २८ ॥

उत्तरः—कबीर गुरु समझाकर कहते हैं कि सहज पवन लेके आता है तथा सुरति पवन लेके जाता है। और जीव पवन भ्रमता फिरता है ॥ २६ ॥

तन का मंजन नीर है, नीरहि मंजन पौन।
कहैं कबिर सुन पण्डिता, पौन का मंजन कौन ॥३०॥
तन का इन्द्री मैल है, मन पवना ले धोय।
ज्ञान जु गुरु सों पाइये, पौन का मंजन सोय ॥३१॥

प्रश्नः—कबीर गुरु कहतेहैं कि ऐ पण्डितो! सुनो, शरीर शुद्धयर्थ जल और जलके लिये वायु है परन्तु वायुकी शुद्धिके लिये क्या है? ॥ ३० ॥

उत्तरः—शरीरका मैल अनिग्रह इन्द्रियाँ हैं उन्हें शुद्ध मन पवनसे पवित्र करै और सद्गुरुसे जो स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है वही पवनकी पवित्रता है ॥ ३१ ॥

कौन देस ते आइया, कौन तुम्हारा ठाम।
कौन तुम्हारी जाति है, कौन पुरुष को नाम ॥३२॥
अमर लोक ते आइया, सुखसागर है ठाम।
जाति अजाति मेरी है, सत्तपुरुष का नाम ॥३३॥

प्रश्नः—कौन देशसे आये हो, तुम्हारा स्थान कहाँ है? तुम्हारी जाति क्या तथा नाम तुम्हारा कौन पुरुषका है? ॥३२॥

उत्तरः—अमर धामसे आये हैं, सुखसागर यानी सन्तोंका सत्संग मेरा स्थान है। जाति रहित मेरी जाति तथा सत्पुरुष-का नाम है ॥ ३३ ॥

कौन तुम्हारी जाति है, कौन तुम्हारा नाँव।
कौन तुम्हारा इष्ट है, कौन तुम्हारा गाँव ॥३४॥
जाति हमारी आतमा, प्रान हमारा नाँव।
अलख हमारा इष्ट है, गगन हमारा गाँव ॥३५॥

प्रश्नः—तुम्हारी जाति तथा नाम और इष्ट, एवं बस्ती कौन है?

उत्तरः—मेरी जाति आत्मा तथा नाम प्राण और अलख पुरुष इष्ट तथा हृदयाकाश (ब्रह्माण्ड) मेरा ग्राम है ॥ ३५ ॥

कहाँ से आया जीव यह, किसमें जाय समाय।
कौन डोर से चढ़ि चला, कहो मुझे समुझाय ॥३६॥
सिरगुन आया जीव यह, निरगुन जाय समाय।
सुरति डोरि ले चढ़ि चला, सतगुरु दिया बताय ॥३७॥

प्रश्नः—यह जीव कहाँसे आया और कौन डोरीसे चढ़के किसमें समाया? समझाकर कहो ॥ ३६ ॥

उत्तरः—यह जीव सगुणसे आया और सुरति डोरी ले चढ़के निर्गुणमें समा गया यह सद्गुरुने बतला दिया ॥ ३७ ॥

कौन सुरति ले आवई, कौन सुरति ले जाय।
कौन सुरति है अस्थिरी, सो गुरु देहु बताय ॥३८॥
बास सुरति ले आवई, सब्द सुरति ले जाय।
परिचय सुरति अस्थिरी, सो गुरु दिया बताय ॥३९॥

प्रश्नः—हे गुरो! कृपया यह बतला दीजिये कि यह कौन सुरति लेके आता, जाता और स्थिर होता है? ॥ ३८ ॥

उत्तरः—वासना सुरतिसे आता और सार शब्द सुरति

लेके जाता है परिचय सुरति द्वारा तत्त्वज्ञानस्वरूपमें स्थिर रहता है। यही रहस्य सद्गुरुने बतलाया है ॥ ३६ ॥

कौन राम दशरथ घर डोलै, कौन राम घट घटमें बोलै।
कौन रामका सकल पसारा, कौन राम तिरगुनसे न्यारा
आकार राम दशरथ घर डोलै, निराकार घटघटमें बोलै
बुंद राम का सकल पसारा, निरालंब सबही सों न्यारा

प्रश्नः—कौन राम दशरथ घरमें डोलते और कौन घट घटमें बोलते तथा किसका संपूर्ण पसारा है और कौन सबसे न्यारा है?

उत्तरः—आकार राम दशरथके घरमें डोलै हैं और निराकार घट घटमें बोलै हैं तथा विन्दु रामका सकल पसारा है एवं निरालम्ब राम सबसे न्यारा है ॥ ४१ ॥

धरती तो रोटी भई, कागा लीया जाय।
पूछो अपने गुरु को, कहाँ बैठि के खाय ॥४२॥
धीरज तो रोटी भई, कुबुधि काग लिय जाय।
कहैं कबीरा बैठि के, बाद वृक्ष पर खाय ॥४३॥

प्रश्नः-धरती तो रोटी हुई और कागा लिये जाता है, अपने गुरुसे पूछो कि वह कौन वृक्ष पर बैठके खायगा ? ॥ ४२ ॥

उत्तरः-कबीर गुरु कहते हैं कि धैर्यरूपी रोटीको कुबुद्धि-रूप काग लिये जाता है और वह वाद विवाद रूप वृक्ष पर बैठके खायगा ॥ ४३ ॥

कौन साधू का खेल है, कौन सुरति का दाव।
कौन अमी का कूप है, कौन बज्र का घाव ॥४४॥
छिमा साधू का खेल है, सुमति सुरति का दाव।
सतगुरु अमृत कूप है, सब्द बज्र का घाव ॥४५॥

प्रश्नः-साधुका खेल क्या है ? तथा सुरतिका दाव कौन है ? कौन अमृतका कूप है और वज्रका घाव,कौन है ? ॥ ४४ ॥

उत्तरः-सन्तोंका खेल (रहस्य), क्षमा है और सुमति सुरतिका दाव है। सदूगुरु अमृतका कुण्ड है और वज्रका घाव शब्द है ॥ ४५ ॥

धरती अम्बर जायँगे, बिनसैगा कैलास।
एकमेक है जायँगे, तब कहँ रहेंगे दास ॥४६॥
एकामेकी होन दे, बिनसन दे कैलास।
धरती अंबर जान दे, मोमें मेरे दास ॥४७॥

प्रश्नः—जब पृथ्वी आकाश चले जायँगे और कैलास भी नष्ट हो जायगा॥ इसी प्रकार सबके सब एकमेक रल मिल जायँगे तब दास कहाँ रहेंगे ? ॥ ४६ ॥

उत्तरः—सबको एक होमें मिलने दो कैलासको भी नष्ट होने दो। इसी तरह धरती और आकाशको भी छोड़ दो चिन्ता मत करो, मेरे दास मेरेमें रहेंगे ॥ ४७ ॥

कै रत्ती भर सुरति है, कै रत्ती भर काम।
कै रत्ती भर माया है, कै रत्ती निज नाम ॥४८॥
सोरा रति भर सुरति है, छत्तिस रति भर काम।
माया सहस रती भरै, एक रती निज नाम ॥४९॥

प्रश्नः—सुरति, काम, माया और नाम ये कितनी कितनी रत्ती भर हैं ? ॥ ४८ ॥

उत्तरः—सुरति सोलह रत्ती, काम छत्तीस रत्ती तथा माया हजार रत्ती और एक रत्ती भर नाम है ॥ ४९ ॥

कौन जगावै ब्रह्म को, कौन जगावै जीव।
कौन जगावै सुरति को, कौन मिलावै पीव ॥५०॥
विरह जगावै ब्रह्म को, ब्रह्म जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, सुरति मिलावै पीव ॥५१॥

प्रश्नः—ब्रह्म, जीव और सुरतिको कौन जगाता है। तथा प्रभुसे मिलाता कौन है? ॥ ५० ॥

उत्तरः—ज्ञान विरह ब्रह्मको और ब्रह्म जीवको इसी प्रकार जीव सुरति को जगाता है और सुरति प्रभुको मिलाती है॥५१॥

कै मासे भर नाम है, कै मासे भर पान।
कै मासे भर पुरुष है, जाको धरिये ध्यान ॥५२॥
आठ मासे भर नाम है, नौ मासे भर पान।
सोरा मासे पुरुष है, जाको धरिये ध्यान ॥५३॥

प्रश्न—जिसका ध्यान किया जाय वो नाम, पान और पुरुष कितने कितने मासेके हैं? ॥ ५२ ॥

उत्तरः—अधूरा फलदायक आठ मासके तो नाम जप हैं और नव मासे भर अमृत पान तथा पूर्ण कलायुत सोलह मासेके पुरुष हैं जिसका ध्यान करना जिज्ञासुओंका परम कर्तव्य है ॥ ५३ ॥

श्रोता वक्ता कौन घर, जब नर आवै नींद।
सब्द विराजै कौन घर, बूझौ कपिल मुनींद्र ॥५४॥
सब्द जाय दरबार में, ब्रह्म रन्ध्र के तीर।
श्रोता वक्ता सब्द संग, मुनि सों कहैं कबीर ॥५५॥

प्रश्नः—जब मनुष्योंको नींद आती है तब श्रोता, वक्ता कौन घरमें रहते हैं ? और शब्द कौन घर रहता है ? कपिल मुनीन्द्र इस बातको पूछते हैं ॥ ५४ ॥

उत्तरः—कबीर गुरु मुनिसे कहते हैं कि ब्रह्मरन्ध्रके रास्ते मालिकके दरबारमें शब्द चला जाता है और श्रोता, वक्ता शब्दके साथ रहते हैं ॥ ५५ ॥

सब रंग पानी ते भया, सब रंग पानी सोय।
जा रंग ते पानी भया, सो रंग कैसो होय ॥५६॥
सब रंग पानी ते भया, सब रंग पानी होय।
जा रंग ते पानी भया, सत्त शब्द है सोय ॥५७॥

प्रश्नः—पानीसे सब रंग हुये हैं और सब पानी स्वरूप ही हैं। परन्तु जिस रंगसे पानी हुआ है वह रंग कैसा है ? ॥ ५६ ॥

उत्तरः—सुनिये, जिस रंगसे पानी हुआ है वह सत्य शब्द है ॥ ५७ ॥

नाद नहीं था विन्दु नहीं था, करम नहीं था काया।
अलखपुरुषके जीभ नहींथी, सब्दकहाँ ते आया ॥५८॥
नाद नहीं था विन्दु नहीं था, करम नहीं था काया।
अलखपुरुषको जीभ नहींथी, सब्द सुन्न ते आया ॥५९॥

प्रश्नः—जब नाद, विन्द तथा कर्म, काया नहीं थी और अलख पुरुषको जीभ भी नहीं थी तब शब्द कहाँसे आया ? ॥५८॥

उत्तरः—तब शब्द श्वासके साथ शून्यसे आया ॥ ५९ ॥

बोलता कहु कहँ बसै, केतिक रूप सरूप।
कै पँखुरी की सुरति है, केतिक बस्तु अनूप ॥६०॥

बोलता मध्यहि में बसै, हरा बरन सरूप।
सात पंखुरिकी सुरति है, किंचित् वस्तु अनूप ॥६१॥

प्रश्नः—कहो बोलता कहाँ रहता है? उसका स्वरूप कैसा? कै पखुरी की सुरति तथा उपमा रहित वस्तु कितनी है? ॥६०॥

उत्तरः—बोलता मध्य स्थान में रहता है उसका स्वरूप हरा वरण है। सात प्रकार की सुरति और अनुपम वस्तु किञ्चित् मात्र है ॥ ६१ ॥

साखी सब्दो कब कही, मौन रहै मन माँहि।
बिछुरा था कब ब्रह्म सों, कहिवे को कछु नाँहि ॥६२॥
साखी सब्दी जब कही, तब कछु जाना नाँहि।
बिछुरा था तबही मिला, अब कछु कहना नाँहि ॥६३॥

प्रश्नः—साखी, शब्द कब कहा गया? मनमें मौन कब रहे? ब्रह्मसे बिछुड़ा कब था? और कुछ कहनेको कब न रहा? ॥६२॥

उत्तरः—साखी, शब्द उस वक्त कहा गया था। जिस वक्त अज्ञान था। ज्ञान होनेपर मौन रहे। संसारी अवस्थामें ब्रह्मसे वियुक्त था परमार्थ विचार दशामें उससे मिल गया अतः अब कुछ कहनेको नहीं रहा ॥ ६३ ॥

हाथ पाँव मुख सीस धरि, बेगर बेगर नाम।
कहैं कबीर विचारि के, तोर नाम कहँ ठाम ॥६४॥
हाथ पाँव मुख सीस धरि, बेगर बेगर नाम।
कहैं कबीर विचारि कै, मोर नाम सब ठाम ॥६५॥

प्रश्नः—हाथ, पग, मुँह, मस्तकके नाम अलग २ रक्खे गये हैं? कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि तेरा नाम किस जगह है? ॥ ६४ ॥

उत्तरः—यद्यपि मैं परमार्थसे अनामी हूँ तथापि व्यवहार दृष्टिसे सर्वत्र मेरा ही नाम है। मेरी सत्ता बिना कुछ नहीं होता ॥ ६५ ॥

सोई सीप समुद्र में, सोइ सीप नदि नाल।
मोती क्यों नहिं नीपजै, पंडित करो विचार ॥६६॥
सीप सीप सब एक है, सब जग बरसै स्वाँति।
मोती यों नहिं नीपजै, कोह कुबुधि बहु भाँति॥६७॥

प्रश्नः—जो सीप सागरमें है वही नदी, नालेमें भी परन्तु मोती उसमें क्यों नहीं पकता? हे पण्डितो! विचार कीजिये ॥

उत्तरः—यद्यपि सीप सब समान है और सर्वत्र स्वाति नक्षत्र भी बरसता है। तथापि सब सीपमें मोती इस वजहसे नहीं पकता कि क्रोध कुबुद्धि आदि विकारसे पात्र अशुद्ध हो गया है अतः वहाँ फलद रूप जल नहीं ठहरता।
यथाः—"जैसी गोली गुमज की, नीच परी ढहराय।
तैसा हृदया मूर्ख का, शब्द नहीं ठहराय ॥
इति बीजक ॥ ६७ ॥

माटी में माटी मिली, मिला पवन सों पौन।
मैं तोहि बूझूँ पंडिता, दो में मूआ कौन ॥६८॥
कुमतिहती सो मिटिगई, मिट्यो बाद हंकार।
दोनों का भेला भुआ, कहैं कबीर बिचार ॥६९॥

प्रश्नः—ऐ पण्डितो! मैं पूछता हूँ कि स्थूल शरीर रूपी मिट्टी, मिट्टीमें और पवन पवनमें मिल गया तो फिर दोनोंमें मरा कौन? ॥ ६८ ॥

उत्तरः—कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि सद्गुरु की

शरण आनेसे नरजोवकी जो कुमति थी वह मिट गई और मनका व्यर्थ अहंकार मिट गया। एवं जड़, चेतनका परस्पर अध्यास सम्बन्धका छूटना ही मरना है ॥ ६९ ॥

कुमति किसकी मिटि गई, किसका मिटा हँकार।
क्यों करिके भेला हुआ, सो मोहिं कहो विचार॥७०॥
कुमति चितकी मिटि गई, मिट गय मन हंकार।
दोनों का झगड़ा मिटा, कहैं कबीर विचार॥७१॥

प्रश्नः—यह मुझे बतलाइये कि कुमति किसकी मिटी? और अहंकार किसका? और कैसे दोनोंका सम्बन्ध हुआ था।

उत्तरः—कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि चित्त वृत्ति की कुमति मिटी और मनका अहंकार। अविद्यासे जड़, चेतन के परस्पर सम्बन्ध हुआ था वह दोनोंका झगड़ा सद्गुरु ज्ञान से मिट गया॥ ७१ ॥

काम क्रोध सूतक सदा, सूतक लोभ समाय।
ये सूतक संग देह के, कहु कैसे करि जाय॥७२॥
काम क्रोध सूतक सदा, सूतक लोभ समाय।
सील सरोवर न्हाइये, तब यह सूतक जाय॥७३॥

प्रश्नः—कहिये काम, क्रोध तथा लोभादि ये जो शरीरके साथ सदा सूतक (अशौच) हैं कैसे जायेंगे? ॥ ७२ ॥

उत्तरः—श्रद्धासे सद्गुरुकी शरण आके शुद्ध शील सरोवर में खूब स्नान कीजिये, सबही अशौच निवृत्त हो जायेंगे। यथाः—"श्रद्धा से सद्गुरु शरणागत हो तजि डामा डोलरी।। सद्गुरुकृपा मिले चिन्तामणि घट भीतर अनमोलरी।॥"

इति कबीर भजन रत्नावली ॥ ७३ ॥

स्मरण महामंत्र।

सद्गुरु कबीर बन्दी छोड़ * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ * दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु * दीन दयाल बन्दी छोड़

शुभं भूयादध्येतुरध्यापकस्य च।

पं० श्रीलाल उपाध्याय द्वारा-श्रीविश्वेश्वर प्रेस,काशीमें मुद्रित।

कबीर बीजक

पंडित राघवदासकृत

भाषा टीका

कबीर साहेब को कौन नहीं जानता ? हिन्दू मुसलमान दोनों उनके भक्त हैं। उनकी बानी, उनके शब्द, उनके भजन सभी हैं तो बड़ी अटपट भाषामें पर बड़े गूढ़, अर्थ गंभीर और आध्यात्मिक हैं। कबीरदासजीकी उलटबासी प्रसिद्ध है और ऐसा एक भी साक्षर निरक्षर न मिलेगा जो दो चार पद, भजन साखी, शब्द न जानता हो—न गाता हो। उनके रचे ग्रन्थों में 'कबीर बीजक' का आसन ऊँचा है। बीजक के एक २ अक्षर अर्थगंभीर, गूढ़भावात्मक एवं जटिल हैं। पाठकों और कबीर भक्तोंके निमित्त हमने बहुव्यय और बहुश्रम स्वीकार कर परम-कबीरपन्थी विद्वान बा॰राघवदासजी लहरतारा काशीसे इसकी भाषा टीका कराई। राघवदासजीने इसकी बड़ी ही सरल, सुबोध भाषामें टीका रची और इसे ऐसी टीका टिप्पणियोंसे विभूषित किया कि बीजक भक्तोंके लिये कोई भ्रमभटक शेष रही नहीं गया।

देशी ग्लेज कागज़ पर सुन्दर अक्षरोंमें सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३) डा॰ म॰ ।।।)

कबीर बीजक मूल महाराज राघवदासजी संशोधित मूल्य ॥)

कबीर वचनामृत महाराज राघवदासजी संग्रहीत मूल्य ॥)

कबीर भजन रत्नावली महाराज राघवदास संग्रहीत मूल्य ।=)

गुरु माहात्म्य ५२ जँजीरा सहित ≡)

पुस्तक मिलने का पता—

बाबू बैजनाथ प्रसाद बुक्सेलर,

राजादरवाजा, बनारस सिटी।